Year - 10 Volume - 40
April 2026

ISSN 2456-0898

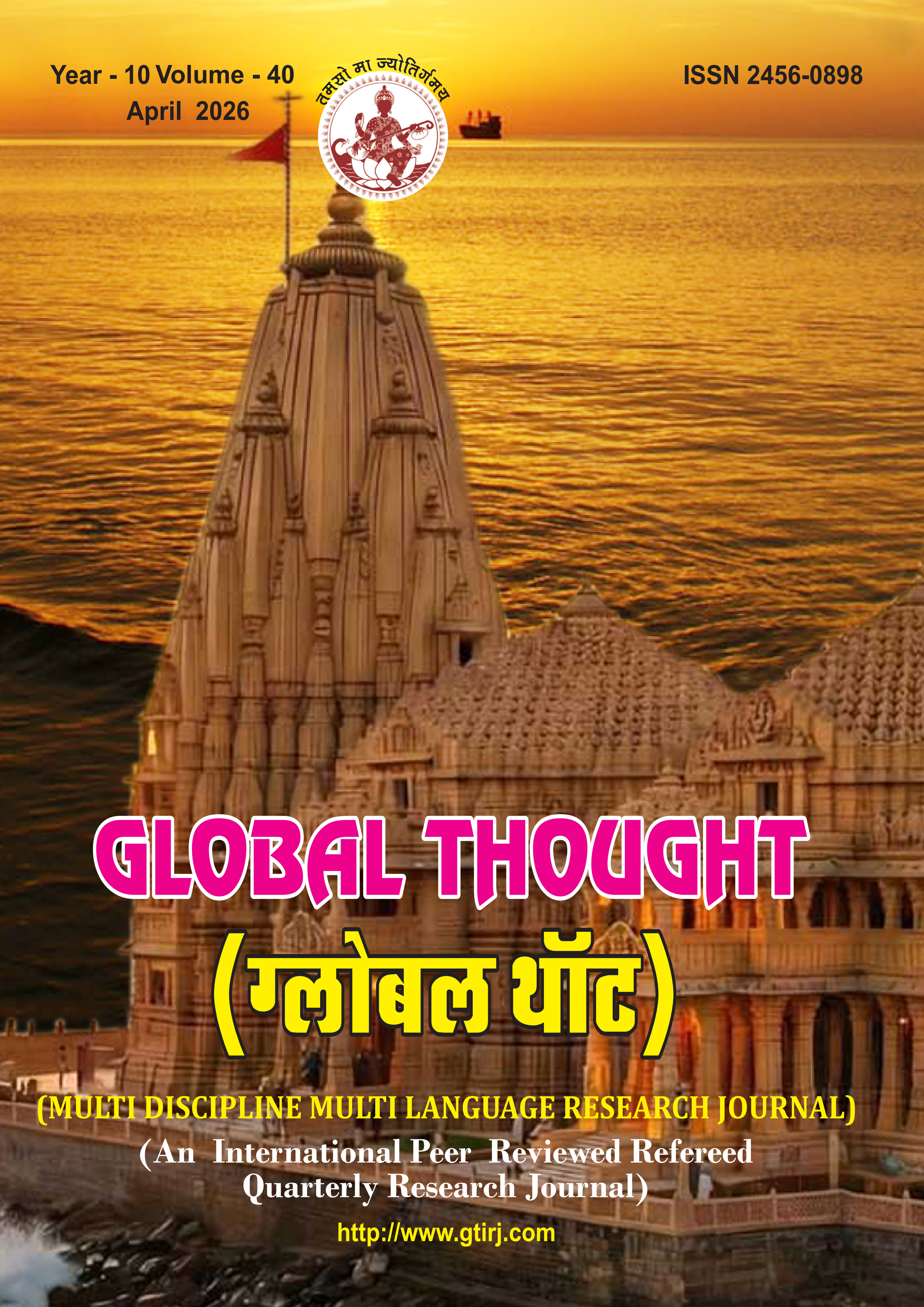

GLOBAL THOUGHT
(ग्लोबल थॉट)

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal)

http://www.gtirj.com

❍ Year : 10 ❍ Volume : 40 ❍ April 2026 ❍ ISSN : 2456-0898

GLOBAL THOUGHT

ग्लोबल थॉट

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal)

Special Note :

Anti National Thoughts are not acceptable.

स्वामी/मुद्रक/प्रकाशक रूपेश कुमार चौहान द्वारा 47, ए-3 ब्लॉक, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, (नजदीक संकट मोचन मंदिर), पी.एस. नजफगढ़, दिल्ली से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4 ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली में मुद्रित।
सम्पादक-रूपेश कुमार चौहान

Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907
• Website : www.gtirj.com
Email : researchjournal2016@gmail.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **अंग्रेजी, हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'ग्लोबल थॉट'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

Email : researchjournal2016@gmail.com • Website : www.gtirj.com

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)
- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)
- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)
- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2456-0898

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'ग्लोबल थॉट'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

Registered Office : *H.No. 47, A-3 Block, Gali No. 5,*
Near Sankat Mochan Mandir, Dharampura Extn., Najafgarh, Delhi-110043
Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907 • Website : www.gtirj.com

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.gtirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

Editorial -- viii
हिंदी साहित्य और समाज-निर्माण : विमर्श, समालोचना और संभावनाएँ 1
जय प्रकाश नारायण
प्रकृति और आदिवासी संस्कृति : आदिवासी साहित्य 8
आरती थापा
'नेपथ्य राग' नाटक में स्त्री अस्मिता के चिह्न 12
स्नेहा
सुप्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं पर बनी हिंदी की कालजयी फिल्में 16
डॉ. चित्तरंजन कुमार
आजादी के बाद आदिवासी राजनीतिक संघर्ष के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास 23
अमित कुमार सिंह
दलित महिला : सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी संघर्षों का बहुआयामी विश्लेषण 31
आयुषी
भारत में आंतरिक सुरक्षा की बदलती प्रवृत्तियाँ और उसका प्रभाव 37
डॉ. रंजीत कुमार / जयवर्द्धन कुमार
India-Bangladesh Relations in the Post-Pandemic Era: Structural Transformation in Human Development, Trade, and Sustainability ---------------------- 45
Dr. Ram Pravesh Roy
Educational and Socio-Cultural Status of Dalit Women in Haryana: Role of SCSP ---------- 53
Neetu
A Decade of Nari Shakti: Evaluating the Multi-Sectoral Impact and Implications of the Beti Bachao Beti Padhao (BBBP) Scheme in India ---------------------------------- 57
Arti Kumari
From Liability to Agency: Evaluating the Balika Samriddhi Yojana in the Educational Journey of Dalit Girls ----------- 64
Riya Tiwari
Inclusive Society and its Need for Sustainable Development in Post-Pandemic Era in India --- 69
Dr. Archita Singh
An Analysis of the Educational Empowerment of Women in Haryana with Special Reference to the Balika Samridhi Yojana --- 73
Anjali
Renewable Energy and Sustainable Living: Building a Greener Future for all ----------- 77
Tushar
रामानंद सम्प्रदाय : मध्यकालीन भारतीय समाज में समावेशी चेतना का विश्लेषण 81
प्राञ्जल सिंह
Soft Pragmatism enroute Strategic Partnership: India and Morocco Relations --- 87
Dr. Tsupokyemla
Re-evaluating the Concepts of 'Killer' and 'Healer' in Buddhist Narratives and Modern Historiography: A Re-evaluation of the Personality of Ashoka the Great ---- 94
Krishna Murari
The Dialectics of Word and Essence: A Comparative Investigation of Maṇḍana Miśra's Sphoṭasiddhi and Vācaspati Miśra's Tattvabindu ----------- 103
Devaki Mishra
नवजागरणकालीन पत्रिकाएँ और स्त्री-प्रश्न : स्त्री की बदलती उपस्थिति का अध्ययन 107
विकास कुमार
मर्यादा के आवरण से समाधि का संगीत : कबीर और ओशो की विद्रोही वैचारिकी का तुलनात्मक समाजशास्त्र 111
मृत्युंजय कुमार शर्मा
माधवी के जीवन की त्रासदी पुरुष अहं का शिकार ... 117
मुस्कान गिरि
वैराग्य का पलायन बनाम सृजन का यथार्थ : 'यशोधरा' और 'यशोधरा जीत गई' के विशेष संदर्भ में 121
आयुष दुबे
आधुनिक हिन्दी साहित्य : चेतना के नए स्वर 125
विनय यादव
भोजपुरी लोकगीतों में पर्यावरणीय चेतना, देशज ज्ञान और लोक संस्कृति का अंतर्संबंध 130
उदित सिंह
महाभोज उपन्यास में चित्रित सामाजिक यथार्थ 135
श्रेया

वैश्वीकरण के दौर में भाषा और पहचान : 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म के सन्दर्भ में 139
निवेदिता
Environmental Federalism and Centre–State Relations in Climate Governance in India (2015–2025) ----------------------------146
Kalim
संत रविदास और समतामूलक समाज की कल्पना : बेगमपुरा एक दृष्टि 153
मानसी
गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों में समकालीन बोध 158
रवितोष कुमार पाण्डेय
संत रविदास के काव्य में मानवीय मूल्य.............. 164
शुभम मणि त्रिपाठी
ब्लाइंड स्ट्रीट में दृष्टिबाधितों की अंधेरी दुनिया का सच... 169
ओम प्रकाश
पर्यावरणीय संकट और समकालीन कविता 174
रेशमी कुमारी
Determinants of Women's Labour Force Participation in India: Evidence from NFHS-6 ---- 182
Himanshi
Governance of Urban Food Security in India: State Capacity and Welfare Outcomes -----186
Bhupendra / Paritosh
अशोक के फूल के आधार पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि.. 193
मोहम्मद आजम
1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा का राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन : एक ऐतिहासिक विश्लेषण ... 197
कृष्ण कुमार जून
लोकप्रिय साहित्य में मीडिया विमर्श : स्त्री-छवि का एक आलोचनात्मक अध्ययन........................ 204
अनिता कुमारी
डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर : लोकतंत्र, जाति-संघर्ष, धार्मिक सुधार और सामाजिक न्याय का तुलनात्मक अध्ययन नवयान बौद्ध धर्म के विशेष संदर्भ में.................. 209
कनक गौर
बौद्ध राजनीतिक चिंतन और पारिस्थितिक न्याय : एक समकालीन विश्लेषण 216
रूपल
A Critical Study of Causation in Nyāya–Vaiśeṣika Philosophy ------------- 223
Dr. Vedanidhi
Unveiling Potential and Fostering Inclusion: The Role of Women in Africa's Digital Economy -- 231
Ms. Madhu Tripathi
Air Pollution, Heatwaves and Women's Menstrual Health : Emerging Environmental Challenges in India ---------240
Anmol
Beyond Vulnerability: Reframing Female Agency in Climate Finance Portfolios from "Victims" to "Architects of Localized Adaptation" ---------------------249
Amit Kumar
Economic Disparities on the Basis of Gender linkage in Indian Railway Vendors ---------257
Akshay Sangita Jagannath
हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत............. 265
ज्योति
नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध........... 272
डॉ. ज्योति सिंह
हड़प्पा सभ्यता की निरंतरता और आर्य आक्रमण पर समकालीन दृष्टिकोण 276
डॉ. विक्रम सिंह चौधरी
प्रेमचंद के बाल-साहित्य में कौतूहल और सामाजिक यथार्थ का द्वंद्वात्मक अध्ययन.............. 279
विजय शंकर गुप्ता
अशोक के धम्म में धार्मिक समन्वय और सामाजिक नैतिकता : एक अध्ययन 284
लीशा
The Dilemma of Post-Colonial Statehood: Democracy and Authoritarianism in South Asia ---------------------------------------289
Shwetank Shukla
Upstream Abundance, Downstream Power: China's Processing Dominance and the Geopolitics of Critical Mineral Supply Chains ------------ 294
Aabhankita
Indian Perspective on Peace: Embracing the Idea of Vasudhaiva Kutumbakam -----------303
Mohit Yadav
कश्मीरस्य साहित्ये संस्कृतभाषायाः योगदानम् 310
डॉ. भूपेन्द्रकुमार:/डॉ. साक्षी
Foreign Aid and Transitional Justice in Africa's Great Lakes Region: A Comparative Analysis of Rwanda's Gacaca Courts and Justice Sector Reforms in the Democratic Republic of the Congo -----313
Nikita Jyani
Panchayati Raj institutions: Features, working and assessment---------------------------------321
Tanu

सम्पादकीय

श्री सोमनाथ में मई महीने में सोमनाथ पर्व मनाया गया। सोमनाथ में वर्तमान मंदिर के पुर्ननिर्माण और प्राणप्रतिष्ठा के 75 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में पांच दिनों का यह अमृत पर्व मनाया गया। इससे पहले जनवरी में सोमनाथ स्वाभिमान पर्व 8 से 11 जनवरी के बीच मनाया गया था। यह उत्सव विनाश को याद करते हुए नहीं बल्कि आस्था, सांस्कृतिक आत्मसम्मान और पुनर्जन्म की भावना के सम्मान के रूप में मनाया गया।

गौरतलब है कि सोमनाथ में यह आयोजन 1026 ई. में सोमनाथ मंदिर पर हुए पहले आक्रमण के 1000 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में मनाया गया। (1026–2026) सोमनाथ मंदिर पर 17 वार हमला हुआ। जिसमें 1026, 1297, 1394 और 1706 में औरंगजेब के शासन काल में मंदिर को लूटा गया और ध्वस्त किया गया। इसलिए सोमनाथ कट्टरता पर आस्था का, विनाश पर सृजन का प्रतीक है। इस तरह पहले हमले से लेकर अंतिम आक्रमण तक विधर्मियों ने मंदिर को लूटा। सोमनाथ का यह संघर्ष 1000 साल का लम्बा संघर्ष है। हजारों साल में हिंदुओं की आस्था को कोई डिगा नहीं सका। इन हजार सालों में विनाश और पराजय के बीच विजय और पुनर्निर्माण भी हम सबके पूर्वजों ने कराया। पूर्वजों के पराक्रम, त्याग और बलिदान की कथा के पर्व का नाम है सोमनाथ पर्व। देश जब आजाद हुआ तो राष्ट्र के स्वाभिमान को पुन:स्थापना के लिए सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 13 नवम्बर 1947 को सोमनाथ मंदिर के पुनर्निर्माण का संकल्प लिया। सरदार पटेल ने सोमनाथ के जर्जर अवशेषों के सामने खड़े होकर, समुद्र का जल हाथ में लेकर कहा था कि इस नववर्ष (दिपावली के दिन) पर हमारा निश्चय है कि सोमनाथ का पुनर्निर्माण होगा। सौराष्ट्र के लोगों को इसके लिए हर तरह का योगदान देना होगा। यह एक पावन कार्य है, जिसमें हर किसी को भागीदारी निभानी होगी। उनके इस संकल्प ने न सिर्फ सौराष्ट्र, गुजरात बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष अमूल्य योगदान दिया।

1951 में मंदिर जब बनकर तैयार हुआ तब सरदार पटेल जीवित नहीं थे। तब देश के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के द्वारा इस मंदिर का लोकार्पण और प्राणप्रतिष्ठा का कार्यक्रम 11 मई 1951 को सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर अपने भाषण में डॉ राजेंद्र प्रसाद ने कहा था कि सोमनाथ मंदिर दुनिया को यह संदेश देता है कि अद्वितीय श्रद्धा और विश्वास को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी कहा कि मंदिर सदैव लोगों के हृदय में बसा रहेगा। 75वीं वर्षगांठ अवसर है उन बलिदानियों को स्मरण करने का जिन्होंने अपने जान से उपर सोमनाथ के मान को रखा। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी श्री सोमनाथ न्यास के प्रमुख हैं। द्वादश परम पवित्र ज्योतिर्लिंगों में पहले स्थान पर सोमनाथ का ज्योतिर्लिंग है। जिसका उल्लेख स्कन्द पुराण श्रीमद्भागवत, शिवपुराण आदि में है। सोमनाथ केवल एक सनातनी हिंदुओं का पवित्र पूजा स्थल नहीं है। हमारी सभ्यता का अटूट संकल्प है। इसके सामने लहराता विशाल समुद्र अनन्त काल की अनूभूति कराता है। इसकी लहरें हमें सिखाती हैं कि तूफान चाहे कितना भी विकराल क्यों न हो, मनुष्य का साहस और आत्मबल हर बार फिर से उठ खड़ा होने में सक्षम है। तट से टकराती लहरें सदियों से यह उद्घोष कर रही हैं कि मानवीय चेतना को लम्बे समय तक दबाया नहीं जा सकता है। अंत में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के उस बात से अपनी बात समाप्त करता हूँ कि सोमनाथ हमें याद दिलाता है कि जब कोई समाज अपनी आस्था, अपनी संस्कृति और अपनी एकता से जुड़ा रहता है तब उसे लम्बे समय तक दबाया नहीं जा सकता। आज भी हमारी सबसे बड़ी शक्ति यही साझा चेतना है, यही एकात्म भावना है। सोमनाथ में आप भारत के उस अपराजित आत्मा का अनुभव करेंगे जिसने हर आघात के बावजूद अपनी पहचान और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाएं रखा।

— डॉ. राजेश कुमार
उपसम्पादक

शोध-पत्र

हिंदी साहित्य और समाज-निर्माण : विमर्श, समालोचना और संभावनाएँ

जय प्रकाश नारायण

शोध-सार

प्रस्तुत लेख ''हिंदी साहित्य और समाज-निर्माण : विमर्श, आलोचना और संभावनाएँ'' विषय के अंतर्गत साहित्य और समाज के गहरे तथा अंतर्संबंधित स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें प्रतिपादित किया गया है कि हिंदी साहित्य केवल समाज का प्रतिबिंब मात्र नहीं है, बल्कि उसके निर्माण, पुनर्गठन और परिवर्तन का एक सक्रिय एवं सशक्त माध्यम भी है। लेख में भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन हिंदी साहित्य तक की विभिन्न धाराओं का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि साहित्य ने सामाजिक समानता, जागरूकता, न्याय, मानवता और संवेदनशीलता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध जैसे साहित्यकारों के साथ-साथ समकालीन दलित और स्त्री लेखन के उदाहरणों के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि हिंदी साहित्य ने सामाजिक विसंगतियों, असमानताओं और अन्याय के विरुद्ध एक सशक्त आलोचनात्मक दृष्टि विकसित की है। इसके अतिरिक्त, लेख में वैश्वीकरण, उदारीकरण और डिजिटल माध्यमों के प्रभावों का भी विश्लेषण किया गया है, जो साहित्य के स्वरूप और उसके सामाजिक सरोकारों को प्रभावित करते हैं।

अंततः यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि हिंदी साहित्य समाज-निर्माण की प्रक्रिया में एक जीवंत, गतिशील और परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में कार्य करता है, जो वर्तमान और भविष्य दोनों में सामाजिक चेतना, मानवीय मूल्यों और समावेशी विकास को दिशा प्रदान करने में सक्षम है।

मुख्य शब्द

हिंदी साहित्य, साहित्य और समाज, समाज-निर्माण, सामाजिक विमर्श, समकालीन साहित्य और सामाजिक परिवर्तन।

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति, ऐतिहासिक अनुभव और वैचारिक चेतना का एक बहुआयामी और जीवंत दस्तावेज है, जो केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि समाज-निर्माण की प्रक्रिया में सक्रिय हस्तक्षेप करने वाली सृजनात्मक शक्ति भी है। साहित्य का मूल स्वभाव ही ऐसा है कि वह व्यक्ति के अनुभवों को सामूहिक अनुभवों में रूपांतरित करता है और इस प्रकार सामाजिक चेतना का निर्माण करता है। यही कारण है कि साहित्य को केवल 'कला' या 'रचना' के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक क्रिया के रूप में भी देखा जाता है।

हिंदी साहित्य का विकासक्रम यह स्पष्ट करता है कि यह केवल यथार्थ का चित्रण नहीं करता, बल्कि उस यथार्थ को बदलने की आकांक्षा भी रखता है। भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन साहित्य तक, हिंदी साहित्य ने सामाजिक जागरण, राष्ट्रीय चेतना, नैतिक पुनर्संरचना, वर्ग-संघर्ष, लैंगिक समानता, दलित अस्मिता और सांस्कृतिक पुनर्परिभाषा जैसे अनेक विमर्शों को अपने भीतर समाहित किया है।

समकालीन संदर्भ में, जब समाज वैश्वीकरण, उदारीकरण, डिजिटल क्रांति और सांस्कृतिक विखंडन के दौर से गुजर रहा है, तब साहित्य की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। यह लेख हिंदी साहित्य को समाज-निर्माण की प्रक्रिया में एक

सक्रिय, समालोचनात्मक और संभावनाशील शक्ति के रूप में विश्लेषित करता है।

साहित्य और समाज का अंतर्संबंध : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

साहित्य और समाज का संबंध अत्यंत गहरा, जीवंत और परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। यह संबंध केवल इतना नहीं है कि साहित्य समाज का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है, बल्कि यह उससे कहीं अधिक जटिल और सक्रिय प्रक्रिया है, जिसमें साहित्य और समाज दोनों एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित, रूपांतरित और विकसित करते रहते हैं। साहित्य समाज से जन्म लेता है और उसकी भाषा, संस्कृति, परंपराएँ, संघर्ष और अनुभव साहित्य को आकार देते हैं। इसके बदले में साहित्य समाज को नई दृष्टि, संवेदनशीलता और वैचारिक दिशा प्रदान करता है। इस प्रकार यह संबंध एक सतत संवाद की तरह है, जिसमें दोनों पक्ष एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं।

भारतीय परंपरा में साहित्य को सदैव 'लोकमंगल' से जोड़ा गया है। इसका अर्थ है कि साहित्य केवल मनोरंजन या सौंदर्य-बोध का माध्यम नहीं, बल्कि समाज के कल्याण, नैतिक उन्नयन और सांस्कृतिक विकास का साधन भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को 'लोकमंगल की भावना' से प्रेरित माना, जो समाज के व्यापक हित में कार्य करता है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत साहित्य का मूल्य इस बात से तय होता है कि वह समाज के जीवन को कितना समृद्ध और सार्थक बनाता है। इसलिए हिंदी साहित्य की परंपरा में हम पाते हैं कि प्रमुख रचनाकारों ने अपने समय की सामाजिक समस्याओं, जैसे असमानता, अन्याय, अंधविश्वास और शोषण को अपने लेखन का केंद्र बनाया और समाज को बेहतर बनाने की दिशा में योगदान दिया।

पाश्चात्य साहित्यिक चिंतन में भी साहित्य और समाज के संबंध पर गहन विचार किया गया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य समाज की आर्थिक और सामाजिक संरचना का प्रतिबिंब होता है। कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार समाज की 'आधार संरचना' आर्थिक व्यवस्था और 'अधिरचना' विचार, संस्कृति, साहित्य आदि के बीच गहरा संबंध होता है। इस दृष्टि से साहित्य केवल व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि वर्ग-संघर्ष, शोषण और सामाजिक असमानताओं का दर्पण भी होता है। हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी धारा इसी दृष्टिकोण से प्रभावित रही, जिसमें साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का उपकरण माना गया।

इसके साथ ही, आधुनिक साहित्यिक सिद्धांतों ने साहित्य और समाज के संबंध को और अधिक व्यापक और बहुआयामी रूप में समझने का प्रयास किया है। स्त्रीवादी आलोचना साहित्य को पितृसत्तात्मक संरचनाओं के विरुद्ध एक प्रतिरोध के रूप में देखती है। यह बताती है कि साहित्य में स्त्रियों के अनुभवों और उनकी आवाज को कैसे दबाया गया और किस प्रकार स्त्री लेखन ने इस मौन को तोड़ा। हिंदी साहित्य में महादेवी वर्मा, मन्नू भंडारी और कृष्णा सोबती जैसे लेखकों ने स्त्री अनुभवों को केंद्र में लाकर समाज की लैंगिक असमानताओं को उजागर किया।

इसी प्रकार, उपनिवेशोत्तर दृष्टिकोण साहित्य को औपनिवेशिक सत्ता और सांस्कृतिक वर्चस्व के विरुद्ध एक विमर्श के रूप में देखता है। यह बताता है कि किस प्रकार साहित्य ने औपनिवेशिक मानसिकता का विरोध किया और स्वदेशी पहचान को स्थापित करने का प्रयास किया। भारतेन्दु युग और उसके बाद का हिंदी साहित्य इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जहाँ राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता के विचार स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

साहित्य उन वर्गों की आवाज को सामने लाने का प्रयास करता है, जो इतिहास और मुख्यधारा के विमर्शों में उपेक्षित रहे हैं, जैसे दलित, आदिवासी और श्रमिक वर्ग। हिंदी साहित्य में दलित साहित्य का उदय इसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसीराम और अन्य लेखकों ने अपने अनुभवों के माध्यम से समाज की गहरी असमानताओं को उजागर किया। यह साहित्य समाज के उन पहलुओं को सामने लाता है, जिन्हें लंबे समय तक अनदेखा किया गया।

साहित्य और समाज के अंतर्संबंध को समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम इसे केवल सिद्धांतों तक सीमित न रखें, बल्कि इसे जीवन के अनुभवों से जोड़कर देखें। साहित्य समाज के भीतर मौजूद भावनाओं, संबंधों और संघर्षों को अभिव्यक्त करता है। यह मनुष्य को अपने समय और परिवेश को समझने में सहायता करता है। जब कोई पाठक किसी साहित्यिक रचना को पढ़ता है, तो वह केवल शब्दों को नहीं पढ़ता, बल्कि उन अनुभवों और संवेदनाओं से जुड़ता है, जो उस रचना में निहित हैं। इस प्रकार साहित्य व्यक्ति के भीतर संवेदनशीलता और सहानुभूति का विकास करता है, जो समाज-निर्माण के लिए अत्यंत आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त, साहित्य समाज में संवाद स्थापित करने

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है। यह विभिन्न वर्गों, समुदायों और संस्कृतियों के बीच पुल का कार्य करता है। जब साहित्य विभिन्न अनुभवों और दृष्टिकोणों को सामने लाता है, तो यह समाज में समझ, सहिष्णुता और समरसता को बढ़ावा देता है। इस दृष्टि से साहित्य केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक एकता और संवाद का भी आधार है।

समकालीन संदर्भ में साहित्य और समाज का संबंध और भी जटिल हो गया है। डिजिटल तकनीक, सोशल मीडिया और वैश्वीकरण ने साहित्य के स्वरूप और उसकी पहुँच को बदल दिया है। अब साहित्य केवल पुस्तकों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि विभिन्न डिजिटल प्लेटफार्मों के माध्यम से व्यापक समाज तक पहुँच रहा है। इससे साहित्य का लोकतंत्रीकरण हुआ है, लेकिन इसके साथ ही गुणवत्ता और गहराई की चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। फिर भी, यह परिवर्तन साहित्य और समाज के संबंध को और अधिक गतिशील और व्यापक बनाता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि साहित्य और समाज का संबंध एक जीवंत और सतत प्रक्रिया है, जिसमें दोनों एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित करते हैं। साहित्य समाज का केवल दर्पण नहीं, बल्कि उसका आलोचक, मार्गदर्शक और निर्माता भी है। यह समाज के भीतर चेतना, संवेदना और परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म देता है। इसलिए साहित्य को समझना वास्तव में समाज को समझना है, और समाज को बेहतर बनाने की दिशा में साहित्य की भूमिका को स्वीकार करना आवश्यक है।

हिंदी साहित्य में समाज-निर्माण का विमर्श : ऐतिहासिक विकास

हिंदी साहित्य में समाज-निर्माण का विमर्श एक सतत और विकसित होती हुई प्रक्रिया है, जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखंडों के माध्यम से अपने स्वरूप, दृष्टि और उद्देश्य में परिवर्तन करता हुआ दिखाई देता है। यह विमर्श किसी एक समय या धारा तक सीमित नहीं है, बल्कि हिंदी साहित्य के विकासक्रम में निरंतर प्रवाहित होता रहा है। विशेषतः भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन साहित्य तक, हिंदी साहित्य ने समाज के निर्माण, सुधार और पुनर्गठन में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए विभिन्न साहित्यिक कालों को उनके सामाजिक संदर्भों के साथ देखना आवश्यक है।

भारतेन्दु युग हिंदी साहित्य में आधुनिक चेतना और सामाजिक जागरण का प्रारंभिक चरण माना जाता है। इस समय भारतीय समाज औपनिवेशिक शासन, आर्थिक शोषण, सामाजिक कुरीतियों और सांस्कृतिक हीनता की भावना से जूझ रहा था। ऐसे दौर में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने साहित्य को समाज के जागरण का माध्यम बनाया। उन्होंने नाटक, निबंध और पत्रकारिता के माध्यम से समाज की समस्याओं, जैसे अंधविश्वास, जातिवाद, स्त्री-शिक्षा की कमी और आर्थिक विषमता को उजागर किया। उनके लेखन में राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक सुधार और आधुनिक दृष्टिकोण का समन्वय मिलता है। इस प्रकार भारतेन्दु युग ने हिंदी साहित्य में समाज-निर्माण के विमर्श की आधारशिला रखी। उन्होंने अपनी मातृभाषा को समाज के विकास का आधार बताते हुए कहा है;

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिन निज भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥''

इसके पश्चात द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य ने एक अधिक अनुशासित और उद्देश्यपूर्ण स्वरूप ग्रहण किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में साहित्य को नैतिकता, सामाजिक सुधार और राष्ट्रनिर्माण के साथ जोड़ा गया। इस युग के साहित्यकारों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, जैसे बाल-विवाह, अशिक्षा, स्त्री-असमानता और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध लेखन किया। मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक जिम्मेदारी को प्रमुखता दी। इस काल में साहित्य समाज को शिक्षित और जागरूक बनाने का माध्यम बना, जिससे समाज-निर्माण की प्रक्रिया को वैचारिक और नैतिक आधार मिला। महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा के प्रति सजग और संवेदनशील थे और वे अनुशासन प्रिय थे। राष्ट्रीय जागरण के ओतप्रोत इस काल में मैथिलीशरण शरण गुप्त अपनी लेखनी से राष्ट्र प्रेम की भावना का लोगों में संचार कर रहे थे और देशवासियों को सफल और सार्थक जीवन के लिए प्रेरित कर रहे थे। वे कहते है

''नर हो, न निराश करो मन को
कुछ काम करो, कुछ काम करो
जग में रह कर कुछ नाम करो
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो
समझो जिसमें यह व्यर्थ न हो
कुछ तो उपयुक्त करो तन को
नर हो, न निराश करो मन को।''

प्रेमचंद के आगमन के साथ हिंदी साहित्य में यथार्थवाद का सशक्त विकास हुआ, जिसने समाज-निर्माण के विमर्श को

अधिक ठोस और व्यावहारिक रूप प्रदान किया। प्रेमचंद ने साहित्य को समाज के वास्तविक जीवन से जोड़ा और आम जनता के संघर्षों को केंद्र में रखा। उनकी रचनाओं में किसान, मजदूर, स्त्री और दलित वर्ग की समस्याएँ अत्यंत मार्मिक और यथार्थवादी रूप में सामने आती हैं। 'गोदान', 'निर्मला' और 'कफन' जैसी रचनाएँ सामाजिक विषमताओं, शोषण और नैतिक विडंबनाओं को उजागर करती हैं। प्रेमचंद ने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया और यह स्थापित किया कि साहित्य केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि समाज के सुधार का सशक्त उपकरण भी है।

छायावाद के काल में हिंदी साहित्य ने एक नई संवेदनात्मक और दार्शनिक ऊँचाई प्राप्त की। यद्यपि इस काल को प्राय: व्यक्तिवादी कहा जाता है, फिर भी इसमें मानवीय मूल्यों और सामाजिक चेतना का गहरा संबंध दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा और निराला जैसे कवियों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, संवेदनशीलता और आत्मबोध को केंद्र में रखा। निराला की रचनाओं में सामाजिक विद्रोह और करुणा का समन्वय मिलता है, जबकि महादेवी वर्मा के साहित्य में स्त्री चेतना का उदय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार छायावाद ने समाज-निर्माण के विमर्श को भावनात्मक और मानवीय स्तर पर सुदृढ़ किया।

प्रगतिवाद के दौर में हिंदी साहित्य ने समाज-निर्माण को एक वैचारिक और संघर्षशील प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। इस धारा के साहित्यकारों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाज का विश्लेषण करते हुए वर्ग-संघर्ष, शोषण और असमानता को केंद्र में रखा। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और अन्य कवियों ने आम जनता के जीवन-संघर्ष को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। इस काल में साहित्य केवल यथार्थ का चित्रण नहीं करता, बल्कि उसे बदलने की प्रेरणा भी देता है। प्रगतिवाद ने समाज-निर्माण के विमर्श को एक सक्रिय सामाजिक आंदोलन का रूप प्रदान किया।

इसके बाद प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में हिंदी साहित्य ने आधुनिक जीवन की जटिलताओं, मानसिक द्वंद्वों और अस्तित्वगत संकटों को अभिव्यक्त किया। अज्ञेय और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने व्यक्ति और समाज के संबंधों को नए दृष्टिकोण से देखा। मुक्तिबोध की रचनाओं में सामाजिक अन्याय, बौद्धिक संघर्ष और नैतिक संकट का गहरा विश्लेषण मिलता है। इस काल में समाज-निर्माण का विमर्श केवल बाहरी संरचनाओं तक सीमित नहीं रहता, बल्कि व्यक्ति के आंतरिक जीवन और चेतना तक विस्तारित हो जाता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में समाज-निर्माण का विमर्श और अधिक व्यापक, बहुआयामी और समावेशी हो गया है। इस काल में दलित साहित्य, स्त्री विमर्श, आदिवासी लेखन और उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से उभरती हैं। दलित साहित्य ने समाज के उस वर्ग की आवाज को सामने लाया, जो लंबे समय तक हाशिए पर रहा। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' जैसी रचनाएँ जातिगत उत्पीड़न की सच्चाई को उजागर करती हैं। स्त्री विमर्श ने पितृसत्तात्मक संरचनाओं को चुनौती देते हुए स्त्री की स्वतंत्र पहचान और अधिकारों की मांग की। इसी प्रकार आदिवासी साहित्य ने सांस्कृतिक विविधता और हाशिए के अनुभवों को साहित्य में स्थान दिया।

समकालीन संदर्भ में हिंदी साहित्य वैश्वीकरण, डिजिटल तकनीक और बाजारवाद के प्रभावों से भी प्रभावित हो रहा है। डिजिटल माध्यमों ने साहित्य के प्रसार को व्यापक बनाया है, जिससे नए लेखकों को अवसर मिल रहा है और साहित्य अधिक लोकतांत्रिक हुआ है। हालांकि, इसके साथ ही साहित्य की गुणवत्ता और गहराई को लेकर नई चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। इसके बावजूद हिंदी साहित्य आज भी समाज-निर्माण के नए आयामों, जैसे पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक समानता, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय पर सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है।

अंतत: यह स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य में समाज-निर्माण का विमर्श एक निरंतर विकसित होती हुई प्रक्रिया है, जो विभिन्न ऐतिहासिक चरणों से गुजरते हुए आज एक बहुविमर्शी और समावेशी स्वरूप ग्रहण कर चुका है। भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन साहित्य तक, हिंदी साहित्य ने समाज के विकास, सुधार और परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और भविष्य में भी यह प्रक्रिया निरंतर जारी रहेगी।

आलोचनात्मक दृष्टि : साहित्य का हस्तक्षेप और प्रतिरोध

साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी आलोचनात्मक दृष्टि है, जिसके माध्यम से वह समाज की विसंगतियों, अंतर्विरोधों और अन्यायपूर्ण संरचनाओं को उजागर करता है तथा परिवर्तन की दिशा में हस्तक्षेप करता है। यह आलोचना केवल नकारात्मक या विध्वंसात्मक नहीं होती, बल्कि रचनात्मक होती है, जिसका उद्देश्य समाज को बेहतर बनाना होता है। हिंदी साहित्य में यह आलोचनात्मक चेतना विशेष

रूप से आधुनिक काल में विकसित होती है, जहाँ साहित्यकार समाज की समस्याओं को केवल चित्रित नहीं करते, बल्कि उनके कारणों और प्रभावों का भी विश्लेषण करते हैं। प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक अन्याय और शोषण के विरुद्ध एक सशक्त आवाज सुनाई देती है, जबकि निराला की कविताओं में विद्रोह और करुणा का अद्भुत संगम मिलता है, जो समाज के उपेक्षित वर्गों की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। मुक्तिबोध ने आधुनिक समाज की जटिलताओं और अंतर्विरोधों को गहराई से समझते हुए व्यक्ति की चेतना और सामाजिक संरचना के बीच के संघर्ष को उजागर किया। दलित और स्त्री साहित्य ने इस आलोचनात्मक दृष्टि को और अधिक तीव्र बनाया है, जहाँ समाज की उन संरचनाओं को चुनौती दी जाती है, जो असमानता और अन्याय को बनाए रखती हैं।

समाज-निर्माण में हिंदी साहित्य की बहुआयामी भूमिका

हिंदी साहित्य समाज-निर्माण में बहुआयामी और गहन भूमिका निभाता है, जो व्यक्ति और समाज दोनों के स्तर पर प्रभाव डालती है। साहित्य व्यक्ति के भीतर संवेदनशीलता, सहानुभूति और नैतिकता जैसे गुणों का विकास करता है, जिससे वह समाज के प्रति अधिक जागरूक और जिम्मेदार बनता है। यह समाज में जागरूकता उत्पन्न करता है और लोगों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सचेत करता है, जिससे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति मिलती है।

हिंदी साहित्य भारतीय समाज के निर्माण, परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया में एक अत्यंत प्रभावशाली माध्यम रहा है। यह केवल मनोरंजन या भावनात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक यथार्थ का सजीव दर्पण और समाज के मार्गदर्शन का सशक्त उपकरण भी है। साहित्य और समाज के बीच गहरा और पारस्परिक संबंध होता है। साहित्य समाज से प्रेरणा और विषयवस्तु ग्रहण करता है, वहीं समाज साहित्य से विचार, मूल्य और दिशा प्राप्त करता है। इस प्रकार हिंदी साहित्य समाज निर्माण की प्रक्रिया में बहुआयामी भूमिका निभाता है।

हिंदी साहित्य का आरंभिक स्वरूप ही सामाजिक चेतना से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दौरान संत कवियों ने समाज में व्याप्त अंधविश्वास, पाखंड और जातिगत भेदभाव के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाई। कबीर ने अपने दोहों के माध्यम से यह संदेश दिया कि ईश्वर की प्राप्ति बाहरी आडंबरों से नहीं, बल्कि आंतरिक शुद्धता और सच्चे आचरण से संभव है। उन्होंने सामाजिक समानता और मानवता का संदेश देते हुए समाज को नई दिशा प्रदान की। इसी क्रम में तुलसीदास ने रामचरितमानस के माध्यम से आदर्श जीवन मूल्यों, मर्यादा और कर्तव्य की भावना को स्थापित किया, जिसने समाज के नैतिक आधार को सुदृढ़ किया।

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य ने सामाजिक यथार्थ को और अधिक स्पष्टता से सामने रखा। मुंशी प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियों में समाज के विभिन्न वर्गों विशेषकर किसानों, मजदूरों और वंचित समुदायों की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया। उनकी रचनाएँ केवल कहानी नहीं कहतीं, बल्कि समाज की संरचना और उसमें निहित असमानताओं को उजागर करती हैं। 'गोदान' में किसानों की दुर्दशा और कफन में गरीबी की त्रासदी पाठकों को संवेदनशील बनाती है और सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करती है। प्रेमचंद के साहित्य ने यह स्पष्ट किया कि समाज में न्याय और समानता के बिना वास्तविक विकास संभव नहीं है।

हिंदी साहित्य ने राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान जब देश स्वतंत्रता संग्राम से गुजर रहा था, तब साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से जनमानस में देशभक्ति और स्वाधीनता की भावना को जागृत किया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा को आधुनिक स्वरूप प्रदान करते हुए राष्ट्रीय जागरण का मार्ग प्रशस्त किया। उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से राष्ट्रप्रेम, स्वाभिमान और संघर्ष की भावना को बल दिया। दिनकर की रचनाएँ विशेष रूप से जनमानस में ऊर्जा और प्रेरणा का संचार करती हैं।

मानवीय मूल्यों के विकास में हिंदी साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। साहित्य मनुष्य के भीतर संवेदना, करुणा, प्रेम और सहिष्णुता जैसे गुणों को विकसित करता है। महादेवी वर्मा की रचनाओं में मानवीय संवेदना का अत्यंत मार्मिक स्वर मिलता है, जो पाठकों को दूसरों के दुःख को समझने और सहानुभूति रखने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार साहित्य केवल ज्ञान का माध्यम नहीं, बल्कि मानवीयता का संवाहक भी है, जो समाज को अधिक संवेदनशील और सहृदय बनाता है।

हिंदी साहित्य भारतीय संस्कृति और परंपराओं के संरक्षण का भी महत्वपूर्ण साधन है। लोक साहित्य, लोकगीत और

लोककथाएँ समाज की सांस्कृतिक धरोहर हैं, जिन्हें साहित्य ने संरक्षित और संवर्धित किया है। इन रचनाओं के माध्यम से समाज अपनी परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवन मूल्यों को अगली पीढ़ियों तक पहुँचाता है। इससे सांस्कृतिक निरंतरता बनी रहती है और समाज अपनी पहचान को बनाए रखता है।

समकालीन हिंदी साहित्य ने समाज निर्माण के क्षेत्र में नए आयाम जोड़े हैं। नारी विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श जैसे विषयों ने साहित्य को अधिक व्यापक और समावेशी बनाया है। मन्नू भंडारी, ओमप्रकाश वाल्मीकि और महाश्वेता देवी जैसे लेखकों ने समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों की समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी है। इन रचनाओं ने समाज को यह सोचने पर विवश किया है कि समानता और न्याय के बिना कोई भी समाज पूर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार समकालीन साहित्य सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करने का कार्य कर रहा है।

हिंदी साहित्य शिक्षा और बौद्धिक विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है। यह व्यक्ति की सोचने-समझने की क्षमता को विकसित करता है और उसे समाज के प्रति जागरूक बनाता है। साहित्य के अध्ययन से व्यक्ति में आलोचनात्मक दृष्टि का विकास होता है, जिससे वह सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण कर सकता है और उनके समाधान की दिशा में सोच सकता है। इस प्रकार साहित्य एक जागरूक और जिम्मेदार नागरिक के निर्माण में सहायक होता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसका मार्गदर्शक भी है। यह समाज की वास्तविकताओं को उजागर करता है, उसके दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करता है और सुधार के मार्ग सुझाता है। साथ ही यह एक आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें समानता, न्याय, नैतिकता और मानवीयता का समावेश हो। बदलते समय के साथ हिंदी साहित्य की भूमिका और अधिक व्यापक होती जा रही है, किंतु उसका मूल उद्देश्य मानव कल्याण और समाज का समग्र विकास आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसलिए हिंदी साहित्य का अध्ययन और उसका संवर्धन समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंदी साहित्य ने राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिससे लोगों में स्वतंत्रता और स्वाभिमान की भावना विकसित हुई। साहित्य सांस्कृतिक संरक्षण और संवर्धन का भी माध्यम है, जो समाज की परंपराओं, मूल्यों और धरोहर को नई पीढ़ी तक पहुँचाता है। इसके साथ ही, यह शिक्षा और व्यक्तित्व निर्माण का भी महत्वपूर्ण साधन है, जो व्यक्ति के विचारों और दृष्टिकोण को विकसित करता है। साहित्य विभिन्न वर्गों, जातियों और संस्कृतियों के बीच संवाद स्थापित कर सामाजिक समरसता और एकता को भी बढ़ावा देता है।

समकालीन संदर्भ : चुनौतियाँ और संभावनाएँ

वर्तमान समय में हिंदी साहित्य एक ऐसे दौर से गुजर रहा है, जहाँ उसे अनेक नई चुनौतियों और संभावनाओं का सामना करना पड़ रहा है। वैश्वीकरण, बाजारवाद और तकनीकी विकास ने साहित्य के स्वरूप और उसकी भूमिका को प्रभावित किया है। डिजिटल माध्यमों के प्रसार ने साहित्य को एक व्यापक मंच प्रदान किया है, जिसके माध्यम से यह अधिक लोगों तक पहुँच रहा है और नए लेखकों को अवसर मिल रहा है। इससे साहित्य का लोकतंत्रीकरण हुआ है, लेकिन इसके साथ ही गुणवत्ता और गंभीरता को लेकर चिंताएँ भी उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि त्वरित लोकप्रियता की प्रवृत्ति कई बार साहित्य की गहराई को प्रभावित करती है। इन चुनौतियों के बावजूद हिंदी साहित्य के सामने अनेक संभावनाएँ भी हैं, क्योंकि यह पर्यावरण, लैंगिक समानता, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय जैसे समकालीन मुद्दों पर जागरूकता फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। नई पीढ़ी के लेखकों के पास नए दृष्टिकोण और अनुभव हैं, जो साहित्य को और अधिक समृद्ध और प्रासंगिक बना सकते हैं।

भविष्य की दिशा : हिंदी साहित्य की भूमिका

भविष्य में हिंदी साहित्य को अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को बनाए रखते हुए नए माध्यमों और तकनीकों को अपनाना होगा, ताकि वह बदलते समय के साथ स्वयं को अनुकूलित कर सके और समाज-निर्माण में अपनी भूमिका को और अधिक प्रभावी बना सके। साहित्य को समाज के वास्तविक मुद्दों, जैसे गरीबी, असमानता, पर्यावरण संकट और लैंगिक भेदभाव पर केंद्रित रहना चाहिए, ताकि वह समाज के विकास में सार्थक योगदान दे सके। इसके साथ ही, साहित्य को वैश्विक संदर्भ में अपनी पहचान बनाए रखते हुए भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और परंपराओं को भी संरक्षित करना होगा। यह संतुलन ही हिंदी साहित्य को भविष्य में भी प्रासंगिक और प्रभावी बनाए रखेगा।

निष्कर्ष

अंततः यह स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य और समाज-निर्माण का संबंध अत्यंत गहरा, व्यापक और बहुआयामी है, जिसमें साहित्य न केवल समाज का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है, बल्कि उसके निर्माण और परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका भी निभाता है। विमर्श, आलोचना और संभावनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य ने समाज को नई दिशा दी है और सामाजिक चेतना को विकसित किया है। यह समाज के विभिन्न वर्गों की आवाज को सामने लाता है और न्याय, समानता तथा मानवता के मूल्यों को स्थापित करने में सहायक होता है। आज के बदलते समय में हिंदी साहित्य के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं, लेकिन इसके साथ ही नई संभावनाएँ भी मौजूद हैं, जिनका उपयोग करके यह समाज-निर्माण में अपनी भूमिका को और अधिक सशक्त बना सकता है। इस प्रकार हिंदी साहित्य केवल शब्दों का संसार नहीं, बल्कि एक जीवंत शक्ति है, जो समाज को अधिक मानवीय, न्यायपूर्ण और समरस बनाने की क्षमता रखती है।

शोधार्थी, पीएचडी (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : njay82556@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शुक्ल, रामचंद्र. 2012. हिंदी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली.
2. द्विवेदी, हजारी प्रसाद 2015. हिंदी साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
3. शर्मा, रामविलास 2001. हिंदी साहित्य और समाज. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. सिंह, नामवर 2010. इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
5. मुंशी प्रेमचंद 2005. कुछ विचार. इलाहाबादरू हंस प्रकाशन, नई दिल्ली.
6. नगेंद्र 1998. हिंदी साहित्य का विकास. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
7. बच्चन सिंह 2003. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली.
8. त्रिपाठी, विश्वनाथ 2014. हिंदी आलोचना. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
9. मिश्र, शिवकुमार 2011. साहित्य और सामाजिक परिवर्तन. ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली.

प्रकृति और आदिवासी संस्कृति : आदिवासी साहित्य

आरती थापा

शोध सार

प्रकृति और आदिवासी संस्कृति के बीच संबंध अत्यंत गहरा, जीवंत और सहजीवी है। आदिवासी समुदाय अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखते हैं। उनके लिए प्रकृति केवल संसाधन नहीं, बल्कि एक जीवित, संवेदनशील और पूजनीय सत्ता है। इस शोध-पत्र में आदिवासी संस्कृति में प्रकृति के महत्व, उनके पारंपरिक ज्ञान तथा आधुनिक विकास के प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन यह दर्शाता है कि आदिवासी जीवन-शैली पर्यावरणीय संतुलन और सतत विकास का एक आदर्श मॉडल प्रस्तुत करती है।

मुख्य शब्द

आदिवासी साहित्य, प्रकृति, जनजातीय संस्कृति, जल-जंगल-जमीन, सह-अस्तित्व, पर्यावरण, सांस्कृतिक पहचान।

भूमिका

मानव सभ्यता के विकास की कहानी मूलत: प्रकृति के साथ उसके संबंध की कहानी है। प्रारंभिक मानव प्रकृति के अत्यंत निकट था और उसकी जीवन-शैली पूरी तरह प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित थी। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, मनुष्य ने प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया और धीरे-धीरे उसका दृष्टिकोण उपभोगवादी होता गया। आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि प्रकृति का अंधाधुंध दोहन होने लगा है, जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरणीय संकट, जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का ह्रास और प्राकृतिक असंतुलन जैसी गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं।

किन्तु इस परिदृश्य के विपरीत, आदिवासी समुदाय आज भी प्रकृति के साथ एक संतुलित और संवेदनशील संबंध बनाए हुए हैं। उनके लिए जंगल, नदी, पर्वत और वन्यजीव केवल भौतिक संसाधन नहीं हैं, बल्कि उनके जीवन, आस्था और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं। वे प्रकृति को ''माता'' के रूप में देखते हैं और उसके साथ सह-अस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनकी जीवन-शैली में प्रकृति के प्रति सम्मान, संरक्षण और संतुलन की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में आदिवासी समुदायों की संख्या और उनकी सांस्कृतिक विविधता अत्यंत समृद्ध है। गोंड, संथाल, भील, उरांव आदि जनजातियाँ अपने-अपने विशिष्ट रीति-रिवाजों और परंपराओं के माध्यम से प्रकृति के साथ गहरे संबंध को प्रदर्शित करती हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य आदिवासी साहित्य में प्रकृति-चेतना की अभिव्यक्ति का विश्लेषण करना, आदिवासी संस्कृति में प्रकृति की भूमिका को रेखांकित करना और समकालीन संदर्भ में इस संबंध की प्रासंगिकता पर विचार करना है।

प्रकृति का स्वरूप

'प्रकृति' शब्द संस्कृत के 'प्र' (प्रकृष्ट = श्रेष्ठ) और 'कृति' (सृष्टि = रचना) से मिलकर बना है। इस प्रकार इसका शाब्दिक अर्थ है—'सर्वश्रेष्ठ रचना' अथवा 'आदि रचना'। अर्थात् किसी व्यक्ति या वस्तु के मूल स्वभाव से है, साथ ही उस मूल शक्ति से भी जिससे सम्पूर्ण जीव-जगत उत्पन्न हुआ है, तथा वह जो हमें चारों ओर पेड़-पौधे, नदी आदि के रूप में दिखाई पड़ता है। परंतु प्रकृति केवल बाह्य जगत की वस्तु नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग भी है वह उसका ''अजैव शरीर'' है, जिसके सहारे मनुष्य

जीवित रहता है।

रामविलास शर्मा जी के अनुसार–

''साहित्य में मनुष्य के मन से लेकर पशु, पक्षी, नदी, पर्वत तक जितनी वस्तुओं, व्यापारों का वर्णन किया जाता है, वे सब प्रकृति के अन्तर्गत हैं।''[1]

अर्थात् प्रकृति केवल भौतिक तत्वों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की भावनाओं, अनुभवों और समस्त जीवन-व्यवहार को अपने भीतर समाहित करती है।

''साधारण बोलचाल में 'प्रकृति' मानव का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मानवेतर ही प्रकृति है- वह सम्पूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है, और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है जो कि इन्द्रियगोचर है- जिसे हम देख सुन और छू सकते हैं, जिसकी गंध पा सकते हैं और जिसका आस्वादन कर सकते हैं।''[2]

सभ्यता जैसे-जैसे विकसित हुई, मनुष्य ने हर चीज को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटना (Specialization) शुरू कर दिया। इसी बदलाव के कारण साहित्य में 'प्रकृति' शब्द का अर्थ केवल उस दुनिया तक सीमित हो गया जिसमें इंसान शामिल नहीं है (जैसे पेड़-पौधे, नदियाँ, पर्वत आदि)।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार प्रकृति का अर्थ और स्वरूप–

''(1) नरक्षेत्र के भीतर रहती है,

(2) कहीं मानवेतर बाह्य सृष्टि की ओर,

(3) कहीं समस्त चराचर के।''[3]

इंसानों को छोड़कर, बाहर की जो बाकी दुनिया है (जैसे पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदियाँ), वही असली प्रकृति है।

''सामान्यतः मनुष्य को छोड़कर अन्य समस्त सचेतन और अचेतन सृष्टि प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया गया है।''[4]

आदिवासी संस्कृति में प्रकृति

आदिवासी साहित्य में पर्यावरण केवल प्रकृति का वर्णन नहीं है, बल्कि यह उनके जीवन, संस्कृति और अस्तित्व का आधार है। आदिवासी समाज का पूरा जीवन जल, जंगल और जमीन पर निर्भर करता है। इसलिए उनके साहित्य में प्रकृति के प्रति गहरा सम्मान, प्रेम और संवेदनशीलता दिखाई देती है।

आज जल, जमीन और हवा–सभी के साथ पर्यावरण संरक्षण लगातार कमजोर होता जा रहा है। अगर पर्यावरण नष्ट होगा, तो प्रकृति का खत्म होना निश्चित है। आदिवासी लोग सदियों से पर्यावरण की रक्षा करते आए हैं। वे धरती को अपनी माँ मानते हैं और उसका आदर करते हैं।

लेकिन आज जैसे-जैसे विकास बढ़ रहा है, वैसे-वैसे इंसान चारों ओर से संकट में घिरता जा रहा है। पर्यावरण और आदिवासियों के संबंध में डॉ. रमणिका गुप्ता का मानना है कि–

''यह सही है कि आदिवासी साहित्य अक्षर से वंचित रहा, इसलिए वह उसकी कल्पना और यथार्थ को लिखित रूप में न साहित्य में ही दर्ज कर पाया और न इतिहास में ही। हाँ, लोकगीतों, किंवदंतियों, लोककथाओं तथा मिथकों के माध्यम से उसकी गहरी पैठ है।''[5]

आदिवासी साहित्य में प्रकृति-चेतना के तीन प्रमुख आयाम हैं–

1. आत्मीय आयाम : प्रकृति को परिवार के सदस्य की तरह मानना–नदी को माँ, पहाड़ को पिता, वृक्ष को पूर्वज।
2. आध्यात्मिक आयाम : प्रकृति में देवता, आत्मा और ब्रह्म की उपस्थिति का अनुभव करना।
3. प्रतिरोध आयाम : प्रकृति के नाश को अपने अस्तित्व का नाश मानकर उसके लिए संघर्ष करना।

आदिवासी जीवन में प्रकृति और मनुष्य का रिश्ता केवल रोजी-रोटी तक सीमित नहीं होता, बल्कि यह बहुत गहरा और भावनात्मक होता है। जंगल उनके लिए सिर्फ जीविका का साधन नहीं है, बल्कि वही उनका घर, उनकी पहचान और उनका जीवन है। वे जंगल से भोजन, लकड़ी और दूसरी जरूरी संसाधन तो लेते ही हैं, साथ ही उसे बहुत सम्मान भी देते हैं। उनके लिए वन देवताओं का रहने का स्थान माना जाता है, इसलिए वे पेड़-पौधों, नदियों और पहाड़ों को पवित्र समझते हैं और उनकी पूजा करते हैं। प्रकृति उनके समाज को एक साथ जोड़कर रखने का काम भी करती है, क्योंकि उनके त्योहार, परंपराएँ और रीति-रिवाज प्रकृति से ही जुड़े होते हैं। आदिवासी प्रकृति को केवल एक चीज या साधन के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे एक जीवित, संवेदनशील और समझने वाली शक्ति के रूप में महसूस करता है। उसे लगता है कि प्रकृति भी मनुष्य की तरह भावनाएँ रखती हैं और उससे जुड़ी हुई है। इसलिए यह सिर्फ प्रकृति का साधारण वर्णन नहीं है, बल्कि यह मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरे लगाव और एकात्मता की भावना को दर्शाता है। पर्यावरण के सन्दर्भ में

डॉ. रामदयाल मुण्डा का कथन है कि–

''पर्यावरणगत जितनी क्षति स्वतन्त्रता के पहले तक दो सौ वर्षों में हुई थी, उससे अधिक स्वतन्त्रता के बाद के 50 वर्षों में हुई है। खान-खदानों की अनियन्त्रित खुदाई एवं भारी कल-कारखानों की सघन स्थापना से 60 प्रतिशत क्षेत्र का वन आच्छादन मात्र 13 प्रतिशत पर उतर आया है।''[6]

निर्मला पुतुल अपनी कविता 'बूढ़ी पृथ्वी का दु:ख' में लिखती हैं कि-

''क्या तुमने कभी सुना है
सपने में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से
पेड़ों की चीत्कार?
किसी पेड़ की हिलती टहनियों में दिखाई पेड़ है तुम्हें
बचाव के लिए पुकारते हजारों-हजार हाथ?
क्या होती है तुम्हारे भीतर घमस
कटकर गिरता है जब कोई पेड़ धरती पर?''[7]

इसी संदर्भ में आदिवासी कवि प्यारे केरकेट्टा भी पर्यावरण को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि–

''जोहार उसे धरती पर
कहीं पर भी खड़ा है
........धूप, जाड़ा, बरसात
नहीं कर सकते परास्त
जोहार ऐसे शक्तिमान को जोहार!''[8]

आज पर्यावरण की चिंता समाज के हर वर्ग के लिए सबसे जरूरी विषय बन गई है। साहित्य की किसी भी विधा को देखें चाहे वह कविता हो, कहानी हो या नाटक हर जगह प्रकृति की पुकार सुनाई देती है। वर्तमान समय में आदिवासी समाज अपनी पहचान और अस्तित्व को बचाने की लड़ाई लड़ रहा है। 'जल, जंगल और जमीन' के इस गहरे संघर्ष को समझने के लिए झारखंड के युवा कवि अनुज लुगुन अपनी कविता में लिखते हैं–

''लड़ रहे हैं
नक्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ
जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ
गुफाओं की तरह टूटती
अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ
इनमें भी वही आक्रोशित हैं
जो या तो अभावग्रस्त हैं
या तनावग्रस्त हैं
बाकी तटस्थ हैं
कोई नहीं बोलता इनके हालात पर
कोई नहीं बोलता जंगलों के कटने पर
पहाड़ों के टूटने पर
नदियों के सूखने पर।''[9]

वर्तमान समय में प्रकृति का संरक्षण अनिवार्य हो गया है। इसी आवश्यकता को दर्शाते हुए कर्मानन्द आर्य की कविता आदिवासियों की उस गहरी पीड़ा को उजागर करती है, जिन्हें अब तक केवल खोखले वादे ही मिले हैं। विकास के नाम पर उन्हें उनकी जड़ों से उखाड़ा गया और उनके जल, जंगल व जमीन जैसे प्राकृतिक अधिकारों को छीन लिया गया। इन सबके बदले में उन्हें केवल झूठा दिलासा दिया गया कि 'डरो नहीं', जबकि उनकी वास्तविकता अत्यंत चुनौतीपूर्ण बनी रही।

''मेरी कविता तुम्हारे खिलाफ नहीं है
जिन्दगी की जंग लड़ते-लड़ते बंद मुट्ठी में भीगे हुए
खत अचानक स्याह हो जाते हैं
उस दोराहे पर जहाँ पहलवान छाप बीड़ी का
धुआं मेरी धमनियों में फैल जाता है
और मुझे सांस लेने में दिक्कत होती है
मैं कहता हूँ डाक्टर मुझे दिक्कत हो रही है
तुम कहते हो सब ठीक हो जाएगा।''[10]

यह जीवन के कठोर संघर्षों, भीतर की घुटन और सामाजिक उपेक्षा को व्यक्त करती है। इसमें ''बीड़ी का धुआँ'' और ''सांस लेने में दिक्कत'' जैसे बिंब व्यक्ति पर पड़ रहे शारीरिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक दबावों के प्रतीक हैं। जब व्यक्ति अपनी पीड़ा व्यक्त करता है और उसे केवल ''सब ठीक हो जाएगा'' कहा जाता है, तो यह समाज की संवेदनहीनता और समस्या के प्रति सतही दृष्टि को उजागर करता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध पत्र के आधार पर यह स्पष्ट करने प्रयास किया गया है कि प्रकृति और आदिवासी संस्कृति का संबंध केवल उपयोगिता नहीं, बल्कि गहन भावनात्मक, आध्यात्मिक और सहजीवी है। आदिवासी समाज प्रकृति को जीवन के केंद्र में रखकर एक ऐसी जीवन-शैली विकसित करता है, जिसमें संतुलन, संरक्षण और सह-अस्तित्व की भावना निहित होती है। उनके लिए जल, जंगल और जमीन केवल संसाधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान, आस्था और अस्तित्व के

मूल आधार हैं। आदिवासी साहित्य इस संबंध को अत्यंत सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है। लोककथाओं, गीतों और कविताओं के माध्यम से प्रकृति के प्रति उनका आत्मीय लगाव, आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा पर्यावरणीय संकटों के विरुद्ध प्रतिरोध स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है। निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन और अन्य रचनाकारों की कविताएँ न केवल प्रकृति-विनाश की पीड़ा को व्यक्त करती हैं, बल्कि समकालीन विकास मॉडल की विसंगतियों पर भी प्रश्नचिह्न लगाती हैं। वर्तमान समय में जब पर्यावरणीय संकट दिन-प्रतिदिन गहराता जा रहा है, तब आदिवासी जीवन-दृष्टि एक वैकल्पिक और मार्गदर्शक मॉडल के रूप में सामने आती है। यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सतत विकास और पर्यावरण संरक्षण के लिए आदिवासी ज्ञान-परंपरा, उनके जीवन-मूल्यों और प्रकृति-केंद्रित दृष्टिकोण को समझना और अपनाना अत्यंत आवश्यक है। अतः यह कहा जा सकता है, कि आदिवासी संस्कृति और साहित्य न केवल प्रकृति के साथ मनुष्य के संतुलित संबंध का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, बल्कि वे आधुनिक समाज को भी यह सिखाते हैं कि विकास का वास्तविक अर्थ प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है, न कि उसका दोहन करना।

स्नातक हिन्दी विशेष (चतुर्थ वर्ष)
आत्मा राम सनातन धर्म विश्वविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : aartithapa846@gmail.com
अनुक्रमांक -22/21003

सन्दर्भ सूची

2, पृष्ठ संख्या-116
2. अज्ञेय - आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ संख्या-171
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - रस मीमांसा, पृष्ठ संख्या-7
4. डॉ. रघुवंश- प्रकृति और हिंदी काव्य (मध्ययुग), पृष्ठ संख्या-5
5. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी - डॉ० रमणिका गुप्ता पृष्ठ संख्या- 10, 11
6. मुंडा, रामदयाल,आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृष्ठ संख्या-30
7. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृष्ठ संख्या-39
8. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी - डॉ० रमणिका गुप्ता पृष्ठ संख्या-11
9. www.kavitakosh.comeanujlugun
10. www.karmanandarya.blogspot.com

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ० रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना, भाग 2, पृष्ठ संख्या-116
2. अज्ञेय - आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ संख्या-171
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - रस मीमांसा, पृष्ठ संख्या-7
4. डॉ. रघुवंश- प्रकृति और हिंदी काव्य (मध्ययुग), पृष्ठ संख्या-5
5. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी - डॉ० रमणिका गुप्ता पृष्ठ संख्या- 10, 11
6. मुंडा, रामदयाल,आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृष्ठ संख्या-30
7. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृष्ठ संख्या-39
8. www.kavitakosh.comeanujlugun
9. www.karmanandarya.blogspot.com

स्नेहा

‘नेपथ्य राग’ नाटक में स्त्री अस्मिता के चिह्न

शोध सार

इस लघु शोध आलेख का उद्देश्य मीरकांत द्वारा रचित नाटक ‘नेपथ्य राग’ में स्त्री अस्मिता के चिह्न को दर्शन है, प्रस्तुत नाटक में ऐतिहासिक पात्र और आधुनिक स्त्री पात्र के समान सामाजिक संघर्ष को कहानी के माध्यम से दिखाया जाता है। इस नाटक के कथावस्तु स्त्री के सामाजिक संघर्षों के बीज अपनी प्रतिभा के संघर्ष तथा नई पीढ़ी के जिज्ञासा के बीच उपजी अस्मिता के आस-पास आधारित है। इस आलेख में इन्हीं स्त्री के ऐतिहासिक और आधुनिक समाज के संघर्षों को समेटने का प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक कहानियाँ जो हम अक्सर अपने आस-पास के समाज में सुनते तथा ग्रहण करते हैं क्या उनके पीछे कोई आधार होता है या केवल पुरुष प्रधान समाज की सुविधा?

बीज शब्द

अस्मिता, पितृ प्रधान, आधुनिकता, नेपथ्य

मूल लेख

इस शोध आलेख में ऐसी ही एक सामाजिक प्रणाली नाटक की पात्र के आधार पर आज की आधुनिक पात्र मेधा द्वारा तंज कसा गया है। नाटक के शीर्षक के आधार पर यदि संदर्भ देखें तो नेपथ्य का अर्थ रंगमंच के पीछे के परदे का परिदृश्य से है जो सदैव ही दर्शकों से छिपा रहता है। अत: कभी-कभी जो मान्यता समाज में पुरानी पीढ़ियों से बनाई गई है। कभी-कभी उनका आधार रूढ़िवादी मानसिकता होती है इसीलिए मनुष्यों को सदैव समय के साथ सोच में भी परिवर्तन करना अनिवार्य होता है।

आधुनिक परिवेश में पुरानी रूढ़िवादी सोच आज भी स्त्रियों के सशक्तिकरण में चुनौती बनी हुई है तथा जब तक इन सामाजिक चेतन को तर्क तथा बौद्धिक रूप से संशोधित नहीं किया जाएगा, स्त्रियों की स्थिति में सुधार संभव नहीं। इस आलेख स्त्री के बौद्धिक चेतन तथा सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न किया गया है, जिस प्रकार प्रसिद्ध पश्चिम स्त्रीवादी विचारक अपनी पुस्तक में लिखती है ‘‘स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।’’

स्त्री अस्मिता अवधारणा

‘‘अस्मिता’’ शब्द का अर्थ व्यक्ति के निजी स्वतंत्रता से है जिसमें उसके विचार, उसके व्यक्तित्व के तहत उसके अस्तित्व की पहचान होती है परंतु जब यही अस्मिता स्त्रियों की दृष्टि से देखें तो उनकी अपनी अस्मिता का संघर्ष आज भी हमारे समाज में एक सजीव प्रश्न बना हुआ है। हिन्दी साहित्य में स्त्री अस्मिता का सिद्धांत पश्चिम के देशों से आया है चूंकि स्त्री अस्मिता का संघर्ष पश्चिम के राज्यों में 19वीं सदी में ही चेतन में आ गया था। स्त्री अस्मिता के संघर्षों पश्चिम के साहित्य धरातल पर एक स्त्रीवादी आंदोलन के रूप में प्रसारित किया गया जिसे ‘फेमिनिसम’ का संबोधन दिया गया जिसके अनुसार स्त्रियों को सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक रूप में पुरुषों के ही समान समानता के अवसर की मांग रखी गई। चूंकि उस समकालीन परिस्थिति में कई मुख्य स्त्रीवादी विचारकों ने भी स्त्रियों को अपने अधिकार के लिए उजागर

किया। ये आंदोलन और स्त्री अस्मिता का संघर्ष भी पश्चिमी देशों में अधिक सफल और प्रभावी हुआ।

पश्चिम में स्त्रीवादी अस्मिता को केवल एक ही दृष्टि से न जोड़कर स्त्री के अन्य संघर्ष से भी जोड़ा गया है जिसमें भौतिक, बौद्धिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि संदर्भ भी सम्मिलित है, सिमोन द बोअर पश्चिम की एक प्रसिद्ध स्त्रीवादी विद्वान को स्त्री अस्मिता का मुख्य प्रवर्तक मन है। उनके अनुसार स्त्रियों की अस्मिता अब तक इसीलिए अदृश्य है क्योंकि स्त्रियों को सदैव पुरुषों के संदर्भ में परिभाषित किया गया है जिसमें पुरुष एक कर्ता के रूप में परिभाषित किया गया है तथा स्त्री को अन्य रूप में जोड़ा जाता है।

स्त्री अस्मिता का मूल उद्देश्य एक स्त्री के पारिवारिक संबंध से स्थापित हुई पहचान से भिन्न स्वयं की अपनी निजी पहचान का निर्माण है। एक स्त्री को उसके पिता या बेटे की पहचान से जोड़ना, सामाजिक मानसिकता का विरोध करना ही अस्मिता है।

शोध की दृष्टि से स्त्री अस्मिता का अर्थ है 'स्त्री का स्वयं को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में पहचानना'।[1] यह पितृ समाज से अलग अपने मानवीय अस्तित्व की तलाश है।

सिमोन द्वारा उनकी प्रसिद्ध पुस्तक में वे स्त्री संदर्भ में लिखती हैं ''स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।''[2] यह प्रस्तुत कथन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि स्त्री कोई एक जाति न होकर पितृप्रधान समाज द्वारा बनाई एक मानसिकता है जिसको स्त्रियों में समय के साथ जोड़ दिया जाता है अर्थात् बाल्यकाल में बच्चों की मानसिकता में स्त्री पुरुष जैसे संदर्भ नहीं होते किन्तु जैसे-जैसे उनका मानसिक विकास होता है वैसे-वैसे स्त्रियों को सामाजिक रूप में, मानसिक रूप में ऐसे कई उद्धरण दैनिक रूप में दिखाए और सिखाए जाते हैं जिससे उनकी मानसिकता में स्त्री की छवि एक पुरुष के अधीन ही बने और इसका उदाहरण हम आज भी कई स्त्रियों की मानसिकता में भी पारदर्शी रूप में देख सकते हैं। सिमोन दी बोअर ने जहां एक ओर स्त्री अस्मिता को मानसिक विकास और मनोविज्ञान से जोड़ा है वहीं पश्चिम की ही एक अन्य विचारक वेरगिनीय वॉल्फ स्त्री अस्मिता की अन्य विचारक अपने विचारों को रचने के माध्यम से प्रस्तुत करती हुई स्त्री अस्मिता को आर्थिक स्वतंत्रता और नईजी स्थान से जोड़ते हुए लिखती है कि ''बौद्धिक स्वतंत्रता भौतिक चीजों पर निर्भर करती है, कविता बौद्धिक स्वतंत्रता पर निर्भर करती है और इस क्षेत्र में स्त्रियां हमेशा से ही गरीब रही हैं।''[3]

आज भी स्त्रियों में पहचान का संकट ज्यों का त्यों बना हुआ है। वर्तमान परिस्थितियों में भले ही स्त्री विमर्श जैसे नए-नए स्त्री अस्मिता के उद्देश्य सम्मिलित हो गए हैं परंतु अभी भी स्त्रियों के अस्मिता का संकट स्त्री विमर्श का मुख्य आयाम है। जिस प्रकार गीतांजलि श्री अपनी रचना के माध्यम से लिखती हैं कि ''यद्यपि नए-नए छेकटरों में तथा बदलती परिस्थितयो में नई स्त्री द्वारा अपने व्यक्तित्व को पहचान देने हेतु कार्य किए गए परंतु अभी भी नए समय के नए व्यक्तित्व की भूमिका को तलाशने का क्रम थमा नहीं है।''[4] इन स्त्रियों के जीवन में आदर्शी स्त्री की ऐसी छवि गढ़ दी गई है जो कभी भी उसकी सहगामी बनना स्वीकारती नहीं है तथा साइडैव ही बलिदान तथा त्याग की मूरत बनी रहती है।

ये आदर्श स्त्री की छवि मुख्य रूप से उन स्त्रियों की मानसिकता पर देखा जाता है जो अशिक्षित तथा बौद्धिक रूप से स्वयं को पुरुष के अधीन मानती हैं। वे सदैव परंपरा के मूल्यों में ढल जाती हैं। स्त्री को आदर्श या बुरी स्त्री के रूप में मापने के दायरे पुरुषों द्वारा नहीं बल्कि एक सामान्य मनुष्य के दायरे के आधार पर होने चाहिए। स्त्रियों के अस्मिता का प्रश्न जितना पाश्चात्य देशों में प्रभावी रहा है उतना भारतीय संदर्भ में नहीं रहा जिसका एक मुख्य कारण भारत का विकास की दृष्टि से आधुनिकीकरण पश्चिम देशों से पीछे रहना है।

'नेपथ्य राग' नाटक में स्त्री अस्मिता के चिह्न

'नेपथ्य राग' नाटक मीरकांत द्वारा लिखा गया एक अनोखा स्त्री विमर्श आधारित नाट्य रचना है जिसमें ऐतिहासिक और आधुनिक स्त्री के पुरानी रूढ़ियों के विरोध में संघर्ष उपजे अंतर्द्वंद्व को दिखाया गया है। इसमें दो स्त्री पात्र 'खना' और 'मेधा' के अपने समकालिक सामाजिक परिवेश में स्त्री अस्तित्व को साहित्य में लाया गया है। इस रचना में पौराणिक पात्र कहना के माध्यम में उसके सम्यक समाज में पितृ प्रधान संरचना में स्त्री की गरिमा, प्रतिभा को रेखांकित किया गया है। यह रचना समाज में पुरुष वर्चस्व और नारी अधीन की स्थिति पर एक सजीव प्रश्नचिह्न है। इस नाटक में कहना एक खगोल विज्ञान की ज्ञात अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन एक ऐसे समाज के

सम्मुख करती है जो स्त्री को केवल एक अपूर्ण इकाई मानता है तथा इसका ही पहला स्वरूप उसको अपने शोषण का सामना करना पड़ता है तथा इसी के समकालीन आधुनिक युग की मेधा की कहानी जो परस्पर कहना के शोषण तथा संघर्ष से भी जुड़ी ही है। जैसे कि लेखिका स्वयं भी लिखती है—''नाटक का आरंभ आधुनिक परिवेश में कथावाचन शैली में होता है। माँ अपनी कामकाजी बेटी मेधा को एक कहानी सुनती है। कहना की कहानी। यह कहानी पुरुष सहकर्मियों के सही सहयोग न देने पर उदास मेधा के दु:ख पर वरहट आयाम डालती है।[5] अर्थात् यह रचना आधुनिक सशक्त स्त्री पात्र मेधा और पौराणिक स्त्री पात्र खना के बीच की एक मानसिक अंतर यात्रा के रूप में चित्रित की गई है। जहां मेधा आज के समय की शिक्षित तथा आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर स्त्री है वहीं खना ऐतिहासिक चरित्र जो वरमिहिर नामक पात्र की शिष्या और पुत्रवधू है। दोनों ही स्त्री चरित्र हैं किन्तु यदि इनमें मुख्य समानता है तो वो एक समय की दूरी है, परंतु मूल समस्या जो इस रचना का केंद्र है वो समय के साथ समाज में स्त्री के प्रति स्त्रियों की ही दृष्टि का परिवर्तन न होना है। इतनी सदियां बीत जाने के बाद भी हमारे समाज में बहुसंख्यक स्त्रियों की स्थिति आज भी खना की स्थिति के सम्मान है।

नाटक में सम्प्रेषित कहानी के अनुसार—खना एक विदुषी जो राजा विक्रमादित्य के राजदरबार की एक दर्शक ने अपनी ज्ञान प्रतिभा के बल से खना द्वारा दिया गया एक कथन राजा की सभा में आए राज धर्म की उलझी गुत्थी को सुलझाने का अस्त्र बन गया। राज्य द्वारा नवरत्नों में शामिल होने का प्रस्ताव खना के स्त्री के विकास की दृष्टि से आती वृहत अवसर था किन्तु स्त्री का नवरत्न में स्थान पुरुष प्रधान मानसिकता के लिए अस्वीकार्य थी। परिमाणस्वरूप खना को राजसभा में अपने नवरत्न की उपाधि जीवविहीन रूप में मिली अर्थात् खना राजसभा के सूत्र सुन एवं देख सकती है लेकिन खना को राज कारवाही में अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की अनुमति नहीं थी। खना का अस्तित्व राज दरबार में केवल एक मूक दर्शक भांति ही रह गया था। इसके अंत में खना द्वारा दिया गया कथन उन सभी स्त्रियों के संदर्भ में एक विश्वास और आशा है जो अपने अस्तित्व के लिए न सिर्फ लड़ रही है किन्तु उन्हें प्राप्त करना भी जानती है। खना कहती है कि ''श्रवण क्या यह तो आषाढ़ से पहले के मेघ हैं।। बरसेंगे नहीं। आषाढ़ अभी आया नहीं...आषाढ़ आने में कई सतस्वार बीत जाएंगे .. . कई युग.... कई नेपथ्य .. इसे मंच तक पहुचने में समय लगेगा कल्पांत कई।''

सामाजिक दायरों के अनुसार लेखिका यह निष्कर्ष प्राप्त करती है कि स्त्री आधुनिक, शिक्षित तथा आत्मनिर्भर तो बन सकती है परंतु निमक तथा निर्णायक केवल पुरुष ही रहेगा और यदि कोई स्त्री इन दायरों को तोड़ती भी है तो उसे कई संघर्षों का सामना करना पड़ेगा। ये संघर्ष या तो उसको मानसिक रूप से मजबूत बना देंगे या फिर अंत में स्त्री को मूक बना देंगे जिस प्रकार खना का अंत नाटक में दिखाया गया है।

नाटक सदैव ही समकालिक सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित होता है। लेखक अपने रचना का प्रेरणास्रोत का आधार सदैव उनकी सामाजिक समस्या ही होती है तथा इस नाटक के संदर्भ में लेखिका लिखती है,''यह नाटक प्रतीकात्मक है क्योंकि वैचारिक अभिव्यक्ति से रहित स्त्री ही समाज को स्वीकार्य रही है। यह दृष्टिकोण पीढ़ी दर पीढ़ी पारंपरिक रूप से शताब्दियों से बेहटा चल आया है और उसने जनमानस में अपनी जमीन तलाश ली है। इसी जमीन पर कहीं-कहीं फूटते हैं पौधे दर्द के, चुभन के। इस एहसास से खना कई साल पहले भी नेपथ्य में थी और आज भी सही मायने में नेपथ्य में है।[6]

उपसंहार

आधुनिक परिवेश में पुरानी रूढ़िवादी सोच आज भी स्त्रियों के सशक्तिकरण में चुनौती बनी हुई है तथा जब तक इन सामाजिक चेतना को तर्क तथा बौद्धिक रूप से संशोधित नहीं किया जाएगा स्त्रियों की स्थिति में सुधार संभव नहीं। इस आलेख स्त्री के बौद्धिक चेतन तथा सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न किया गया है जिस प्रकार प्रसिद्ध पश्चिम स्त्रीवादी विचारक अपनी पुस्तक में लिखती है ''स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।''[7]

स्त्री को पुरुष संदर्भ से बाहर निकालकर स्त्री के अपने निजी एकल स्वतंत्र इकाई के साथ दिखाया गया है। इस आलेख में स्त्री के सामाजिक मापदंड से स्त्री को स्वतंत्र कर

उसे एक नई आधुनिक स्त्री के साँचे में संशोधित किया गया है।

शोधार्थी
हिन्दी विशेष
22/21018
आत्मा राम सनातन धर्म महाविद्यालय
Purnimasingh991125@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. अस्मितामूलक और हिन्दी साहित्य : रजत रानी मीनू
2. स्त्री उपेक्षित : प्रभा खेतान
3. अस्मितामूलक और हिन्दी साहित्य : रजत रानी मीनू
4.
5. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में स्त्री विमर्श : ज्ञानतोष कुमार झा
6. नेपथ्य राग : मीरकांत
7. द सेकंड सेक्स : सिमोन दी बोअर

संदर्भ ग्रंथ

1. नेपथ्य राग नाटक : मीरकांत, भारतीय जनपथ प्रकाशन, 2023
2. दी सेकंड सेक्स (हिन्दी अनुवाद) स्त्री उपेक्षिता : प्रभा खेतान, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, 2002
3. स्वतंत्र्योत्तर नाटक में स्त्री विमर्श : ज्ञान तोष कुमार झा, अंतिका प्रकाशन, 2025
4. नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे : साधन आर्य, निवेदिता मेनन, राजकमल प्रकाशन

डॉ. चित्तरंजन कुमार

सुप्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं पर बनी हिंदी की कालजयी फिल्में

शोध सार

इस शोध आलेख में मैंने प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं पर बनी फिल्मों के संदर्भ में विश्लेषण का काम किया है। साहित्य और सिनेमा दोनों समाज का दर्पण होता है। समाज में घटने वाली घटनाएं, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक चेतना साहित्य को प्रभावित करती हैं। इस तरह सिनेमा भी इन सभी चीजों से अछूता नहीं रह पाता है। साहित्य और सिनेमा भले ही दो विधाएं हैं, लेकिन यह दोनों समाज से निरपेक्ष नहीं है। मैं इस आलेख में आर.के. नारायण की प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यास 'द गाइड' पर आधारित देवानंद द्वारा अभिनीत फिल्म 'गाइड', प्रसिद्ध हिंदी उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ रचना 'गोदान' पर आधारित फिल्म 'गोदान', भगवती चरण वर्मा की प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' पर आधारित फिल्म 'चित्रलेखा', हिंदी के प्रसिद्ध रचनाकार फणीश्वर नाथ रेणु की 'मारे गए गुलफाम' उर्फ तीसरी कसम पर आधारित 'तीसरी कसम' और मुंशी प्रेमचंद के प्रसिद्ध कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पर आधारित सत्यजीत रे द्वारा निर्मित फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' को शामिल किया है।

बीज शब्द

निर्देशक, फिल्मकार, अभिनेता, अभिनेत्री, कलाकार, मासूमियत, प्रेम, उपवास, उपन्यास, गीत, संगीत, गरीबी, शोषण, दार्शनिक, पाप-पुण्य, नृत्य, वेश्या, वासना, भावना, त्याग, द्वंद्व, दर्शक, केंद्रित, कहानी, निराशा, प्रार्थना, ध्यान, जीवन, नैतिकता, पाखंड।

मूल लेख

1. गाइड (1965) - यह फिल्म प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक आर.के. नारायण के अंग्रेजी उपन्यास 'द गाइड' पर आधारित है। इसके निर्देशक विजय आनंद हैं। फिल्म के प्रमुख कलाकार देव आनंद, वहीदा रहमान, लीला चिटनिस, अनवर हुसैन और उल्हास है। यह फिल्म 1965 में रिलीज हुई थी। फिल्म की कहानी राजू देव आनंद के जेल से रिहा होने से शुरू होती है और बाद में अतीत में चली जाती है। राजू गाइड का काम करता है जो पर्यटकों को ऐतिहासिक स्थानों में घुमाकर जीवन बसर करता है। एक दिन एक अमीर, लेकिन बूढ़ा पुरातत्वविद मार्को (किशोर साहू) और उनकी युवा पत्नी रोजी (वहीदा रहमान) शहर में आते हैं। वहीदा रहमान एक वेश्या की बेटी है। मार्को शहर के बाहर गुफाओं में कुछ शोध कार्य करना चाहता है। इस काम के लिए वह राजू गाइड को अपने साथ रखता है। वह एक नई गुफा की खोज करता है और अपने काम में इतना खो जाता है कि अपनी पत्नी रोजी पर बिल्कुल ध्यान नहीं दे पाता है। जब मार्को गुफा की खोज में लगा रहता है तो राजू गाइड रोजी को सैर सपाटे पर ले जाता है। वह रोजी की नृत्य क्षमता और और मासूमियत से काफी प्रभावित होता है। एक दूसरे के साथ समय गुजारने के क्रम में रोजी राजू को बता देती है कि वह वेश्या की बेटी है और समाज में सम्मान के लिए उसने मार्को से शादी की। उसने इसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। रोजी को नृत्य का जुनून है जबकि मार्को इसका सख्त विरोधी है। एक दिन रोजी आत्महत्या करने की कोशिश करती है। यह खबर सुनकर मार्को गुफा से वापस आ जाता है लेकिन रोजी को जिंदा देखकर वह बहुत नाराज होता है। उसके अनुसार रोजी का आत्महत्या का प्रयास महज एक नाटक था और अगर वह मरना ही चाहती थी तो उसे अधिक मात्रा में नींद की गोलियां खाकर मर जाना चाहिए था। एक बार रोजी गुफाओं में जाती है तो वहां पर मार्को को

एक आदिवासी महिला से प्रेम करते देख लेती है। इसके बाद रोजी दोबारा आत्महत्या करने की कोशिश करती है।

राजू गाइड रोजी को समझाता है कि वह आत्महत्या ना करे बल्कि अपने सपने को पूरा करने का प्रयास करे। अब रोजी मार्को से सारा संबंध तोड़ लेती है और राजू उसे सहारा देता है तथा अपने घर रोजी को लाता है। लेकिन राजू जिस समाज में रहता है उस समाज में राजघराने में नाचने वाली को वेश्या समझा जाता है। अत: राजू की मां (लीला चिटनिस) और मामा (उल्हास) उसे रोजी को घर से बाहर निकाल देने के लिये कहता है। लेकिन राजू ऐसा करने से इनकार कर देता है। अत: राजू की मां घर छोड़कर अपने भाई के साथ रहने चली जाती है। राजू के दोस्त और ड्राइवर गफ्फूर (अनवर हुसैन) भी रोजी को लेकर उससे किनारा कर लेता है। ऐसा भी होता है कि राजू की आमदनी खत्म हो जाती है और सारा शहर उसके खिलाफ हो जाता है। इसके बाद राजू रोजी को एक गायक और नृत्यांगना बनने में हर तरह से मदद करता है। रोजी जल्द ही स्टार बन जाती है और नई ऊंचाइयों को छूने लगती है। लेकिन राजू इसी बीच आवारागर्दी करने लगता है और जुआ के लत में पड़ जाता है। इसी बीच मार्को पुन: वापस आता है और रोगी को दोबारा अपने साथ लाने का प्रयास करता है। इसी बीच वह राजू से टकरा जाता है और राजू उससे गुलदस्ता ले लेता है, जिसे रोजी को देने के लिए मार्को को अपने साथ लाया था। मार्को राजू को बताता है कि रोजी के कुछ गहने लॉकर में पड़े हैं जिसे निकालने के लिए उसे रोजी के हस्ताक्षर चाहिए। राजू को आशंका हो जाती है कि कहीं दोबारा से मार्को और रोजी के बीच संबंध स्थापित न हो जाए। अत: वह पेपर पर रोजी के जाली दस्तखत कर देता है, लेकिन वह मार्को को रोजी से मिलने नहीं देता है।

इसी दौरान दोनों के संबंधों में कड़वाहटें आ जाती हैं और वह राजू को अपने पास आने से मना करती है। वह राजू से यह भी कहती है कि अगर वह उसके पास आया तो वह घर छोड़कर चली जाएगी। बातचीत के क्रम में वह राजू से यह भी कहती है कि मार्को सही कहता है कि पुरुषों को औरत की कमाई पर नहीं जीना चाहिए। राजू रोजी को याद दिलाता है कि वह अपने बलबूते इस कामयाबी तक नहीं पहुंची है बल्कि उसे स्टार बनाने में राजू का बड़ा योगदान है।

कुछ समय बाद रोजी को राजू की जालसाजी का पता चलता है, जहां राजू को 2 साल की जेल की सजा हो जाती है। रोजी को समझ में नहीं आता है कि आखिर राजू ने जालसाजी क्यों की ? अगर उसे पैसे ही चाहिए था तो वह सीधे उससे मांग सकता था। राजू ने पैसे के खातिर नहीं बल्कि रोजी के प्यार में ऐसा कदम उठाया ताकि मार्को और रोजी दुबारा न मिल सके।

अब फिल्म वर्तमान में आ जाती है और राजू को जेल से लेने रोजी और राजू की मां दोनों आते हैं। राजू के अच्छे आचरण की वजह से उसे 6 महीने पहले ही जेल से रिहा कर दिया जाता है। रोजी और राजू की मां के बीच सारे मनमुटाव खत्म हो जाता है। रिहाई के बाद राजू अकेला घूमता रहता है और गरीबी, भूख और अकेलेपन के कारण वह इधर-उधर भटकता रहता है। एक दिन वह साधुओं की टोली के साथ एक गांव के पुराने मंदिर के अहाते में सो जाता है, जहां एक साधु उसके ऊपर पीतांबर ओढ़ा देता है। अगले दिन गांव का एक किसान भोला उसे साधु समझ लेता है और अपनी बहन को समझाने के लिए कहता है कि वह शादी न करने की जिद पर अड़ी हुई थी। राजू उसे समझा बुझाकर शादी के लिए तैयार कर देता है। इससे राजू की ख्याति दूर के गांव-गांव तक फैल जाती है। गांव वाले राजू को पहुंचा हुआ साधु समझ लेते हैं और उसके लिए खाना और तरह-तरह के उपहार भेंट करते हैं। राजू अब स्वामी जी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है, जिसके कारण पंडितों को राजू से ईर्ष्या हो जाती है। एक दिन राजू गांव वालों को एक साधु की कहानी सुनाता है कि कैसे गांव में अकाल पड़ने पर उस साधु ने 12 दिन का उपवास किया और उसके बाद उसे गांव में बारिश हो गई। संयोग से उस गांव के कुछ इलाके में भी अकाल पड़ जाता है और गांव का एक मूर्ख व्यक्ति राजू के वार्तालाप में कुछ और सुन लेता है। वह गांव वालों को बताता है कि स्वामी जी ने वर्षा कराने के लिए 12 दिन का उपवास रखने का निर्णय लिया है। पहले राजू इसका विरोध करता है और वह भोला को यह भी बताता है कि वह एक सजायाफ्ता मुजरिम है, जिसे एक लड़की की वजह से सजा मिली। लेकिन इसके बावजूद भी गांव वालों में उसके प्रति आस्था खत्म नहीं हुई। वे उसके सामने रत्नाकर डाकू का उदाहरण देते हैं जो बाद में चलकर महर्षि वाल्मीकि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

अंतत: राजू उपवास के लिए तैयार हो जाता है, हालांकि उसे विश्वास नहीं होता है कि उपवास का बारिश से कोई संबंध है। राजू की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी और हजारों की संख्या में दर्शनार्थी उससे आशीर्वाद लेने आने लगते

हैं। उसकी ख्याति सुनकर रोजी, राजू की मां और उसके दोस्त गफ्फूर उससे मिलने आते हैं। लेकिन दूसरे धर्म के होने के कारण गफ्फूर को भोला मंदिर के अंदर नहीं आने देता है। राजू मध्यस्थता करता है और कहता है कि इंसानियत प्रेम और परोपकार ही उसका धर्म है। इसीलिए किसी के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए, बल्कि इंसानियत को देखना चाहिए। धीरे-धीरे राजू की हालत नाजुक हो जाती है और आखिर में 12वें दिन सच में बारिश हो जाती है। लेकिन उपवास के कारण राजू का निधन हो जाता है। जहां एक ओर मंदिर के बाहर गांव वाले खुशी से झूम रहे हैं वहीं दूसरी ओर मंदिर के भीतर राजू के स्वजन उसकी मृत्यु पर विलाप करते नजर आते हैं।

'गाइड' फिल्म और मुख्य उपन्यास में कुछ अंतर भी दिखाई देते हैं। उपन्यास में राजू रोजी का प्यार पाने के लिए प्रयास करता है, लेकिन फिल्म गाइड में रोजी पहले ही अपनी वैवाहिक जीवन से दुखी है और मार्को को एक आदिवासी लड़के से प्रेम करते हुए देख खुद ही राजू के पास चली जाती है। दूसरा 'गाइड' फिल्म में राजू की मौत प्रसिद्धि से होती है और वर्षा होने से गांव का अकाल भी दूर हो जाता है, लेकिन उपन्यास में राजू की मौत गुमनामी में होती है और गांव के अकाल खत्म होने का कोई भी जिक्र नहीं है।

इस फिल्म का संगीत पक्ष बेजोड़ है जिसे सचिन देव बर्मन ने संगीत से सजाया है। प्रमुख गीतों में-

1. आज फिर जीने की तमन्ना है
2. दिन ढल जाए
3. क्या से क्या हो गया
4. गाता रहे मेरा दिल
5. पिया तोसे नैना लागे रे
6. सैया बेईमान
7. तेरे मेरे सपने
8. वहां कौन है तेरा मुसाफिर जाएगा कहां

फिल्म अंत के करीब आते दिखने लगता है कि यह फिल्म आम भारतीय दर्शकों को ध्यान में रखकर बनाई गई है। जहां अमेरिकी फिल्म का 'गाइड' धीरे-धीरे कमजोर होता जाता है और समय-समय पर अपनी अंतरात्मा से जूझता है। वही हिंदी फिल्म का 'गाइड' अपने दो अलग-अलग व्यक्तित्वों को आपस में लड़ते हुए देखता है; एक स्वार्थी और अवसरवादी राजू और दूसरा चमकीले भगवा वस्त्र में लिपटा हुआ एक पवित्र आत्मा और संत व्यक्ति जो कहता है कि उसका शरीर भले ही मर जाए, लेकिन वह अमर रहेगा। राजू किस दुविधा का सामना कर रहा है, वह अपने भीतर कौन से राक्षस से लड़ रहा है? यह सब दर्शकों पर नहीं छोड़ा गया है बल्कि उन्हें सब कुछ दिखाया गया।[1]

2. गोदान (1963) - गोदान फिल्म हिंदी के सबसे बड़े उपन्यासकार प्रेमचंद के चर्चित उपन्यास 'गोदान' पर आधारित है। त्रिलोक जेटली द्वारा निर्देशित इस फिल्म में राजकुमार (होरी) और कामिनी कौशल (धनिया) के रूप में मुख्य भूमिकाओं में है।

फिल्म की कहानी पराधीन भारत में व्याप्त गरीबी शोषण और सामंती व्यवस्था के बीच फंसे होरी के इर्द-गिर्द घूमती है। यह सिर्फ होरी की कहानी नहीं है बल्कि, संपूर्ण भारतीय कृषक संस्कृति की कहानी है। होरी किसानों का प्रतिनिधि पात्र है। होरी की इच्छा एक गाय रखने की है, जिसे वह प्रतिष्ठा का विषय मानता है। लेकिन गरीबी उसके सपने को पूरा नहीं होने देती है। एक दिन जमींदार के यहां जाने के क्रम में उसकी मुलाकात भोला से हो जाती है, जो अपनी गायों को चरा रहा था। उसमें से एक गाय पर होरी की नजर पड़ जाती है। भोला की पत्नी इस दुनिया को छोड़ चुकी थी और बातचीत के क्रम में अधेड़ भोला की शादी करने की इच्छा का उसे पता चलता है। होरी भोला को शादी का आश्वासन देता है। बदले में भोला उसे अपनी गाय उधार दे देता है। यह गाय अपने साथ खुशियों की जगह होरी के लिए विपत्तियों का सागर लाती है। गाय लाने के क्रम में होरी का बेटा गोबर भोला की विधवा बेटी झुनिया को अपना दिल दे देता है। उधर गाय के आते ही होरी और उसके भाई हीरा में झगड़ा हो जाता है और हीरा गाय को जहर दे देता है। पुलिस आती है और हीरा के घर की तलाशी करने की बात करती है। लेकिन अपने घर की मरजाद बचाने के लिए होरी कर्ज लेकर दरोगा को रिश्वत देता है ताकि घर की तलाशी रोकी जा सके। उधर गोबर झुनिया को अपने साथ भगा ले जाता है और भोला गाय के पैसों की एवज में उसके दोनों बैल खोलकर ले जाता है। दूसरी बिरादरी में शादी करने को लेकर होरी के विरुद्ध गांव में पंचायत बैठती है और उस पर आर्थिक दंड लगाया जाता है। कर्ज के दवाब से धीरे-धीरे होरी कृषक से मजदूर बन जाता है और उसकी हालत इतनी दयनीय हो जाती है कि उसे अपनी छोटी बेटी रूपा की शादी अपने ही हम उम्र के अधेड़ व्यक्ति रामसेवक से करना पड़ता

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

है। एक बार पुन: अपने पोते मंगल के लिए उसके भीतर गाय लेने की इच्छा बलवती हो जाती है और इसके लिए वह जी जान से खाने पीने की परवाह न करते हुए मजदूरी करने लगता है और मजदूर के रूप में काम करते हुए शहर को जोड़ने वाली सड़क पर ही उसकी मृत्यु हो जाती है। होरी जमींदारों, साहूकारों और महाजनों के चंगुल में फंसकर कर्ज के बोझ तले इतना दब जाता है कि उसे किसान से मजदूर बनना पड़ता है। यह पूरी कृषक संस्कृति के टूटने की कहानी है। खेती और किसानी संस्कृति में जो उसे मरजाद का भाव महसूस होता था वह सारी मरजाद टूट जाती है और वह मजदूर बन जाता है।

राजकुमार ने एक गरीब मजबूर लेकिन ईमानदार किसान की भूमिका को बखूबी निभाया है। उनकी सुरीली आवाज और आंखों में जो निराशा दिखाई देती है। वह होरी के चरित्र को जीवंत कर देता है। कामिनी कौशल धनिया के किरदार को बहुत ही सशक्त तरीके से निभाया है। इस फिल्म में जाति-बिरादरीवाद, विधवा पुनर्विवाह और धार्मिक ढोंग जैसे विषयों को प्रमुखता से उठाया है।

फिल्म और मूल उपन्यास में कुछ अंतर भी है। उपन्यास के विपरीत फिल्म में शहरी पात्रों के दृश्यों को कम करके होरी और धनिया की कहानी पर अधिक ध्यान केंद्रित किया गया है। उपन्यास के प्रकाशन के 85 वर्ष बाद भी किसानों की हालत बेहतर नहीं हुई है। सूदखोरों की जगह बैंक अब लोन दे सकते हैं लेकिन लोन की निरंतरता या तो किसानों को आत्महत्या के लिए मजबूर कर रही है या अन्यायपूर्ण कानून के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करने पर विवश कर रही है।[2]

गोदान गाय की पवित्रता की कहानी नहीं है बल्कि एक गरीब किसान का एक सपना है। यह सपना तोड़ दिया जाता है क्योंकि एक किसान के विरुद्ध बहुत सारी शक्तियां काम कर रही थीं। धनी, ताकतवर, लालची और यहां तक की उसके परिवार के लोग भी जिसमें, उसका बेटा उसका भाई भी शामिल था। ये सभी उसके विरुद्ध कार्य कर रहे थे। यह लालच धनलोलुपता, आत्म केंद्रित महत्वाकांक्षा और प्रेम की कहानी है।[3]

इस फिल्म का संगीत पंडित रविशंकर ने दिया है और गीत अनजान ने लिखा है। इस फिल्म के गाने कथानक के अनुकूल है।

1. पिपरा के पतवा सरीखे डोले मनवा
कि हियरा में उठत हिलोर
पुरबा के झोकवा में अईओ रे संदेशवा
कि चलो आज देशवा की ओर।[4]

इस गाने को महमूद (गोबर) पर फिल्माया गया है। इस गाने को आवाज मोहम्मद रफी ने दिया है।

2. हिया जरत रहत दिन रैन
हो रामा जरत रहत दिन रैन
अमवा की डाली पे कोयल बोल
तनिक न आवत चैन हो रामा
जरत रहत दिन रैन
बसवारी में मधुर सुर बाजे
पपिहरा बोले लागे
मधुर मधुर बैन हो रामा
जरत रहत दिन रैन।

इस गाने को राजकुमार (होरी) पर फिल्माया गया है और इस गाने को आवाज मुकेश ने दी है।[5]

3. चित्रलेखा (1964) - यह फिल्म भगवती चरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' पर आधारित है। केदार शर्मा द्वारा निर्देशित यह फिल्म एक क्लासिक फिल्म है, जिसमें पाप-पुण्य प्रेम और वैराग्य के दार्शनिक विषयों को उठाया गया है। इस फिल्म में मीना कुमारी (चित्रलेखा) प्रदीप कुमार (बीजगुप्त) और अशोक कुमार (योगी कुमारगिरि) की भूमिका में है।

यह फिल्म गुप्त साम्राज्य के समय की घटना पर आधारित है जिसमें जीवन के दार्शनिक प्रश्नों को उठाया है। क्या पाप और पुण्य वास्तव में अलग-अलग है? फिल्म की कहानी चित्रलेखा बीजगुप्त और योगी कुमारगिरी के इर्द गिर्द घूमती है जो वासना (भोग) और तपस्या (योग) के बीच के संघर्ष को दर्शाती है।

यह कहानी गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष काल में पाटलिपुत्र में घटित होती है। आर्यरत्न सामंत बीजगुप्त (प्रदीप कुमार) एक उच्च कुलीन व्यक्ति है, कुछ समय अन्य स्थान पर रहने के बाद पाटलिपुत्र लौट आए हैं। बीजगुप्त का शहर में स्वागत उत्सुकता के साथ किया गया। उनकी मंगेतर यशोधरा (शोभना) दबी आवाज में आशा कर रही है कि इस बार वे उनसे विवाह जरूर करेंगे। चित्रलेखा (मीना कुमारी) जो इस कहानी की नायिका है, पाटलिपुत्र में एक प्रसिद्ध नर्तकी है। इनको बताया जाता है कि जौहरी बीजगुप्त उनके प्रदर्शन को देखने आ रहे हैं। चित्रलेखा भी काफी उत्सुक है लेकिन साथ में दृढ़ भी।

बीजगुप्त भले ही राजकुमार हो और रत्नों के पारखी हो लेकिन चित्रलेखा उन्हें आसानी से नहीं छोड़ेगी। वह अकेले नहीं बल्कि अपने दो साथियों के साथ मुखौटे पहन कर नृत्य करेगी ताकि बीजगुप्त उनमें से किसी को भी अलग-अलग पहचान न सके। प्रदर्शन के अंत में चित्रलेखा के घर की देखरेख करनेवाली महिला गायत्री देवी (अचला सचदेव) आगे आती है और चित्रलेखा की ओर से घोषणा करती है कि यदि सामंत नर्तकी की सही पहचान कर लेते हैं तो चित्रलेखा स्वयं उन्हें माला पहनाएगी। बीजगुप्त जरा भी संकोच नहीं करता है और चाकू से मुखौटे की डोर काट देता है, जिससे चित्रलेखा का सुंदर चेहरा सामने आ जाता है। बीजगुप्त वह हार ले लेता है जिसे चित्रलेखा उसे पहनाने वाली थी और अपना मुंह फेर लेता है। यह सब देखकर उसकी मंगेतर यशोधरा राहत की सांस लेती है लेकिन उसकी सहेली रंभा जो बीजगुप्त के महल में काम करती है, इससे संतुष्ट नहीं हुई। उसका कहना था कि शब्द नहीं बोले गए लेकिन नजरें तो जरूर मिलीं। रंभा की भविष्यवाणी सच साबित हुई। बीजगुप्त चित्रलेखा के घर अक्सर आने जाने लगता है और घंटों साथ बिताता है, नर्तकी से बातें करता है और उसका मनोरंजन भी करता है। दोनों ओर से दार्शनिक विचार विमर्श के क्षण आते हैं, जीवन, प्रेम, त्याग और ऐसे ही अन्य विषयों पर चिंतन होता है। इन सभी मुलाकातों के बीच बीजगुप्त से एक आगंतुक मिलता है। ब्रह्मचारी श्वेतांक (महमूद) पाटलिपुत्र आए हैं जो अपने गुरु योगी कुमारगिरि (अशोक कुमार) का संदेश लेकर बीजगुप्त के लिए आए हैं। कुमारगिरि ने श्वेतांक को पाटलिपुत्र भेजा ताकि वह इस भोले भाले व्यक्ति को जीवन, पाप और प्रलोभन को समझने में मदद कर सके। क्या बीजगुप्त उसे आश्रय देंगे, उनकी देखभाल करेंगे? बाद में बीजगुप्त उसे अपने यहां आश्रय देता है।

बीजगुप्त और चित्रलेखा का रिश्ता किसी वेश्या से मिलने वाले ग्राहक के आम रिश्ते जैसा नहीं है। उनकी बातचीत बेहद गहन होती है। बीजगुप्त की मंगेतर यशोधरा को पता चल जाता है कि उसका मंगेतर चित्रलेखा से संबंध में है। एक दिन यशोधरा मंदिर में प्रार्थना करने जाती है जहां, उसकी मुलाकात रंभा से होती है। रंभा बीजगुप्त और चित्रलेखा के रिश्ते को अपनी आंखों से देख रही है। वह यशोधरा के प्रति सहानुभूति जताती है और ईश्वर से प्रार्थना करने की बात कहती है ताकि बीजगुप्त उसे मिल जाए। जवाब में यशोधरा रहती है कि वह ईश्वर से प्रार्थना करेगी की बीजगुप्त की जो दिल की इच्छा हो वह जरूर पूरी हो जाए। इसी बीच यशोधरा के पिता मृत्युंजय को यह खबर मिलती है तो वह आग बबूला हो जाता है और बीजगुप्त के गुरु कुमारगिरि से विनती करता है कि वह बीजगुप्त को समझाएं। इस तरह नाराज क्रोधित कुमारगिरि चित्रलेखा के महल में प्रवेश करता है और चित्रलेखा को बीजगुप्त से रिश्ता तोड़ने की बात करता है। लेकिन कुमारगिरि के जाते ही वह फुट-फुट का रोने लगती है। चित्रलेखा यशोधरा की बातें सुन लेती है और और बीजगुप्त को त्यागने का निर्णय लेती है। वह नृत्य और पाटलिपुत्र के सारे धन-दौलत और ऐश्वर्य को त्यागने का फैसला लेती है। वह कुमारगिरि के यहां जाकर उन्हें अपनी शिष्या बनाने के लिए विनती करती है।

चित्रलेखा के जाने के बाद बीजगुप्त यशोधरा से शादी करने का मन बना लेता है। लेकिन इसी दौरान श्वेतांक भी यशोधरा पर मोहित हो जाता है और उससे विवाह करना चाहता है। वह अपनी स्थिति बीजगुप्त के सामने रखता है। बीजगुप्त गंभीर असमंजस की स्थिति में पड़ जाता है। अंत में वह यशोधरा के पिता मृत्युंजय के यहां श्वेतांक और यशोधरा की शादी का प्रस्ताव लेकर जाता है। लेकिन इसके लिए मृत्युंजय तैयार नहीं होता है। श्वेतांक भले ही सूर्यवंशी था लेकिन वह निर्धन था। बीजगुप्त अपनी सारी दौलत श्वेतांक को दे देता है और यशोधरा श्वेतांक से शादी कर लेती है। लेकिन दूसरी तरफ कुमारगिरि चित्रलेखा की तरफ आसक्त होने लगता है जिससे चित्रलेखा परेशान हो जाती है। वह बीजगुप्त के पास वापस लौटने का मन बना लेती है। लेकिन कुमारगिरि उसे झूठी सूचना देता है कि बीजगुप्त यशोधरा से विवाह कर रहा है। चित्रलेखा का दिल टूट जाता है और कुमारगिरि चित्रलेखा के इस मन:स्थिति का फायदा उठाकर उसे अपनी वासना का शिकार बना लेता है। अगले दिन विशाल देव बताता है कि यशोधरा का विवाह श्वेतांक से हो रहा है और बीजगुप्त ने अपनी सारी संपत्ति श्वेतांक को दे दिया है। यह खबर सुनकर चित्रलेखा कुमारगिरि को बहुत धिक्कारती है और आश्रम छोड़कर चली जाती है। प्रायश्चित के लिए कुमारगिरि आत्महत्या का फैसला लेता है। लेकिन गंगा में डूबने से पहले उसे सांप काट लेता है और वह गंगा तक पहुंच नहीं पाता है। वह गंगा से प्रार्थना करता है कि वह उसे अपने गोद में समा ले। गंगा आगे बढ़ आती है और उसे अपने शरण में ले लेती है। बीजगुप्त पहले ही घर त्याग चुका होता है। चित्रलेखा उसे खोजते हुए अंत में उस तक पहुंच ही जाती है। इन दोनों के

मिलन के बाद फिल्म समाप्त हो जाती है।

मधुलिका लिंडे इस फिल्म के संदर्भ में कहती है कि उन्हें इस फिल्म में जो बात पसंद आई वह यह थी कि इसमें कई गहरे व्यक्तिगत मुद्दों, विषयों और भावनाओं को उठाया गया है जिन पर 50 और 60 के दशक के बॉलीवुड के मेलोड्रामा में अक्सर बात नहीं होती। वासना, प्रेम, आत्मा सम्मान, पाखंड, नैतिकता, पाप और पुण्य का विचार इनमें से प्रत्येक और भी बहुत कुछ एक ऐसी कहानी का हिस्सा है जो सतह पर देखने में काफी सरल लगती है, लेकिन वास्तव में इसे रखने के तरीके और इसके पात्रों के व्यवहार में काफी जटिलता और परिपक्वता दिखती है।[6]

4. तीसरी कसम (1966)– यह हिंदी के प्रसिद्ध रचनाकार फणीश्वरनाथ रेणु की चर्चित कहानी 'मारे गए गुलफाम' उर्फ तीसरी कसम पर आधारित है। इस फिल्म के निर्देशक बासु भट्टाचार्य और निर्माता प्रसिद्ध गीतकार शैलेंद्र है।

हीरामन (राजकपूर) बिहार के एक दूरदराज गांव का रहनेवाला है एक सीधा सादा ग्रामीण है। वह बैलगाड़ी चलाने का काम करता है। वह जीवन की कठिन परिस्थितियों के मद्देनजर दो कसम लेता है। फिर उसकी मुलाकात नौटंकी में नाचने वाली हीराबाई (वहीदा रहमान) से होती है और दोनों मित्र बन जाते हैं। फिर हीरामन तीसरी कसम भी खाता है। हीरामन पारंपरिक और रूढ़िवादी स्वभाव का है। बैलगाड़ी पर अवैध सामान की तस्करी करते हुए वह पुलिस के हत्थे चढ़ने से बाल-बाल बच जाता है। फिर उसने पहली प्रतिज्ञा ली कि वह फिर कभी अवैध सामान की धुलाई अपनी बैलगाड़ी पर नहीं करेगा। इसके बाद एक लकड़ी व्यापारी के लिए बांस ले जाते समय हीरामन की बैलगाड़ी पर लदे बांस एक टमटम से टकरा जाता है और टमटम पलट जाता है। उसमें सवार दो आदमियों को काफी चोट लगती है। फिर वे दोनों मिलकर हीरामन की जमकर पिटाई करते हैं। इसके बाद उसने दूसरी प्रतिज्ञा यह ली कि वह फिर कभी भी अपनी बैलगाड़ी में बांस की ढुलाई नहीं करेगा।

एक बार रात में हीरामन को नौटंकी नर्तकी हीराबाई को 40 मील दूर एक गांव के मेले में यात्री के रूप में ले जाने के लिए कहा जाता है। यात्रा के दौरान हीरामन समय बिताने के लिए गीत गाता है और हीराबाई को महुआ की कथा सुनाता है। यात्रा जैसे-जैसे आगे बढ़ती है हीराबाई हीरामन की मासूमियत और जीवन के सरल दर्शन से मंत्रमुग्ध हो जाती है। हीरामन हीराबाई को पवित्रता की देवी के रूप में देखता है। गांव के मेले में पहुंचकर हीराबाई नौटंकी मंडली में शामिल हो जाती है। हीराबाई हीरामन को कुछ दिनों के लिए मेले में रुकने का अनुरोध करती है ताकि वह उसका नृत्य देख सके। जब हीरामन नौटंकी देखने जाता है तो उसे पता चलता है कि दूसरे लोग हीराबाई को वेश्या समझते हैं। इस बात से वह काफी परेशान हो जाता है। हीरामन उसे समाज से बचाने और उसकी रक्षा करने की कोशिश करता है। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं हीराबाई और हीरामन का रिश्ता और मजबूत होता जाता है। जब हीराबाई के पेशे को लेकर हीरामन का स्थानीय लोगों से झगड़ा हो जाता है तब हीराबाई उसे समझाने की कोशिश करती है कि यह उसके जीवन की कठोर सच्चाई है। हीरामन हीराबाई से इस पेशे को छोड़ने को कहता है और एक सम्मानजनक जीवन जीने की अपील करता है। लेकिन हीराबाई ऐसा करने से इनकार कर देती है। निराश होकर हीरामन मेले से निकलकर अपने गांव लौट जाता है। हीराबाई हीरामन से मिलती है और उसको बताती है कि उसे बेच दिया गया था और फिर वह चली जाती है। हीरामन तब तीसरी प्रतिज्ञा (तीसरी कसम) लेता है कि वह आगे से फिर कभी भी किसी नौटंकी वाली को अपनी बैलगाड़ी में नहीं ले जाएगा।

इस फिल्म के सभी गीत शैलेंद्र और हसरत जयपुरी द्वारा लिखे गए हैं और संगीत शंकर जय किशन द्वारा संगीतबद्ध किया गया है। इस फिल्म के कुछ गाने बहुत ही लोकप्रिय हुए–

1. चलत मुसाफिर मोह लिया रे पिंजरे वाली मुनिया
2. दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समाई तूने काहे को दुनिया बनाई
3. पान खाए सैया हमारो
4. सजनवा बैरी हो गए हमार
5. सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है

इस फिल्म ने सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी जीता है।

'मारे गए गुलफाम' का 'तीसरी कसम' फिल्म के रूप में रूपांतरण ही इसे एक क्लासिक कीर्ति बना देता है। इसमें वासना जनित प्रेम नहीं है बल्कि प्रेम का उद्दात रूप है। फिल्मांकन में पात्रों के आंतरिक द्वंद्व उभर कर सामने आए हैं।

इस फिल्म के बारे में मधुलिका लिंडे लिखती है कि इस फिल्म की कोमल और लगभग काव्यात्मक गुणवत्ता मुझे

काफी पसंद आई। एक ऐसे युग में जब एक्शन जो कि जरूरी नहीं कि हिंसात्मक हो, कथानक में आने वाले मोड़ समान्य बात हो गई हो। वही तीसरी कसम का संवाद लोगों के बीच आपसी मेलजोल और रिश्तों पर केंद्रित है। यह 50 और 60 के दशक के हिंदी सिनेमा में जो मैंने देखा उसमें सबसे ज्यादा संवेदनशील गैर नाटकीय चरित्र चित्रण के साथ मेल खाता है। इसका एक कारण यह भी है कि 'तीसरी कसम' के संवाद करने वाले कलाकारों की संख्या बहुत कम है। हीरामन और हीराबाई ही मुख्य संवाद करने वाले पात्र हैं और कुछ अन्य कलाकार इसमें शामिल हैं। इसका कारण एक सरल और स्पष्ट कहानी है जिसमें नायक एक स्त्री से प्रेम करता है जिसे उसने अपने दिल में सर्वोच्च स्थान दिया है। यह उस स्त्री की कहानी है जो इससे असहजता महसूस करती है कि वह वास्तव में उस पुरुष के लायक नहीं है।[7]

5. शतरंज के खिलाड़ी (1977) – शतरंज के खिलाड़ी मुंशी प्रेमचंद की कहानी शतरंज के खिलाड़ी पर आधारित है। यह फिल्म सत्यजीत राय द्वारा निर्देशित है और 1977 में यह फिल्म प्रदर्शित हुई। यह फिल्म 1856 के अवध के नवाब वाजिद अली शाह के शासनकाल की विलासिता और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा राज्यों के अधिग्रहण नीति के दौरान अवध के दो बिलासी और पलायनवादी मानसिकता के दो शतरंज प्रेमी जागीरदारों मीर और मिर्जा की कहानी है। उन दोनों को अपने देश की राजनीतिक पतन से कुछ भी लेना-देना नहीं है बल्कि उनका उद्देश्य सिर्फ खेल में डूबे रहना है।

संजीव कुमार (मिर्जा सज्जाद अली) और सईद जाफरी (मीर रोशन अली) ने शतरंज के दीवाने जमींदारों की भूमिका में बेहतरीन अभिनय किया है। अमजद खान ने नवाब वाजिद अली शाह की भूमिका निभाई है, जबकि शबाना आजमी मिर्जा सज्जाद अली की पत्नी और फरीदा जलाल ने अमीर रोशन अली की पत्नी की भूमिका निभाई है। इसके अलावा फिल्म में सर रिचर्ड एटनबरो और फारुख शेख ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

यह सत्यजीत राय की हिंदी की पहली फिल्म है जिसे उनकी सबसे महंगी फिल्मों में से एक माना जाता है। फिल्म की सिनेमैटोग्राफी सेट और वेशभूषा उसे दूर के लखनऊ के माहौल को सटीक रूप से चित्र करते हैं। अमिताभ बच्चन ने सूत्रधार की आवाज दी है। फिल्म जो दिखाना चाहती है वह है- नैतिकता का पतन राजनीतिक अराजकता और भोग विलास में डूबे समाज की कायरता को उजागर करती है जहां शतरंज का खेल राष्ट्र हित से ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। इस फिल्म को सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार और तीन फिल्म फेयर अवार्ड भी मिले हैं।

प्रोफेसर पुनीत विसरिया कहते हैं कि पतनोन्मुखी अवध के समाज के इस चित्रण को सत्यजीत राय इसी नाम से सन् 1977 में फिल्म बनाकर चित्रपट पर उतारते हैं और अमिताभ बच्चन का सूत्रधार के रूप में प्रयोग करते हुए कथा सिनेमा की आवश्यकता के अनुरूप कतिपय परिवर्तन भी करते हैं, जैसे-मीर और मिर्जा का अंत में मरना ना दिखाना, मीर साहब की पत्नी के आशिक अकील की कथा को जोड़ना, कैप्टन विल्सन और जनरल आउट्रम की कथा जोड़ना, अल्बा जानीका प्रसंग, कल्लू नाम के लड़के की कथा आदि। लेकिन ये प्रसंग कहानी की अन्विति को प्रभावशाली बनाने का काम करते हैं।[8]

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : chittaranjan.kumar2009@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. गाइड, मधुलिका लिंडे, डस्टेड ऑफ
2. गोदान -1963, नास्टेल्जिया, दीपा गहलोत, 8 अक्टूबर 2021
3. गोदान (1963) डस्टेड ऑफ, मधुलिका लिंडे
4. मूल फिल्म 'गोदान'
5. मूल फिल्म 'गोदान'
6. चित्रलेखा, डस्टेड ऑफ, मधुलिका लिंडे
7. तीसरी कसम, डस्टेड ऑफ, मधुलिका लिंडे
8. प्रो. पुनीत विसरिया, फिल्म समीक्षा : शतरंज के खिलाड़ी

शोध-पत्र

आजादी के बाद आदिवासी राजनीतिक संघर्ष के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास

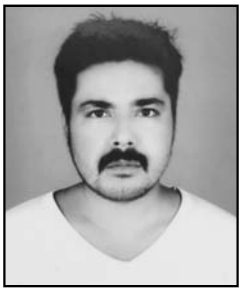

अमित कुमार सिंह

अंग्रेजी शासन के दौरान महाजनों और साहूकारों द्वारा आदिवासियों का व्यापक शोषण किया गया। उनकी सामाजिक अस्मिता और सांस्कृतिक पहचान को भी गहरा आघात पहुँचाया गया। इस अन्याय के विरोध में आदिवासी समुदाय ने अनेक सशस्त्र आंदोलनों का नेतृत्व किया। कुछ आंदोलनों में ईसाई मिशनरियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। लगातार बढ़ते संघर्षों और विद्रोहों के कारण अंग्रेजी प्रशासन को कई महत्वपूर्ण परिवर्तन करने पड़े। भूमि संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए भूमि सुधार कानून, छोटानागपुर टेन्योर एक्ट आदि अनेक कानून लागू किए गए। इन कानूनों से आदिवासियों को कुछ सीमा तक राहत मिली, किन्तु महाजनों और साहूकारों का अत्याचार और शोषण पूरी तरह समाप्त नहीं हो सका। यही कारण था कि आदिवासी समुदाय अपने अधिकारों और अस्तित्व की रक्षा हेतु निरंतर संघर्षरत रहा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सत्ता पर पूँजीवादी और सवर्णवादी शक्तियों का प्रभाव बना रहा, जिसके परिणामस्वरूप शोषण ने नए और अधिक व्यापक रूप धारण कर लिए। स्वतंत्र भारत में कानून और न्याय व्यवस्था आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा करने में अपेक्षित रूप से सफल नहीं रही, बल्कि कई बार कानूनी प्रक्रियाओं के माध्यम से उनका शोषण और अधिक बढ़ा। आदिवासी आंदोलनों और संघर्षों को दबाने के लिए पुलिस तथा अर्धसैनिक बलों का प्रयोग किया जाने लगा। चूँकि विश्व समुदाय की दृष्टि में भारत एक लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में स्थापित हो चुका था, इसलिए इस लोकतांत्रिक छवि को बनाए रखना भी आवश्यक था। संविधान ने आदिवासियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का वैधानिक अधिकार प्रदान किया। परिणामस्वरूप उनके आंदोलनों और विरोधों का खुला दमन करना पहले की अपेक्षा कठिन हो गया। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों की सक्रियता भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण रही। ईसाई मिशनरियों के प्रयासों से आदिवासी समुदाय में शिक्षा का प्रसार हुआ और उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता विकसित हुई। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लंबे संघर्षों ने उनमें राजनीतिक चेतना का भी विकास कर दिया था।

ऐसी परिस्थितियों में पूँजीवादी शक्तियों, महाजनों और साहूकारों के लिए आदिवासियों की भूमि पर सहज रूप से कब्जा करना संभव नहीं रह गया था। फिर भी संवैधानिक दायरे के भीतर और उसके विभिन्न प्रावधानों का उपयोग करते हुए उनका शोषण निरंतर जारी रहा। यह शोषण आज भी अनेक रूपों में विद्यमान है और इसके विरुद्ध संघर्ष भी निरंतर चल रहे हैं।

यहाँ कई महत्वपूर्ण प्रश्न उभरते हैं- व्यापक संघर्षों के बावजूद पूँजीवादी व्यवस्था किन तरीकों से शोषण को जारी रखे हुए है? आदिवासी समुदाय ही सबसे अधिक शोषण और विस्थापन का शिकार क्यों बन रहा है? उनकी भूमि पर ही सबसे अधिक कब्जा क्यों किया जा रहा है? उनके साथ अमानवीय व्यवहार और अत्याचार क्यों होते हैं? लाखों आदिवासी विस्थापन के लिए क्यों विवश हैं? इस पूरी प्रक्रिया के प्रति बुद्धिजीवियों का दृष्टिकोण क्या रहा है तथा संसदीय राजनीति में सक्रिय आदिवासी नेताओं की भूमिका कितनी प्रभावी रही है? इन सभी प्रश्नों का गंभीर और सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक है, ताकि वास्तविक परिस्थितियों को समझा जा सके और शोषण की संरचना का पर्दाफाश हो सके। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर भविष्य की नई दिशा निर्धारित करने में सहायक

सिद्ध होंगे।

1990 के आर्थिक उदारीकरण के बाद बहुराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कंपनियों के विस्तार के साथ आदिवासी क्षेत्रों में भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया तेज हो गई। कानूनों और प्रशासनिक व्यवस्थाओं की आड़ में आदिवासियों की जमीनों पर जबरन कब्जा किया जाने लगा। परिणामस्वरूप अनेक गाँव खाली कराए गए और आदिवासी समुदाय बड़े पैमाने पर विस्थापन का शिकार हुआ। इसके साथ ही महाजनों और साहूकारों द्वारा होने वाला आर्थिक शोषण भी और अधिक तीव्र हो गया। इस शोषण और दमन के विरुद्ध व्यापक स्तर पर अनेक आंदोलन संचालित किए जा रहे हैं, किन्तु पूँजीवादी मीडिया प्रायः इन आंदोलनों को प्रमुखता से प्रस्तुत नहीं करता। इसके विपरीत आदिवासी समुदाय ने अपने वैकल्पिक मीडिया तंत्र को सशक्त बनाया है, जिसके माध्यम से इन संघर्षों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उठाया जा रहा है। आंदोलनों पर आधारित फिल्में बनाकर उन्हें वैश्विक मंचों तक पहुँचाया जा रहा है।

उदारीकरण के बाद आदिवासी साहित्य ने भी इन आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आदिवासी तथा गैर-आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासी संघर्षों को व्यापक रूप से अभिव्यक्ति दी है तथा उनके विभिन्न आयामों को गहराई से समझाने का प्रयास किया है। यह साहित्य न केवल राजनीतिक आंदोलनों को नई दिशा और ऊर्जा प्रदान कर रहा है, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि भी विकसित कर रहा है। साथ ही यह आदिवासी समाज में राजनीतिक चेतना का विस्तार कर रहा है तथा सवर्णवादी और पूँजीवादी मीडिया एवं साहित्य के अंतर्विरोधों और छलपूर्ण प्रवृत्तियों को उजागर कर रहा है। फलस्वरूप स्थापित सवर्णवादी इतिहास-दृष्टि भी प्रश्नों के घेरे में आ गई है।

1990 के बाद प्रकाशित उपन्यासों में अभिव्यक्त स्वातंत्र्योत्तर आदिवासी राजनीतिक संघर्षों के विविध स्वरूपों का विश्लेषण किया गया है। इसके अंतर्गत पलाश के फूल तथा सोन पहाड़ी, मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, लौटते हुए, गायब होता देश, सहराना, जहाँ बाँस फूलते हैं तथा समर शेष है, मिशन झारखण्ड और रेड जोन में चित्रित आदिवासी राजनीतिक संघर्षों का मूल्यांकन किया गया है।

पीटर पॉल एक्का ने 'पलाश के फूल' में झारखंड के आदिवासी समुदायों के संघर्ष और उनकी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। उन्होंने विकास की अवधारणा के नाम पर आदिवासियों के साथ होने वाले शोषण और विस्थापन के विभिन्न रूपों को उजागर किया है। उपन्यास में यह दिखाया गया है कि आदिवासियों के कल्याण के लिए बनाई गई सरकारी योजनाओं का वास्तविक लाभ प्रायः 'दिकु' वर्ग ही प्राप्त करता है, जबकि आदिवासी समुदाय उपेक्षित बना रहता है। लेखक यह भी स्पष्ट करते हैं कि विकास और आधुनिकता के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर कब्जा करने की योजनाबद्ध प्रक्रिया चलती रही है। इस प्रकार तथाकथित विकास के पीछे छिपे शोषणकारी षड्यंत्रों को उपन्यास में गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसी संदर्भ में लेखक उपन्यास में लिखते हैं- "...बेहद घने जंगल सखुए के जंगल ठेके में उठ जाएंगे। जंगल बेहया से उजाड़ दिए जाएंगे। क्या पता कहीं कोलिहारी या खदान ही खुल न जाए, कहीं बांध बनने की योजना न चले, नहीं तो गाँव-बस्तियों खाली कर देनी होगी।"[1]

विकास की योजनाओं और औद्योगीकरण के नाम पर आदिवासियों की भूमि का अधिग्रहण लगातार बढ़ता गया, जिसके परिणामस्वरूप उनकी पारंपरिक और आत्मनिर्भर जीवन-व्यवस्था गहरे संकट में पड़ गई। दिकुओं द्वारा किए जा रहे आर्थिक और सामाजिक शोषण ने आदिवासी समुदाय के शांत और खुशहाल जीवन को प्रभावित किया। कल-कारखानों और उद्योगों के विस्तार से जल, जंगल और जमीन प्रदूषित होने लगे, जिससे उनके प्राकृतिक जीवन-स्रोतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि आदिवासी अपनी ही भूमि पर मजदूरी करने को विवश हो गए। जिन क्षेत्रों में कभी उनका स्वामित्व और स्वतंत्र अस्तित्व था, वहीं विकसित हो रही कॉलोनियों और शहरी संरचनाओं में उन्हें घरेलू नौकरों तथा निम्न श्रमिकों के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य किया जाने लगा। शहरीकरण और तथाकथित विकास की प्रक्रिया ने उनकी सांस्कृतिक पहचान, परंपराओं और सामुदायिक अस्मिता को भी गंभीर रूप से प्रभावित किया। इसी संदर्भ में पीटर पॉल एक्का अपने पलाश के फूल में लिखते हैं- "फिर तो शहरी बाबू इधर भी आयेंगे। शहरी प्रभाव बिखरता जाएगा। शहरी परिवेश का वही निर्मोही माहौल बदसूरती का आलम लिए मनोरम घाटियों में हर कहीं बिखर जाएगा।... यह एक अंतहीन भटकाव की शुरुआत है।"[2] यानी दिकुओं के हस्तक्षेप के चलते आदिवासी अंतहीन भटकाव की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हो रहे हैं।

उपन्यास में विस्थापन की पीड़ा से संघर्ष कर रहे आदिवासियों की मार्मिक स्थिति का संवेदनात्मक चित्रण किया गया है। आदिवासी स्त्री सलोमी, आनंद बाबू से बातचीत के दौरान बताती है कि जल, जंगल और जमीन पर बढ़ते हस्तक्षेप तथा उनसे बेदखली के कारण आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक निवास स्थलों से विस्थापित होकर विभिन्न शहरों में रोजी-रोटी की तलाश में भटकने को विवश हो गया है। वह यह भी बताती है कि शहरों में विस्थापित होकर पहुँचने वाली आदिवासी स्त्रियों को अनेक प्रकार की यातनाओं, शोषण और अपमानजनक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। उनकी आर्थिक विवशता का लाभ उठाकर उनके सम्मान और अस्मिता के साथ अन्याय किया जाता है तथा उन्हें सामाजिक और लैंगिक उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता है। इस प्रकार उपन्यास विस्थापन की त्रासदी को केवल आजीविका के संकट तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे आदिवासी समाज, उसकी संस्कृति और विशेष रूप से स्त्री अस्मिता पर पड़ने वाले गंभीर आघात के रूप में प्रस्तुत करता है।

पीटर पॉल एक्का का सोन पहाड़ी राजनीतिक चेतना से संपन्न एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें सोन पहाड़ी क्षेत्र के जागरूक आदिवासियों के संघर्षशील जीवन का चित्रण किया गया है, जो संगठित होकर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं तथा पूँजीवादी व्यवस्था के प्रलोभनों और षड्यंत्रों का शिकार नहीं बनते। वे पुलिस, महाजनों और साहूकारों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का खुलकर विरोध करते हैं तथा अपने अधिकारों और अस्तित्व के प्रति पूरी तरह सजग दिखाई देते हैं।

उपन्यास में यह दर्शाया गया है कि सरकार विकास की योजनाओं के नाम पर सोन पहाड़ी क्षेत्र को अपने नियंत्रण में लेना चाहती है। 'कोकिला परियोजना' के अंतर्गत बाँध निर्माण और बिजली उत्पादन की योजना प्रस्तुत की जाती है, किन्तु आदिवासी समुदाय इस योजना के पीछे छिपे वास्तविक उद्देश्य को समझता है। उन्हें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि बाँध बनने से उनके गाँव जलमग्न हो जाएँगे और वे बड़े पैमाने पर विस्थापन का शिकार होंगे। साथ ही वे यह भी जानते हैं कि मुआवजे और पुनर्वास के नाम पर उनके साथ पहले की तरह छल और अन्याय ही किया जाएगा। इसी कारण उपन्यास में आदिवासी समाज सरकार की इस परियोजना का संगठित और दृढ़ विरोध करता दिखाई देता है। इस संघर्ष के माध्यम से उपन्यास आदिवासी समुदाय की राजनीतिक चेतना, संगठन शक्ति और अपने जल, जंगल तथा जमीन की रक्षा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करता है।

उपन्यास में यह दर्शाया गया है कि आदिवासी समुदाय अब दिकुओं की चालों और षड्यंत्रों के प्रति पूरी तरह सजग हो चुका है। विकास योजनाओं के नाम पर उन्हें यह आश्वासन दिया जाता है कि बिजली प्लांट स्थापित होने के बाद आदिवासी गाँवों में बिजली उपलब्ध कराई जाएगी तथा बाँध के जल का उपयोग कृषि सिंचाई के लिए किया जाएगा। किन्तु आदिवासी समाज इन वादों की वास्तविकता को भली-भाँति समझता है और जानता है कि ऐसी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य उनकी भूमि पर कब्जा करना है। इसी संदर्भ में जीतू उराँव, इंजीनियर सुनील के समक्ष इन भ्रामक आश्वासनों का विरोध करते हुए अपनी स्पष्ट और मुखर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उसके कथन के माध्यम से उपन्यास यह स्थापित करता है कि आदिवासी अब विकास के नाम पर किए जाने वाले छलावे और शोषण के विरुद्ध संगठित रूप से आवाज उठाने लगे हैं। ''...आप तो बोलते हो-कोकिला परियोजना हमारा भलाई वास्ते होगा, ऊ कैसन धोखा है! पानी में डूबेगा हमर गाँव-घर, तो कहाँ खेती होयगा? किस घर में बिजली जलेगा?''[3] जीतू उराँव अपनी तर्कों से सुनील को निरुत्तर कर देते हैं। इनके कथन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी आज जागरूक हो गये हैं। वे अब दिकुओं के छल-कपट में फंसने वाले नहीं हैं। उनको पता है कि विकास के नाम पर ये आदिवासियों का सब कुछ छीन कर बर्बाद कर देंगे। उनकी स्त्रियों की अस्मिता के साथ खिलवाड़ करेंगे।

उपन्यास में आदिवासी समाज की स्त्री चेतना और स्त्री अस्मिता के प्रति उसकी सजगता का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। आदिवासी स्त्री फूलों की अस्मिता के साथ हरिगुलाम द्वारा किए गए दुर्व्यवहार का करमा तीव्र प्रतिकार करता है और उसे मृत्यु दंड दे देता है। इस प्रसंग के माध्यम से उपन्यास यह स्पष्ट करता है कि आदिवासी समाज स्त्रियों के सम्मान और अस्मिता के साथ किसी भी प्रकार का खिलवाड़ स्वीकार नहीं करता। हरिगुलाम की मृत्यु के बाद पुलिस गाँव में पहुँचकर आदिवासियों पर अत्याचार करती है। बिना किसी वैधानिक प्रक्रिया अथवा गिरफ्तारी वारंट के पुलिस ग्रामीणों के साथ दमनात्मक व्यवहार करती है। जब आदिवासी स्त्री बीना दरोगा के अन्याय का विरोध करती है, तब वह गाली-

गलौच करते हुए उस पर हंटर चलाने का प्रयास करता है। इसी समय जीतू और बिरसा पीछे से उसके कोड़े को पकड़ लेते हैं तथा दरोगा के अत्याचार का साहसपूर्वक प्रतिरोध करते हैं।

इस प्रसंग के माध्यम से उपन्यास आदिवासी समाज की सामूहिक चेतना, स्त्री सम्मान के प्रति संवेदनशीलता तथा सत्ता और पुलिसिया दमन के विरुद्ध उनके संघर्षशील स्वभाव को सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है। ''दरोगा बाबू तुम्हारा भी माँ–बहन होगा। हाथ उठाया तो ठीक नहीं होगा। कागज पतर निकालो, नहीं तो जितनाही कोड़ा तूने लगाया है उतनाही हम भी लगावेंगे। साहब का हाथ नीचे गिर गया। सोचा नहीं था गाँव में कानून की इतनी ही जरूरत पड़ जाएगी। पहले तो वह कहीं मनमानी कर लेता था।''[4] इस तरह लेखक उपन्यास में पुलिस और दिकुओं की मिलीभगत एवं शोषण का पर्दाफाश करते हुए, इसके प्रतिकार में आदिवासियों के संघर्ष को दर्शाते हैं। आदिवासी एकजुट होकर पुलिस के अत्याचार पर लगाम लगाते है। पुलिस की मनमानी का प्रतिकार करते हैं।

महुआ माजी के 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में विकास और आधुनिकता के नाम पर आदिवासी समाज के साथ किए जा रहे अन्याय और शोषण का गहन चित्रण किया गया है। उपन्यास में पूँजीवादी व्यवस्था और उसके शोषणकारी तंत्र को तथ्यात्मक आधार पर उजागर करते हुए उसे वैश्विक स्तर पर प्रश्नांकित किया गया है। साथ ही आदिवासी आंदोलनों और संघर्षों को अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर उन्हें व्यापक पहचान देने का प्रयास किया गया है। उपन्यास यह दर्शाता है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों के बाद बहुराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कंपनियों का आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप लगातार बढ़ा है। विकास परियोजनाओं और औद्योगिक विस्तार के नाम पर आदिवासियों की भूमि का अधिग्रहण किया जा रहा है, जिसके कारण वे अपनी पारंपरिक जीवन–व्यवस्था से विस्थापित हो रहे हैं। जीविका की तलाश में उन्हें अन्य शहरों की ओर पलायन करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। इसके साथ ही उपन्यास भ्रष्ट प्रशासनिक तंत्र और सत्ता संरचनाओं की आलोचना करता है, जो आदिवासियों के अधिकारों, उनकी सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता की उपेक्षा करते हुए उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करती हैं। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी जीवन के संघर्ष, विस्थापन, शोषण और प्रतिरोध को व्यापक सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों में प्रस्तुत करता है।

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ में सिंहभूम के 'जंगल आन्दोलन' के माध्यम से आदिवासी संघर्षों और राजनीतिक चेतना का सशक्त चित्रण किया गया है। यह आन्दोलन आदिवासी मजदूरों द्वारा अपने अधिकारों, सम्मान और पूर्वजों की भूमि की रक्षा के लिए संचालित किया जाता है। कॉरपोरेशन के कर्मचारियों तथा ठेकेदारों द्वारा मजदूरों और आदिवासी स्त्रियों के साथ किए जा रहे दुर्व्यवहार और अत्याचार के विरुद्ध आदिवासी समुदाय संगठित होकर संघर्ष करता है। वे अपनी छीनी गई जमीन को वापस प्राप्त करने के उद्देश्य से व्यापक आन्दोलन खड़ा करते हैं।

उपन्यास में लेखिका महुआ माजी पूँजीवादी सत्ता व्यवस्था के दमनकारी और शोषणकारी स्वरूप को उजागर करती हैं। सरकार आदिवासी आंदोलनों को कानून–व्यवस्था के लिए खतरा बताकर उनका दमन करना चाहती है। पूँजीवादी मीडिया भी इन संघर्षों को देशविरोधी गतिविधियों के रूप में प्रस्तुत कर आदिवासियों की छवि को धूमिल करने का प्रयास करता है। पुलिस और प्रशासन कानून का दुरुपयोग करते हुए आदिवासी आंदोलनों को क्रूरता से दबाने का प्रयास करते हैं, जिसके कारण आदिवासी समाज में व्यापक आक्रोश फैलता है। उपन्यास में यह भी दर्शाया गया है कि कॉलेजों के विद्यार्थी भी झारखंड राज्य निर्माण की माँग को लेकर आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। देवेन्द्र माँझी और शैलेन्द्र महतो के नेतृत्व में हजारों आदिवासी पारंपरिक हथियारों के साथ हड़ताल, घेराव और प्रदर्शन करते हैं। वहीं बिनोद बिहारी महतो, धरम चन्द्र मुर्मू और शिबू सोरेन जैसे नेता आदिवासी समाज में राजनीतिक चेतना और संघर्ष की भावना को मजबूत करते हैं तथा उन्हें अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

यह राजनीतिक आन्दोलन लोकतांत्रिक तरीकों से संचालित होता है, किन्तु इसके व्यापक प्रभाव से सत्ता व्यवस्था असहज हो उठती है। परिणामस्वरूप सरकार लोकतांत्रिक मूल्यों की उपेक्षा करते हुए निर्दोष आदिवासियों पर पुलिस द्वारा लाठीचार्ज और गोलीबारी करवाती है। उपन्यास इस तथ्य को रेखांकित करता है कि जिस प्रकार अंग्रेजी शासन ने आदिवासी आंदोलनों का क्रूरतापूर्वक दमन किया था, उसी प्रकार स्वतंत्र भारत में भी राज्यसत्ता द्वारा दमनकारी रवैया अपनाया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में लेखिका आदिवासियों के स्वर को व्यक्त करती हुई लिखती है–''हमें दु:ख इस बात का है कि सरकार हम

आदिवासियों की इन तमाम गतिविधियों को कानून व्यवस्था भंग किये जाने के नजरिए से देख रही है। इसके नेपथ्य में छिपी हमारी सामाजिक आर्थिक समस्याओं को बिल्कुल नजरंअदाज कर रही है।...और यही कारण था कि दबाये जाने के बावजूद आन्दोलन भड़कता ही चला गया ...।''[5]

लेखिका उपन्यास में आदिवासियों के जनांदोलनों के स्वरूप को रेखांकित करते हुए लिखती हैं–''परगनाओं का निर्णय–समस्त गांववालों का निर्णय, अब इस जनान्दोलनों में उफान आने में देर न लगी। धरना, प्रदर्शन में शामिल होने के लिए नगाड़े की थाप ही काफी थी।''[6] उपन्यास में आदिवासी समाज की लोकतांत्रिक परंपराओं और सामूहिक निर्णय प्रक्रिया का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। जनसभाओं में आदिवासी समुदाय आपसी विचार–विमर्श और सहमति के आधार पर निर्णय लेता है, जिनमें किसी व्यक्ति विशेष का राजनीतिक स्वार्थ या निजी हित प्रमुख नहीं होता। लिए गए निर्णयों को नगाड़ा बजाकर गाँव–गाँव तक पहुँचाया जाता है, जिससे सामुदायिक एकता और सहभागिता की भावना सुदृढ़ होती है। कोयलकारो परियोजना के कारण विस्थापन और बेरोजगारी से प्रभावित आदिवासियों के आंदोलनों को परगनाओं की सभाएँ नेतृत्व और ऊर्जा प्रदान करती हैं। ये सभाएँ आदिवासी समुदाय में अन्याय, शोषण और दमन के विरुद्ध संघर्ष करने का साहस और मनोबल उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी समाज की संगठन क्षमता और सामूहिक चेतना को रेखांकित करता है।

लेखिका महुआ माजी ने उपन्यास में आदिवासी स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी और नेतृत्वकारी भूमिका को विशेष महत्व दिया है। आदिवासी संघर्षों में महिलाओं की सहभागिता पुरुषों के समान ही महत्वपूर्ण दिखाई गई है। वे केवल सहयोगी की भूमिका में नहीं, बल्कि आंदोलनों के नेतृत्व में भी सक्रिय रूप से उपस्थित हैं। पुलिस दमन और अत्याचारों की परवाह किए बिना वे धरना, प्रदर्शन और प्रतिरोध आंदोलनों में दृढ़ता के साथ डटी रहती हैं। उपन्यास में आदिवासी स्त्रियों मेन्जारी और सुकुरमुनी के नेतृत्व, साहस और योगदान को व्यापक रूप से चित्रित किया गया है। इनके माध्यम से लेखिका ने यह स्थापित किया है कि आदिवासी आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका केवल सहभागी भर नहीं, बल्कि संघर्ष की प्रेरक और नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही है।

रणेन्द्र ने 'गायब होता देश' में वैश्वीकरण और तथाकथित विकास की नीतियों के कारण उजड़ते आदिवासी जीवन, विस्थापन और संघर्ष की गहरी त्रासदी को अभिव्यक्त किया है। उपन्यास में यह दर्शाया गया है कि विकास परियोजनाओं के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। बड़े बाँधों, उद्योगों और खनन परियोजनाओं के कारण आदिवासी गाँव लगातार उजड़ रहे हैं तथा बड़ी संख्या में आदिवासी विस्थापन का शिकार हो रहे हैं।

रोजगार और जीवन–निर्वाह की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने वाले आदिवासी युवक–युवतियों के गायब होने की समस्या को भी उपन्यास गंभीरता से उठाता है। साथ ही आदिवासी स्त्रियों के साथ होने वाले शारीरिक और सामाजिक शोषण को भी मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है। पुनर्वास योजनाएँ भ्रष्टाचार और प्रशासनिक उदासीनता का शिकार हो जाती हैं, जिसके कारण आदिवासी समुदाय अपने ही पूर्वजों द्वारा बसाई और सँवारी गई धरती पर बेघर और असुरक्षित हो जाता है। उपन्यास यह संकेत करता है कि विकास की आड़ में पूँजीवादी सत्ता व्यवस्था ने आदिवासी अस्तित्व को संकट में डाल दिया है।

उपन्यास में पुलिस और प्रशासन के क्रूर तथा अमानवीय व्यवहार का भी तीखा चित्रण किया गया है। साथ ही आदिवासी समाज के भीतर मौजूद प्रतिरोध और राजनीतिक चेतना को भी सशक्त स्वर दिया गया है। परमेश्वर सिंह पाहन दुलमी बाँध परियोजना का लोकतांत्रिक तरीके से विरोध करता है। उसके नेतृत्व में चल रहा आन्दोलन आदिवासी समाज में नई चेतना और एकजुटता का संचार करता है। किन्तु इस आन्दोलन को कुचलने के लिए पुलिस एक फर्जी मुठभेड़ में उसकी हत्या कर देती है और घटना को नक्सली कार्रवाई बताकर सच छिपाने का प्रयास करती है।

उपन्यास में यह भी दर्शाया गया है कि परमेश्वर सिंह पाहन की पत्नी को पुलिस शारीरिक उत्पीड़न का शिकार बनाती है और बाद में उसे गायब कर देती है। यह प्रसंग सत्ता और प्रशासन की दमनकारी मानसिकता को उजागर करता है। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि परमेश्वर भारतीय सेना का एक साहसी सैनिक रह चुका था और उसे परमवीर चक्र जैसे सम्मान से भी सम्मानित किया गया था, फिर भी राज्यसत्ता उसे संदिग्ध घोषित कर दमन का शिकार बनाती है। इन घटनाओं के माध्यम से उपन्यास यह स्थापित करता है कि

अत्याचार और दमन के बावजूद आदिवासी समाज टूटने वाला नहीं है। संघर्ष और प्रतिरोध उनकी ऐतिहासिक चेतना और जीवन परंपरा का अभिन्न हिस्सा रहे हैं, इसलिए वे हर परिस्थिति में अपने अस्तित्व और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्षरत रहते हैं।

लेखक के अनुसार सरकार अपने हितों की रक्षा के लिए प्रायोजित आंदोलनों और कृत्रिम मुद्दों को सामने लाती है, ताकि जनता का ध्यान वास्तविक संघर्षों और समस्याओं से हटाया जा सके। पूँजीवादी मीडिया भी इन योजनाबद्ध प्रयासों को व्यापक प्रचार देकर मूल आंदोलनों के प्रभाव को कम करने में सहयोग करता है। परिणामस्वरूप जनसमर्थन धीरे-धीरे बँटने लगता है और वास्तविक सामाजिक प्रश्न पीछे धकेल दिए जाते हैं। 'गायब होता देश' में लेखक यह दिखाते हैं कि पाहन बाबा की हत्या के विरोध में चल रहे आदिवासी आन्दोलन की व्यापकता और प्रभाव को कमजोर करने के लिए सरकार एक कृत्रिम आन्दोलन खड़ा करती है। इस प्रकार सत्ता सामाजिक आंदोलनों को निष्प्रभावी बनाने के लिए राजनीतिक षड्यंत्रों और दाँवपेचों का सहारा लेती है। उपन्यास इन घटनाओं के माध्यम से यह स्पष्ट करता है कि आदिवासी संघर्ष केवल आर्थिक या सामाजिक स्तर तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे राजनीतिक सत्ता और उसके तंत्र के साथ भी प्रत्यक्ष टकराव की स्थिति में हैं। इस सन्दर्भ में लेखक उपन्यास में लिखते हैं-"तुरंत-फुरंत सिविल सोसायटी ने दुरंगदह बचाओ संघर्ष समिति का गठन कर लिया। उधर सोनमनी दी, नीरज पाहन 'हत्यारे को फांसी' और 'पाहन बाबा हत्याकांड जांच' के लिए जुलूस, धरना प्रदर्शन करते। तो दूसरी ओर दुरंगदह बचाओ संघर्ष समिति नदी को अतिक्रमण मुक्त, क्लीन किशनपुर-ग्रीन किशनपुर, गंदी बस्तियों का स्थानान्तरण आदि मांगों को लेकर ज्यादा बड़ा जुलूस, प्रदर्शन, सेमिनार, कांफ्रेंस की झड़ी लगा रही थी। नतीजतन सारे शोरगुल में बाबा की हत्या के सवाल खो कर रह गए।"[7] इस प्रकार सत्ता के षड्यंत्रपूर्ण चक्र में जनआंदोलनों को धीरे-धीरे प्रभावहीन बनाने का प्रयास किया जाता है। सत्ता का मुख्य उद्देश्य आदिवासी समुदाय के संघर्षशील मनोबल और सामूहिक चेतना को कमजोर करना होता है। पूँजीवादी व्यवस्था जानबूझकर आदिवासियों के गौरवशाली और संघर्षमयी इतिहास को भुलाने का प्रयास करती है, ताकि उनके भीतर प्रतिरोध की भावना कमजोर पड़ जाए। किन्तु आदिवासी आंदोलनों की प्रेरणा उनके ऐतिहासिक संघर्षों और वीर पूर्वजों से निरंतर प्राप्त होती रहती है। सिदो-कान्हू तथा बिरसा मुण्डा जैसे महान आदिवासी नेताओं की संघर्षगाथाएँ आज भी आदिवासी समाज में चेतना, साहस और प्रतिरोध की भावना का संचार करती हैं। उनके संघर्ष आदिवासी समुदाय को अपने अधिकारों, अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए निरंतर संघर्षरत रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में लेखक उपन्यास में लिखते हैं-"...हमारी संघर्ष की परम्परा, हमारे पूर्वज संघर्ष करने वाले। हमारा इतिहास, हमारा मिथक, हमारा दर्शन सब संघर्ष का। हमारे पूर्वज भी ऐसे जो मृत्यु के बाद किसी स्वर्ग-नरक में नहीं जाते, हमारे साथ ही रहते हैं, अर्निंग बोंगको बन कर। हमारा रास्ता दिखाते, हमारी रक्षा करते। सो हम लड़ेंगे। सब लड़ेंगे। हमारे साथ प्रकृति, इतिहास, मिथक, पूर्वज-पुरनिया सबके सब मिल कर लड़ेंगे। उलगुलान... हो उलगुलान। धरती से आकाश तक गूंजे उलगुलान।"[8] लेखक संघर्षमयी इतिहास के गौरवगान के द्वारा आदिवासियों में नयी ऊर्जा भरते है। एक ऐसी ऊर्जा निरंतर प्रभावशाली रहती है, जिसके आगे सत्ता के दुश्चक्र बेनकाब हो जाते है। आदिवासी अपने आन्दोलन को दिशा एवं ऊर्जा अपने इतिहास से देते हैं।

रणेन्द्र ने उपन्यास में पूँजीवादी एवं सवर्णवादी मीडिया तन्त्र की पोल खोलकर सामने रख दी है, जिसे राजनीतिक रूप से जागरूक आदिवासी युवा भलीभांति समझ रहे हैं। उपन्यास में बताया गया है कि पूँजीवादी एवं सवर्णवादी मिडिया तन्त्र पूँजीवाद के द्वारा खड़ा किया जाता है। यह शोषणकारी पूँजीवादी एवं सवर्णवादी तन्त्र का आधारस्तम्भ बन गया है।

पुन्नी सिंह का 'सहराना' उपन्यास सहरिया आदिवासी समुदाय के शोषण, उत्पीड़न और उनके राजनीतिक संघर्षों को केंद्र में रखकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें महाजनों और साहूकारों द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण के कारण सहरिया आदिवासियों के कठिन और अभावग्रस्त जीवन का मार्मिक चित्रण किया गया है। दिकुओं द्वारा उनकी भूमि पर कब्जा करने की प्रक्रिया तथा प्रशासनिक तंत्र की मिलीभगत को भी उपन्यास में उजागर किया गया है। जिन जमीनों को सहरिया आदिवासियों के पूर्वजों ने वर्षों की मेहनत से उपजाऊ बनाया था, उन्हें हड़पने के लिए सत्ता और प्रशासन योजनाबद्ध षड्यंत्र रचते दिखाई देते हैं, जबकि राजनेता भी उनके साथ छलपूर्ण व्यवहार करते हैं।

उपन्यास का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें सहरिया

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

आदिवासियों की राजनीतिक चेतना और जागरूकता को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वे अपने मताधिकार के महत्व को समझते हुए स्वयं अपने समुदाय से राजनीतिक प्रतिनिधि चुनने और नेतृत्व विकसित करने की पहल करते हैं। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी समाज में विकसित हो रही लोकतांत्रिक समझ और राजनीतिक आत्मनिर्भरता को रेखांकित करता है। इसके अतिरिक्त उपन्यास में यह भी दर्शाया गया है कि शोषणकारी सवर्णवादी शक्तियाँ सहरिया जनजाति के हिन्दूकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देकर उन्हें धार्मिक ढाँचे में बाँधना चाहती हैं, ताकि धर्म की आड़ में उनका शोषण और नियंत्रण किया जा सके। किन्तु जागरूक सहरिया आदिवासी इन षड्यंत्रों को समझते हैं और उनका प्रतिरोध करते हुए उन्हें बेनकाब कर देते हैं। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी अस्मिता, राजनीतिक चेतना और सांस्कृतिक स्वायत्तता की रक्षा के संघर्ष को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है।

'सहराना' में भ्रष्ट प्रशासनिक व्यवस्था और उसके शोषणकारी चरित्र के विरुद्ध आदिवासी प्रतिरोध को तीव्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार तहसीलदार रिश्वत और कमीशन के लालच में सहरिया आदिवासियों की भूमि गैर-आदिवासी समुदाय के नाम कर देता है। प्रशासनिक तंत्र कागजी हेराफेरी और कानूनी प्रक्रियाओं का दुरुपयोग करके आदिवासियों के लिए न्याय प्राप्ति के सभी मार्ग बंद कर देता है। जब न्याय और संवैधानिक उपाय निष्प्रभावी हो जाते हैं, तब आदिवासी समुदाय प्रतिरोध के अधिक उग्र रूप की ओर अग्रसर होता है। इसी संदर्भ में उपन्यास की स्त्री पात्र सोमा अत्याचारी तहसीलदार की कुल्हाड़ी से हत्या कर देती है। उसका यह कदम केवल व्यक्तिगत प्रतिशोध नहीं, बल्कि पूरे आदिवासी समाज पर हो रहे अन्याय और दमन के विरुद्ध प्रतिकार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह अपने समुदाय को शोषण और अत्याचार से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से संघर्ष का मार्ग अपनाती है।

उपन्यास में सोमा सहरिया आदिवासियों से अपने अस्तित्व, अस्मिता और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने का आह्वान करती है। उसके संघर्ष और बलिदान पर उसका पिता सोमालिया गर्व व्यक्त करता है और मानता है कि यह बलिदान सहरिया जनजाति में नई चेतना और जागरूकता उत्पन्न करेगा। साथ ही यह आने वाली पीढ़ियों को शोषण और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देता रहेगा। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी समाज के भीतर विकसित हो रही राजनीतिक चेतना, प्रतिरोध की भावना और अस्तित्व की रक्षा के संघर्ष को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करता है। सोमा की आँखों में आँखे डालकर कहता है-"देख मेये नाहर, तैने जो करो है सो जा घाटी में कोऊ दुसरो नईं कर सकैगो! तोय फाँसी होगी, और का होगो? तू डरिये बिल्कुल मत! मैं रोऊँगा नहीं। तेई मैयोऊ नई रोयेगी। हम तेयो नाम लै-लै के पूरी घाटी को जगायेंगे। सहरिया कौम को जगायेंगे। वे एक बेर जाग जाएँ तो बैरी मैदान छोड़ के भाग जागो।"[9]

सहराना में सहरिया आदिवासी समाज के भीतर मौजूद सामाजिक चेतना और सुधारवादी दृष्टि को भी रेखांकित किया गया है। उपन्यास यह संकेत करता है कि तथाकथित शिक्षित और समृद्ध समाज में आज भी लड़कियों के प्रति भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण बना हुआ है तथा पुरुषवादी सत्ता संरचनाओं के कारण स्त्रियों को अनेक प्रकार के अत्याचार और असमानताओं का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत आदिवासी संस्कृति में स्त्री को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान और समानता का स्थान प्राप्त है। आदिवासी समाज में महिलाओं को सामाजिक जीवन में बराबरी का अधिकार दिया जाता है तथा वे अपने निर्णय स्वयं लेने के लिए स्वतंत्र होती हैं। उनके विचारों और इच्छाओं को महत्व दिया जाता है। इस प्रकार उपन्यास आदिवासी समाज की उन मानवीय और समानतावादी विशेषताओं को उजागर करता है, जो मुख्यधारा के पितृसत्तात्मक समाज से भिन्न और अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं।

विनोद कुमार का 'समर शेष है' झारखंड के आदिवासी जीवन, संघर्ष और सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को केंद्र में रखकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें आदिवासी समाज की पारंपरिक समस्याओं के साथ-साथ आधुनिक समय में उत्पन्न नई चुनौतियों और संकटों को भी गंभीरता से उठाया गया है। उपन्यास आदिवासी संघर्ष के विविध रूपों सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। लेखक ने आदिवासी समुदाय के जल, जंगल और जमीन से जुड़े संघर्षों, विस्थापन, शोषण, प्रशासनिक दमन तथा राजनीतिक चेतना को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। साथ ही यह उपन्यास आदिवासी समाज के भीतर उभरती जागरूकता और प्रतिरोध की भावना को भी स्वर प्रदान करता है। इसी कारण वीर भारत तलवार ने पुस्तक के फ्लैप पर इसे एक महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट उपन्यास

बताते हुए इसकी विशेष सराहना की है। ''झारखण्ड में आदिवासियों के महाजनी शोषण के खिलाफ शिबू सोरेन, एम. के. राय और विनोद बिहारी महतो द्वारा चलाए गये जन-आन्दोलनों को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास 'समर शेष है' हिन्दी का एक असाधारण राजनीतिक उपन्यास है।''[10]

झारखण्ड के आदिवासियों की पारम्परिक समस्याओं में महाजनों-साहूकारों के चलते शोषण प्रमुख रहा है। आजादी के बाद भी झारखण्ड के आदिवासियों की स्थिति में सुधार नहीं आया है। शोषणकारी तन्त्र के खिलाफ उनका संघर्ष आज भी जारी है। इस सन्दर्भ में उपन्यास में बाबा गहरी साँस भरते हुए कहता है-''हमारे लिए जैसे फिरंगी वैसे ये लोग। किस आजादी की बात कर रहे हो तुम? मुझे तो कहीं कोई फर्क नजर नहीं आ रहा है। मैंने तो जब से होश सम्भाला है, अपने लोगों को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते देखा है, मरते और मारते देखा है।''[11] आजादी का मिलना आदिवासियों के लिए निरर्थक ही रहा। दिकुओं का शोषण उसी भांति बना रहा, उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता के साथ आज भी खिलवाड़ किया जा रहा है। कानून व्यवस्था आदिवासियों के प्रति क्रूर एवं अमानवीय बनी हुई है। फर्क इतना आया है कि अंग्रेजों के समय महाजन-साहूकार शोषणकारी व्यवस्था के अंग थे, आज वे स्वयं ही व्यवस्था बन चुके है। इनके शोषण के चलते बेगारी-बंधुआ मजदूरी, स्त्री शोषण जैसी बड़ी समस्याएँ पनपी। आदिवासियों में व्याप्त अशिक्षा, अन्धविश्वास के चलते समस्याएँ और जटिल हो गई। कर्ज के चलते उनकी जमीन महाजन छीनने लग गये। आदिवासियों को कर्ज की ओर धकेलने के लिए उनके इलाकों में शराब की दुकानें खोली जाने लगी। महाजनों ने आदिवासियों की अज्ञानता का फायदा उठाते हुए उनमें अन्धविश्वास और ज्यादा बढ़ाया। भुखमरी एवं बेगारी की स्थिति में आदिवासियों की स्त्रियों को अपने जाल में फंसाते रहे हैं।

निष्कर्षः 1990 के बाद से उदारीकरण और निजीकरण का प्रवेश हुआ तो बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय कंपनियों ने बड़ी संख्या में आदिवासी क्षेत्रों पर आधिपत्य करना शुरू किया। इनके साथ-साथ ही आदिवासी क्षेत्रों में महाजनों और साहूकारों का शोषण भी बढ़ गया। इन सबके बाद आदिवासी आंदोलनों के रूप में झारखण्ड में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव होता है। इसमें आदिवासी नेताओं की भूमिका के रूप में शिबू सोरेन, विनोद बिहारी महतो, धरम चन्द्र मुर्मू के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने आदिवासी राजनीतिक आंदोलनों में महत्ववपूर्ण भूमिका निभाई।

शोधार्थी, हिन्दी साहित्य, हिन्दी विभाग,
सिदो-कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका
ईमेल : akswild@yahoo-com

सन्दर्भ सूची

1. पलाश के फूल, पीटर पॉल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, झारखण्ड-2012, पृ.सं. 20
2. वही, पृ.सं. 20
3. सोन पहाड़ी, पीटर पॉल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, झारखण्ड-2012, पृ.सं. 89
4. वही, पृ.सं. 109
5. मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माजी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 2012, पृ.सं. 117
6. वही, पृ.सं. 117
7. गायब होता देश, रणेंद्र, पेंगुइन बुक्स इंडिया, प्रथम संस्करण-2014, पृ.सं. 164
8. वही, पृ.सं. 243
9. सहराना, पुन्नीसिंह, ग्रंथ निकेतन, शाहदरा दिल्ली -2010, पृ.सं. 224
10. समर शेष है, विनोद कुमार, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999, पुस्तक फलैप से
11. वही, पृ.स. 14

शोध-पत्र

आयुषी

दलित महिला : सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी संघर्षों का बहुआयामी विश्लेषण

भारतीय पितृसत्ता, वर्ग और जाति के अंतर्संबंधों (Intersectionality) का एक विस्तृत अकादमिक अध्ययन

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र भारतीय उपद्वीप में दलित महिलाओं की स्थिति का एक गहन और व्यापक समाजशास्त्रीय, आर्थिक तथा राजनीतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। दलित महिलाएँ समाज में एक अत्यंत विशिष्ट और जटिल उत्पीड़न का सामना करती हैं, जिसे 'तिहरे उत्पीड़न' (Triple Burden) के रूप में जाना जाता है- जाति, वर्ग और लैंगिकता। ऐतिहासिक रूप से, भारतीय सामाजिक संरचना ने दलित महिलाओं को हाशिए के भी सबसे अंतिम छोर पर धकेल दिया है, जहाँ वे न केवल सवर्ण समाज के जातिगत अहंकार का शिकार होती हैं, बल्कि स्वयं अपने समुदाय के भीतर पितृसत्तात्मक संरचनाओं द्वारा भी शोषित होती हैं।

यह शोध पत्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लेकर समकालीन परिदृश्य तक दलित महिलाओं के आर्थिक शोषण, श्रम बाजार में उनकी दोयम दर्जे की स्थिति, यौन हिंसा को सामाजिक नियंत्रण के हथियार के रूप में उपयोग, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के अभाव का बारीकी से परीक्षण करता है। इसके अतिरिक्त, इसमें डॉ. बी. आर. आंबेडकर के दृष्टिकोण, विभिन्न कानूनी सुरक्षा उपायों की प्रभावशीलता तथा समकालीन दलित नारीवादी विमर्श (Dalit Feminist Critique) का मूल्यांकन किया गया है, जो मुख्यधारा के भारतीय नारीवाद की सीमाओं को चुनौती देता है। अंततः, यह लेख उनके सशक्तीकरण के लिए नीतिगत और सामाजिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

दलित महिला, तिहरा उत्पीड़न, अंतर्संबंधता (Intersectionality), जातिगत पितृसत्ता, यौन हिंसा, आर्थिक असमानता, दलित नारीवाद, सामाजिक न्याय, डॉ. बी. आर. आंबेडकर।

1. प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक ताने-बाने में जाति एक ऐसा निर्णायक तत्व रही है जिसने सदियों से मानवीय गरिमा, अधिकारों और अवसरों को नियंत्रित किया है। इस जातिगत व्यवस्था के सबसे निचले सोपान पर अवस्थित 'दलित' समाज लंबे समय से अमानवीय क्रूरता और सामाजिक बहिष्कार का दंश झेलता आ रहा है। किंतु जब हम इस विमर्श के भीतर लैंगिक दृष्टिकोण को समाहित करते हैं, तो 'दलित महिला' की पहचान एक ऐसे चौराहे पर खड़ी दिखाई देती है जहाँ उत्पीड़न की सभी धाराएँ- जातिगत श्रेष्ठता, आर्थिक विपन्नता और पुरुष सत्तात्मक वर्चस्व—एक साथ आकर मिलती हैं।

"महिलाएँ पैदा नहीं होतीं, बना दी जाती हैं।"

सिमोन द बोवुआर

यदि इस कथन को भारतीय संदर्भ में परिमार्जित किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दलित महिला को समाज द्वारा न केवल महिला के रूप में बल्कि 'अछूत और उपभोग की वस्तु' के रूप में गढ़ा गया है। ऐतिहासिक रूप से, मुख्यधारा के इतिहास लेखन और सामाजिक विमर्शों ने दलित महिलाओं के अनुभवों को हमेशा एक हाशिए पर रखा है। मुख्यधारा का भारतीय नारीवाद लंबे समय तक उच्च और मध्य वर्गीय सवर्ण महिलाओं के अनुभवों और उनकी समस्याओं (जैसे शिक्षा, नौकरी और घरेलू स्पेस में समानता) तक सीमित रहा,

जिसने जातिगत शोषण के आयाम को नजरअंदाज किया। दूसरी ओर, पारंपरिक दलित विमर्श मुख्य रूप से पुरुष-केंद्रित रहा, जिसने जातिवाद के खिलाफ तो आवाज उठाई परंतु समुदाय के भीतर मौजूद आंतरिक पितृसत्ता और महिलाओं के प्रति होने वाले लैंगिक भेदभाव पर मौन साधे रखा। इस दोहरे अलगाव के कारण दलित महिला का आत्म-अनुभव और उसकी पीड़ा दोनों ही विमर्शों से लुप्त रही।

समकालीन समय में, किम्बर्ले क्रैशॉ (Kimberlé Crenshaw) द्वारा प्रतिपादित 'अंतर्संबंधता' (Intersectionality) का सिद्धांत दलित महिलाओं की स्थिति को समझने का सबसे उपयुक्त सैद्धांतिक ढांचा प्रदान करता है। यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि किसी व्यक्ति का उत्पीड़न केवल एक पहचान के आधार पर नहीं होता, बल्कि कई पहचानें मिलकर उत्पीड़न के एक नए और अधिक क्रूर रूप का निर्माण करती हैं। दलित महिला के संदर्भ में, वह एक साथ तीन मोर्चों पर लड़ रही है—

पहली लड़ाई : ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के खिलाफ है जो उसे अशुद्ध और निचली मानती है।

दूसरी लड़ाई : आर्थिक मोर्चे पर पूँजीवादी और सामंती व्यवस्था के खिलाफ है जो उसके श्रम का अवमूल्यन करती है।

तीसरी लड़ाई : स्वयं के समाज के भीतर पुरुष प्रधानता के खिलाफ है जो उसे स्वतंत्र निर्णय लेने से रोकती है।

2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सामाजिक स्थिति (Historical Roots and Social Status)

दलित महिलाओं के वर्तमान सामाजिक और सांस्कृतिक अवमूल्यन की जड़ें प्राचीन और मध्यकालीन धार्मिक-सांस्कृतिक ग्रंथों में खोजी जा सकती हैं। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों ने न केवल शूद्रों और अति-शूद्रों के अधिकारों का हनन किया, बल्कि महिलाओं की स्वतंत्रता पर भी कड़े प्रतिबंध लगाए। इस व्यवस्था ने 'जातिगत शुद्धता' (Caste Purity) को बनाए रखने के लिए महिलाओं की कामुकता और उनकी गतिशीलता पर कड़ा नियंत्रण स्थापित किया।

डॉ. बी. आर. आंबेडकर ने अपने ऐतिहासिक निबंध 'कास्ट्स इन इंडिया: देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' में स्पष्ट किया है कि जाति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए 'अंतर्विवाह' (Endogamy) अनिवार्य शर्त है। इस अंतर्विवाह को लागू करने के लिए महिलाओं के विवाह और उनके जीवन को पूरी तरह नियंत्रित किया गया। इस व्यवस्था में सवर्ण महिलाओं को जहाँ एक ओर 'पवित्रता' के भ्रमजाल में कैद करके उनके अधिकारों को छीना गया, वहीं दलित महिलाओं को पूरी तरह से 'अपवित्र' घोषित कर उन्हें सामाजिक सुरक्षा और सम्मान से वंचित कर दिया गया। ऐतिहासिक रूप से, उनके पास संपत्ति रखने, शिक्षा प्राप्त करने या सम्मानजनक वस्त्र पहनने तक का अधिकार नहीं था।

केरल में लगाया गया 'स्तन कर' (Breast Tax) इसका एक वीभत्स ऐतिहासिक उदाहरण है, जहाँ निचली जाति की महिलाओं को अपने स्तनों को ढकने के लिए कर देना पड़ता था। यह दर्शाता है कि किस प्रकार राज्य और उच्च जातियों ने मिलकर दलित महिला के शरीर को अपमानित करने को एक संस्थागत रूप दे दिया था। इसके अतिरिक्त, सामंती व्यवस्था के तहत विकसित हुई 'देवदासी प्रथा' और 'जोगिनी प्रथा' जैसी कुप्रथाओं ने धार्मिक पवित्रता के नाम पर दलित लड़कियों और महिलाओं के संस्थागत यौन शोषण को वैध बनाया। इन प्रथाओं के माध्यम से दलित कन्याओं को मंदिरों को दान कर दिया जाता था, जहाँ अंततः उच्च जातियों के पुरुषों द्वारा उनका शारीरिक शोषण किया जाता था। हालांकि इन प्रथाओं पर कानूनी रूप से रोक लगा दी गई है, परंतु भारत के कई ग्रामीण और पिछड़े इलाकों में आज भी इनके अवशेष किसी न किसी रूप में जीवित हैं, जो दलित महिलाओं की सामाजिक सुभेद्यता (Vulnerability) को बढ़ाते हैं।

3. आर्थिक शोषण और श्रम बाजार में स्थिति (Economic Exploitation and Labor Dynamics)

आर्थिक दृष्टिकोण से, दलित महिलाएँ भारतीय श्रम बाजार के सबसे शोषित और असुरक्षित हिस्से का निर्माण करती हैं। भारत के ग्रामीण अंचलों में भूमि का स्वामित्व मुख्य रूप से उच्च और मध्यवर्ती जातियों के पास केंद्रित है। भूमिहीनता दलित समुदाय की एक बहुत बड़ी समस्या है, और इसमें भी दलित महिलाओं की स्थिति सबसे दयनीय है। वे बड़े पैमाने पर खेतिहर मजदूर (Agricultural Laborers) के रूप में कार्य करती हैं, जहाँ उन्हें सवर्ण जमींदारों की शर्तों पर बेहद कम मजदूरी में काम करना पड़ता है।

श्रम के इस विभाजन में लैंगिक और जातिगत भेदभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। समान कार्य के लिए उन्हें पुरुष मजदूरों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। इसके अलावा, काम के दौरान उन्हें खेतों के मालिकों द्वारा मानसिक उत्पीड़न और शारीरिक हिंसा की निरंतर धमकियों का सामना करना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि संकट के कारण जब

पुरुष शहरों की ओर पलायन करते हैं, तो पीछे छूटे परिवारों और खेतों की पूरी जिम्मेदारी इन महिलाओं पर आ जाती है, जिसे 'कृषि का महिलाकरण' (Feminization of Agriculture) कहा जाता है। इसके बावजूद, उन्हें न तो किसान का दर्जा मिलता है और न ही संस्थागत ऋण या कृषि योजनाओं का लाभ।

तालिका 1.1 : श्रम बाजार में दलित महिलाओं की अनुमानित सांख्यिकीय स्थिति

क्र. सं.	संकेतक (Indicators)	दलित महिलाएँ (%)	अन्य महिलाएँ (%)
1	कृषि मजदूरी / असंगठित क्षेत्र में भागीदारी	78.4%	42.1%
2	भूमि स्वामित्व (Land Ownership)	कम से कम 1.5%	लगभग 12.8%
3	मैन्युअल स्कैवेंजिंग (मैला ढोने का कार्य)	85.0% (शहरी/ग्रामीण कार्य)	नगण्य
4	औसत दैनिक मजदूरी अंतराल (लैंगिक जातिगत)	35-40% कम	मानक

शहरी क्षेत्रों में भी दलित महिलाओं का शोषण समाप्त नहीं होता, बल्कि उसका स्वरूप बदल जाता है। शहरों में वे मुख्य रूप से घरेलू कामगार (Domestic Workers), निर्माण स्थलों पर मजदूर, या कचरा बीनने वाले (Ragpickers) के रूप में कार्य करती हैं। घरेलू काम के दौरान उन्हें अक्सर छुआछूत की नई और सूक्ष्म पद्धतियों का सामना करना पड़ता है, जैसे उनके लिए अलग बर्तन रखना, उन्हें रसोई में प्रवेश न देना या उन्हें शौचालय का उपयोग करने से रोकना। यह आर्थिक शोषण और सामाजिक छुआछूत का एक ऐसा मिश्रण है जो उनके आत्मसम्मान को गहरी चोट पहुँचाता है।

एक अन्य अत्यंत गंभीर और कलंककारी आयाम 'मैन्युअल स्कैवेंजिंग' यानी हाथ से मैला ढोने की प्रथा है। यद्यपि सरकार ने कानूनन इस पर पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया है, परंतु आज भी देश के कई हिस्सों में इस अमानवीय कार्य में संलग्न लोगों में बहुसंख्यक दलित महिलाएँ हैं। यह कार्य न केवल उनके स्वास्थ्य को गंभीर रूप से खतरे में डालता है, बल्कि समाज में उनकी अछूत की छवि को निरंतर बनाए रखता है, जिससे सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility) के उनके सभी मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

4. यौन हिंसा और सामाजिक नियंत्रण का हथियार (Sexual Violence as a Tool of Social Control)

दलित महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा केवल आपराधिक कृत्य नहीं है, बल्कि यह एक गहरी सामाजिक और राजनीतिक रणनीति का हिस्सा है। जाति व्यवस्था में उच्च जातियों द्वारा दलित समुदाय को उसकी 'औकात' याद दिलाने और उसे दबाकर रखने के लिए दलित महिला के शरीर को एक युद्धक्षेत्र (Battleground) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। जब भी कोई दलित परिवार या समुदाय अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता, शिक्षा या अधिकारों की मांग के लिए आवाज उठाता है, तो सवर्ण वर्चस्ववादी ताकतों द्वारा उस पूरे समुदाय को सामूहिक रूप से दंडित करने के लिए दलित महिलाओं के साथ बलात्कार, सामूहिक बलात्कार और उन्हें सार्वजनिक रूप से नग्न करने जैसी जघन्य घटनाओं को अंजाम दिया जाता है।

खैरलांजी (2006), हाथरस (2020) और हाल के वर्षों में सामने आई अनगिनत अन्य घटनाएँ इस कड़वी सच्चाई की गवाह हैं। इन मामलों का विश्लेषण करने पर एक निश्चित पैटर्न दिखाई देता है। हिंसा के बाद अक्सर स्थानीय प्रशासन, पुलिस और राजनीतिक तंत्र द्वारा अपराधियों को बचाने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि वे शक्तिशाली जातियों से संबंध रखते हैं। पीड़ित परिवार को डराया-धमकाया जाता है, सबूतों को नष्ट किया जाता है और कानून की प्रक्रियाओं में जानबूझकर देरी की जाती है। यह संस्थागत उदासीनता और मिलीभगत दलित महिलाओं के खिलाफ अपराधों के लिए एक श्दंडमुक्ति का माहौलश (Culture of Impunity) तैयार करती है, जहाँ अपराधियों को यह विश्वास होता है कि उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के आंकड़े वर्ष-दर-वर्ष यह दर्शाते हैं कि अनुसूचित जातियों (SC) के खिलाफ होने वाले अपराधों में महिलाओं के खिलाफ यौन उत्पीड़न और बलात्कार के मामलों की हिस्सेदारी बहुत अधिक है। विडंबना यह है कि इन मामलों में दोषसिद्धि की दर (Conviction Rate) राष्ट्रीय औसत से बेहद कम है। इसका मुख्य कारण गवाहों का मुकर जाना, पुलिस द्वारा निष्पक्ष जांच न करना और न्यायिक प्रक्रिया का अत्यधिक खर्चीला और

लंबा होना है, जिसे एक गरीब और साधनहीन दलित परिवार वहन करने में असमर्थ होता है।

5. शिक्षा, स्वास्थ्य और मानव विकास के सूचकांक (Education] Health and Human Development)

मानव विकास के मानकों पर दलित महिलाओं की स्थिति भारतीय समाज के विकास के दावों की पोल खोलती है। शिक्षा किसी भी समुदाय के सशक्तिकरण की पहली सीढ़ी है, परंतु दलित लड़कियों के लिए स्कूल पहुँचने और वहाँ टिके रहने की राह बाधाओं से भरी है। ग्रामीण क्षेत्रों के स्कूलों में आज भी दलित बच्चों को अलग बिठाने, मध्याह्न भोजन (Mid-day Meal) के समय उनके साथ भेदभाव करने और सवर्ण शिक्षकों द्वारा उन्हें हतोत्साहित करने की घटनाएँ आम हैं। इसके परिणामस्वरूप, दलित लड़कियों में स्कूल छोड़ने की दर (Dropout Rate) अन्य समुदायों की तुलना में काफी अधिक है। उच्च शिक्षा तक पहुँचने वाली दलित छात्राओं की संख्या तो और भी कम है, जहाँ उन्हें 'मेरिट' के नाम पर मानसिक प्रताड़ना और जातिगत तानों का सामना करना पड़ता है।

स्वास्थ्य के मोर्चे पर, कुपोषण और एनीमिया (रक्तअल्पता) दलित महिलाओं में एक महामारी की तरह व्याप्त है। गरीबी और संसाधनों के अभाव के कारण उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता। इसके अलावा, स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी पहुँच बेहद सीमित है। कई अध्ययनों से यह बात सामने आई है कि ग्रामीण स्वास्थ्य केंद्रों (PHCs) पर तैनात स्वास्थ्य कर्मी जातिगत पूर्वाग्रहों के कारण दलित महिलाओं के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं करते, जिससे वे अस्पताल जाने से कतराती हैं। इसके कारण संस्थागत प्रसव (Institutional Delivery) की दर कम होती है और मातृ मृत्यु दर (MMR) तथा शिशु मृत्यु दर (IMR) इस वर्ग में काफी ऊँची बनी हुई है।

एक और महत्वपूर्ण पहलू औसत जीवन प्रत्याशा (Life EÛpectancy) का है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में एक दलित महिला की औसत आयु सवर्ण महिला की तुलना में लगभग 14.6 वर्ष कम है। यह अंतर किसी प्राकृतिक कारण से नहीं है, बल्कि यह निरंतर खराब पोषण, अत्यधिक शारीरिक श्रम, मानसिक तनाव, असुरक्षित कामकाजी माहौल और समय पर चिकित्सा सुविधाओं के न मिलने का प्रत्यक्ष परिणाम है। यह आंकड़ा स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि जाति व्यवस्था किस प्रकार किसी व्यक्ति के जीवन की अवधि को भी निर्धारित कर देती है।

6. राजनीतिक प्रतिनिधित्व और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी (Political Representation)

भारतीय लोकतंत्र ने 73वें और 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं और अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था करके जमीनी स्तर पर सत्ता के विकेंद्रीकरण का एक ऐतिहासिक प्रयास किया। इसके कारण लाखों दलित महिलाएँ सरपंच, मुखिया और पार्षद के पदों पर चुनकर आईं। इसे भारतीय राजनीति में एक 'मूक क्रांति' के रूप में देखा गया। परंतु, जब हम इस राजनीतिक भागीदारी के धरातल को देखते हैं, तो वास्तविक सत्ता और संवैधानिक अधिकारों के प्रयोग के बीच एक गहरी खाई नजर आती है।

ग्रामीण भारत में 'प्रधान-पति' या 'सरपंच-पति' की अवधारणा आज भी एक कड़वी हकीकत है। निर्वाचित होने के बावजूद, दलित महिला सरपंचों को स्वतंत्र रूप से काम करने की अनुमति नहीं दी जाती। उनके निर्णय उनके पतियों, ससुर या गांव के दबंग सवर्ण पुरुषों द्वारा तय किए जाते हैं। यदि कोई दलित महिला अपने अधिकारों का प्रयोग करने और स्वायत्त रूप से निर्णय लेने का साहस दिखाती है, तो उसे गंभीर सामाजिक बहिष्कार, अविश्वास प्रस्तावों और यहाँ तक कि जानलेवा हमलों का सामना करना पड़ता है। कई मामलों में तो उन्हें पंचायत कार्यालय की कुर्सी पर बैठने तक नहीं दिया जाता और उन्हें जमीन पर बैठने के लिए मजबूर किया जाता है।

राज्य विधानसभाओं और देश की संसद के स्तर पर तो स्थिति और भी चिंताजनक है। यहाँ दलित महिलाओं का प्रतिनिधित्व न के बराबर है। आरक्षित सीटों पर भी राजनीतिक दल आमतौर पर उन महिलाओं को टिकट देते हैं जो स्थापित राजनीतिक परिवारों से आती हैं या जो दल के पुरुष नेतृत्व के प्रति पूरी तरह वफादार होती हैं। इसके कारण जमीनी स्तर से संघर्ष करके ऊपर आने वाली स्वतंत्र और मुखर दलित महिला नेताओं का राष्ट्रीय राजनीति में उभार अत्यंत कठिन हो जाता है। जब तक नीति-निर्माण के शीर्ष स्तरों पर उनकी प्रभावी उपस्थिति नहीं होगी, तब तक उनके विशिष्ट मुद्दों को मुख्यधारा के एजेंडे में शामिल करवाना संभव नहीं होगा।

7. दलित नारीवादी विमर्श और मुख्यधारा के नारीवाद की आलोचना (Dalit Feminist Critique)

1990 के दशक में भारतीय अकादमिक और सामाजिक विमर्श में श्दलित नारीवादश (Dalit Feminism) एक विशिष्ट

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

और प्रखर धारा के रूप में उभरा। शर्मिला रेगे, गोपाल गुरु और सेलिन सुगना जैसी प्रख्यात विचारकों ने यह तर्क दिया कि दलित महिलाओं की समस्याओं को केवल 'नारीवाद' या केवल 'जाति-विरोधी आंदोलन' के चश्मे से नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मुख्यधारा के भारतीय नारीवाद को 'ब्राह्मणवादी नारीवाद' (Brahmanical Feminism) कहकर संबोधित किया, क्योंकि यह आंदोलन ऐतिहासिक रूप से सवर्ण, शहरी और अंग्रेजी भाषी महिलाओं के नेतृत्व में रहा, जिन्होंने अनजाने में या जानबूझकर जातिगत विशेषाधिकारों (Caste Privileges) को अनदेखा किया और यह मान लिया कि सभी महिलाओं के अनुभव एक समान होते हैं।

दलित नारीवादियों का तर्क है कि सवर्ण महिलाएँ जहाँ एक ओर पितृसत्ता का शिकार हैं, वहीं दूसरी ओर वे जाति व्यवस्था के पदानुक्रम में दलित महिलाओं से ऊपर हैं और उनके शोषण में भागीदार भी हैं। उदाहरण के लिए, सवर्ण घरों में काम करने वाली दलित घरेलू कामगारों का शोषण अक्सर उन घरों की महिला स्वामिनियों द्वारा ही किया जाता है। इसलिए, 'सिस्टरहुड' (Sisterhood) या वैश्विक महिला एकजुटता की अवधारणा तब तक अधूरी है जब तक कि वह अपने भीतर के जातिगत भेदों को स्वीकार और समाप्त नहीं करती।

दूसरी ओर, दलित नारीवाद ने पारंपरिक दलित आंदोलनों के भीतर मौजूद पुरुष वर्चस्व की भी कड़ी आलोचना की। उन्होंने इस बात को रेखांकित किया कि बाबा साहेब आंबेडकर ने महिलाओं की मुक्ति को पूरे आंदोलन का केंद्र बिंदु बनाया था, परंतु उनके बाद के नेतृत्व ने महिलाओं को केवल रैलियों में भीड़ बढ़ाने और नारे लगाने तक सीमित कर दिया, उन्हें संगठन के भीतर निर्णय लेने वाले पदों पर नहीं बिठाया। दलित नारीवाद ने "हमारा जुदा होना" (Difference) और "हमारी अपनी बात" (Speaking Center Stage) के सिद्धांतों को स्थापित करते हुए यह घोषणा की कि दलित महिलाएँ स्वयं अपने विमर्श की अगुवाई करेंगी और किसी अन्य को अपनी ओर से बोलने का प्रतिनिधित्व नहीं देंगी।

8. डॉ. बी.आर. आंबेडकर का दृष्टिकोण और कानूनी सुरक्षा उपाय (Dr- Ambedkar's Vision)

डॉ. बी. आर. आंबेडकर भारतीय इतिहास के उन विरले विचारकों में से थे जिन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझा था कि समाज की प्रगति का आकलन इस बात से किया जाना चाहिए कि उसमें महिलाओं ने कितनी प्रगति की है। उन्होंने जाति व्यवस्था और महिलाओं के उत्पीड़न के गहरे अंतर्संबंधों को उजागर किया। स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री के रूप में उनका सबसे क्रांतिकारी कदम 'हिंदू कोड बिल' (Hindu Code Bill) पेश करना था। इस बिल का उद्देश्य महिलाओं को संपत्ति का अधिकार, विवाह विच्छेद (तलाक) का अधिकार और गोद लेने का अधिकार देकर उन्हें कानूनी रूप से सशक्त बनाना था। यद्यपि तत्कालीन रूढ़िवादी ताकतों के भारी विरोध के कारण यह बिल उस समय पूर्ण रूप से पास नहीं हो सका और बाबा साहेब ने विरोध स्वरूप अपने पद से इस्तीफा दे दिया, परंतु बाद में इसे टुकड़ों में पास करना पड़ा, जिसने भारतीय कानून में लैंगिक समानता की नींव रखी।

भारतीय संविधान दलित महिलाओं को कई प्रकार की सुरक्षा प्रदान करता है—

अनुच्छेद 14 : समानता का अधिकार।

अनुच्छेद 15 : जाति, लिंग, जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध।

अनुच्छेद 17 : अस्पृश्यता का अंत।

इसके अतिरिक्त, 'अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989' (SC/ST PoA Act) एक अत्यंत महत्वपूर्ण कानूनी हथियार है, जिसे विशेष रूप से जातिगत अपमान और हिंसा को रोकने के लिए बनाया गया था। इस कानून में दलित महिलाओं के खिलाफ होने वाले विशिष्ट अपराधों (जैसे उन्हें नग्न करना, उनके जल स्रोतों को दूषित करना, या उन्हें बंधुआ मजदूरी के लिए मजबूर करना) के लिए कड़े दंड के प्रावधान हैं।

परंतु इन तमाम प्रगतिशील कानूनों के बावजूद, जमीनी स्तर पर इनका क्रियान्वयन अत्यंत निराशाजनक रहा है। पुलिस थानों में एफआईआर दर्ज कराने के लिए दलित महिलाओं को लंबी जद्दोजहद करनी पड़ती है। अक्सर पुलिस रसूखदार आरोपियों के दबाव में आकर मामले को हल्का करने का प्रयास करती है या एससी/एसटी एक्ट की धाराओं को शामिल ही नहीं करती। अदालतों में मुकदमों का दशकों तक लंबित रहना और गवाहों को सुरक्षा न मिलना इस कानूनी ढांचे की प्रभावशीलता को कमजोर करता है। कानून केवल कागज पर अधिकार दे सकता है, परंतु जब तक समाज की चेतना और प्रशासनिक तंत्र का रवैया नहीं बदलेगा, तब तक कानून अपनी वास्तविक भूमिका नहीं निभा पाएगा।

9. निष्कर्ष और आगे की राह (Conclusion and Way Forward)

उपरोक्त विस्तृत विश्लेषण से यह अकाट्य रूप से सिद्ध

होता है कि दलित महिलाओं की स्थिति केवल एक सामाजिक बुराई नहीं, बल्कि एक गंभीर मानवाधिकार संकट है। वे सदियों से चली आ रही एक ऐसी संरचनात्मक हिंसा की शिकार हैं जो उन्हें हर स्तर पर पंगु बनाने का प्रयास करती है। तिहरे उत्पीड़न के इस चक्रव्यूह को तोड़े बिना भारत के एक आधुनिक, लोकतांत्रिक और समतावादी राष्ट्र बनने का सपना कभी पूरा नहीं हो सकता। दलित महिलाओं का सशक्तिकरण केवल उनके भले के लिए नहीं, बल्कि पूरे समाज और राष्ट्र के लोकतांत्रिकरण के लिए अनिवार्य है।

आगे की राह के लिए बहुआयामी और ठोस रणनीतियों की आवश्यकता है, जिन्हें निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत रेखांकित किया जा सकता है–

1. भूमि और आर्थिक संपत्तियों पर अधिकार : दलित महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्हें भूमि का मालिकाना हक दिया जाना चाहिए। सरकारी भूमि आवंटन योजनाओं में संयुक्त पट्टे या विशेष रूप से महिलाओं के नाम पर पंजीकरण को अनिवार्य किया जाना चाहिए। असंगठित क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी के कड़े क्रियान्वयन और कार्यस्थलों पर सुरक्षा के पुख्ता इंतजाम होने चाहिए।

2. गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और सुरक्षित माहौल : दलित लड़कियों के लिए कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालयों (KGBV) जैसी आवासीय स्कूल योजनाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। उच्च शिक्षा में उनके लिए विशेष छात्रवृत्ति और मेंटरशिप कार्यक्रम शुरू होने चाहिए ताकि वे बिना किसी मानसिक दबाव के अपनी पढ़ाई पूरी कर सकें। स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में जाति और लिंग संवेदीकरण (Sensitivity) को शामिल किया जाना चाहिए।

3. न्यायिक और प्रशासनिक सुधार : एससी/एसटी (अत्याचार निवारण) अधिनियम के तहत दर्ज मामलों की त्वरित सुनवाई के लिए विशेष फास्ट-ट्रैक अदालतों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए। पुलिस बल में दलित महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाना चाहिए और संवेदनशील मामलों की जांच के लिए विशेष महिला सेल का गठन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कानूनी सहायता (Legal Aid) को पूरी तरह नि:शुल्क और सुलभ बनाया जाना चाहिए।

4. राजनीतिक स्वायत्तता का सुदृढ़ीकरण : पंचायती राज में महिलाओं के वास्तविक सशक्तीकरण के लिए 'सरपंच-पति' प्रथा के खिलाफ सख्त दंडात्मक कार्रवाई होनी चाहिए। महिला जनप्रतिनिधियों के लिए निरंतर प्रशिक्षण और सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि वे बिना किसी भय के अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकें। राष्ट्रीय और राज्य स्तर की राजनीति में भी उनके लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

अंतत:, वास्तविक परिवर्तन केवल कानूनी और नीतिगत सुधारों से नहीं आएगा, बल्कि इसके लिए समाज के भीतर एक 'सांस्कृतिक क्रांति' की आवश्यकता है। सवर्ण समाज को अपने जातिगत और लैंगिक विशेषाधिकारों को छोड़कर आत्मनिरीक्षण करना होगा। मुख्यधारा के नारीवादी और दलित आंदोलनों को अपने पूर्वाग्रहों को त्यागकर दलित महिलाओं के नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करना होगा। जब एक दलित महिला बिना किसी भय के, पूर्ण सम्मान और स्वतंत्रता के साथ समाज में सिर उठाकर जी सकेगी, तभी बाबा साहेब डॉ. बी.आर. आंबेडकर के सपनों का समतामूलक भारत साकार होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आंबेडकर, बी. आर. (1917). कास्ट्स इन इंडिया: देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट. मुंबई: शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार।
- रेगे, शर्मिला. (2006). राइटिंग जाति / राइटिंग जेंडर: नरेटिंग दलित वीमेन्स टेस्टीमोनीज. नई दिल्ली: जुबान बुक्स।
- गुरु, गोपाल. (1995). "दलित विमेन टॉक डिफरेंटली". इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, Vol- 30, No- 41/ 42, pp. 2548-2550
- इलैया, कांचा. (1996). वाई आई एम नॉट ए हिंदू: ए सुद्र क्रिटिक ऑफ हिंदुत्व फिलॉसफी, कल्चर एंड पॉलिटिकल इकॉनमी. कलकत्ता: साम्या।
- राव, अनुपमा. (2003). जेंडर एंड जाति: इश्यूज इन कंटेंशन्स. नई दिल्ली: काली फॉर विमेन।
- राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB). (2024). क्राइम इन इंडिया रिपोर्ट 2022-2023. गृह मंत्रालय, भारत सरकार।
- थोरट, सुखदेव. (2009). दलित्स इन इंडिया: सर्च फॉर ए कॉमन डेस्टिनी. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स।
- सुगना, सेलिन. (2002). दलित वीमेन: सोसाइटी एंड लॉ. नई दिल्ली: डीके प्रिंटवर्ल्ड।
- क्रैशॉ, किम्बर्ले. (1989). "डीमार्जिनलाइजिंग द इंटरसेक्शन ऑफ रेस एंड सेक्स: ए ब्लैक फेमिनिस्ट क्रिटिक". यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो लीगल फोरम, पृ. 139-167।
- यूनाइटेड नेशंस डेवलपमेंट प्रोग्राम (UNDP). (2021). ह्यूमन डेवलपमेंट एंड सोशल एक्सक्लूजन इन इंडिया. न्यूयॉर्क: यूएन प्रेस।

डॉ. रंजीत कुमार* जयवर्द्धन कुमार**

भारत में आंतरिक सुरक्षा की बदलती प्रवृत्तियाँ और उसका प्रभाव

भूमिका

भारत, विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने के साथ-साथ विविधताओं से भरा हुआ देश है। यहां विभिन्न जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और भौगोलिक विविधताएं हैं, जो इसकी विशेषता भी हैं और कभी-कभी चुनौती भी। इन विविधताओं के चलते भारत को आंतरिक सुरक्षा की कई जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यह समस्याएं न केवल देश की एकता और अखंडता के लिए खतरा बनती हैं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक विकास की राह में भी रुकावट पैदा करती हैं। विशाल जनसंख्या तथा विस्तारित क्षेत्र में आंतरिक सुरक्षा का प्रबंधन करना अत्यंत जटिल कार्य है क्योंकि भारत का भौगोलिक स्थिति शासन, संरचना, आर्थिक विकास की नीति, राजनीतिक, आर्थिक समस्याएं एवं सांस्कृतिक रीति रिवाज राष्ट्र की सुरक्षा को नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं। राष्ट्र की सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा न केवल क्षेत्रीय कारक जिम्मेदार हैं बल्कि कुछ अंतरराष्ट्रीय वैश्विक कारक भी जिम्मेदार हैं। भारत में आंतरिक सुरक्षा का परिदृश्य तेजी से बदल रहा है, जिसमें पारंपरिक खतरों में प्रमुख जैसे उग्रवाद और आतंकवाद के साथ-साथ अब मानव तस्करी, साइबर-युद्ध, सोशल मीडिया के दुरुपयोग, सीमा पार से ड्रोन के माध्यम से हथियारों, नशीले दवा की तस्करी, और संगठित अपराध जैसे गैर-पारंपरिक और अदृश्य खतरे प्रमुख होते जा रहे हैं। इस अध्याय में भारत की सुरक्षा को प्रभावित करने वाले विशेष रूप से आंतरिक कारणों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है साथ ही आतंकवाद की समस्या का विश्लेषण किया है।

सुरक्षा की अवधारणा

परिभाषा : वाल्टर लिपमैन सुरक्षा को एक देश की क्षमता के रूप में देखता है जो अपने मूल्यों की रक्षा करता है। सुरक्षा, संभावित खतरों को संदर्भित करता है जो किसी दूसरे व्यक्ति की क्रिया की वजह से हो सकती है। इसमें मानव, समाज, समूह, वस्तु संस्थान जीव जन्तु तथा पारिस्थितिकी तंत्र शामिल है। सुरक्षा मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण मूल है। थॉमस हॉब्स के शब्दों में बिना सुरक्षा के उद्योग के लिए कोई जगह नहीं कोई कला नहीं, कोई पत्र नहीं कोई समाज नहीं और सुरक्षा के अभाव में लोगों का जीवन भय हिंसक मौत से खतरा मन उसका एकांत जीवन का जीवन क्रूर एवं छोटा होता है। 11 सितंबर 2011 को अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर आतंकी हमला, फ्रांस के कैफे में आतंकी हमला तथा पाकिस्तान के पेशावर में आतंकी हमला आदि सुरक्षा से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

भारत की राजधानी दिल्ली में मार्च 2020 अचानक दो गुटों के बीच लड़ाई जिसके कारण दंगे हुए जिसमें कई नागरिक की जान गई साथ ही साथ पुलिसकर्मी को भी जान गंवानी पड़ी। लड़ाई के दौरान दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में क्रय विक्रय, आवागमन तथा दिनचर्या, गोलीबारी तथा पत्थरबाजी की वजह से बाधित हुई। इस तरह की वारदात देश के विभिन्न हिस्से कश्मीर, मुजफ्फरनगर उत्तर पूर्व भारत के राज्यों में होता रहता है।

असुरक्षा की गतिविधि

असुरक्षा का अर्थ उस व्यवहार या कार्य से है जो किसी व्यक्ति या समुदाय अथवा कार्यस्थल में खतरे, भय या अनिश्चितता से जो किसी व्यक्ति या समुदाय या देश के लिए उत्पन्न होता है। जब व्यक्ति किसी सुनसान रास्ते से गुजरता है जहाँ पर लोगों की आवाजाही कम होती है उस स्थिति में व्यक्ति

असुरक्षा महसूस करता है। वह असुरक्षा की स्थिति को दूर करने के लिए समूह में चलना चाहता है और सामूहिक सहयोग के द्वारा असुरक्षा की भावना को दूर करने का प्रयास करता है। असुरक्षा उन खतरों और जोखिमों को भी संदर्भित करती हैं जो भारत की सुरक्षा और स्थिरता को कमजोर करते हैं। थॉमस हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते समय इस स्थिति का सुदृढ़तापूर्वक विश्लेषण किया कि ''प्रत्येक मनुष्य एक संभावित खतरा है क्योंकि उपलब्ध सीमित संसाधनों में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष, एक का युद्ध सभी के विरुद्ध जैसा स्थिति है।''

सुरक्षा के विभिन्न आयाम

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सुरक्षा के तीन प्रमुख प्रतिमान हैं राष्ट्रीय सुरक्षा, अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा और मानव सुरक्षा पहले दो दृष्टिकोण राज्य के लिए आवश्यक शर्त हैं। इसके विपरीत मानव सुरक्षा की अवधारणा मानव को नैतिक प्रधानता देता है। राष्ट्रीय सुरक्षा का संबंध राष्ट्र की संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता और नागरिकों को किसी भी प्रकार के आंतरिक या बाह्य खतरों से सुरक्षित रखने की क्षमता से है। अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा का तात्पर्य राष्ट्र और वैश्विक संगठन द्वारा युद्ध, आतंकवाद और अन्य खतरों को रोकने तथा आपसी अस्तित्व सुनिश्चित करने के लिए अपनाए गए रणनीतिक और राजनयिक उपाय हैं। मानव विकास रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई मानव सुरक्षा में आर्थिक, खाद्य, स्वास्थ्य, पर्यावरण, व्यक्तिगत, सामुदायिक और राजनीतिक सुरक्षा जैसे आयाम शामिल हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा

राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को सर्वप्रथम यथार्थवादी चिंतकों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। यथार्थवादी चिंतकों की मान्यता थी कि वे ऐसे दुनिया में रहते हैं जहाँ राज्य सुरक्षा के मुख्य स्रोत और सुरक्षा के प्रमुख खतरे दोनों हैं। राज्यों के बीच शक्ति, आपसी भय और संदेह के कारण निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है क्योंकि अराजक व्यवस्था में सुरक्षा की समस्या हमेशा बनी रहती है क्योंकि स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य एक दूसरे को नुकसान पहुँचाने में सक्षम होते हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा को एक राज्य की क्षमता एवं स्थिति के रूप में वर्णन किया जाता है जिसमें उस राज्य की सीमा में नागरिक तथा राज्य की आंतरिक सुरक्षा शामिल है। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व में बढ़ती वैश्विक अंतर्निर्भरता और अन्योन्याश्रित तार ने राज्यों को अधिक सहयोग और एक साथ मिलकर काम करने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्रीय सुरक्षा के अंतर्गत शासन, संप्रभुता, एकता, क्षेत्रीय अखंडता, लोगों का कल्याण, सतत आर्थिक और सामाजिक विकास शामिल होता है।

अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा

अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा से तात्पर्य वैश्विक स्तर पर अलगाव आक्रमण, युद्ध, अवैध व्यवसाय, सामूहिक नरसंहार, सामूहिक निष्कासन तथा आतंकवादी गतिविधियों से रक्षा है अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा बीसवीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण विषय बनकर उभरा है अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित विशेष प्रावधान संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुच्छेद में उल्लेखित है जिसका उद्देश्य 1919 में पेरिस में निर्मित प्रादेशिक समझौता का पालन करना जो प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद हुई थी।

संयुक्त राष्ट्र के 1945 के चार्टर के अनुच्छेद-1 में अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए तथा शांति के लिए खतरे को शामिल करने के लिए सामाजिक सुरक्षा उपाय करना शामिल है। अंतरराष्ट्रीय कानूनों वैश्विक स्तर पर शांति स्थापना तथा कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए शस्त्र बल के उपयोग को संदर्भित करता है।

हेडली बुल ''प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह शक्तिशाली हो या कमजोर अनैतिक तरीके या सक्षमता के अनुसार एक दूसरे को हानि पहुँचाने में सक्षम है। इसी तरह की सुरक्षा की अवधारणा समाज, राज्य तथा वैश्विक जगत पर लागू होती है। प्रत्येक राज्य के द्वारा राष्ट्रीय सीमा की सुरक्षा नागरिक तथा राज्य के आंतरिक वातावरण की सुरक्षा के लिए सशस्त्र बल का उपयोग करते हैं। व्यक्ति अपने सुरक्षा के लिए विभिन्न उपाय करते हैं। इस अवधारणा को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं कि व्यक्ति ऑफिस से घर आते समय ऐसे ट्रांसपोर्ट साधन का उपयोग करते हैं जिससे और भी लोग उपयोग करते हों। व्यक्ति घर की सुरक्षा के लिए अलार्म तथा ताले लगाते हैं। असुरक्षा की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति खुद संयम नहीं रखते।

भारत की आंतरिक सुरक्षा

आंतरिक सुरक्षा किसी संप्रभु राज्य की सीमाओं के भीतर शांति बनाए रखने की प्रक्रिया है। राष्ट्र राज्य की आधुनिक अवधारणा एक मजबूत आधुनिक आंतरिक सुरक्षा के बिना संभव नहीं है। सामान्य तौर पर किसी राज्य की आंतरिक सुरक्षा को ऐसे क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया जाता है जो किसी राज्य की सीमा के भीतर सुरक्षा से संबंधित उत्पन्न चुनौती को संदर्भित करता है। आंतरिक सुरक्षा का अर्थ है देश के भीतर शांति, कानून-व्यवस्था और नागरिकों की सुरक्षा

सुनिश्चित करना।

भारत मे आंतरिक सुरक्षा की चुनौतियों में प्रमुख नक्सलवाद, आतंकवाद, साइबर अपराध, सांप्रदायिक हिंसा और सामाजिक तनाव, आर्थिक सुरक्षा इत्यादि हैं। आंतरिक सुरक्षा बनाए रखने की जिम्मेदारी पुलिस, अर्धसैनिक बल तथा असाधारण परिस्थिति में सेना की होती है। भारत की आंतरिक सुरक्षा के सामने कई गैर पारंपरिक चुनौतियाँ हैं।

क्षेत्रीयवाद

भारत में क्षेत्रीयवाद की प्रवृत्ति की शुरुआत भारत शासन अधिनियम 1909, 1919 तथा 1935 के तहत किए गए संवैधानिक सुधार के साथ शुरुआत हुई। स्वतंत्रता पूर्व पंजाब में अकाली दल, चेन्नई में जस्टिस पार्टी का स्थापना में उभरते हुई क्षेत्रवाद के उदाहरण हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में राजस्व की माँग को लेकर आंदोलन हुआ और महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब पृथक राज्य का गठन हुआ। असम की गाड़ो, खाकी ज्यंतिया जनजाति की पृथक राजस्व की माँग पर भारत में 1972 मेघालय राज्य की स्थापना हुई। भारत में अभी भी पंजाब में खालिस्तान की माँग, द्रविड़वाद की माँग, नागा एवं मिजो जनजातियों की माँग तथा स्वतंत्र गोरखालैंड की माँग भारत की आंतरिक सुरक्षा को लेकर गंभीर समस्या है।

यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसने लोगों की राजनीतिक निष्ठा एक क्षेत्र पर केंद्रित रहती है। प्राय: व्यक्ति देश के स्थान पर क्षेत्र विशेष को निष्ठा से वरीयता देते हैं। भारत में क्षेत्रवाद का मूल कारण भाषा, जनजातियों और धर्मों की विविधता है। विभिन्न क्षेत्रों में असमान विकास की स्थिति एवं क्षेत्रीय वंचना का भाव वांछनीय समूह का अभाव, क्षेत्रवाद की भावना को और अधिक बढ़ावा देती है। क्षेत्रवाद एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। क्षेत्रवाद सामूहिक पहचान की अभिव्यक्ति के साथ उस क्षेत्र के प्रति उस समूह की निष्ठा को अभिव्यक्त करता है, साथ ही अन्य क्षेत्र के हितों को ध्यान में रखकर अपने क्षेत्र के विकास की धारणा पर केंद्रित होता है।

डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार ''क्षेत्रवाद की प्रक्रिया के कई आयाम वाली एक अत्यंत जटिल एवं मिश्रित व्यवस्था है जो एक साथ एक ही समय में भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप लिए हुए हैं।'' डॉ. इकबाल के भारत में 'क्षेत्रवाद को मानव मस्तिष्क का उपज' बताया।

विकास की धीमी गति स्वतंत्रता पश्चात लोगों की आकांशा पूरा नहीं नहीं हुई जिसके कारण लोगों के बीच परस्पर बढ़ती प्रतिस्पर्धा ने वर्गीय तथा क्षेत्रीय रूप धारण कर लिया। भारत के कुछ क्षेत्र का तीव्र विकास दूसरे क्षेत्र के और असंतोष का कारण बना। बढ़ते भ्रष्टाचार के कारण विकास की धारा का दुरुपयोग किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य के क्षेत्रवाद, अलगाववाद और आतंकवाद को बढ़ावा मिलता है।

क्षेत्रीयता के दुष्परिणाम

विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आसमान विकास तथा कुछ क्षेत्र की तीव्र विकास के कारण गुजरात तथा दक्षिण के राज्यों में औद्योगिकीकरण तथा रोजगार के नए अवसर उत्पन्न हुई बिहार और उत्तर प्रदेश में इसके अभाव के कारण मजदूर अच्छी रोजगार के लिए पलायन करते हैं। बढ़ती क्षेत्रीयता की परवर्ती के कारण मुंबई, गुजरात तथा दक्षिण के राज्यों में बिहार के नवयुवक के साथ मारपीट तथा बाहर निकालने की घटना संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न कर रही है जो भारतीय सुरक्षा तथा विकास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

नक्सलवाद

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही अक्टूबर क्रांति से प्रेरित होकर 1925 में भारतीय देशभक्तों में कम्युनिस्ट पार्टी का गठन किया जिसका प्रमुख उद्देश्य भारत को औपनिवेशिक दमन तथा पूंजीवाद से मुक्त करना था। कम्युनिस्ट आंदोलन की प्रेरणा तेलंगाना संघर्ष से मिली। हैदराबाद रियासत के नालगोंडा जिला (आन्ध्र प्रदेश) में 1946 में विद्रोह प्रारंभ हुआ। स्थानीय किसानों तथा मजदूरों के द्वारा सामंतों के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किया।

नक्सलवादी आंदोलन की शुरुआत 3 मार्च 1967 को पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में नक्सलवादी नामक स्थान से हुआ जब आदिवासी बिमल के केसन के द्वारा न्यायालय के आदेश के अनुसार खेत की जुताई करने गया तब जमींदार ईश्वर कीर्ति के साथी के द्वारा जेसन को खेत पर जाने से मना किया और उस पर हमला शुरू कर दिया। केसन तत्कालीन मुखिया कानु सन्याल के पास गया। सन्याल ने उसे जमीन दिलवाने में मदद की साथ ही जमीन किसानों के कब्जे में आ गयी और बाद में जमींदार के ऊपर पुलिस कार्रवाई की कोशिश की गई।

शहरी नक्सलवाद

परंपरागत रूप से नक्सलवाद को वामपंथी उग्रवादी समूह जो जंगलों में निवास करने वाले जनजाति लोगों को माना जाता था परंतु वर्ष 2013 में नागपुर में वहां का काम करने वाला

उग्रवादी की गिरफ्तारी हुई। उसके बाद नक्सली का एक नया रूप सामने आया जिसमें प्रबुद्ध वर्ग, लेखक, अध्यापक, प्रोफेसर, विषय निर्देशक, पेशेवर इत्यादि सक्रिय हैं। वह अपनी गतिविधि को शहरी क्षेत्र में बढ़ा रहे। वह अपनी रणनीतियों के द्वारा शहरों में सहानुभूति रखने वाले लोगों के बीच अपनी स्थिति को मजबूत कर रहे हैं। शहरी नक्सलवाद की घटना ने हाल के कुछ वर्षों में सबका ध्यान आकर्षित किया है। वर्ष 2015 के नक्सली कैडर के प्रमुख इंजीनियर से जिसने नक्सलवाद की विषय वस्तु पर अनेक उपन्यास लिखें और वह अपनी गतिविधि को बढ़ाने के लिए चेन्नई में पृथक करने की पुरजोर कर रहे थे। मार्च 2017 में महाराष्ट्र न्यायालय द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की प्रचार-प्रसार के आरोप में दोषी करार दिया। प्रोफेसर नक्सलियों के साथ मिलकर शहरी क्षेत्रों में प्रचार सामग्री का वितरण करता था।

आतंकवाद

आतंकवाद की समस्या अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक प्रमुख मुद्दे हैं। आतंकवादी गतिविधि की शुरुआत पहली शताब्दी से मानी जाती है जब कुछ लोगों के समूह के द्वारा उड़िया प्रांत में रोमन साम्राज्य के सहयोगी को मार दिया गया था। सन 1966-73 में जब फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्रवादियों के एक धार्मिक संप्रदाय सिटी में राज्य की असमर्थता दर्शाने के लिए दिनदहाड़े वीर वाले क्षेत्र में अपनी छोटी तलवार से यहूदी देशद्रोहियों पर हमला कर दिया जिससे आतंक की उत्पत्ति हुई।

''आधुनिक काल में आतंकवाद शब्द का प्रयोग फ्रांसीसी क्रांति के परिमाणस्वरुप फ्रांस में मैक्सी मिलियन शेक्सपियर की शासन प्रणाली और जन सुरक्षा समिति द्वारा तैयार की गई नीतियों व कार्य कर्मों को निर्दिष्ट करने के लिए किया गया था। वर्तमान समय में आतंकवाद जेड राष्ट्र राज्यों की सीमाओं को लग चुकी है। आधुनिक तकनीकी का उपयोग करके आतंकवादी गतिविधियों विश्व स्तर पर सक्रिय हैं जिसके कारण संपूर्ण विश्व का सुरक्षा की स्थिति का अनुभव कर रहे हैं।''

भारत की सुरक्षा के लिए इस्लामिक आतंकवाद प्रमुख खतरा है। भारत-पाकिस्तान के साथ परंपरागत मतभेद के कारण सीमा पर आतंकवादी गतिविधियों को समर्थन दिया जाता है जिससे कश्मीर क्षेत्र में घुसपैठ की समस्या तथा देश के विभिन्न भाग में विभिन्न प्रकार की घटनाएं होती रहती हैं—

''भारत में वर्तमान आतंकवाद के बीच 1980 के दशक में पंजाब में खालिस्तान की मांग का घटक आंदोलन जिसका प्रमुख उद्देश्य जम्मू एवं कश्मीर और शेष भारत के बीच एक प्रतिद्वंद्वी प्रमुख संपन्न राज की स्थापना करना इसके पश्चात पाकिस्तान ने कश्मीर को लक्ष्य बनाते हुए कश्मीरी लोगों को एक समूह को भारत विरोधी भावना को जागृत किया जो आज भी बरकरार है। कश्मीरी आतंकवाद मुख्यत: पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में सक्रिय आतंकवादी संगठन इसी से प्रशिक्षित आतंकवादी संगठन जैसे मोहम्मद हिजबुल तथा लश्कर तवा इत्यादि आतंकवादी संगठन के द्वारा संचालित किया जाता है।''

उत्तर पूर्व राज्य में बढ़ती जातीय राष्ट्रवाद धार्मिक आतंकवाद पृथक राज्यों के निर्माण की अभिलाषा ने स्थानीय लोगों को भारत सरकार के खिलाफ विद्रोह करने के लिए हथियार उठाने के लिए मजबूर कर दिया। भारत सरकार के सशक्त प्रयास के बावजूद भी उत्तर पूर्वी में छोटे-छोटे राज्य जैसे मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश का निर्माण हुआ। अभी भी गोरखालैंड की मांग को लेकर निरंतर संघर्ष होता रहता है।

भारत में आंतरिक सुरक्षा की बदलती प्रवृत्तियाँ

भारत का आंतरिक सुरक्षा का परिदृश्य तेजी से बदलते भू-राजनीतिक समीकरणों, वैश्विक तकनीकी विकास के कारण एक अत्यंत संवेदनशील और जटिल समस्या को उत्पन्न किया है। पारंपरिक सीमाओं पर सैन्य गतिरोध उत्पन्न करने और आंतरिक सुरक्षा को अस्थिर करने के लिए शत्रु देशों द्वारा नागरिक समाज को युद्ध के नए मोर्चे के रूप में उपयोग कर रहे है। पाकिस्तान लगातार भारत में आतंकवादी गतिविधि द्वारा भारतीय सीमाओं में स्थिरता को चुनौती देता है जो भारत के लिए गंभीर खतरा बनता जा रहा है। राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार इस गतिविधि को 'चतुर्थ पीढ़ी के युद्ध' रेखांकित किया है जो इस दौर में सामाजिक विभाजन पैदा करने, कट्टरपंथ को बढ़ावा देने और नाजुक सूचना अवसंरचना पर विघटनकारी हमलों के माध्यम से देश को भीतर से कमजोर करने का प्रयास करता है। इसके प्रत्युत्तर में, भारत की आंतरिक सुरक्षा नीति केवल संकट-प्रतिक्रियात्मक होने के पारंपरिक मॉडल से ऊपर उठकर एक पूर्व-सक्रिय, तकनीकी-सक्षम और रणनीतिक रूप से आत्मनिर्भर ढांचे में परिवर्तित हो गई है। अब भारत रक्षात्मक नीति का अनुसरण करने लगा है जिससे भारत पूरी तरह से दुश्मन देश से होने वाली गतिविधियां पर नियंत्रण किया जा सके।

भारत में अधिकांश महत्वपूर्ण सुरक्षा प्रणालियों और

विशिष्ट बलों का गठन किसी न किसी बड़े संकट से मिली सीख के परिणामस्वरूप हुआ है। अमृतसर के स्वर्ण मंदिर में हुए सैन्य अभियान और तत्कालीन प्रधानमंत्री (इन्दिरा गाँधी) की हत्या की घटनाओं के पश्चात क्रमश: राष्ट्रीय सुरक्षा गार्ड (NSG) और विशेष सुरक्षा समूह (SPG) की स्थापना की गई थी। इसी तरह, वर्ष 2008 के मुंबई आतंकवादी हमलों (26/11) के बाद राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) को स्थापित किया गया, राष्ट्रीय तकनीकी अनुसंधान संगठन (NTRO) को सुदृढ़ किया गया और 'नेटग्रिड' (NATGRID) जैसी एकीकृत खुफिया साझाकरण प्रणालियों की नींव रखी गई। यहाँ तक कि वर्ष 1998 के पोखरण-2 परमाणु परीक्षणों के बाद ही राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार (NSA) के पद और संबंधित रणनीतिक संस्थाओं का सृजन हुआ।

इस सुरक्षा-केंद्रित दृष्टिकोण के साथ-साथ भारत सरकार ने विकास-आधारित मॉडल को भी समान प्राथमिकता दी है। ताकि लोगों में असमानता की भावना या मन की कुंठा जिसमें अपने को पिछड़ा महसूस करना और मुख्यधारा से कटा महसूस करना की भावना कम हो और एक सुदृढ़ भारत का निर्माण हो सके। सुरक्षा बलों द्वारा सुदूरवर्ती क्षेत्रों में सुरक्षा कैंपों और फोर्टिफाइड पुलिस थानों की स्थापना के कारण माओवादियों की भौगोलिक पहुंच काफी संकुचित हो गई है। इन कैंपों के माध्यम से सड़कों का निर्माण, स्वास्थ्य केंद्रों की स्थापना, दूरसंचार कनेक्टिविटी का विस्तार और आदिवासियों के लिए जमीन से जुड़े वन अधिकारों (Forest Rights Act 2006) का क्रियान्वयन किया गया है।

जम्मू और कश्मीर में सीमा पार आतंकवाद और सैन्य निवारक नीति

भारत सरकार द्वारा वर्ष 2018 के संवैधानिक संशोधनों के पश्चात सुरक्षा परिदृश्य में महत्वपूर्ण सुधार देखा गया है। इसके साथ ही सीमा पार प्रायोजित आतंकवादी संगठनों ने अपनी युद्ध शैली में बदलाव किया है। कश्मीर घाटी में पारंपरिक उग्रवादी हिंसा में आई गिरावट के बाद आतंकवादियों ने पीर पंजाल के दक्षिणी क्षेत्रों को सक्रिय करने और हमलों को अंजाम देने और सोशल मीडिया के माध्यम से ऑनलाइन कट्टरपंथ फैलाने का प्रयास तेज किया है। इन उभरती रणनीतियों का मुकाबला करने के लिए भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा नीति अब 'सक्रिय सैन्य निवारण' के सिद्धांत पर काम कर रही है। इस बदली हुई सैन्य नीति को 22 अप्रैल 2025 को पहलगाम में हुए आतंकवादी हमले के बाद देखा जा सकता है जिसमें 26 नागरिकों की मौत हो गई थी। यह घटना भारत के संप्रभुता और मानवीयता के लिए बहुत दुखद था। इस घटना के प्रत्युत्तर में, भारत सरकार ने सुरक्षा बलों को खुली छूट प्रदान करते हुए 7 मई 2025 को 'ऑपरेशन सिन्दूर' प्रारंभ किया। इस ऑपरेशन के माध्यम से भारत सरकार ने त्वरित सैन्य कार्रवाई की, भारतीय सशस्त्र बलों ने सटीक निशाना लगाने वाले आधुनिक ड्रोनों और निर्देशित मिसाइलों का उपयोग कर पाकिस्तान और पाकिस्तान के कब्जे वाले कश्मीर (PoJK) में स्थित जैश-ए-मोहम्मद और लश्कर-ए-तैयबा जैसे खतरनाक आतंकी संघटन के 9 आतंकवादी प्रशिक्षण शिविरों को पूरी तरह नष्ट कर दिया। इस कार्रवाई में लगभग 100 से अधिक खूंखार आतंकवादी मारे गए और बल्कि पाकिस्तान के भीतर स्थित 13 सैन्य प्रतिष्ठानों और हवाई अड्डों को भी आंशिक क्षति पहुंची। भारत ने इस सैन्य संघर्ष के दौरान पाकिस्तान को जवाबी कारवाही में सिंधु जल संधि को निलंबित करने तथा आक्रामक हवाई और रॉकेट हमलों को तब तक जारी रखने का विकल्प खुला रखा, जब तक कि पाकिस्तान समर्थित आतंकवादी बुनियादी ढांचे को अपूरणीय क्षति नहीं पहुंच गई। 10 मई 2025 को सैन्य कार्रवाई रुकने के बाद, भारत सरकार ने सीमा पार आतंकवाद के प्रायोजकों के खिलाफ अपनी नीति को स्पष्ट किया।

इस सैन्य नीति के साथ-साथ वित्तीय मोर्चे पर भी आतंकवाद-रोधी संरचना को सुदृढ़ किया गया है। राष्ट्रीय जांच एजेंसी द्वारा आतंकी वित्तपोषण और मनी लॉन्ड्रिंग नेटवर्क पर निरंतर कानूनी शिकंजा कसने के कारण जम्मू-कश्मीर और शेष भारत में आतंकी संगठनों की रसद आपूर्ति श्रृंखला टूट गई है।

पूर्वोत्तर भारत : नृजातीय अस्थिरता और म्यांमार सीमा का प्रबंधन

पूर्वोत्तर भारत, जो सामरिक रूप से भारत के लिए महत्वपूर्ण है। उस क्षेत्र में आंतरिक असुरक्षा के समस्या बहुत गंभीर होती जा रही है। विशेष रूप से मणिपुर में फैली नृजातीय हिंसा के तार सीधे तौर पर पड़ोसी देश म्यांमार की राजनीतिक अस्थिरता और वहां चल रहे गृहयुद्ध से जुड़े हुए हैं। म्यांमार में वर्ष 2021 के सैन्य तख्तापलट के बाद वहां सक्रिय लोकतांत्रिक विद्रोही समूहों और म्यांमार सेना के बीच छिड़े संघर्ष के कारण म्यांमार के पश्चिमी राज्यों से बड़े पैमाने पर लोगों का पलायन भारत की सीमा की ओर हुआ है। जिससे स्थानीय संसाधनों पर अत्यधिक दबाव बढ़ गया है। मणिपुर की जनसांख्यिकी

पर इस घुसपैठ का सीधा प्रभाव पड़ा है, और लगातार सामाजिक तनाव और नृजातीय लोगों के बीच मुठभेड़ और हिंसा की घटना होती रही है। जिससे उत्तर पुरवा की सुरक्षा और प्रभावित हुई है। इस सुरक्षा संकट की गंभीरता को देखते हुए, भारत सरकार ने पूर्वोत्तर की सीमाओं को सुरक्षित करने के लिए दशकों पुरानी 'मुक्त आवागमन व्यवस्था' को निलंबित करने का निर्णय लिया है। वर्ष 1950 से प्रभावी इस व्यवस्था के कारण दोनों देशों के सीमावर्ती आदिवासी बिना किसी वीजा के सीमा के दोनों ओर आ-जा सकते थे, जिसका लाभ उठाकर उग्रवादी और नशीले पदार्थों के तस्कर आसानी से भारतीय क्षेत्र में घुसपैठ कर लेते थे। इस सीमा सुरक्षा नीति के जमीनी क्रियान्वयन के दौरान सुरक्षा बलों को स्थानीय स्तर पर भारी विरोध का सामना करना पड़ा है। मिजोरम और नागालैंड की राज्य सरकारें तथा विभिन्न जनजातीय संगठन सीमा पर बाड़ लगाने का कड़ा विरोध कर रहे हैं, क्योंकि उनका मानना है कि यह मनमाना विभाजन उनके पारंपरिक पारिवारिक और सांस्कृतिक संबंधों को हमेशा के लिए तोड़ देगा। मिजोरम सरकार ने शरणार्थियों का बायोमेट्रिक डेटा और उंगलियों के निशान केंद्र सरकार को सौंपने से इनकार कर दिया है, जबकि वहां के स्थानीय छात्र संगठनों ने चेतावनी दी है कि सीमा पर बाड़ लगाने से आक्रोशित युवा पुनः हथियार उठाने के लिए मजबूर हो सकते हैं।

साइबर और तकनीकी चुनौतियाँ

भारत का साइबर स्पेस वर्तमान में एक अभूतपूर्व और अत्यधिक आक्रामक सुरक्षा संकट का सामना कर रहा है, जहाँ साइबर हमले अब केवल व्यक्तिगत डेटा की चोरी तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे राष्ट्रीय संप्रभुता को चुनौती देने वाले संकर युद्ध का हिस्सा बन चुके हैं। एआई-संचालित साइबर हमलों के आगमन ने पारंपरिक सुरक्षा तंत्र को पीछे छोड़ दिया है, क्योंकि ये कृत्रिम बुद्धिमत्ता प्रणालियाँ किसी भी मानवीय सुरक्षा हस्तक्षेप के बिना कंप्यूटर नेटवर्क में छिपी कमियों को मशीन की गति से ढूंढकर कुछ ही मिनटों में पूरे नेटवर्क को ठप कर देती हैं। वर्ष 2025 के आधिकारिक साइबर आंकड़ों के अनुसार, भारत ने केवल एक वर्ष के भीतर 26.5 करोड़ (265 million) से अधिक गंभीर साइबर हमलों का सामना किया है। इनमें से लगभग 60% से अधिक हमले चीन और पाकिस्तान की संयुक्त भू-राजनीतिक धुरी से प्रायोजित थे।

आंतरिक सुरक्षा को बाह्य खतरों से पूरी तरह सुरक्षित करने और भविष्य की हाइब्रिड युद्ध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 15 अगस्त 2025 को लाल किले से 'मिशन सुदर्शन चक्र' (Mission Sudarshan Chakra) की घोषणा की थी। भगवान श्रीकृष्ण के अमोघ अस्त्र सुदर्शन चक्र से प्रेरित यह मिशन भारत की सुरक्षा नीति का एक अभूतपूर्व रक्षा कवच है, जिसका प्राथमिक लक्ष्य वर्ष 2035 तक देश के सभी सामरिक, असैन्य और धार्मिक स्थलों को पूर्ण हवाई, अंतरिक्ष और साइबर सुरक्षा प्रदान करना है। मिशन सुदर्शन चक्र एक बहु-स्तरीय, एआई-सक्षम और नेटवर्क आर्किटेक्चर पर आधारित सुरक्षा छतरी है। यह प्रणाली देश की मौजूदा हवाई और मिसाइल रक्षा प्रणालियों जैसे 'प्रोजेक्ट कुशा', 'त्रिगुन प्रणाली' और 'आकाशतीर नेटवर्क' को एक एकीकृत नियंत्रण केंद्र से जोड़ती है। इस मिशन के अंतर्गत, भारत ने इजराइल के साथ अपनी विशेष रणनीतिक साझेदारी को नया आयाम दिया है। फरवरी 2026 में प्रधानमंत्री की इजराइल यात्रा के दौरान, इजराइल ने अपनी विश्व प्रसिद्ध 'आयरन डोम', 'आरो' (Arrow) और विशेष रूप से निर्देशित ऊर्जा तकनीक पर आधारित लघु-दूरी की एंटी-ड्रोन प्रणाली 'आयरन बीम' (Iron Beam) की तकनीक भारत के साथ साझा करने की प्रतिबद्धता जताई है।

भारत सरकार द्वारा आतंकवाद विरोधी कदम

भारत सरकार ने आतंकवाद से निपटने के लिए कई सख्त कानून बनाए हैं। भारत मे कठोर कानूनों का निर्माण इंदिरा गांधी, राजीव गांधी और पंजाब और जम्मू और कश्मीर मे अनेकों निर्मम हत्या के बाद आतंकवाद एवं विघटन कार्य गतिविधियों निवारण अधिनियम पारित किया गया। कानून लागू करने वाली एजेंसी को व्यापक शक्ति प्रदान की गयी। अब पुलिस 24 घंटे के भीतर बंदी को न्यायिक मजिस्ट्रेट के सामने पेश करने के लिए बाध्य नहीं था। विशिष्ट न्यायालय का गठन किया गया था। अधिनियम की धारा 7(ए) के तहत पुलिस अधिकारी आरोपी की संपत्ति को कुर्क कर सकते थे। परंतु टाडा अधिनियम के दुरुपयोग के आरोप के कारण इसे 1995 में समाप्त कर दिया गया।

भारत के संसद पर हमले के बाद वर्ष 2002 में एक नया अधिनियम आतंकवाद निवारण अधिनियम पोटा बना। इस कानून के तहत आरोपी को बिना चार्जशीट जारी किए 180 दिनों तक हिरासत में रखा जा सकता था। पोटा कानून के प्रभावित न होने के कारण बाद में वर्ष 2004 में निरस्त कर दिया गया।

वर्ष 2008 में मुंबई हमलों के बाद भारत सरकार ने राष्ट्रीय

जांच एजेंसी (NIA) की स्थापना की। यह एजेंसी आतंकवाद से जुड़े मामलों की जांच करती है और पूरे देश में कार्रवाई करने का अधिकार रखती है। इसके अलावा मानव तस्करी, नकली मुद्रा, ड्रग्स या मादक पदार्थ आदि संबंधित अपराध भी शामिल हैं। वर्ष 2012 में आर्थिक अपराध को भी संशोधन के द्वारा आतंकवादी कार्य के रूप में शामिल किया गया जिसके अंतर्गत आर्थिक सुरक्षा में व्यवधान उत्पन्न करने वाले अपराध, हथियारों की प्राप्ति, आतंकी गतिविधि के लिए धन जमा करना जाली मुद्रा का संचालन आदि शामिल किया गया।

भारत कई दशकों से आतंकवाद के विरुद्ध चल रही लड़ाई में अग्रणी रहा है। यद्यपि आतंकवाद के रूपों में बदलाव आता रहा है एवं नई चुनौतियां भी सामने आती रही हैं। भारत सदैव आतंकवाद के सभी रूपों और अभिव्यक्तों का निरंतर विरोध करता रहा है। डिजिटल युग में आतंकवादी संगठन इंटरनेट और सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। सरकार साइबर सुरक्षा को मजबूत कर ऑनलाइन कट्टरता और आतंकवादी प्रचार पर निगरानी रखती है।

भारत सरकार आतंकवाद के खिलाफ 'जीरो टॉलरेंस' की नीति अपनाती है। इसके तहत सरकार ने 'प्रहार' नामक पहली राष्ट्रीय आतंकवाद-रोधी रणनीति लागू की है, जो आतंकवादियों को फंड, हथियार और सुरक्षित ठिकानों से वंचित करने के लिए एक बहुस्तरीय ढांचा प्रदान करती है।

कानून प्रवर्तन और पुलिस बलों का आधुनिकीकरण

भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची के अनुसार, 'पुलिस' और 'सार्वजनिक व्यवस्था' पूरी तरह राज्य सरकारों के अधीन विषय है। तथापि, देश की आंतरिक सुरक्षा के बदलते स्वरूप और आतंकवाद व संगठित अपराधों के अंतर-राज्यीय फैलाव को देखते हुए केंद्र सरकार वित्तीय और ढांचागत सहायता के माध्यम से राज्यों की क्षमता का संवर्धन करती है। इसके लिए केंद्रीय गृह मंत्रालय द्वारा दो विशेष आधुनिकीकरण योजनाएं संचालित की जा रही हैं य राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों को पुलिस आधुनिकीकरण हेतु सहायता (ASUMP) इस प्रमुख योजना के अंतर्गत वित्तीय वर्ष 2021-22 से 2025-26 के पांच वर्षों की अवधि के लिए रु. 4,846 करोड़ का कुल बजट आवंटित किया गया है। इस राशि का मुख्य उपयोग अत्याधुनिक पुलिस थानों के निर्माण, जिला स्तर पर साइबर फोरेंसिक प्रयोगशालाओं की स्थापना, आधुनिक हथियार और एकीकृत वायरलेस संचार प्रणालियों की खरीद में किया जा रहा है। इसके साथ ही दूसरी एजेंसी, केंद्रीय सशस्त्र पुलिस बल (CAPF) आधुनिकीकरण योजना-IV देश की सीमाओं की रक्षा करने वाले और आंतरिक दंगों पर काबू पाने वाले अर्धसैनिक बलों (जैसे BSF, CRPF, CISF, ITBP, SSB, NSG और असम राइफल्स) की मारक क्षमता बढ़ाने के लिए 1 जनवरी 2022 से 31 मार्च 2026 तक की अवधि के लिए रु. 1,523 करोड़ की वित्तीय योजना को मंजूरी दी गई है।

इस आधुनिकीकरण अभियान को और प्रभावी बनाने के लिए गृह मंत्रालय और रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (DRDO) ने मिलकर एक विशेष सहयोग प्रणाली विकसित किया है। इसके तहत डीआरडीओ द्वारा स्वदेशी रूप से विकसित कई रक्षा उत्पादों को अर्धसैनिक बलों में शामिल किया गया है, जिनमें प्रमुख रूप से संकीर्ण गलियों और आतंकवाद विरोधी ऑपरेशनों में उपयोगी 'कॉर्नर शॉट वेपन सिस्टम', 'जॉइंट वेंचर प्रोटेक्टिव कार्बाइन', विशेष बख्तरबंद एंटी-टेररिस्ट वाहन और अत्यधिक संवेदनशील मल्टी-मोड हैंड ग्रेनेड शामिल हैं। इसके साथ ही, दुर्गम और जंगली इलाकों में नक्सलियों द्वारा बिछाए गए बारूदी सुरंगों का पता लगाने के लिए 'हैंड हेल्ड ग्राउंड पेनेट्रेटिंग रडार' (HH-GPR) और 'फोलिएज पेनेट्रेटिंग रडार' का विकास अंतिम चरण में है। सुरक्षा बलों के मनोबल को बनाए रखने के लिए सरकार ने कल्याणकारी पहलों को भी बढ़ावा दिया है, जिसके तहत 41 लाख से अधिक जवानों को 'आयुष्मान सीएपीएफ' डिजिटल स्वास्थ्य कार्ड प्रदान किए गए हैं और बलों के बीच आवास आवंटन के लिए एक एकीकृत पारदर्शी वेब पोर्टल शुरू किया गया है।

निष्कर्ष

भारत की आंतरिक सुरक्षा की बदलती प्रवृत्तियों एक व्यापक विश्लेषण स्पष्ट करता है कि देश का सुरक्षा मॉडल अब प्रतिक्रियात्मक रक्षा प्रणाली नीति से आगे बढ़कर सक्रिय निवारक आक्रामकता की बढ़ रहा है। वामपंथी उग्रवाद के कोर क्षेत्रों में 'ऑपरेशन ब्लैक फॉरेस्ट' के माध्यम से माओवादी नेतृत्व की रीढ़ तोड़ना और 'ऑपरेशन सिन्दूर' के माध्यम से सीमा पार आतंकवाद के खिलाफ नया मोर्चा की स्थापना देश की रणनीतिक स्वायत्तता और मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति के परिचायक हैं। हालांकि भविष्य की राह में अभी भी कई गंभीर नीतिगत और व्यावहारिक चुनौतियाँ विद्यमान हैं। साइबर सुरक्षा एवं आतंकी गतिविधियां और सीमा पार घुसपैठ गतिविधि ा भारत की आंतरिक सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा हैं। म्यांमार

सीमा पर कटीली बाड़ लगाने के सामरिक निर्णय का स्थानीय पूर्वोत्तर के समुदायों द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक आधार पर विरोध किया जाना यह दर्शाता है कि भौतिक सुरक्षा और नागरिकों के विश्वास के बीच एक सूक्ष्म संतुलन स्थापित करना अनिवार्य है। अत:, भारत की संप्रभुता और आंतरिक सुरक्षा को स्थायी रूप से सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि 'मिशन सुदर्शन चक्र' जैसी अत्याधुनिक रक्षात्मक प्रणाली को संवेदनशीलता के साथ समय पर पूरा किया जाए, कानून प्रवर्तन एजेंसियों के बीच आंतरिक खुफिया साझाकरण की गति को बढ़ाया जाए और साइबर साक्षरता को राष्ट्रीय स्तर पर एक नागरिक आंदोलन का रूप देकर भारत के मानव संसाधन को वर्तमान समय में होने वाली युद्ध के खिलाफ एक मजबूत रक्षा कवच के रूप में विकसित किया जाए।

भारत की आंतरिक सुरक्षा समस्याएं बहुआयामी और जटिल हैं जिसमें आतंकवाद, नक्सलवाद, साइबर अपराध और सामाजिक तनाव जैसे समस्याओं से निपटने के लिए एक संतुलित और सतत नीति की आवश्यकता है। बल प्रयोग के साथ-साथ गरीबी उन्मूलन, खाद्य सुरक्षा, सामाजिक न्याय, विकास, शिक्षा और संवाद के माध्यम से ही इन समस्याओं का स्थायी समाधान संभव है। आतंकवाद, नक्सलवाद, साइबर अपराध और सामाजिक तनाव जैसी चुनौतियों का सामना केवल सरकार ही नहीं, बल्कि पूरे समाज को मिलकर करना होगा। राष्ट्रीय एकता, सामाजिक सद्भाव और जागरूक नागरिकता के माध्यम से भारत अपनी आंतरिक सुरक्षा को और अधिक मजबूत बना सकता है।

★सहायक प्राध्यापक
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ranjeetkumar2005@gmail.com
★★शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : jaingupta123@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ

- ⋆ एम, कार्तिकेन. (2018), आंतरिक सुरक्षा
- ⋆ कुमार, अशोक - बिपुल (2017), भारत की आंतरिक सुरक्षा मुख्या चुनौतियों, चेन्नई, एम सी गरोहिल एजुकेशन।
- ⋆ गृह मंत्रालय. (2024). पुलिस बल का आधुनिकीकरण. प्रेस सूचना ब्यूरो, भारत सरकार. PIB Press Release- Retrieved on Novermber 25, 2025 from https://www-pib.gov.in/PressReleasePage-aspx\PRID¾2084555-reg=3&lang=2.
- ⋆ सुध जे पी। (2014), पाश्चात्य राजनितिक विचारों का इतिहास, मेरठ के एंड कंपनी
- ⋆ Banerjee, S. (2025). Current trends in India's national security 2025. Observer Research Foundation.
- ⋆ Bishwaal, Tapan. (2013). International Relations. Black swan Publication.
- ⋆ Das, P. (2025). Securing the Northeast: India's border fence with Myanmar. Asian Confluence.
- ⋆ FirstIndia. (2026). Mission Sudarshan Chakra signals India's push for self-reliant, future-ready defence.Retrived on February 1, 2026 from https://firstindia.co.in/news/india/mi ssion-sudarshan-chakra-signals-indias-push-for-self-reliant-future-ready-defence.
- ⋆ J. Jackson. Preece. (2011). Security in International Relations, University of London, International Programme.
- ⋆ Jain, Nikita. (2025). *India's deadly war on Naxalites and Adivasis in Chhattisgarh.* Centre for Governance Studies. Retrieved on December 29, 2025 from https://cgs-bd.com/article/28431/India%E2%80%99s-Deadly-War-on-Naxalites-and-Adivasis-in-Chhattisgarh.
- ⋆ Ministry of Home Affairs. (2025). Ministry of Home Affairs: Year end review 2025. Government of India. Ministry of Home Affairs Press Release.
- ⋆ Patil, S., & Kumar, A. (2026). Current trends in India's national security. Observer Research Foundation.
- ⋆ Press Information Bureau, Government of India. (2025). *Transformation of India's defence and internal security posture.* Press Information Bureau.
- ⋆ Raj, R. (2025). The Indo-Myanmar border fence: Challenges and way forward. Manohar Parrikar Institute for Defence Studies and Analyses.
- ⋆ Segun, Ossisnya (2021). National security Versus Global Security. UN, UN Chronicle, Retrieved on 3 Jan 2021.

Research Paper

Dr. Ram Pravesh Roy

India-Bangladesh Relations in the Post-Pandemic Era: Structural Transformation in Human Development, Trade, and Sustainability

1. Abstract

The COVID-19 pandemic reshaped global economic systems, disrupted trade networks, and exposed structural vulnerabilities in developing nations. India and Bangladesh, as closely connected South Asian neighbors, experienced temporary economic setbacks but demonstrated long-term resilience. This study examines bilateral relations in the post-pandemic era under three core dimensions: Human Development Indicators (HDI), Bilateral Trade Trends, and Sustainable Development Progress.

The findings indicate that while progress has been gradual rather than dramatic, the structural direction remains positive and stable. The post-pandemic period presents an opportunity for deeper integration in regional value chains, digital infrastructure, energy cooperation, and climate governance.

The post-pandemic global economic environment has also been shaped by supply chain diversification strategies such as the "China+1" model. This shift creates opportunities for India and Bangladesh to jointly integrate into global value chains, particularly in textiles, pharmaceuticals, electronics assembly, and light manufacturing.

Bangladesh's strength in garment manufacturing combined with India's cotton production and chemical industries provides scope for backward and forward linkage integration. Infrastructure connectivity projects under BBIN (Bangladesh, Bhutan, India, Nepal), inland waterway development, railway linkages such as the Maitree Express, and cross-border electricity transmission further enhance economic integration potential.

2. Introduction

Structural Continuity and Emerging Strategic Transformation

2.1 Background and Historical Context

India and Bangladesh share one of the most deeply interwoven bilateral relationships in South Asia. The relationship is rooted in shared history, linguistic connections, cultural affinity, economic interdependence, and geopolitical proximity. Bangladesh emerged as an independent state in 1971 with significant support from India during the Liberation War. Since then, the trajectory of India-Bangladesh relations has evolved through phases of cooperation, tension, reconciliation, and strategic consolidation.

Geographically, Bangladesh shares a 4,096-kilometer border with India, making it India's longest land boundary with any neighboring country. This proximity has shaped patterns of trade, migration, water sharing, cultural exchange, and security cooperation. Over the last decade, particularly since 2009, bilateral relations have strengthened significantly, characterized by enhanced political trust, infrastructure connectivity agreements, and expanding economic ties.

2.2 Global Context: COVID-19 and Structural Disruption

The COVID-19 pandemic triggered a global economic contraction estimated at – 3.1% in 2020, according to international financial institutions.

Lockdowns halted manufacturing, disrupted logistics networks, and reduced global demand. Developing countries faced additional vulnerabilities, including:

• Informal labor market exposure
• Limited fiscal capacity
• Public health infrastructure gaps
• Export dependency

India experienced a GDP contraction of –6.6% in 2020, marking one of the sharpest declines in its post-independence history. Bangladesh, although affected, maintained positive growth of approximately 3.4%, demonstrating relative macroeconomic resilience.

The pandemic disrupted:

• Cross-border trade
• Migrant labor mobility
• Education systems
• Supply chain networks
• Energy consumption patterns

However, it also accelerated:

• Digital governance
• E-commerce expansion
• FinTech adoption
• Renewable energy policy emphasis
• Regional economic cooperation discussions

GDP Growth Rate Comparison (%)

Year	India (%)	Bangladesh (%)
2017	7.0	7.9
2018	6.1	7.3
2019	4.0	7.9
2020	-6.6	3.4
2022	7.2	7.1

2.3 Rationale of the Study

This study focuses on three core pillars that define India–Bangladesh relations in the post-pandemic era:

1. Human Development Indicators
2. Bilateral Trade and Economic Integration
3. Sustainable Development and Climate Cooperation

These pillars are interdependent. Improvements in human capital enhance productivity and trade capacity. Trade expansion generates fiscal resources for social development. Sustainable development ensures long-term economic stability.

The rationale for examining these dimensions arises from:

- Bangladesh surpassing India in certain human development indicators.
- Rapid expansion of bilateral trade, crossing USD 15 billion.
- Growing climate vulnerability in shared ecosystems such as the Sundarbans.
- Global supply chain restructuring under the "China+1" strategy.

The post-pandemic environment provides an opportunity to reassess whether the trajectory of India–Bangladesh relations is stagnant, gradually improving, or undergoing strategic acceleration.

Health Indicators

Table : Life Expectancy Comparison (2022)

Country	Life Expectancy (Years)
India 67.2	
Bangladesh	72.4

Bangladesh performs better due to:

• Strong primary healthcare model
• Maternal health programs
• High immunization coverage

India shows progress but faces rural–urban disparities.

Education Indicators

Table : Education Indicators (2022)

Indicator	India	Bangladesh
Mean Years of Schooling	6.7	6.2
Expected Years of Schooling	11.9	12.4

Bangladesh leads in expected schooling years, reflecting stronger primary and secondary enrollment expansion.

2.4 Economic Interdependence Before the Pandemic

Prior to COVID-19, both economies were on strong growth paths:

India:

• GDP growth above 7% (2014–2017)

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

• Expanding digital economy

• Infrastructure investment surge

Bangladesh:

• GDP growth above 7% consistently (2016–2019)

• Strong garment export sector

• Rising female labor participation

Bilateral trade increased from approximately USD 6.76 billion in 2015–16 to over USD 10 billion by 2018–19. Infrastructure connectivity projects such as rail links, inland waterways, and power grid interconnections strengthened integration.

Thus, the pre-pandemic baseline reflects growing interdependence and economic optimism

2.5 Post-Pandemic Strategic Environment

The post-pandemic global order is characterized by:

• Supply chain diversification

• Rising geopolitical competition

• Protectionist tendencies

• Digital economy expansion

• Climate urgency

India and Bangladesh are strategically positioned in the Bay of Bengal region, which is gaining importance due to maritime trade routes and Indo-Pacific strategic realignments.

Regional platforms such as:

• BIMSTEC

• BBIN Initiative

• Indo-Pacific economic frameworks provide additional layers of cooperation potential.

2.6 Human Development as a Structural Foundation

Human development remains central to long-term economic growth. Between 1990 and 2022:

India's HDI improved from 0.429 to 0.644. Bangladesh improved from 0.388 to 0.661.

Bangladesh's stronger performance in life expectancy and female participation highlights the importance of social sector investment. Meanwhile, India's progress in digital inclusion and tertiary education expansion reflects technological modernization. The pandemic temporarily reversed gains in education access due to school closures. However, both countries implemented digital learning initiatives to mitigate long-term damage.

The introduction frames human development not merely as a social objective but as an economic multiplier influencing productivity, trade competitiveness, and innovation.

HDI Comparative Trends (1990–2022)

Table 1: HDI Comparison

Year	India HDI	Bangladesh HDI
1990	0.429	0.388
2000	0.497	0.478
2010	0.586	0.557
2015	0.624	0.633
2019	0.645	0.655
2022	0.644	0.661

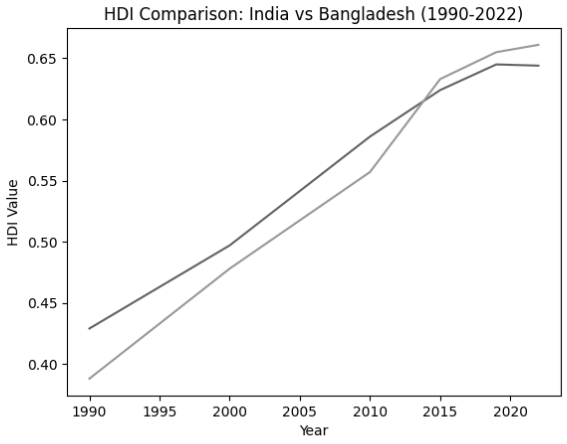

<u>2.7 Tade as an Engine of Bilateral Growth</u>

Trade serves as a central driver of India–Bangladesh relations. India is Bangladesh's largest trading partner in South Asia. Trade composition reflects complementarity:

India exports:

• Raw materials

• Intermediate goods

• Energy products

Bangladesh exports:

• Ready-made garments, Jute and leather goods

The pandemic reduced trade temporarily, but recovery has been strong. By 2022– 23, bilateral trade crossed nearly USD 16 billion. The introduction highlights the structural importance of reducing trade imbalance and moving toward integrated regional value chains.

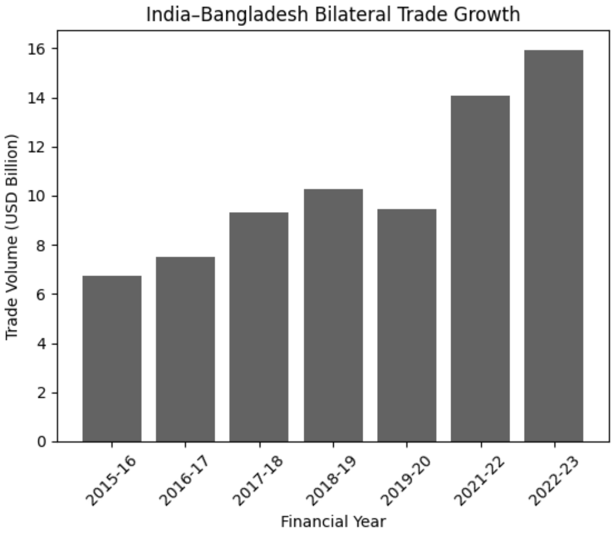

2.8 Sustainability and Climate Imperative

Both India and Bangladesh rank among the most climate-vulnerable countries globally. Coastal flooding, cyclones, and river erosion affect millions.

Shared ecosystems such as the Sundarbans require coordinated environmental governance. Climate adaptation investment, renewable energy expansion, and green infrastructure financing are central to long-term resilience.

India's renewable capacity exceeds 170 GW, while Bangladesh leads in off-grid solar deployment. The post-pandemic recovery phase increasingly integrates green growth principles.

Sustainable Development Goals (SDG)

The SDGs assess development across:

- Poverty
- Climate
- Infrastructure
- Education
- Partnerships

SDG Index Scores

Table : SDG Index Score (Out of 100)

Year	India	Bangladesh
2016	57.9	59.1
2018	61.1	63.5
2020	63.3	63.5
2023	66.4	65.9

3. Economic Partnership Between India and Bangladesh

3.1 Overview of Bilateral Economic Cooperation

India and Bangladesh share one of the strongest economic partnerships in South Asia. Over the last decade, bilateral trade, energy cooperation, infrastructure connectivity, and investment flows have expanded significantly. The economic partnership is driven by geographic proximity, complementary production structures, and strategic regional integration initiatives.

India is Bangladesh's largest trading partner in South Asia, while Bangladesh is India's largest trade partner in the region.

3.1 Export Composition and Trade Balance

Table : Export Distribution (2022–23 Approximate Data)

Trade Flow	Value (USD Billion)
India's Exports to Bangladesh	13.2
Bangladesh's Exports to India	2.73

3.3 Major Export Categories

Table : Key Export Categories

India Exports	Bangladesh Exports
Petroleum Products	Ready-Made Garments
Cotton & Textiles	Jute & Jute Goods
Machinery	Leather Products
Vehicles	Fish & Agricultural Products
Chemicals	Processed Food

3.4 Investment and Infrastructure Cooperation

India has extended multiple Lines of Credit (LOCs) to Bangladesh worth over USD 8 billion for infrastructure development, including:

- Railway modernization
- Port connectivity
- Road development
- Inland waterways

Energy cooperation includes:

- 1160 MW electricity export from India to Bangladesh

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

• Cross-border power grid connectivity

These investments strengthen long-term economic integration.

3.5 Post-Pandemic Economic Opportunities

The global "China+1" supply chain strategy presents major opportunities:

1. Textile value chain integration
2. Pharmaceutical cooperation
3. Electronics assembly networks
4. Special Economic Zones for Indian investors in Bangladesh

Bangladesh has allocated special economic zones exclusively for Indian companies, enhancing bilateral industrial cooperation.

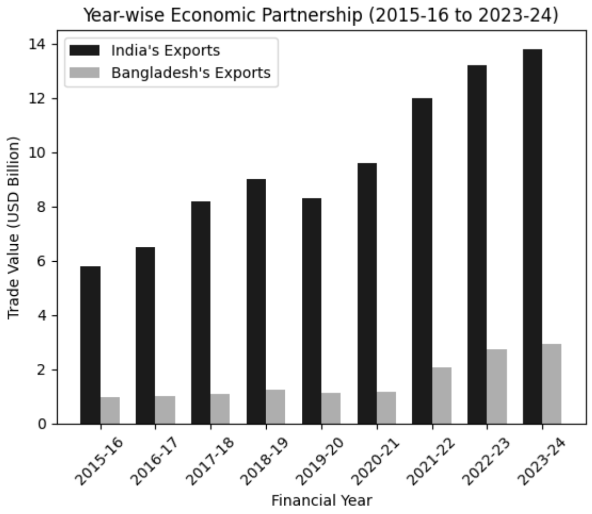

3.6 Important Reviews of Scholars and Policy Experts on India–Bangladesh Economic Partnership

The India–Bangladesh economic partnership has attracted attention from policymakers, economists, and international relations scholars. Several analysts have emphasized the strategic, economic, and developmental significance of this bilateral relationship, particularly in the post-pandemic era.

Riya Sinha & Bhumika Sharma (2020)

Riya Sinha and Bhumika Sharma highlighted that cultural connectivity and tourism cooperation form an underutilized dimension of India–Bangladesh economic integration. According to their analysis, strengthening people-to-people connectivity through regional tourism circuits can enhance service sector trade and generate employment opportunities.

They argued that post-pandemic recovery should not be limited to goods trade but must include:

• Tourism revival

• Medical travel cooperation

• Cultural exchange industries

Their review emphasizes that soft power diplomacy and cultural linkage can complement hard economic cooperation.

Syed Mafiz Kamal & Garga Chatterjee (2020)

Syed Mafiz Kamal and Garga Chatterjee argued that the pandemic created a structural shift in global investment flows. As multinational companies diversify away from China, South Asian economies–particularly India and Bangladesh—have an opportunity to attract new manufacturing investment.

Their core argument includes:

• Bangladesh's garment strength

• India's industrial raw material and pharmaceutical capacity

• Potential for integrated regional value chains

They suggest that coordinated industrial policy between the two countries could position them as competitive alternatives in global supply chains.

Dipanjan Roy Chaudhary (2020)

Dipanjan Roy Chaudhary emphasized the importance of Special Economic Zones (SEZs) dedicated to Indian investors in Bangladesh. According to his analysis:

- Bangladesh has offered three exclusive SEZs for Indian companies.
- This demonstrates strong bilateral trust.
- Industrial cooperation is shifting from trade-based to production-based integration.

He noted that sustainable manufacturing practices should guide post-pandemic restructuring to ensure long-term environmental and economic stability.

4. Objectives of the Study

The primary objective of this study is to examine the structural evolution of India– Bangladesh relations in the post-pandemic era, with particular emphasis on human development progress, bilateral economic partnership, and sustainable development initiatives. The study seeks to analyze whether the COVID-19 pandemic created stagnation, disruption, or strategic transformation in bilateral cooperation between the two nations.

To achieve this overarching goal, the study is guided by the following specific objectives:

4.1 To Examine the Trends in Human Development Indicators

- To analyze the long-term progress of Human Development Index (HDI) in India and Bangladesh from 1990 to 2022.
- To compare life expectancy, education attainment, and income growth between the two countries.
- To evaluate whether the post-pandemic period has accelerated or slowed human development progress.
- To assess gender participation and social sector performance as key components of sustainable human capital formation.

4.2 To Analyze the Growth and Structure of Bilateral Trade

1. To examine the trend in India–Bangladesh trade volume from 2015–16 to 2022–23.
2. To evaluate the impact of COVID-19 on trade flows and recovery patterns.
3. To analyze export composition and trade imbalance between the two countries.
4. To assess the scope for value chain integration and industrial cooperation in the post-pandemic period.

4.3 To Evaluate Economic Partnership and Investment Cooperation

1. To study infrastructure cooperation through Lines of Credit (LOCs) and crossborder connectivity projects.
2. To examine energy trade and power grid integration between India and Bangladesh.
3. To assess the role of Special Economic Zones (SEZs) in enhancing production-based integration.
4. To evaluate the role of regional frameworks such as BBIN and BIMSTEC in strengthening economic ties.

4.4 To Assess Sustainable Development and Climate Cooperation

1. To analyze SDG performance trends in both countries.
2. To evaluate renewable energy progress and environmental policy initiatives.
3. To examine joint climate vulnerability challenges, particularly in the Sundarbans region.
4. To assess whether post-pandemic recovery strategies integrate sustainability goals.

4.5 To Examine the Structural Impact of COVID-19 on Bilateral Relations

1. To determine whether COVID-19 created a structural break in trade and development indicators.
2. To assess resilience and recovery patterns in economic and human development sectors.
3. To evaluate whether the post-pandemic period marks gradual progress or strategic acceleration.

5. Analysis of the Study

The analysis of the study is based on three core dimensions:

1. Human Development Trends
2. Bilateral Trade and Economic Partnership
3. Sustainable Development Progress

The objective of this analysis is to determine whether the India–Bangladesh relationship in the post-pandemic era reflects stagnation, gradual improvement, or structural transformation.

5.1 Overall Comparative Analysis Across all indicators:

Indicator	Trend Type	Structural Break	Overall Direction
HDI	Gradual Increase	No	Positive
Trade	Upward with 2020 Dip	Temporary	Strong Recovery
GDP	Pandemic Shock	Short-term	Recovered
SDG	Gradual Increase	No	Positive

5.2 Final Analytical Conclusion

The analysis reveals that:

1. India–Bangladesh relations are not stagnant.
2. Growth is gradual and consistent.
3. COVID-19 caused temporary disruptions but no long-term structural decline.
4. Trade expansion is the strongest performing pillar.
5. Human development progress remains stable.

6. Sustainability cooperation is emerging as a strategic focus.

Therefore, the alternative hypothesis (positive and gradual growth) is supported by empirical evidence.

The post-pandemic era represents structural resilience and strategic consolidation rather than slowdown.

6. Hypotheses of the Study

The hypotheses of the study are formulated based on the key objectives related to Human Development, Bilateral Trade, and Sustainable Development between India and Bangladesh in the post-pandemic era.

The study aims to test whether the bilateral relationship reflects stagnation or positive structural growth.

6.1 Hypotheses Related to Human Development Indicators (HDI)

Null Hypothesis (H_{01}):

There is no significant improvement in Human Development Indicators (HDI) of India and Bangladesh in the post-pandemic era; the trend remains stagnant.

Alternative Hypothesis (H_{11}):

There is a significant and positive improvement in Human Development Indicators (HDI) of India and Bangladesh in the post-pandemic era.

6.2 Hypotheses Related to Bilateral Trade Growth

Null Hypothesis (H_{02}):

The trend in bilateral trade between India and Bangladesh is stagnant and does not show significant growth in the post-pandemic period.

Alternative Hypothesis (H_{12}):

The bilateral trade between India and Bangladesh shows significant positive growth and recovery in the post-pandemic period.

6.3 Hypotheses Related to Trade Imbalance

Null Hypothesis (H_{03}):

The trade imbalance between India and Bangladesh remains constant and does not show structural change.

Alternative Hypothesis (H_{13}):

The trade imbalance between India and Bangladesh shows structural variation and changing dynamics in the post-pandemic era.

6.4 Hypotheses Related to Sustainable Development Goals (SDG)

Null Hypothesis (H_{04}):

There is no significant improvement in Sustainable Development Goal (SDG) performance of India and Bangladesh in the post-pandemic period.

Alternative Hypothesis (H_{14}):

There is a significant and measurable improvement in Sustainable Development Goal (SDG) performance of India and Bangladesh in the post-pandemic period.

6.5 Overall Structural Hypothesis

Null Hypothesis (H_{05}):

The India–Bangladesh relationship in the post-pandemic era reflects stagnation across development, trade, and sustainability indicators.

Alternative Hypothesis (H_{15}):

The India–Bangladesh relationship in the post-pandemic era reflects gradual but positive structural transformation across development, trade, and sustainability indicators.

7. Conclusion

The study examined the India–Bangladesh relationship in the post-pandemic era through three core dimensions: Human Development Indicators, Bilateral Trade and Economic Partnership, and Sustainable Development Progress. The objective was to determine whether the COVID-19 pandemic caused stagnation or structural transformation in bilateral cooperation.

The analysis of Human Development Indicators (HDI) from 1990 to 2022 reveals steady and gradual improvement in both countries. Bangladesh surpassed India in HDI after 2015, largely due to stronger performance in life expectancy and gender participation. India, however, demonstrated progress in digital infrastructure, higher education expansion, and financial inclusion.

The pandemic temporarily slowed development momentum but did not reverse long-term gains. Therefore, the hypothesis of stagnation in human development is not supported.

Bilateral trade analysis indicates strong resilience and expansion. Trade volume nearly doubled from USD 6.76 billion in 2015–16 to USD 15.93 billion in 2022–23. Although COVID-19 caused a

temporary decline in 2019–20, the recovery was rapid and V-shaped. India maintains a trade surplus; however, Bangladesh's exports to India are gradually increasing. The trend clearly reflects structural economic interdependence rather than stagnation. The post-pandemic period has strengthened the case for integrated regional value chains and production-based cooperation.

In terms of GDP performance, Bangladesh demonstrated macroeconomic stability by maintaining positive growth during the pandemic, while India experienced contraction but recovered strongly in subsequent years. This indicates resilience in both economies and complementary strengths within the partnership.

Sustainable Development Goal (SDG) performance also shows consistent improvement. Both countries increased their SDG index scores steadily between 2016 and 2023. Renewable energy expansion, climate adaptation efforts, and crossborder energy cooperation are emerging as strategic pillars of bilateral engagement. Given their shared vulnerability to climate change, especially in the Sundarbans region, environmental cooperation will remain central in the future.

Overall, the findings suggest that the India–Bangladesh relationship in the postpandemic era is characterized by gradual but positive structural transformation. The pandemic created short-term disruptions but did not weaken the long-term trajectory of cooperation. Instead, it accelerated digital transformation, regional supply chain integration, and sustainability-focused development strategies.

Department of Economics
Kalinga University
Naya Raipur, Chhattisgarh
Email : rampravesh550@gmail.com

References:

- Asian Development Bank. (2022). *Asian Development Outlook 2022*. Manila: ADB.
- Chaudhary, D. R. (2020). India plans to enhance trade with Bangladesh. *The Economic Times*.
- International Monetary Fund. (2022). *World Economic Outlook Database*. Washington, DC: IMF.
- Ministry of Commerce and Industry, Government of India. (2023). *Export Import Data Bank*. New Delhi.
- Ministry of External Affairs, Government of India. (2020). *India–Bangladesh Bilateral Relations Brief*.
- Sinha, R., & Sharma, B. (2020). Travel South Asia: India's tourism connectivity with the region. *Brookings Institution*.
- Sustainable Development Solutions Network. (2023). *Sustainable Development Report 2023*. New York: SDSN.
- United Nations Development Programme. (2022). *Human Development Report 2021/2022*. New York: UNDP.
- World Bank. (2023). *World Development Indicators Database*. Washington, DC: World Bank.
- World Trade Organization. (2022). *World Trade Statistical Review*. Geneva: WTO.

Research Paper

Educational and Socio-Cultural Status of Dalit Women in Haryana: Role of SCSP

Neetu

Abstract

Dalit women are one of the most marginalized groups in Indian society because they face discrimination based on both caste and gender. Their educational and socio-cultural condition is affected by poverty, social inequality, lack of awareness, and traditional beliefs. This article studies the educational and socio-cultural status of Dalit women in Haryana and examines the role of the Scheduled Caste Sub Plan (SCSP) in improving their condition. Education is an important tool for empowerment because it helps women become aware of their rights and improve their economic condition. However, many Dalit women still face barriers in accessing education and employment opportunities. The article also explains how socio-cultural factors such as patriarchy and caste discrimination affect their daily lives. The study highlights the importance of government policies, awareness, and proper implementation of schemes for improving the lives of Dalit women. It concludes that education, empowerment, and social change are necessary for achieving equality and justice.

Keywords

Dalit Women, SCSP, Education, Socio-Cultural Status, Haryana, Empowerment, Social Exclusion, Government Policy

Introduction

Indian society has been influenced by the caste system for many years. This system created inequality among different social groups and limited opportunities for weaker sections of society. Scheduled Castes, also known as Dalits, are among the most disadvantaged groups in India. Even today, many Dalits face discrimination in education, employment, and social life.

Dalit women face a more difficult situation because they experience both caste-based and gender-based discrimination. This condition is often described as double discrimination. They face problems such as poverty, lack of education, unemployment, and social exclusion. In many rural areas, women are expected to focus on household work instead of education and employment.

Education plays an important role in improving the condition of Dalit women. It increases awareness, confidence, and opportunities for employment. Educated women are more likely to participate in decision-making and improve their social status. However, many Dalit girls still leave school early due to financial problems, lack of family support, and social pressure.

In Haryana, traditional values and patriarchal norms still influence society, especially in rural areas. Dalit women often face restrictions in education, employment, and participation in social activities. Although Haryana is economically developed, social inequality and gender discrimination continue to affect the lives of many women.

To improve the condition of Scheduled Castes, the Government of India introduced the Scheduled

Caste Sub Plan (SCSP). The aim of SCSP is to ensure that a proper share of government funds is used for the development of Scheduled Castes. It focuses on areas such as education, employment, skill development, and social welfare.

In my observation, many Dalit women in Haryana still struggle to access government schemes because of lack of awareness and social barriers. Therefore, it is important to study their educational and socio-cultural condition and understand the role of SCSP in improving their lives.

Main Body

Educational Status of Dalit Women

Education is one of the most important tools for social and economic development. It helps people gain knowledge, improve their thinking ability, and become aware of their rights. For Dalit women, education is especially important because it helps them overcome caste discrimination and gender inequality.

Educated women are more likely to become financially independent and support their families. Education also improves confidence and encourages women to participate in social and political activities. When women are educated, they can make better decisions about health, employment, and family matters.

However, the educational condition of Dalit women is still not satisfactory. Many Dalit girls face problems such as poverty, lack of proper schools, social restrictions, and family pressure. In some families, boys are given more importance in education than girls. As a result, many girls discontinue their studies at an early stage.

For example, in many rural areas, girls are expected to help in household work instead of continuing higher education. This limits their opportunities for growth and independence.

Government schemes under SCSP provide scholarships, hostel facilities, free books, and financial support for Scheduled Caste students. These programs help in increasing literacy and reducing dropout rates among Dalit girls.

It can be observed that education not only improves the lives of Dalit women but also contributes to the development of the entire community.

Socio-Cultural Status of Dalit Women

The socio-cultural status of a person refers to their position in society based on social and cultural factors such as caste, traditions, customs, and gender roles. Dalit women often have a lower socio-cultural status because of both caste discrimination and patriarchy.

In many parts of society, women are expected to follow traditional roles and have limited participation in decision-making. Dalit women face additional difficulties because they belong to marginalized caste groups. They often experience social exclusion, unequal treatment, and lack of respect.

Patriarchal values also affect the freedom of women. In many families, important decisions related to education, marriage, and employment are made by male members. This reduces the independence of women and limits their opportunities.

For example, in some communities, Dalit women are not allowed to participate equally in social or family decisions. This shows that social and cultural barriers still exist.

Economic conditions also influence the socio-cultural status of Dalit women. Many women work in low-paid jobs such as agriculture, domestic work, and daily wage labor. Due to financial difficulties, they often do not get proper education or healthcare.

In Haryana, caste discrimination and traditional thinking still affect the position of Dalit women in society. Although laws exist to protect equality, social attitudes often continue to create barriers.

In my view, equal respect and participation should be given to Dalit women so they can improve their confidence and social position.

Theoretical Perspective

The condition of Dalit women can be understood with the help of different theories such as intersectionality, social exclusion, empowerment, and feminist perspective.

Intersectionality Theory

Intersectionality explains how different forms of

discrimination are connected. Dalit women face discrimination because of both caste and gender. Their problems cannot be understood separately because caste and gender work together to create inequality.

For example, a Dalit woman may face difficulty in education because of poverty, caste discrimination, and gender restrictions at the same time.

Social Exclusion Theory

Social exclusion means that some groups are denied equal opportunities and participation in society. Dalit women often face exclusion in education, employment, healthcare, and social life.

This theory helps in understanding why many Dalit women remain marginalized even after the introduction of development programs.

Empowerment Theory

Empowerment means giving people confidence, awareness, and the ability to make decisions. Education and economic independence are important forms of empowerment for Dalit women.

Government schemes, awareness programs, and employment opportunities can help women improve their social and economic condition.

Feminist Perspective

The feminist perspective focuses on gender equality and highlights the problems faced by women in patriarchal societies. It explains how women are often denied equal rights and opportunities.

For Dalit women, feminism is important because they face both gender inequality and caste discrimination.

Role of SCSP

The Scheduled Caste Sub Plan (SCSP) is an important policy introduced for the welfare of Scheduled Castes. Under this plan, a certain portion of the government budget is reserved for the development of Scheduled Castes.

SCSP focuses on areas such as education, employment, healthcare, housing, and social welfare. Different government departments implement schemes related to scholarships, skill development, financial assistance, and self-employment.

For Dalit women, SCSP plays an important role in improving educational and economic opportunities. Through scholarships and educational support, many girls are able to continue their studies. Skill development programs also help women become financially independent.

For example, under SCSP, some women receive training for tailoring, handicrafts, or small businesses, which helps them earn income and support their families.

SCSP also contributes to social empowerment by encouraging awareness and participation in community activities. Women who become economically independent often gain more confidence and respect in society.

However, the implementation of SCSP faces several challenges. In many cases, people are not fully aware of the schemes available to them. Sometimes, funds are not properly used or do not reach the intended beneficiaries.

Social barriers and traditional beliefs also reduce the effectiveness of these programs. In some areas, women may not be encouraged to participate in training or employment opportunities.

It can be observed that proper implementation and awareness are necessary for the success of SCSP.

Conclusion

Challenges Faced by Dalit Women

Dalit women continue to face many social, educational, and economic challenges. One major problem is poverty, which limits access to education and healthcare. Many families cannot afford higher education for girls.

Another challenge is social discrimination. Even today, caste-based inequality exists in many rural areas. Women may face unequal treatment in schools, workplaces, and society.

Lack of awareness is also an important issue. Many women do not know about government schemes and welfare programs available to them.

Patriarchal thinking further limits the freedom of women. In some families, women are not allowed to make decisions related to education, employment, or marriage.

For example, some girls are forced to leave school early due to household responsibilities or early marriage.

These problems create barriers in the development of Dalit women and reduce their opportunities for education, employment, and social progress.

Bibliography:

1. Ambedkar, B. R. (2014). *Annihilation of Caste*. New Delhi: Navayana Publishing.
2. Rege, Sharmila. (2013). *Writing Caste/Writing Gender: Narrating Dalit Women's Testimonies*. New Delhi: Zubaan Publications.
3. Guru, Gopal. (2011). *Humiliation: Claims and Context*. New Delhi: Oxford University Press.
4. Thorat, Sukhadeo & Newman, Katherine S. (2010). *Blocked by Caste: Economic Discrimination in Modern India*. New Delhi: Oxford University Press.
5. Omvedt, Gail. (2011). *Dalits and the Democratic Revolution*. New Delhi: Sage Publications.

Research Paper

Arti Kumari

A Decade of Nari Shakti: Evaluating the Multi-Sectoral Impact and Implications of the Beti Bachao Beti Padhao (BBBP) Scheme in India

Abstract

The persistent challenge of gender imbalance and educational deprivation among women has meticulously occupied the discourses of social reform and public policy in India. Launched in January 2015, the Beti Bachao Beti Padhao (BBBP) scheme emerged as a definitive, multi-sectoral national intervention designed to reverse the declining Child Sex Ratio (CSR) and secure the educational empowerment of girls. As this landmark initiative completes a full decade of implementation, an empirical and critical evaluation becomes imperative to chart its structural trajectories, achievements, and persistent subterranean gaps. This research paper endeavors to comprehensively analyze the structural framework of the BBBP scheme, evaluating its performance across key indicators such as Sex Ratio at Birth (SRB), institutional deliveries, gross enrollment ratios, and grassroots behavioral modifications. Leveraging quantitative indicators alongside sociological frameworks of empowerment, the study investigates how systemic corruption, socio-cultural rigidities, and structural deficits within rural schooling continue to present severe friction to its complete operational efficacy. The findings highlight that while the scheme has successfully achieved a positive resonance in shifting institutional mindsets and enhancing primary enrollment, substantive challenges remain in preventing educational dropouts at the secondary level and ensuring the quality of survival. The paper ultimately advocates for an integrated policy roadmap that transitions from basic survival milestones to sustainable higher education and systemic anti-corruption safeguards.

Keywords

Beti Bachao Beti Padhao, Child Sex Ratio, Educational Empowerment, Multi-Sectoral Intervention, Behavioral Change.

Introduction

The structural health and ethical fabric of any progressive democratic society can be directly measured by the socio-political position and dignity it accords to its women. Historically, the Indian sub-continent has grappled with deeply entrenched patriarchal hierarchies, structural gender biases, and socio-cultural frameworks that systematically devalue the female entity. One of the most alarming and stark manifestations of this persistent gender asymmetry was documented in the demographic indices of the early twenty-first century. The Census of 2011 revealed a deeply distressing historical low in the Child Sex Ratio (CSR), which plummeted to an unprecedented 918 girls per 1,000 boys in the 0–6 age cohort, down from 927 in 2001. This severe demographic distortion was fueled by a toxic convergence of technological proliferation in prenatal sex-determination and traditionally enforced son-preference. The female child was subjected to a dual existential precarity: the denial of the fundamental right to be born, and if born, the systemic denial of the right to health, nutrition, and qualitative education.

Recognizing this critical demographic and moral crisis, the Government of India launched the Beti Bachao Beti Padhao (BBBP) scheme on January 22, 2015, as a high-priority, tri-ministerial national initiative. Combining the institutional frameworks of the Ministry of Women and Child Development, the Ministry of Health and Family Welfare, and the Ministry of Education, the BBBP scheme was structured to deliver a holistic, multi-sectoral intervention. The foundational objectives of the initiative were explicitly clear: prevent gender-biased sex-selective elimination, ensure the survival and protection of the female child, and guarantee the education and active participation of girls in the public sphere.

As the BBBP scheme completes a definitive decade of implementation, it stands at a critical historical juncture. A decade marks an ideal chronological horizon to transition from immediate, short-term programmatic tracking to a comprehensive, structural, and sociological evaluation of its macro-impact. This research paper aims to evaluate the systemic trajectory of the BBBP scheme over the last ten years, analyzing its multi-sectoral accomplishments in reversing demographic declines and facilitating female educational advancement. Concurrently, this study unearths the complex structural barriers–ranging from administrative leaks and systemic corruption to patriarchal cultural friction and rural educational deficits–that continue to hinder the complete realization of its revolutionary potential.

CONTEXTUAL AND STRUCTURAL FRAMEWORK OF THE INITIATIVE

The operational design of the BBBP scheme represents a significant paradigm shift from traditional, siloed welfare approaches to a coordinated, convergent governance matrix. Historically, women-centric programs operated in bureaucratic isolation, treating health, education, and social safety as completely disconnected vectors. The BBBP scheme dismantled these institutional silos by anchoring itself upon a tri-ministerial architecture that recognizes the organic interdependencies governing a girl's life cycle.

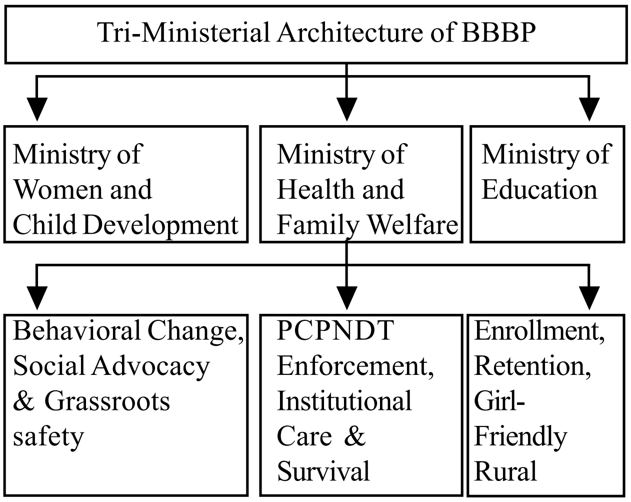

The structural strategy of the scheme is systematically divided into two key operational tracks:

1. Focused Advocacy and Mass Media Mobilization

This track is designed to execute a sustained, nation-wide behavior change communication campaign. It seeks to challenge and dismantle the deep-seated socio-cultural constructs that view the female child as an economic liability or a temporary familial guest. Through localized mass media campaigns, community theater, digital outreach, and the celebratory counter-narrative of Girl Child Celebrations, the scheme endeavors to re-engineer the collective societal consciousness, transforming the perception of girls into invaluable human capitals and future leaders.

2. Multi-Sectoral Direct Action in Chosen Districts

Concurrently, the scheme targets historically low-performing districts characterized by severely distorted sex ratios. In these designated zones, direct administrative accountability is enforced. The Ministry of Health and Family Welfare strengthens the implementation of the Pre-Conception and Pre-Natal Diagnostic Techniques (PCPNDT) Act of 1994, digitizing registration networks for ultrasound clinics and conducting stringent monitoring to curb illegal sex-selective practices. Simultaneously, institutional deliveries are incentivized, ensuring that maternal and child healthcare networks are accessible at the last mile. On the educational front, the Ministry of

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

Education deploys targeted interventions to secure the registration, retention, and transition of girls through primary, secondary, and higher secondary institutions, explicitly linkable to the provision of functional gender-segregated sanitation facilities and safe transport.

QUANTITATIVE AND DEMOGRAPHIC MILESTONES: ANALYDE OF A DECADE

The primary metric for evaluating the structural efficacy of the BBBP scheme lies in the shifting contours of India's demographic and educational datasets over the past decade. A rigorous evaluation of national data portals, including the Civil Registration System (CRS) and successive waves of the National Family Health Survey (NFHS), reveals a highly encouraging, positive trajectory in key performance indicators.

Shifting Trends in Sex Ratio at Birth (SRB)

The most direct indicator of the scheme's legislative and advocacy impact is the Sex Ratio at Birth (SRB). According to data curated by the Ministry of Women and Child Development, the national SRB has witnessed a steady upward movement over the past ten years. In the initial baseline year of 2014-15, the national SRB stood at an unfavorable 918 girls per 1,000 boys. By the turn of the decade, contemporary datasets demonstrate that the pan-India SRB has successfully stabilized and improved to approximately 937 girls per 1,000 boys.

In erstwhile highly critical zones across Haryana, Punjab, and Rajasthan—districts historically plagued by rampant prenatal elimination—the administrative crackdown on illegal ultrasound facilities combined with grassroots community vigilance led to historic gains. For example, districts like Jhajjar and Panipat in Haryana, which had recorded critically low child sex ratios below 850, registered significant corrective increments, breaching the 920 mark. This statistical improvement highlights the efficacy of combining rigorous legal enforcement with aggressive social advocacy.

Institutional Deliveries and Last-Mile Maternal Care

The demographic stabilization of the girl child has been significantly bolstered by a massive expansion in institutional deliveries. The integration of the BBBP framework with pre-existing maternal healthcare schemes like the Janani Suraksha Yojana has successfully brought sub-district health centers into sharp focus. Institutional deliveries across targeted districts have registered a substantial increase, rising from approximately 78% in 2015 to over 94% by 2025-26.

By ensuring that the birth of every child occurs within a formal medical ecosystem, the state has effectively minimized the precarity of neonatal mortality caused by unsafe home deliveries. Furthermore, formal medical registration ensures that the birth of the female child is immediately recorded within the state's digital databases, preventing hidden infanticide and enabling immediate access to immunization and early-childhood nutritional support.

EVALUATING THE EDUCATIONAL ORBIT: ENROLLMENT AND RETENTION

Securing the survival of the girl child is merely the initial milestone of the BBBP vision; its sustainable core resides in the structural empowerment realized through long-term, qualitative education. Over the past decade, the educational track of the scheme has yielded substantial, measurable advancements in expanding the access of girls to formal learning spaces.

Trends in Gross Enrollment Ratios (GER)

The implementation of target-driven education tracking has resulted in a marked improvement in the Gross Enrollment Ratio (Ratios) of girls at the primary and upper primary levels. Pan-India datasets under the Unified District Information System for Education (UDISE+) demonstrate that gender parity has been successfully achieved at the primary school level, with the GER for girls tracking at par with or occasionally exceeding that of boys. The widespread construction of girl-friendly, functional toilet complexes under the Swachh Vidyalaya initiative has directly resolved a historical structural barrier that forced adolescent girls out of schools during menarche.

Educational Level	Baseline Gross Enrollment Ratio (2014-15)	Contemporary Gross Enrollment Ratio (2024-25)	Pan-India Parity Status
Primary (Classes I–V)	98.20%	101.40%	Complete Gender Parity Achieved
Upper Primary (Classes VI–VIII)	89.70%	96.80%	High Parity; Strong Retention Trends
Secondary (Classes IX–X)	76.40%	85.30%	Notable Gains; Persistent Dropout Risk
Higher Secondary (XI–XII)	52.10%	66.50%	Developing Space; High Socio-Cultural Friction

The Subterranean Crisis of Secondary Level Dropouts

However, a critical, clear-eyed evaluation of the educational data over the decade unearths a deeply concerning systemic vulnerability: the transition gap from primary to secondary and higher secondary education. While the scheme has successfully secured primary school entry for millions of girls, the retention graph exhibits a steep, precipitous decline as girls enter higher classes.

The dropout rate for girls at the secondary stage (Classes IX-X) remains significantly higher than the primary dropout metrics. This systemic leak in the educational pipeline is caused by a complex matrix of distance barriers, spatial insecurity, and structural economic choices within resource-constrained households. As the geographic distance to high schools increases in rural topographies, familial concerns regarding sexual safety and physical protection re-emerge as dominant factors, frequently forcing parents to pull their adolescent daughters out of formal education.

CRITICAL STRUCTURAL PERSPECTIVES AND PERSISTENT CHALLENGES

While the aggregate quantitative milestones achieved by the BBBP scheme over the past ten years are undeniably praiseworthy, a rigorous academic evaluation must look past surface-level propaganda to scrutinize the deep-seated structural contradictions, institutional failures, and behavioral friction that restrict its revolutionary goals.

1. Financial Diversion and the Propaganda-Action Disconnect

One of the most intense structural critiques leveled against the implementation of the BBBP scheme by parliamentary review committees concerns the highly disproportionate allocation of its financial resources. Evaluative audits revealed that during the initial half-decade of its operation, a significant percentage of the total allocated funds—estimated at over 55% to 60% in specific financial cycles—was expended exclusively on media campaigns, nation-wide advertisements, and mega-publicity drives.

This hyper-focus on visual propaganda created a severe structural imbalance, leaving a minuscule share of the financial layout for direct, tangible interventions at the grassroots level. Academic observers have noted that while behavioral advocacy is necessary to alter societal mindsets, it must be supported by a corresponding capital investment in female school infrastructure, high-quality public transport networks for rural students, and direct financial incentives for higher secondary survival. The over-reliance on top-down media packaging risks turning a profound socio-educational intervention into a performative administrative exercise.

2. Systemic Corruption and Administrative Leakages

The execution of localized interventions within sub-district healthcare and educational administrative setups continues to suffer from systemic vulnerabilities and corruption. In many rural pockets, the monitoring mechanisms designed to track the implementation of the PCPNDT Act are compromised by weak oversight networks and collusive interfaces between private diagnostic labs and local regulatory officials.

Furthermore, structural leakages within cash-incentive scholarship networks linked to female educational retention frequently dilute the scheme's impact. When administrative mechanisms remain non-transparent, socio-economically marginalized families face systemic corruption, extortions, and delays in accessing state-mandated support for their daughters' schooling. This institutional friction hits low-income, Dalit, and tribal households the hardest, directly undermining the egalitarian principles of the project.

3. Socio-Cultural Patriarchy and the "Paraya Dhan" Construct

The deep-seated core of gender inequality in India is not merely an institutional deficit, but a deep-seated socio-cultural framework that operates with stubborn autonomy from legal shifts. Despite ten years of state advocacy, the structural patriarchal construct that views the female child as Paraya Dhan (alien wealth) or an economic liability due to the illegal but pervasive practice of dowry remains largely intact in rural and semi-urban spaces.

(The Cyclic Trap of Patriarchal Friction)

↓

Dowry Anxiety & Socio-Cultural Norms

↓

Perception of Girl Child as Economic Liability

↓

Resistance to Long-Term Higher Education

↓

Early Marriage Pressures & Secondary Dropouts

In many traditional communities, the educational advancement of women is subjected to an implicit patriarchal glass ceiling. While parents are increasingly comfortable permitting their daughters to acquire basic primary literacy, there is intense socio-cultural resistance to long-term higher education, employment, and financial independence. The deep-seated anxiety regarding female sexual purity and marital compliance continues to fuel early marriage pressures immediately upon the attainment of puberty, resulting in the high secondary-school dropout rates discussed above.

EMPOWERMENT BEYOND NUMBERS: ASSESSMENT OF THE QUALITATIVE SHIFT

To capture the complete, multi-dimensional impact of the BBBP scheme, this paper moves past aggregate data points to investigate the qualitative transformations in female agency, consciousness, and public leadership witnessed across rural India over the past decade. True empowerment cannot be completely calculated through enrollment sheets; it manifests in the altered power dynamics of everyday life.

Re-Engineering Grassroots Collective Agency

The past ten years have witnessed a magnificent expansion in the collective visibility and voice of young women in rural civil society. The institutional integration of the BBBP schema with local governance models—specifically the activation of Mahila Sabhas (women's councils) and the institutionalized role of Anganwadi workers–has created highly effective alternate spaces for advocacy.

Adolescent girls are increasingly forming peer-support networks, community action forums, and vigilance groups to actively resist forced early marriages within their villages. This horizontal diffusion of awareness has democratized the rural public sphere. Young women are no longer passive beneficiaries of state welfare; they are transforming into vocal, active political actors who demand higher allocation for high-school libraries, clean drinking water systems, and local security patrolling from their local Gram Panchayats.

Re-shaping Parental Expectations and Horizons

Concurrently, the visible socio-economic success of educated women across diverse domains–ranging from defense services and administrative apparatuses to corporate leadership and athletic excellence–has triggered a cognitive realignment among rural parents. The traditional, rigid binary that linked the female lifecycle exclusively to domestic labor, cooking, and child-rearing is facing sustained internal

challenge.

Increasingly, rural households are beginning to perceive long-term female education not as an unnecessary luxury, but as a strategic asset for familial economic resilience and social mobility. This qualitative shift in parental aspirations is a profound structural milestone, laying the cultural foundations for a self-sustaining cycle of intergenerational female empowerment.

THE PATH FORWARD: STRATEGIC POLICY RECOMMENDATIONS

As the Beti Bachao Beti Padhao scheme transitions into its second decade, it must rapidly evolve its structural strategies to prevent stagnation and address the emerging developmental needs of contemporary India. The following multi-sectoral policy recommendations are presented to enhance its systemic efficacy:

1. Transitioning from Basic Retention to a Higher Education Matrix

The policy framework must decisively shift its analytical focus from basic primary enrollment milestones to a dedicated higher education and skill development matrix. The state must introduce robust, non-divertible financial scholarship models that explicitly cover the cost of undergraduate, technical, and vocational education for girls completing higher secondary schooling.

Furthermore, to eliminate the distance barrier that causes secondary dropouts, the administration must scale up the network of dedicated, secure public transport systems for female students in rural clusters and construct high-quality, free residential working-women and student hostels at every district headquarters.

2. Strengthening Anti-Corruption Protocols through Decentralized Tech Audits

To eradicate administrative leakages and systemic corruption within the scheme's execution, decentralized digital auditing mechanisms must be institutionalized. The deployment of direct benefit transfers (DBT) must be backed by transparent, blockchain-verified tracking portals accessible to the public.

Local monitoring of ultrasound clinics under the PCPNDT Act must be assigned to independent, multi-stakeholder vigilance committees comprising local civil society organizations, female legal professionals, and student representatives. This structural democratization will dismantle corrupt bureaucratic cartels and ensure strict enforcement of the law.

3. Integrating Gender-Transformative Pedagogy into School Curricula

Advocacy cannot remain confined to external media billboards and radio spots; it must be structurally embedded within the educational apparatus. The Ministry of Education must execute a comprehensive review of school textbooks across languages, completely eliminating implicit gender stereotyping and replacing them with narratives of female historical figures, scientific innovators, and socio-political leaders.

Furthermore, mandatory, age-appropriate gender sensitization workshops and constitutional rights courses must be integrated for both male and female students across schools, nurturing an egalitarian cultural consciousness within classrooms.

CONCLUSION

The decade-long trajectory of the Beti Bachao Beti Padhao scheme represents a watershed chapter in India's developmental history, illustrating a conscious political commitment to confront deep-seated structural gender biases. Through a coordinated tri-ministerial architecture, the initiative has successfully engineered a measurable, positive reversal in the Sex Ratio at Birth (SRB) across historically critical zones, significantly scaled up institutional deliveries, and institutionalized primary educational access for millions of girls across the nation.

However, a critical evaluation unearths deep structural challenges that remain unresolved. The high rates of adolescent dropouts at the secondary level, the performance-advocacy imbalance caused by disproportionate media spending, administrative leakages, and the persistent cultural friction of deep-seated patriarchal structures continue to place severe limits on its structural outcomes.

Ultimately, the complete realization of the BBBP vision requires a transformation from basic demographic survival to absolute structural equality. The state must ensure that every girl child who survives

the precarity of birth is guaranteed the uncompromised institutional protection to pursue advanced higher education, attain complete financial autonomy, and claim unhindered public leadership. True success will be achieved when the Indian girl child is no longer an entity requiring systemic protection, but an equal architect of the nation's democratic future.

4th Year Research Scholar
Department of Political Science
University of Delhi, Delhi

Bibliography:

- Aroora, R. (2018). Gender Asymmetry and Demographic Distortions in Contemporary India. New Delhi: Oxford University Press.
- Bhattacharyya, S. (2021). Evaluating Multi-Sectoral Convergence in Public Policy: A Case Study of the Tri-Ministerial Architecture of BBBP. Indian Journal of Public Administration, 67(3), 412–429.
- Census of India. (2011). Provisional Population Totals and Child Sex Ratio Metrics. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India.
- Ministry of Women and Child Development. (2024). Decadal Performance Report and Quantitative Milestones of the Beti Bachao Beti Padhao Scheme. Government of India.
- Mukherjee, A., & Sen, K. (2019). Propaganda vs. Practice: Financial Allocation Disproportions in India's Women-Centric Interventions. Economic and Political Weekly, 54(12), 45–52.
- National Family Health Survey (NFHS-5). (2021). India Report on Maternal Care, Institutional Deliveries, and Sex Ratios. International Institute for Population Sciences, Mumbai.
- Sharma, N. (2022). The Structural Leak: Analyzing Distance Barriers and Secondary School Dropout Dynamics among Rural Adolescent Girls. Journal of Educational Planning and Administration, 36(2), 185–203.
- Unified District Information System for Education (UDISE+). (2023). Flash Statistics on Gross Enrollment Ratios and Gender Parity Indices. Ministry of Education, Government of India.

Research Paper

Riya Tiwari

From Liability to Agency: Evaluating the Balika Samriddhi Yojana in the Educational Journey of Dalit Girls

Abstract

The educational empowerment of Dalit girls in India remains one of the most pressing concerns in the discourse of social justice and inclusive development. Historically marginalized by caste hierarchies, gender discrimination, poverty, and social exclusion, Dalit girls continue to face barriers in accessing quality education. The Balika Samriddhi Yojana (BSY), introduced by the Government of India in 1997, was an important initiative aimed at improving the status of the girl child through financial assistance linked with education. The scheme sought to alter social attitudes that viewed daughters as economic burdens and instead encourage families to invest in their education and wellbeing.

This article critically evaluates the role of the Balika Samriddhi Yojana in the educational journey of Dalit girls. It examines the socio-historical context of Dalit girls' education, the objectives and structure of the scheme, its contributions toward educational inclusion, and the limitations that affected its implementation. The article argues that while the scheme played a symbolic and practical role in promoting girls' education among marginalized communities, structural inequalities rooted in caste and patriarchy continued to restrict its transformative impact. Nonetheless, the scheme remains significant in understanding how welfare policies can contribute to the empowerment of Dalit girls by shifting the narrative from dependency to agency.

Key Word: Balika Samriddhi Yojana (BSY), Welfare, Social reformers.

Introduction

Education has often been described as the most effective means of social transformation. For Dalit communities in India, education has represented a path toward dignity, self-respect, and liberation from centuries of caste oppression. However, Dalit girls remain among the most disadvantaged sections of Indian society because they experience the intersection of caste discrimination, gender inequality, and economic deprivation. Their educational opportunities are frequently limited by poverty, domestic responsibilities, social violence, child marriage, and institutional neglect.

The condition of Dalit girls must be understood within the broader history of caste hierarchy in India. Traditionally, Dalits were denied access to education and social mobility. Dalit women and girls occupied an even more marginalized position because patriarchal norms restricted their autonomy while caste structures reinforced social exclusion. Even after independence, despite constitutional guarantees of equality and affirmative action policies, large numbers of Dalit girls remained outside formal education.

In response to these challenges, the Government of India introduced several welfare schemes directed toward the girl child. Among these, the Balika Samriddhi Yojana emerged as a significant initiative. Introduced in 1997, the scheme aimed to improve the status of girls born into economically weaker families by providing financial incentives connected with schooling and delayed marriage. The scheme

reflected an important policy shift that recognized education as a tool of empowerment for girls from marginalized communities.

The Balika Samriddhi Yojana was not exclusively designed for Dalit girls, yet its impact on them is particularly important because Dalit families constitute a large section of economically vulnerable populations. For many such families, financial assistance linked to education created opportunities that had previously been inaccessible. This article evaluates whether the scheme succeeded in transforming Dalit girls from passive beneficiaries into active agents of social mobility and empowerment.

Historical Exclusion of Dalit Girls from Education

The exclusion of Dalit girls from education has deep historical roots. Under the caste system, education was traditionally reserved for upper castes, while Dalits were denied access to learning institutions. This exclusion was not merely educational but social and economic as well. Dalit communities were confined to hereditary occupations and denied opportunities for advancement.

Dalit women experienced a double burden. On one hand, they were oppressed by caste discrimination; on the other, they faced patriarchal restrictions within and outside their communities. Girls were often expected to contribute to household labor, agricultural work, or wage labor instead of attending school. Early marriage and social insecurity further reduced educational opportunities.

Social reformers such as Jyotirao Phule, Savitribai Phule, and Dr. B. R. Ambedkar strongly emphasized education as a means of emancipation for marginalized communities. Savitribai Phule established schools for girls and lower-caste children despite intense social opposition. Dr. Ambedkar repeatedly argued that education was essential for Dalits to challenge oppression and claim equality. His famous slogan "Educate, Agitate, Organize" highlighted the transformative power of education.

Despite these efforts, Dalit girls continued to face discrimination in schools even after independence. Many experienced segregation in classrooms, humiliation from teachers, and lack of educational resources. High dropout rates among Dalit girls reflected not only poverty but also hostile social environments. Consequently, welfare policies directed toward girl-child education became necessary interventions.

Objectives and Structure of the Balika Samriddhi Yojana

The Balika Samriddhi Yojana was launched on 2 October 1997 by the Government of India with the objective of improving the status of the girl child. The scheme targeted families living below the poverty line and sought to challenge discriminatory attitudes toward daughters.

The scheme had several important objectives. First, it aimed to encourage the birth and survival of girl children. In many parts of India, daughters were viewed as financial liabilities due to dowry practices and social customs. Second, the scheme aimed to promote girls' education by linking financial assistance with school enrollment and retention. Third, it sought to delay child marriage by providing incentives that could only be accessed if the girl remained unmarried until adulthood.

Under the scheme, a cash grant was provided to the mother after the birth of a girl child. In addition, scholarships were offered to girls for each year of schooling up to the secondary level. The scholarship amount gradually increased with higher levels of education. The funds were deposited into savings accounts and could be utilized for educational expenses.

For Dalit families struggling with poverty, even modest financial support could influence decisions regarding girls' education. The scheme therefore represented an attempt to address both economic and social barriers simultaneously. By associating monetary incentives with education, the state sought to create conditions in which girls could continue their studies rather than being pushed into labor or marriage.

Impact on Educational Access

One of the most significant contributions of the Balika Samriddhi Yojana was its role in encouraging school enrollment among marginalized girls. In economically disadvantaged households, educational expenses such as uniforms, books, transportation, and examination fees often prevent girls from attending

school. The financial assistance provided under the scheme helped reduce some of these burdens.

For Dalit girls, the scheme also had symbolic importance. It conveyed the message that the education of girls was valuable and worthy of state support. In communities where daughters were traditionally considered burdens, government recognition helped alter perceptions gradually. Families began to view education as an investment rather than an unnecessary expense.

Studies on girl-child welfare schemes in India suggest that conditional financial incentives can positively influence school enrollment and retention. Although the monetary benefits under BSY were limited, they encouraged many parents to keep their daughters in school for longer periods. The scheme was especially significant in rural areas where educational participation among Dalit girls remained low.

Another important aspect of the scheme was its connection with delayed marriage. Many Dalit girls discontinue education because of early marriage. By linking benefits with the condition that the girl remain unmarried until adulthood, the scheme indirectly supported educational continuity.

The scheme also contributed to increasing awareness about girls' rights and education. Through local implementation mechanisms, communities were exposed to discussions about female literacy, school attendance, and social development. This awareness-building aspect was crucial in challenging traditional attitudes toward daughters.

Limitations and Challenges

Despite its positive intentions, the Balika Samriddhi Yojana faced several limitations that reduced its effectiveness. One major issue was the inadequacy of financial support. The scholarship amounts were often too small to meet the actual costs of education. Rising educational expenses meant that the assistance could only partially address financial barriers.

Implementation problems further weakened the scheme. Many eligible families were unaware of the scheme due to poor dissemination of information. In several regions, bureaucratic delays and corruption hindered the timely distribution of benefits. Dalit families, already marginalized within administrative systems, frequently faced difficulties accessing welfare schemes.

Another limitation was the persistence of structural caste discrimination within schools. Financial incentives alone could not eliminate the humiliation and exclusion experienced by Dalit girls in educational institutions. Many girls continued to face discriminatory treatment from teachers and classmates, leading to absenteeism and dropout.

The scheme also did not adequately address infrastructural barriers. In many rural areas, schools lacked proper sanitation facilities, safe transportation, and female teachers. The absence of separate toilets for girls particularly affected adolescent students and contributed to dropout rates.

Patriarchal attitudes within society continued to undermine educational progress. Even when families enrolled girls in school, domestic responsibilities often took precedence over education. Girls were expected to care for siblings, perform household labor, and contribute to family income. Such responsibilities limited their ability to continue schooling consistently.

Moreover, the scheme approached empowerment primarily through financial incentives rather than structural transformation. While economic support is important, genuine empowerment requires broader social change, including the elimination of caste discrimination, gender violence, and educational inequality.

From Welfare to Agency

The Balika Samriddhi Yojana represents an important moment in the evolution of welfare policies concerning girls in India. Earlier welfare approaches often portrayed poor girls merely as vulnerable recipients of aid. BSY attempted to shift this perspective by linking financial support with education and future aspirations.

For Dalit girls, education is not simply about literacy; it is closely connected with agency and self-determination. Education enables girls to challenge oppressive social norms, participate in public life, and access employment opportunities. It strengthens self-confidence and encourages critical awareness about rights and equality.

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

The scheme therefore contributed, even if partially, to transforming Dalit girls from perceived liabilities into individuals capable of shaping their own futures. Girls who remained in school longer gained greater exposure to social and economic opportunities. Education also increased the likelihood of delayed marriage and improved participation in decision-making processes.

However, agency cannot be achieved solely through welfare schemes. It requires social environments that respect dignity and equality. Dalit girls continue to face caste-based violence, exclusion, and economic insecurity. Many are first-generation learners whose educational journeys depend on continuous institutional support.

In recent years, newer schemes such as Beti Bachao Beti Padhao and scholarship programs for Scheduled Castes have expanded the framework of girls' empowerment. Yet the legacy of the Balika Samriddhi Yojana remains important because it marked an early recognition of the relationship between financial security and girls' education.

Theoretical Perspectives on Empowerment

From a sociological perspective, the educational empowerment of Dalit girls can be understood through the framework of intersectionality. The concept of intersectionality highlights how different forms of oppression–such as caste, class, and gender–interact to create unique experiences of marginalization. Dalit girls face discrimination not only because they are female but also because of their caste identity and economic background.

Feminist scholars have argued that welfare policies must move beyond protection toward empowerment. Protective policies often treat women and girls as passive victims in need of assistance, whereas empowerment-based approaches seek to enhance autonomy, participation, and agency. The Balika Samriddhi Yojana occupied an intermediate position between these two models. While it offered financial support, it also attempted to encourage long-term educational participation.

Dr. B. R. Ambedkar's vision of social justice emphasized education as a means of annihilating caste inequality. He believed that social democracy could only be achieved when marginalized communities gained access to education and representation. The educational progress of Dalit girls therefore carries broader significance for democratic equality in India.

Conclusion

The Balika Samriddhi Yojana was an important initiative aimed at improving the status of the girl child through educational incentives and financial assistance. For Dalit girls, the scheme represented both symbolic recognition and practical support in a social environment marked by caste and gender discrimination. By encouraging school enrollment, supporting retention, and promoting delayed marriage, the scheme contributed to the educational journey of many marginalized girls.

However, the scheme's impact was limited by inadequate funding, poor implementation, bureaucratic barriers, and persistent social inequalities. Financial incentives alone could not overcome the structural discrimination faced by Dalit girls within families, schools, and society. The continued existence of caste prejudice, patriarchal norms, and infrastructural deficiencies restricted the transformative potential of the program.

Despite these limitations, the Balika Samriddhi Yojana remains significant in the history of welfare policies in India. It represented an attempt to shift social perceptions of girls from economic liabilities to empowered individuals capable of contributing to society. For Dalit girls, education continues to be a pathway toward dignity, autonomy, and social justice.

Future policies must adopt a more intersectional approach that recognizes the specific challenges faced by Dalit girls. Educational empowerment requires not only financial support but also safe schools, inclusive curricula, anti-discrimination measures, gender-sensitive infrastructure, and social awareness campaigns. Only through such comprehensive efforts can India move closer to the vision of equality and justice envisioned by reformers like Dr. B. R. Ambedkar.

4th Year Research Scholar
University of Delhi

References:

- Ambedkar, B. R. (1936). Annihilation of caste. New Delhi: Navayana.
- Government of India. (1997). Balika Samriddhi Yojana guidelines. Ministry of Women and Child Development.
- Guru, G. (1995). Dalit women talk differently. Economic and Political Weekly, 30(41–42), 2548–2550.
- Kumar, K. (2005). Political agenda of education: A study of colonialist and nationalist ideas. New Delhi: Sage Publications.
- Nambissan, G. B. (2010). Exclusion and discrimination in schools: Experiences of Dalit children. Indian Institute of Dalit Studies Working Paper Series.
- Omvedt, G. (1994). Dalits and the democratic revolution. New Delhi: Sage Publications.
- Phule, J. (1873). Gulamgiri. Pune: Maharashtra Publication Society.
- Rege, S. (2006). Writing caste/writing gender: Narrating Dalit women's testimonios. New Delhi: Zubaan.
- Sen, A. (1999). Development as freedom. Oxford: Oxford University Press.
- Thorat, S., & Newman, K. (2010). Blocked by caste: Economic discrimination in modern India. New Delhi: Oxford University Press.

Research Paper

Inclusive Society and its Need for Sustainable Development in Post-Pandemic Era in India

Abstract

Social inclusion is important for a person's dignity, security and opportunity to lead a better life. It has been proven over and over again how important it is to support individuals to feel connected and valued within society and address any form of social exclusion people are experiencing every day. Sustainable Development Goal Sixteen is about 'peace justice and strong institutions'. It aims to promote justice, peaceful and inclusive societies. All other 'Sustainable Development Goals' can be achieved only if societies across the world and in every country live peacefully, free from fear and violence and feel safe as they go about their lives irrespective of their ethnicity and faith. This goal encourages governments, civil societies, and communities to work together and implement policies to reduce violence, deliver justice, reduce corruption and ensure inclusive participation of all stakeholders in the process. There is a strong interconnection between Climate politics and an inclusive society as vulnerable and marginalised populations bear most of the brunt of climate change, making inclusive decision-making essential for just and effective climate action. This can be achieved by empowering multiple groups like women, youth, and Indigenous population in climate governance, thereby addressing inequalities and building public support for climate policies, enabling a just transition that that takes into considerations the requirements of all communities. This research proposal will analyse in detail the role global climate politics can play in promoting as well as achieving inclusive and sustainable development. It would further explore analyse the factors responsible for hindering the attainment of these goals in detail. This research proposal also discusses in detail the elements necessary for creating an inclusive society. This research work would effectively be able to contribute to India's commitment to Sustainable Development Goals.

Keywords

Climate politics, inclusive society, sustainable development goals, poverty, education, health, justice, peace, violence, etc.

Introduction

Social inclusion is important for a person's dignity, security and opportunity to lead a better life. It has been proven over and over again how important it is to support individuals to feel connected and valued within society and address any form of social exclusion people are experiencing every day. The World Summit for Social Development (Copenhagen 1995) defines an inclusive society as a "society for all in which every individual, each with rights and responsibilities, has an active role to play". Such an inclusive society must be based on respect for all human rights and fundamental freedoms, cultural and religious diversity, social justice and the special needs of vulnerable and disadvantaged groups, democratic participation and the rule of law. It is promoted by social policies that seek to reduce inequality and create flexible and tolerant societies that embrace all people. There are different views in terms of how a socially inclusive society functions. "Integration in all its forms may simply imply the existence of a stable community in

which people can find a niche." This simple expression touches the heart of the definition of social integration and social inclusion, which is: difference among members of society is acceptable. Social integration or social inclusion does not mean a uniformity of people but a society which has room for diversity and still fosters engagement. To achieve social integration and social inclusion, voices of people and their needs and concerns, need to be heard. Not only some but all members of society with different backgrounds must have a say and a stake in their shared society. This inclusiveness of society creates and maintains stability as well as a readiness to embrace change when necessary.

Objectives of the Research

- To obtain an in-depth understanding of the concept of Social inclusion.
- To determine the steps necessary for social inclusion in the context of global climate politics.
- To determine whether the global climate politics has so far been inclusive or not.
- To study in depth the evolution of inclusivity in global climate governance from Kyoto to Paris and beyond.
- To determine the extent of representation and influence of vulnerable groups, for instance, Global South, Indigenous Peoples, Women, Youth, in climate negotiations and policymaking.
- To evaluate the alignment of climate finance mechanisms with the goals of sustainable development.
- To suggest various steps and strategies to improve inclusivity and justice in global climate politics.

Background

Conflict, insecurity, weak institutions and limited access to justice remain a great threat to sustainable development. Sustainable Development Goal 16 is about 'peace justice and strong institutions'. It aims to promote justice, peaceful and inclusive societies. All other 'Sustainable Development Goals' can be achieved only if societies across the world and in every country live peacefully, free from fear and violence and feel safe as they go about their lives irrespective of their ethnicity and faith. This goal encourages governments, civil societies, and communities to work together and implement policies to reduce violence, deliver justice, reduce corruption and ensure inclusive participation of all stakeholders in the process.

This research proposal will examine and perhaps deal beyond numbers to ascertain the challenges for meeting the 'Sustainable Development Goals'(SDG), especially Goal 16, and what could be added to the SDG Index in order to really assess the performance of India as a nation towards meeting these goals.

Elements Necessary for Creating an Inclusive Society

An inclusive society is based on the fundamental human rights value, that is, "all human beings are born free and equal in dignity and rights. They are endowed with reason and conscience and should act towards one another in a spirit of brotherhood". It is a society in which all members, regardless of their backgrounds, are able and motivated to participate in civic, social, economic and political activities. For this to happen, legal, regulatory and policy frameworks must be inclusive, and uphold and promote just and inclusive processes in all areas of implementation, so that equal access to basic education, public space, facilities and information are ensured, and diversity and cultural pluralism are respected and accommodated. As a pre-requisite, respect for all human rights, freedoms, and the rule of law, both at national and international levels, are fundamental. Every member of society, no matter what his or her economic resources, political status, or social standing, must be treated equally under the law. Legal instruments ensure the guiding principles that will guarantee equity, justice and equal opportunities for all citizens. Violators of human rights should be brought to justice. The judiciary which serves to protect just societies must be impartial, accountable and inclusive to giving weight to the opinions of those who defend the inclusiveness of the society at the local, regional and national levels. Maintaining the security of all individuals and their living environment is paramount in creating a feeling of inclusion and an atmosphere of participation in society.

Review of Literature

I read a number of books, journals, online sources, etc related to the topic and a brief summary of review of literature is as follows:

1. **Social Work and Social Problems: Working**

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

towards Social Inclusion and Social Change (2000) by **Gerald Smale, Graham Tuson, Daphne Statham**- This book describes how social workers and managers can tackle social problems experienced at the local level by working collaboratively with service users, carer and the wider social network and practitioners in other organizations in order to effect sustainable solutions and long term social change.

2. **"The Inclusive Society?: Social Exclusion and New Labour"** (2005) **by Ruth Levitas** - The idea of social exclusion is part of a new political language about social cohesion, community, stakeholding and inclusion. It argues that there has been a shift away from understanding social exclusion as primarily a problem of poverty, towards question of social integration through paid work, and moral regulation - a combination which reflects the concerns of the sociologist Emile Durkheim, but expresses them in ways which have very ambiguous consequences for social policy.
3. "**Human Rights: An Introduction"** written by **Darren O'Byrne** was published in 2007 by Pearson Publications, New Delhi, India, contains ten chapters and a detailed conclusion on various topics under human rights- theorising human rights, regulating human rights, censorship, political prisoners, torture, the death penalty, apartheid, slavery; genocide ; refugees and conclusion. The concluding chapter in particular talks about women and human rights. Issues such as forced genital mutilation and its three main categories- clitoridectomy, excision and infibulation; forced sterilisation are discussed in detail.
4. **"Social Inclusion in independent India: Dimensions and Approaches"** by **T.K. OOmen** (2014)- This volume outlines the different dimensions and approaches of the policy engagement with social inclusion that are indispensable for achieving faster, inclusive and more sustainable development in contemporary India. As a comprehensive study of various manifestations of social exclusion and efforts made by the state to address them, it examines different facets of the problem with conviction and care. The volumes analyse in detail social exclusion and inclusive policies with reference to nine excluded social categories in India - Dalits, Adivasis, backward classes, religious and linguistic minorities, women, migrants, the poor and the disabled and makes a strong case for category-wise inclusion policy in India. This volume will be indispensable for students and scholars of sociology, anthropology and public policy. It will also be of interest for policymakers and general readers who want to understand the challenges in the way of securing socio-economic justice for the vulnerable sections of Indian society.

Significance

1. **Useful for students of Political Science** - This research work will prove beneficial for students of political science as it discusses the importance of social inclusion for sustainable development. It also discusses about the importance of human rights various constitutional provisions and laws concerning rights of women in India and the solutions that are necessary for the protection of human rights of women in India.
2. **Useful for Students of Gender/ Women Studies-** As this research work is centred on the human rights of women and violence faced by them in public places, it gives a detailed overview regarding status and position of women in the world as well as India from ancient to the modern times, and also talks about feminism and its three waves and various other categories and types of it. Thus, it will prove beneficial for students of gender/women studies.
3. **Useful for students of Law, Sociology, Social Work and other Allied disciplines-** This research work will prove useful for inter-disciplinary research work as it touches upon a number of subjects and possesses valuable information and data, especially for students of law, sociology, social work and other allied disciplines.
4. **Useful for Policy Makers-** This research work possesses valuable information and data regarding the degree of awareness regarding human rights and laws among working women as well as the

impact of violence in public places on their lives. Hence, this thesis will prove useful for policy makers.

5. **Useful for Future Research Work on Similar and Related Topics-** This research work will prove useful to students/scholars who would do research on similar and related topics and provide them with a comprehensive overview regarding the subject-matter.

Dr. Archita Singh
PhD in Political Science
UGC NET JRF, UGC SRF

References:

- Agarwal, H. O. (2001). Human rights. Central Law Publications.
- Beck, U. (1992). Risk society: Towards a new modernity. Sage Publications.
- Intergovernmental Panel on Climate Change. (2022). Climate change 2022: Impacts, adaptation and vulnerability. Cambridge University Press. https://www.ipcc.ch
- Levitas, R. (2005). The inclusive society? Social exclusion and new labour. Palgrave Macmillan.
- NITI Aayog. (2021). SDG India index and dashboard 2020–21: Partnerships in the decade of action. Government of India. https://www.niti.gov.in
- O’Byrne, D. J. (2007). Human rights: An introduction. Pearson Education.
- Oommen, T. K. (2014). Social inclusion in independent India: Dimensions and approaches. Orient Blackswan.
- Rawls, J. (1971). A theory of justice. Harvard University Press.
- Sen, A. (1999). Development as freedom. Oxford University Press.
- Smale, G., Tuson, G., & Statham, D. (2000). Social work and social problems: Working towards social inclusion and social change. Palgrave Macmillan.
- United Nations. (1995). Report of the World Summit for Social Development, Copenhagen, 6–12 March 1995. United Nations.
- United Nations. (2015). Transforming our world: The 2030 agenda for sustainable development. United Nations. https://sdgs.un.org/2030agenda
- United Nations Development Programme. (2020). Human development report 2020: The next frontier—Human development and the Anthropocene. UNDP. https://hdr.undp.org
- World Bank. (2021). Inclusion matters in India: The foundation for shared prosperity. World Bank Publications. https://www.worldbank.org

Research Paper

Anjali

An Analysis of the Educational Empowerment of Women in Haryana with Special Reference to the Balika Samridhi Yojana

Educational Empowerment of Dalit Women in Haryana:
A Critical Evaluation of the Balika Samridhi Yojana

Abstract

The educational empowerment of Dalit women remains a central prerequisite for achieving constitutional ideals of justice, equality, and dignity in India. Inhabiting the highly subordinated intersection of caste, class, and gender, Dalit women face systemic institutionalized oppression. This article presents a comprehensive critical evaluation of the educational status of Scheduled Caste (SC) women in Haryana, with a specific focus on the reach and efficacy of the Balika Samridhi Yojana (BSY)—a landmark incentive-based welfare scheme launched in 1997. Utilizing a mixed-methods framework analyzing secondary census, NFHS, and UDISE data alongside empirical fieldwork from three diverse districts (Sirsa, Ambala, and Mewat), this study demonstrates that while absolute literacy rates have improved over decades, profound structural inequalities persist. The BSY has been compromised by chronic under-resourcing, administrative fragmentation, information asymmetries, and rigid documentation barriers, reaching only 34% of targeted beneficiaries for post-birth grants and 28% for school scholarships. The article argues for an urgent paradigm shift from a charitable welfare model to a rights-based, structurally transformative policy approach that actively counters institutional caste discrimination within schools and center-stages the lived experiences and agency of Dalit women.

Keywords

Educational Empowerment, Dalit Women, Balika Samridhi Yojana (BSY), Haryana, Intersectionality, Public Policy, Caste Discrimination, Rights-Based Approach.

Introduction

Education is universally acknowledged as the most powerful instrument of social transformation and the primary gateway through which marginalized individuals transcend constraints imposed by birth, socioeconomic hierarchy, and systemic marginalization. For Dalit women in India—who occupy a highly vulnerable position structured by the interlocking axes of caste, class, and gender—access to quality education represents not merely an academic pursuit but a profound act of resistance against centuries of institutionalized oppression. The educational empowerment of Dalit women is a central prerequisite for the realization of constitutional ideals of justice, liberty, equality, and fraternity.

The state of Haryana presents a complex and paradoxical case within this socioeconomic landscape. While witnessing remarkable economic growth driven by agriculture, industry, and close proximity to the national capital, it concurrently exhibits deeply entrenched patriarchal norms. This is evidenced by a historically skewed sex ratio, persistent practices of child marriage, female foeticide, and systemic caste discrimination against Dalit communities. Within this sociocultural milieu, Dalit women are marginalized not only by their gender and caste identity but also by

class position and geographical isolation in rural settings.

"True educational empowerment requires expanding human capabilities by purging educational spaces of deep-rooted caste prejudice and treating access as an enforceable legal right."

According to the 2011 Census, Scheduled Castes constitute approximately 20.17% of Haryana's total population, divided into distinct sub-castes such as Chamar, Balmiki, Dhanuk, Sansi, and Sapela, each facing specific histories of occupational stigmatization. To incentivize the education and well-being of girl children from Below Poverty Line (BPL) households, the Government of India launched the Balika Samridhi Yojana (BSY) in 1997. Administered by the Ministry of Women and Child Development, the scheme introduced cash grants for mothers post-birth and progressive annual scholarships for girl children conditional upon school enrollment. The objective was to disrupt the vicious cycle of poverty, low educational attainment, and early marriage that traps generations of Dalit girls. However, the mere existence of a welfare scheme does not ensure effective implementation or structural reach. This article critically evaluates the structural conditions shaping Dalit women's relationship with education in Haryana and analyzes the institutional challenges that limit the effectiveness of the BSY.

Socioeconomic Realities & Educational Status of Dalit Women in Haryana

A rigorous understanding of the educational landscape of Dalit women in Haryana requires an examination of demographic metrics. According to the 2011 Census, while the overall female literacy rate in Haryana stood at 65.94%, the literacy rate for Scheduled Caste women was significantly lower at approximately 56%, compared to 71% for general category women in the state. Although decadal trends indicate substantial growth from a low of 27.4% in 1991 and 41.9% in 2001, the inter-group gap remains alarmingly wide. Significant intra-state regional variations also exist; southern and western districts like Sirsa and Fatehabad show much lower Dalit female literacy compared to northern districts like Ambala.

While literacy data captures baseline educational stock, dropout rates reveal the structural dynamics of exclusion. Unified District Information System for Education (UDISE) data highlights critical transition bottlenecks, specifically the transition from primary to upper primary levels (Classes V to VI) and upper primary to secondary levels (Classes VIII to IX). Field evidence attributes these high dropout rates to interlocking financial, social, and institutional barriers:

• **Economic Barriers:** Direct and indirect schooling expenses (stationery, uniforms, transport), combined with the high opportunity cost of girls' time, which is frequently demanded for household chore allocation and sibling care.

• **Social and Cultural Barriers:** Extreme patriarchal norms, son preference, social pressure for early marriage, and profound safety concerns regarding sexual violence or harassment on long transits to distant schools.

• **Institutional Barriers:** A widespread deficit of upper primary and secondary school infrastructure within Dalit-dominated rural habitations, alongside pervasive institutionalized caste discrimination within schools.

Institutional discrimination remains one of the most damaging features of the educational infrastructure. Fieldwork and institutional reports document physical segregation of Dalit children in classrooms and during mid-day meal distributions, verbal abuse and humiliation by teachers, discriminatory grading practices, and denial of access to common clean drinking water sources. These factors generate severe psychosocial stressors that interfere with learning, destroy self-esteem, and accelerate school dropouts among Dalit girls. Furthermore, National Family Health Survey (NFHS-5) data reveals that SC households are disproportionately concentrated in the lowest wealth quintiles with widespread landlessness, making them highly dependent on wage labor from upper-caste landowners, which suppresses local collective assertion for rights.

Critical Analysis of the Balika Samridhi Yojana (BSY)

The Balika Samridhi Yojana was framed with three specific, progressive objectives: changing negative community attitudes toward the girl child post-

birth; improving school enrollment and retention; and raising the legal age of marriage through economic incentives. Structurally, it designed a multi-pronged mechanism combining a post-birth cash transfer of Rs. 500 to mothers in BPL households, alongside progressive annual scholarships deposited in savings accounts in the girl child's name, ranging from Rs. 300 in Class I up to Rs. 1000 in Class X, withdrawable only upon turning 18 years of age.

> *"Field evidence reveals massive implementation deficits: only 34% of surveyed families received post-birth grants, and just 28% successfully accessed school scholarships."*

Despite its progressive design, empirical fieldwork across three study districts—Sirsa, Ambala, and Mewat—reveals massive implementation deficits. In terms of reach, only 34% of surveyed Dalit women with eligible daughters reported receiving the post-birth grant, and only 28% successfully accessed the school scholarship component. The scheme's structural efficacy has been systematically hollowed out by several critical factors:

First, severe information asymmetry exists; a vast majority of marginalized rural Dalit families remain completely unaware of the eligibility criteria and operational steps of the scheme. Second, rigid documentation barriers pose immense challenges, as vulnerable families are frequently unable to produce formal BPL certificates, formal birth registrations, and open formal bank accounts due to poor local banking infrastructure. Third, severe disbursement delays spanning one to three years are highly common, entirely destroying the behavioral incentive mechanism of the conditional cash transfer. Finally, since its administrative merger into the Integrated Child Development Services (ICDS) in 2002, the BSY has lost administrative visibility, ceasing to exist as a distinct monitoring priority for Child Development Project Officers (CDPOs) and frontline Anganwadi workers.

Conclusion

The educational empowerment of Dalit women in Haryana remains an unfulfilled constitutional, developmental, and moral imperative. The evidence compiled from secondary datasets and qualitative fieldwork demonstrates that while absolute educational indicators have experienced growth, welfare interventions like the Balika Samridhi Yojana have failed to perform a transformative role. The modest financial transfers offered by the scheme have proven entirely insufficient to offset the deep, interlocking structural barriers of caste hierarchy, class exploitation, acute spatial segregation, and institutional discrimination that restrict the lives of Dalit girls.

To transcend these limitations, public policy must undergo a fundamental paradigm shift away from a charitable, state-centric welfare model toward a strict rights-based framework backed by enforceable legal guarantees and accountable administrative mechanisms. Grounded in Dr. B.R. Ambedkar's seminal dictum—"Educate, Agitate, Organize"—true educational empowerment requires expanding human capabilities by purging educational spaces of caste prejudice, substantially upgrading scholarship allocations to match inflationary realities, simplifying bureaucratic documentation barriers through decentralized camps, and structurally institutionalizing the active leadership of Dalit women's organizations in policy implementation and monitoring. Ultimately, educational access cannot be treated as a detached sectoral concern; it must be embedded within a holistic societal project that aggressively challenges systemic inequities to secure redistribution, social recognition, and absolute dignity for Dalit women.

Research Scholar

Bibliography:

- Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of Caste*. Bombay: Bharat Bhushan Press.
- Census of India. (2011). *Primary Census Abstract Data for Scheduled Castes and Scheduled Tribes: Haryana*. New Delhi: Office of the Registrar General & Census Commissioner, India.
- Government of India. (1997). *Balika Samridhi Yojana (BSY) Operational Guidelines*. New Delhi: Ministry of Women and Child Development.

- Government of Haryana. (2020). *Annual Administrative Report (2010-2020)*. Panchkula: Department of Women and Child Development.
- International Institute for Population Sciences (IIPS) and ICF. (2021). *National Family Health Survey (NFHS-5), 2019-21: India: Volume I & II*. Mumbai: IIPS.
- Nussbaum, M. C. (2000). *Women and Human Development: The Capabilities Approach*. Cambridge: Cambridge University Press.
- Programme Evaluation Organisation. (2002). *Evaluation Study of Balika Samridhi Yojana*. New Delhi: Planning Commission, Government of India.
- Sen, A. (1999). *Development as Freedom*. New York: Oxford University Press.
- Thorat, S., & Newman, K. S. (2010). *Blocked by Caste: Economic Discrimination in Modern India*. New Delhi: Oxford University Press.
- UNICEF & National University of Educational Planning and Administration. (2014). *Global Initiative on Out-of-School Children: India National Study*. New Delhi: NUEPA.

Research Paper

Tushar

Renewable Energy and Sustainable Living: Building a Greener Future for all

Today we are living in the modern world where industrialization is at peak and the world stands at a defining crossroads. Climate change, resource depletion, and rising pollution levels are no longer distant threats confined to scientific reports — they are present realities affecting billions of lives every day. Glaciers are melting at unprecedented rates, extreme weather events are becoming more frequent and more devastating, and air quality in major cities around the globe is declining. Yet amid these challenges, a powerful and hopeful transformation is underway and we are trying to shift toward renewable energy and sustainable living represents not just a technological revolution, but a fundamental reimagining of how humanity coexists with the natural world.

Renewable energy — derived from sources that are naturally replenished such as sunlight, wind, water, and geothermal heat — offers an alternative to fossil fuels that is cleaner, increasingly affordable, and virtually inexhaustible. Paired with sustainable living practices, which involve making conscious choices to reduce one's environmental footprint in everyday life, the renewable energy movement has the potential to reshape economies, improve public health, and safeguard the planet for generations to come.

Understanding renewable energy

Renewable energy sources are those that replenish themselves naturally over short periods of time, in contrast to fossil fuels like coal, oil, and natural gas, which took millions of years to form and will eventually run out. The major types of renewable energy include solar, wind, hydroelectric, geothermal, and biomass energy.

Solar energy is perhaps the most well-known form. It harnesses the power of sunlight using photovoltaic (PV) panels or solar thermal systems to generate electricity or heat. The sun delivers more energy to the earth in a single hour than the entire global population consumes in a year, making solar one of the most abundant and promising sources available. Wind energy, which captures kinetic energy through turbines placed on land or offshore, is another rapidly growing sector. Countries like Denmark and Germany have made remarkable progress in integrating wind power into their national grids.

Hydroelectric power, generated by the movement of water through dams and turbines, has historically been one of the largest sources of renewable electricity worldwide. Geothermal energy taps into the earth's internal heat, providing reliable baseload power in regions with volcanic activity, such as Iceland and parts of the United States. Biomass energy, derived from organic materials like wood chips, agricultural waste, and even certain crops, can be used for heating, electricity generation, and transportation fuels.

The case for transition: why it matters

The burning of fossil fuels is the single largest contributor to greenhouse gas emissions, primarily carbon dioxide and methane, which trap heat in the atmosphere and drive climate change. According to scientific consensus, global temperatures must not rise more than 1.5 degrees celsius above pre-industrial

levels to avoid the most catastrophic impacts of climate change. Achieving this goal requires a rapid and wholesale shift away from coal, oil, and gas toward clean energy alternatives.

Beyond climate, air pollution from fossil fuel combustion kills millions of people each year. The world health organization estimates that over seven million deaths annually are linked to air pollution, making it one of the world's largest environmental health risks. Switching to renewable energy would dramatically reduce particulate matter, nitrogen oxides, and sulfur dioxide in the atmosphere, preventing enormous amounts of suffering and cutting healthcare costs.

The economic argument is also compelling. The cost of solar and wind energy has plummeted by over 80 percent in the last decade alone, making renewables the cheapest source of new electricity generation in most parts of the world. Job creation in the renewable energy sector has outpaced that in fossil fuel industries, offering new economic opportunities in communities that have historically depended on coal or oil. Energy independence is another strategic advantage: countries that harness their own domestic renewable resources are less vulnerable to volatile global fossil fuel markets.

Sustainable living: individual action and collective impact

While large-scale policy changes and industrial transitions are essential, the choices individuals make in their daily lives also carry significant weight. Sustainable living is about aligning personal habits and consumption patterns with the principles of environmental stewardship — consuming less, wasting less, and choosing products and services that have a lower environmental impact.

Energy efficiency at home

One of the most impactful steps a household can take is to reduce its energy consumption. Simple measures such as switching to led lighting, installing smart thermostats, improving insulation, and using energy-efficient appliances can cut electricity use significantly. Installing rooftop solar panels, where feasible, allows households to generate their own clean electricity and even feed surplus power back into the grid. Electric Vehicles (EVs), when charged from renewable sources, offer a way to decarbonize personal transportation.

Sustainable consumption and reducing waste

The modern economy is largely built on a linear model — take, make, dispose. Sustainable living challenges this by embracing a circular economy mindset: reducing consumption, reusing items, recycling materials, and composting organic waste. Fast fashion, for instance, is one of the most polluting industries in the world; choosing quality over quantity, buying second-hand, or supporting sustainable clothing brands can make a meaningful difference.

Diet also plays a major role. Livestock farming, particularly for beef and dairy, is a major source of methane emissions and requires vast amounts of land and water. Reducing meat consumption — even partially, such as adopting a flexitarian diet — can substantially lower one's personal carbon footprint. Growing food locally, choosing seasonal produce, and minimizing food waste further contribute to a more sustainable food system.

Global progress and promising examples

Countries around the world are demonstrating that a clean energy future is not only possible but already underway. Iceland generates nearly 100 percent of its electricity from renewable sources, primarily geothermal and hydropower. Costa Rica has run on more than 99 percent renewable electricity for several years running. Denmark regularly generates more wind power than it consumes domestically and exports the surplus to neighboring countries. China, the world's largest emitter, has simultaneously become the world's largest investor in renewable energy, installing more solar capacity in a single year than any other nation.

In India, ambitious targets under the national solar mission have driven massive expansion of solar capacity, bringing electricity to rural villages previously off the grid. The city of masdar in the united arab emirates was designed from the ground up as a zero-carbon, zero-waste urban environment and serves as a living laboratory for sustainable urban planning. These examples prove that with political will, smart policy, and investment, transitions to clean energy

systems are achievable across vastly different economic and geographic contexts.

Challenges and the path forward

Despite the remarkable progress, significant challenges remain. Renewable energy sources like solar and wind are intermittent — the sun does not always shine and the wind does not always blow. Building reliable grids that can manage this variability requires advances in energy storage technology, particularly batteries, as well as smarter grid infrastructure and better international energy cooperation. The upfront cost of renewable installations, while falling, can still be prohibitive for lower-income communities and developing nations without access to financing.

Political resistance from entrenched fossil fuel interests remains a powerful obstacle in many countries. Transitioning away from coal and oil also raises important questions of social justice: workers in fossil fuel industries and the communities built around them must be supported through the transition with retraining programs, economic diversification, and investment in new industries — what is often called a 'just transition.'

Addressing these challenges will require coordinated effort at every level — from international climate agreements and national policy frameworks to local government initiatives and individual consumer choices. Education and public awareness are crucial: the more people understand the connection between their everyday decisions and the health of the planet, the more empowered they become to make changes and demand action from leaders and corporations.

Conclusion

As we move to the conclusion the renewable energy and sustainable living are not utopian ideals—they are practically, proven, and increasingly affordable pathways to a healthier planet and a more equitable world. The technologies exist. The economic case is strong the urgency is undeniable what remains is the collective will to act to invest in clean energy infrastructure, to reform systems that incentivize waste and pollution, and to cultivate cultures of sustainability from the household to the highest halls of government.

Every solar panel installed, every car taken off the road in favor of a bicycle or electric vehicle, every meal prepared with locally grown vegetables, and every vote cast for leaders who prioritize the environment represents a contribution to a future where human civilization and the natural world can thrive together. The transition to renewable energy is not just about changing how we power our homes and cities it is about rethinking our relationship with the earth itself, and choosing, consciously and deliberately, to be its stewards rather than its exploiters we need to understand the current situation and have to respectively perform the respective activities for the betterment of earth.

The green revolution is not a distant dream. It is already happening, and each one of us has a role to play in making it a reality.

References:

1. Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC). (2021). *Climate Change 2021: The Physical Science Basis. Contribution of Working Group I to the Sixth Assessment Report.* Cambridge University Press. https://www.ipcc.ch/report/ar6/wg1/
2. International Renewable Energy Agency (IRENA). (2023). *Renewable Power Generation Costs in 2022.* IRENA. https://www.irena.org/Publications/2023/Aug/Renewable-Power-Generation-Costs-in-2022
3. World Health Organization (WHO). (2022). *Ambient (outdoor) air pollution.* WHO Fact Sheets. https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/ambient-(outdoor)-air-quality-and-health
4. U.S. Department of Energy. (2022). *Solar Energy Technologies Office: Photovoltaics.* Office of Energy Efficiency and Renewable Energy. https://www.energy.gov/eere/solar/photovoltaics
5. Ritchie, H., Roser, M., & Rosado, P. (2022).

Renewable Energy. Our World in Data. https://ourworldindata.org/renewable-energy
6. Ellen MacArthur Foundation. (2019). *Completing the Picture: How the Circular Economy Tackles Climate Change.* Ellen MacArthur Foundation. https://www.ellenmacarthurfoundation.org/completing-the-picture
7. Poore, J., & Nemecek, T. (2018). Reducing food's environmental impacts through producers and consumers. *Science, 360*(6392), 987–992. https://doi.org/10.1126/science.aaq0216
8. International Energy Agency (IEA). (2023). *Renewables 2023: Analysis and Forecast to 2028.* IEA. https://www.iea.org/reports/renewables-2023
9. Lund, H., Mathiesen, B. V., & Connolly, D. (2014). Sustainable energy systems. *Applied Energy, 130,* 519–523. https://doi.org/10.1016/j.apenergy.2014.07.009
10. United Nations Environment Programme (UNEP). (2021). *Making Peace with Nature: A Scientific Blueprint to Tackle the Climate, Biodiversity and Pollution Emergencies.* UNEP. https://www.unep.org/resources/making-peace-nature

शोध-पत्र

रामानंद सम्प्रदाय : मध्यकालीन भारतीय समाज में समावेशी चेतना का विश्लेषण

प्राञ्जल सिंह

प्रस्तावना

भारत सर्वदा से ही विविधता में एकता की महान् परम्परा को धारण करने वाला राष्ट्र रहा है। यहाँ विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और संस्कृतियों के लोग भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर निवास करते रहे हैं। उनके रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, भाषा, परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज विभिन्न प्रकार का होने पर भी वे परस्पर समन्वय स्थापित करते हुए एक साथ जीवन व्यतीत करते हैं - यही भारत की सबसे विशिष्ट पहचान है।

ये विविधताएँ केवल बाह्य जीवन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं में भी व्यापक रूप से अभिव्यक्त होती हैं। यहां विभिन्न धर्मों के अंतर्गत अनेक सम्प्रदाय विद्यमान हैं, जिनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ एवं परम्पराएँ हैं। उदाहरणस्वरूप - वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, सूफी, शिया, सुन्नी आदि। इन समस्त भिन्नताओं के बावजूद भारतीय संस्कृति का मूलाधार सदैव एकता, समन्वय और सामूहिक चेतना ही रहा है। यही कारण है कि यहाँ विविधता में भी एकात्मता का अनुभव होता है। इसी शाश्वत सत्य को वैदिक साहित्य में अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया गया है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥[1]

यह मन्त्र एकता, समता और सामूहिक चेतना का संदेश देता है, इसमें समस्त मानव समुदाय को साथ चलने, मिलकर विचार करने और एकमत होकर कार्य करने की प्रेरणा दी गई है। यह भारतीय संस्कृति की उस व्यापक ष्टि का द्योतक है, जो समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधकर वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श की ओर अग्रसर करती है।

संप्रदाय की संकल्पना

सम्प्रदाय वह विशिष्ट समूह होता है जो किसी धर्म, दर्शन, विचारधारा अथवा परम्परा की निर्धारित, मान्यताओं, सिद्धांतों और आचारों का पालन करता है। प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी अलग मान्यताएँ तथा परम्पराएँ होती हैं, जो उसे अन्य संप्रदायों से भिन्न एवं विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। सम्प्रदाय की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता गुरु-शिष्य परम्परा है। इस परम्परा के अंतर्गत एक गुरु या आचार्य होते हैं, जो उस सम्प्रदाय के मार्गदर्शक के रूप में अपने शिष्यों को गुरुकुल, मठ, अखाड़ा अथवा विहारों में ज्ञान प्रदान करते हैं। उनके निर्देशन में अनेक शिष्य एवं अनुयायी उस परंपरा को आत्मसात् करते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका संवहन करते हैं। जिससे सम्प्रदाय की निरंतरता बनी रहती है।

इन संप्रदायों में प्रमुख आचार्यो, आध्यात्मिक गुरुओं को विभिन्न उपाधियों से सम्बोधित किया जाता है। यथा-

* **वैष्णव सम्प्रदाय** में आचार्य, स्वामी, गोस्वामी और महन्त जैसी उपाधियाँ प्रचलित हैं।
* **शैव सम्प्रदाय** में नाथ, योगी, महायोगी तथा आचार्य जैसी उपाधियाँ प्रमुख हैं, विशेषत: नाथपंथ में गुरु को नाथ कहा जाता है, जैसे - गोरखनाथ।
* **दशनामी संन्यासी परम्परा,** जिसकी स्थापना आदि शंकराचार्य ने की, उसमें शंकराचार्य सर्वोच्च पीठाधीश्वर की उपाधि है, जबकि अन्य संन्यासियों के लिए स्वामी का प्रयोग होता है।
* **शाक्त सम्प्रदाय** में महामण्डलेश्वर, आचार्य, स्वामी,

साधक और सिद्ध जैसी उपाधियाँ प्रचलित हैं।

- **सिख परम्परा** में गुरु का विशेष महत्व है, यहाँ गुरु को सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता का द्योतक माना जाता है।
- **सूफी सम्प्रदाय** में पीर, मुरशिद और खवाजा जैसी उपाधियाँ प्रचलित हैं।
- **बौद्ध परम्परा** में भिक्षु, आचार्य, लामा (विशेषत: तिब्बती परम्परा में) और महास्थविर जैसी उपाधियाँ प्रयुक्त होती हैं।
- **जैन धर्म** में आचार्य, उपाध्याय और मुनि प्रमुख उपाधियाँ हैं।

ये उपाधियाँ केवल सम्मानसूचक शब्द नहीं हैं, बल्कि ये उपाधियां साधना और ज्ञान के स्तर को दर्शाती हैं, ये उच्च आध्यात्मिक प्रतिष्ठा का प्रतीक होने के साथ-साथ उस परम्परा की दार्शनिक गहराई, अनुशासन, और संगठनात्मक व्यवस्था को भी अभिव्यक्त करती हैं।

भारत में प्रमुख सम्प्रदाय

भारत में अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें प्रमुख चार हैं - वैष्णव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, स्मार्त सम्प्रदाय

- वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी भगवान विष्णु तथा उनके अवतारों (राम, कृष्ण आदि) की उपासना करते हैं।
- शैव सम्प्रदाय में भगवान शिव को परम तत्व माना जाता है।
- शाक्त सम्प्रदाय में देवी या शक्ति की उपासना की जाती है, जिन्हें सृष्टि की मूल ऊर्जा माना गया है।
- स्मार्त सम्प्रदाय परमेश्वर के विभिन्न रूपों को समान रूप से स्वीकार करता है।

समय के साथ इन सम्प्रदायों के अंतर्गत अनेक शाखाएँ विकसित हुईं जिससे संप्रदायों के अंतर्गत भी अनेक उपसंप्रदाय बन गए-

1. **वैष्णव सम्प्रदाय :** श्री सम्प्रदाय (रामानुजाचार्य), ब्रह्म सम्प्रदाय (मध्वाचार्य), रुद्र सम्प्रदाय (वल्लभाचार्य), कुमारसम्प्रदाय (निम्बार्काचार्य)
2. **शैव सम्प्रदाय :** नाथ, लिंगायत तथा कश्मीरी-शैव सम्प्रदाय
3. **शाक्त सम्प्रदाय :** कौल और श्रीविद्या
4. **स्मार्त सम्प्रदाय :** अद्वैत-वेदान्त

विभिन्न धर्मों के अनुसार संप्रदाय -

1. **इस्लाम :** सुन्नी, शिया, सूफी
2. **ईसाई :** कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, ऑर्थोडॉक्स
3. **बौद्ध :** हीनयान, महायान, वज्रयान, तिब्बति लामा परम्परा
4. **जैन :** दिगंबर, श्वेतांबर
5. **सिख :** उदासी, निहंग

वैष्णव संप्रदाय और उसका वर्गीकरण

उपर्युक्त विभिन्न सम्प्रदायों में वैष्णव सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है, जिसके अनुयायी मुख्यत: भगवान विष्णु तथा उनके अवतारों की उपासना करते हैं। इस सम्प्रदाय के आराध्य भगवान श्रीहरि (विष्णु) माने जाते हैं। परम्परागत रूप से वैष्णव सम्प्रदाय को चार प्रमुख धाराओं- श्री, ब्रह्म, रुद्र तथा कुमार में विभाजित किया गया है।

इनमें से श्री सम्प्रदाय के अंतर्गत रामानंद द्वारा प्रवर्तित रामानन्द सम्प्रदाय का विशेष महत्व है, जो आगे चलकर एक व्यापक एवं प्रभावशाली भक्ति-परम्परा के रूप में विकसित हुआ। यह सम्प्रदाय मुख्य रूप से भगवान राम, माता सीता, हनुमान तथा विष्णु के अन्य अवतारों की उपासना पर बल देता है। इसमें राम और सीता को परम सत्ता माना जाता है, जो एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

रामानंद-संप्रदाय का स्वरूप

रामानन्द सम्प्रदाय एक अत्यंत व्यापक, संगठित एवं प्रतिष्ठित तपस्वी समुदाय के रूप में विख्यात है। इस सम्प्रदाय को रामावत् सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा वैरागी सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में, मठवासी हिन्दू-त्यागी समुदायों में इसका प्रमुख स्थान है। इसके अनुयायी रामानन्दी या वैरागी कहलाते हैं- जो अपनी अनुशासित, संयमित एवं सरल जीवन-शैली के लिए प्रसिद्ध हैं।

रामानन्द सम्प्रदाय में गुरु-शिष्य परम्परा का विशेष महत्व है। इस परंपरा के अंतर्गत गुरु अपने शिष्य को पवित्र राम-मंत्र का उपदेश देकर दीक्षित करते हैं और शिष्य गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए जीवन यापन करते हैं। सम्प्रदाय में तिलक धारण करने के शुक्लश्री, बिन्दुश्री, रक्तश्री तथा लश्करी आदि विविध रूप प्रचलित हैं, जिन्हें अनुयायी अपनी परम्परा एवं उपसम्प्रदाय के अनुसार धारण करते हैं।

इस परम्परा के अधिकांश साधु-संत त्याग एवं वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं तथा भक्ति, भजन और साधना में निरंतर लीन रहते हैं। रामानन्दी परम्परा के अनुयायी स्वयं को मध्यकालीन वैष्णव संत रामानन्दाचार्य का अनुयायी मानते हैं। दार्शनिक रूप से यह सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत दर्शन का अनुसरण

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

करता है, जिसके अनुसार जीव और ईश्वर भिन्न होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं, तथा जीव को ईश्वर का अंश माना जाता है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए अहंकार का त्याग और पूर्ण समर्पण आवश्यक माना जाता है।

इस सम्प्रदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी समन्वयात्मक एवं समतावादी दृष्टि है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री-पुरुष सभी को समान रूप से स्थान प्रदान किया गया है। यहाँ तक कि विभिन्न धर्मों के लोगों के लिए भी भक्ति का द्वार खुला रखा गया है। जिससे यह सम्प्रदाय समाज में व्यापक रूप में स्थित है। समग्र रूप से देखा जाए तो रामानन्द सम्प्रदाय भारतीय भक्ति परम्परा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, जिसने समाज में प्रेम, समानता और भक्ति की भावना को सु ढ़ किया और आध्यात्मिक जीवन को सरल एवं सुलभ बनाया।

रामानंद-संप्रदाय के प्रमुख पीठ

रामानंदी सम्प्रदाय मुख्य रूप से उत्तर भारत, विशेषकर गंगा के मैदानी क्षेत्रों तथा नेपाल में अत्यधिक प्रचलित है। इसके मठ और मंदिर उत्तर, पश्चिम तथा मध्य भारत, गंगा-घाटी, नेपाली-तराई तथा हिमालय की तलहटी क्षेत्रों में व्यापक रूप से स्थापित हैं। यद्यपि इसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत में विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है, तथापि सम्प्रदाय का मूल आध्यात्मिक केन्द्र, आचार्यपीठ काशी स्थित पंचगंगा घाट का 'श्रीमठ' माना जाता है, यहां रामानंदाचार्य ने दीर्घकाल तक निवास किया और यहीं से उन्होंने भक्ति आन्दोलन का प्रचार-प्रसार आरम्भ किया, तथा कालांतर में कृष्णदासजी पयहारी जो स्वामी रामानन्द के अनुयायी अनन्तानंद जी के परमशिष्य थे। उन्होंने राजस्थान के जयपुर में 'गलताजी' नामक पीठ को स्थापित किया, जो वर्तमान में प्रमुख पीठ के रूप में विख्यात है।

रामानंद-संप्रदाय के प्रमुख समूह

रामानंदी तपस्वियों के दो प्रमुख उपसमूह हैं प्रथम - 'त्यागी' जो दीक्षा के लिए राख का उपयोग करते हैं, और द्वितीय 'नागा' जो अपनी विशिष्ट जीवन-शैली, और युद्ध क्षमता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। मध्यकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक ये केवल धार्मिक साधु ही नहीं, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर रक्षक और योद्धा की भूमिका भी निभाते थे। वे व्यापारिक मार्गों, तीर्थयात्रियों तथा धार्मिक स्थलों की सुरक्षा करते थे, बाद में अंग्रेजों ने ऐसे सशस्त्र साधु समूहों को नियंत्रित करने एवं निहत्था करने के अनेक प्रयास किए, किन्तु उनकी परम्परा आज भी विद्यमान है। उनकी वीरता, संगठनशीलता तथा सनातन धर्म के प्रति निष्ठा के कारण उन्हें धर्म के रक्षक एवं संवाहक के रूप में स्मरण किया जाता है।

स्वामी रामानंद

रामानंद संप्रदाय की स्थापना का श्रेय 'श्रीमद् जगद्गुरु रामानंदाचार्य' को दिया जाता है, परंतु रामानंदाचार्य से पूर्व भी यह संप्रदाय श्री संप्रदाय के रूप में प्रचलित था। रामानंदाचार्य के पश्चात् स्वामी रामानंदाचार्य के सम्मान में इसे श्री रामानंद संप्रदाय के रूप में कहा जाने लगा। स्वामी रामानन्द मध्यकालीन उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन के उन विशिष्ट आचार्यों में गिने जाते हैं, जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने भारतीय धार्मिक-सामाजिक चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान की।

स्वामी रामानंद के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक स्रोतों से कोई सर्वमान्य एवं प्रमाणिक मत प्राप्त नहीं होता। तथापि, रामानन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी प्रतिवर्ष अयोध्या, मिथिला तथा चित्रकूट आदि प्रमुख केन्द्रों में उनकी जयंती बड़े धूमधाम से मनाते हैं। इसी परम्परा के आधार पर विक्रम संवत् 1356 (ईस्वी सन् 1299) के मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की सप्तमी को उनकी जन्मतिथि का अनुमान किया जाता है।

स्वामी रामानंद की शिक्षा काशी स्थित श्रीमठ में 'आचार्य राघवानन्द' के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। राघवानन्द एक प्रख्यात आचार्य एवं विद्वान थे, जिनके मार्गदर्शन में वेद, वेदांग, उपनिषद, दर्शन आदि शास्त्रों का गहन अध्ययन कर रामानंद, प्रकाण्ड विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित हुए। अध्ययन के पश्चात् उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का सूक्ष्म अवलोकन किया और समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं विषमताओं को दूर करने के उद्देश्य से कार्य करना आरम्भ किया।

कार्य एवं योगदान : रामानन्द की वैचारिक संरचना का मूलाधार दक्षिण भारतीय विशिष्टाद्वैत वेदान्त, परम्परा से संबद्ध माना जाता है, उत्तर भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में उन्होंने भक्ति को न केवल दार्शनिक विमर्श का विषय बनाया, अपितु उसे एक जीवंत सामाजिक-आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया। रामानन्दाचार्य ने भक्ति मार्ग के प्रचार के लिए भारत के विभिन्न भागों की यात्रा की और विशेष रूप से उत्तर भारत में रामभक्ति का व्यापक प्रसार किया। नाथपंथी योग परम्परा तथा लोकधर्मी साधना-प्रवृत्तियों के साथ उनका अंतर्संबंध यह सूचित करता है कि उनकी साधना-प्रणाली 'बहुलतावादी' एवं 'समन्वयात्मक' थी। रामानन्द की महत्त्वपूर्ण देन भक्ति के

क्षेत्र में उनकी समावेशी दृष्टि है। उन्होंने वर्ण, जाति, लिंग तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर निर्मित धार्मिक विशिष्टता को अस्वीकार करते हुए भक्ति को सार्वभौमिक मानवीय अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से वे केवल धार्मिक आचार्य न होकर सामाजिक पुनर्संरचना के प्रवर्तक भी सिद्ध होते हैं।

शिष्य परंपरा

रामानंद की शिष्य-परम्परा अत्यंत समृद्ध एवं प्रभावशाली रही है। उनके प्रमुख शिष्यों में अनंतानन्द, भावानन्द, पीपा, सेन, धन्ना, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, कबीर, रैदास, सुरसरी तथा पद्मावती के नाम उल्लिखित किए जाते हैं। इन बारह प्रमुख शिष्यों को सामूहिक रूप से द्वादश महाभागवत के नाम से भी अभिहित किया जाता है। -

''श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यौं, दुतिय सेतु जग तरन कियो॥
अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन सुरसुर की घरहरि॥''[2]

जिसमें कबीर एक मुस्लिम बुनकर, रविदास एक मोची, सेन एक नाई, धन्ना एक जाट-किसान, नरहरि एक सुनार और पीपा एक राजपूत कुमार आदि विविध सामाजिक पृष्ठभूमियों से आए संत सम्मिलित हैं, जो समतावादी आदर्श का साक्षात् प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। रामानंदाचार्य के परम्परा का प्रभाव उनके शिष्यों की वाणी में स्पष्ट रूप से ष्टिगोचर होता है, जहाँ जाति-प्रथा का विरोध, समता का समर्थन तथा भक्ति और प्रेम को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। इन विशेषताओं को हम विभिन्न संतों की वाणी में उदाहरणस्वरूप देख सकते हैं—

⋆ **पीपा :**

रामानन्द की शिष्य-परम्परा में संत पीपा ने आन्तरिक भक्ति एवं आत्मानुभूति को प्रमुखता देते हुए गुरु रामानंद की आध्यात्मिक परम्परा को और अधिक सुदृढ़ किया। जिसका सुन्दर निरूपण उनके इस पद में मिलता है-

''कायउ देवा काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नईबेदा काइअउ पूजउ पाती॥''[3]

अर्थात् मानव शरीर ही वास्तविक देवालय है, ईश्वर का निवास तथा पूजा के सभी साधन इसी के भीतर स्थित हैं। अत: ईश्वर की प्राप्ति बाह्य साधनों से नहीं, बल्कि अपने अंत:करण में खोजने से होती है। यह विचार भी रामानन्द की आन्तरिक साधना की परम्परा को दर्शाता है।

⋆ **कबीरदास :**

कबीर ने गुरु रामानंद की परम्परा का अनुसरण करते हुए ईश्वर-भक्ति और प्रेम को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। कबीर की वाणी में यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि बाह्य साधनों की अपेक्षा आन्तरिक प्रेम ही सच्चे ज्ञान का आधार है। वे कहते हैं -

''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥''[4]

अर्थात् केवल ग्रंथों के अध्ययन से कोई सच्चा ज्ञानी नहीं बनता, बल्कि वास्तविक ज्ञान ईश्वर-प्रेम में निहित है। जो व्यक्ति प्रेम रूपी उस एक अक्षर का मर्म समझ लेता है, वही सच्चा विद्वान कहलाने योग्य होता है। संत कबीर का एक अत्यंत प्रचलित दोहा जिसमें उन्होनें सामाजिक विषमता का स्पष्ट विरोध किया है-

''जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥''[5]

अर्थात् व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसके ज्ञान और गुणों के आधार पर होना चाहिए। जिस प्रकार तलवार का महत्व उसकी धार में होता है, न कि म्यान में, उसी प्रकार मनुष्य की श्रेष्ठता उसके आन्तरिक गुणों से निर्धारित होती है। इसके माध्यम से संत कबीर ने समता मूलक दृष्टिकोण को स्थापित किया जिसमें व्यक्ति की पहचान उसके आन्तरिक गुणों से होती है, न कि बाह्य भेदों से। अपने एक अन्य दोहे में संत कबीर ने आन्तरिक भक्ति के स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया है-

''माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर॥''[6]

अर्थात् बाह्य पूजा-पद्धतियों में लगे रहने से मन का परिवर्तन नहीं होता, सच्ची साधना मन की शुद्धि और आन्तरिक परिवर्तन में निहित है।

⋆ **रविदास**

रविदास ने गुरु रामानंद के समतावादी भावना को अपने पदों में अभिव्यक्त किया है -

''जाति जाति में जाति है, जो केतन के पात।
रैदास मनुष न जुड़ सके, जब तक जाति न जात॥''[7]

अर्थात् समाज में जातियों का विभाजन इतना जटिल हो गया है कि वह केले के पत्तों की परतों के समान निरन्तर बढ़ता ही जाता है, और मनुष्यों को एक होने से रोकता है। जब तक यह भेदभाव समाप्त नहीं होगा, तब तक वास्तविक सामाजिक एकता संभव नहीं है।सामाजिक एकता और समरसता के मार्ग

में जाति-भेद सबसे बड़ी बाधा है, जिसे समाप्त किए बिना समतामूलक समाज की स्थापना संभव नहीं हो सकती।

रविदास एक न्यायपूर्ण और आदर्श समाज की कल्पना प्रस्तुत करते हैं -

''ऐसा चाहूँ राज में, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट-बड़ो सब सम बसैं, रैदास रहे प्रसन्न॥''[8]

यहाँ वे ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं, जहाँ सभी को समान रूप से अन्न प्राप्त हो, कोई ऊँच-नीच या भेदभाव न हो। समानता, न्याय और समरसता का वातावरण हो तथा सभी लोग समान भाव से निवास करें सभी को समान अधिकार प्राप्त हों।

⋆ तुलसीदास :

इसी क्रम में गोस्वामी तुलसीदास जी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो रामानंद परंपरा के अनुयायी नरहरिदास के शिष्य थे, अपनी उत्कृष्ट कृतियों और गहन रामभक्ति के कारण वे सम्पूर्ण विश्व में विख्यात हुए तथा उनकी कीर्ति चिरस्थायी बन गई। तुलसीदास ने भक्ति को जनसामान्य के लिए सरल और सुलभ बनाते हुए रामचरितमानस की रचना की, जिसमें भगवान राम के आदर्श चरित्र के माध्यम से धर्म, नीति और भक्ति का उत्कृष्ट निरूपण किया गया। वे सगुण भक्ति परम्परा के प्रमुख वैष्णव संत माने जाते हैं। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि निर्गुण और सगुण भक्ति एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। उन्होंने रामभक्ति को जन-जन तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी वाणी में भक्ति और समन्वय की भावना स्पष्ट रूप से ष्टिगोचर होती है-

''सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥''[9]

इस पद के माध्यम से उन्होंने संपूर्ण जगत में ईश्वर की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए समन्वय और भक्ति की भावना को व्यक्त किया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रामानन्द की शिष्य-परम्परा ने उनके सिद्धान्तों, भक्ति, प्रेम, समानता एवं आन्तरिक साधना को न केवल आत्मसात् किया बल्कि उन्हें अपने काव्य के माध्यम से समाज में स्थापित भी किया।

रामानन्द सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ एवं कृतियां

स्वामी रामानंद द्वारा रचित ग्रन्थों में वैष्णवमताब्जभास्कर तथा श्रीरामार्चन पद्धति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' इस संप्रदाय का आधार ग्रंथ है इसमें रामानन्दी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, तथा 'श्रीरामार्चन पद्धति' में भगवान राम की अर्चना एवं वन्दना की अत्यंत सुंदर पद्धति वर्णित है।

इसके अतिरिक्त योगचिंतामणि, ज्ञान लीला, ब्रह्मसूत्र-आनन्दभाष्य, उपनिषद्-आनन्दभाष्य तथा श्रीमद्भगवद्गीता-आनन्दभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ भी उनके नाम से प्रचलित हैं, किन्तु इनके विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

शिष्यों एवं अनुयायियों के ग्रंथ

इस संप्रदाय में अनेक संतों की रचनाएं हैं जो स्वतंत्र रूप में न होकर पदों एवं साखियों के रूप में संगृहित है। जैसे कबीरदास के पदों को 'बीजक' में तथा रविदास, धन्ना, पीपा, आदि संतों के पद 'गुरुग्रंथ साहिब' में संगृहित किए गए हैं।

इस परंपरा में नाभादास कृत 'भक्तमाल' रामानन्दी-परम्परा के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह ग्रंथ रामानंद और उनके शिष्यों के जीवन पर आधारित है इसमें 200 से अधिक भक्तों का जीवन चरित्र वर्णित है तथा तुलसीदास जो की नरहरिदास के शिष्य थे उनकी प्रमुख कृतियों में रामचरितमानस, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली, दोहावली, बरवै रामायण, हनुमानबाहुक, रामलला-हनछू, सतसई, वैराग्यसंदीपनी, हनुमान चालीसा, रामाज्ञा प्रश्न, आदि हैं, जो उसी भक्ति-परम्परा का विस्तार प्रस्तुत करती हैं, जिसकी आधारशिला स्वामी रामानन्द द्वारा स्थापित की गई थी।

निष्कर्ष

उत्तर भारतीय भक्ति परम्परा में रामानंद का स्थान अत्यंत विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण माना जाता है, उन्हें भक्ति परंपरा के एक महान आचार्य के रूप में सम्मानित किया जाता है। उन्होंने राम भक्ति को व्यक्तिगत एवं सरल भक्ति के रूप में स्थापित किया, उनकी शिक्षाओं ने न केवल सगुण रामभक्ति को सुदृढ़ किया, अपितु निर्गुण संत परम्परा के विकास को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित किया। उनकी उदारता और समानता की भावना ने समाज के विभिन्न वर्गों को आध्यात्मिक मार्ग की ओर आकर्षित किया, इस प्रकार वे भारतीय धार्मिक इतिहास में सामाजिक समरसता आध्यात्मिक उदारता और धार्मिक समानता को लाने वाले एक युग प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

दार्शनिक दृष्टि से रामानन्द का चिंतन सगुण और निर्गुण

भक्ति के द्वैत को समन्वित करने का प्रयास करता हुआ प्रतीत होता है। वे एक ओर राम को व्यक्तिगत, साकार, उपास्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, वहीं दूसरी ओर आन्तरिक अनुभूति और आत्मानुभव को भक्ति का वास्तविक आधार मानते हैं। उनके अनुसार यदि साधक अपने अन्त:करण में ईश्वर का साक्षात्कार नहीं करता तो बाह्य तप, व्रत और अनुष्ठान-मात्र औपचारिक क्रियाएँ बनकर रह जाते हैं। इस प्रकार वे कर्मकाण्ड की आलोचना करते हुए भक्ति को आन्तरिक आध्यात्मिक अनुशीलन के रूप में स्थापित करते हैं।

अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि स्वामी रामानंद केवल एक वैष्णव आचार्य ही नहीं, अपितु एक ऐसे युगप्रवर्तक संत हुए, जिन्होंने भक्ति को जनसामान्य तक पहुँचाकर समाज में समानता, उदारता और आध्यात्मिक चेतना को प्रतिष्ठित किया और भक्ति आन्दोलन को व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

शोधच्छात्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
ईमेल : pranja34_css@jnu.ac.in

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद 10.191.2
2. भक्तमाल, नाभाजी पृष्ठ-39
3. गुरु ग्रंथ साहिब, भाग 2, अंग 665, 1 https://archive.org/details/adi-sri-guru-granth-sahib-ji-hindi-2/page/n582/mode/1up
4. कबीर ग्रंथावली, संपादक-श्यामसुन्दर दास साखी खंड पृष्ठ-36
5. कबीर दोहावली, संपादक-नीलोत्पल, पृष्ठ-16 https://archive.org/details/kabeerdohawalihindi/page/n15/mode/1up
6. कबीर दोहावली, संपादक-नीलोत्पल, पृष्ठ-28 https://archive.org/details/kabeerdohawalihindi/page/n27/mode/1up
7. वेबपेज-रैदास के अनमोल दोहे, दोहा संख्या 5 https://dohe-hindibolindia.com/select/couplets-by-raidas
8. महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोसाल, दोहा संव 43, पृष्ठ-503
9. रामचरितमानस, बालकाण्ड 08/02
10. https://archive.org/details/JagadguruRamanandacharyaCharit
11. https://archive.org/details/ramanand&digvijaya-svami-bhagvadacharya/
12. https://archive.org/details/PtcT_jagad-guru-ramanand-acharya-shri-sampradya-vividha-aayam-edited-by-uday-pratap-s

संदर्भ ग्रंथ सूची

* कबीर। (द.क.). कबीर-ग्रंथावली (श्यामसुंदर दास, सम्पा.)। इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
* कबीर। (द.क.). कबीर दोहावली (नीलोत्पल, सम्पा.)। ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली।
* अग्रवाल, अपूर्व। (1666). जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-चरित। श्री रामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन।
* श्रीवास्तव, बदरीनारायण। (1957). रामानंद संप्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव (प्रथम संस्करण)। हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय।
* भगवदाचार्य, स्वामी। (1967, अगस्त 26). रामानन्द दिग्विजय। अध्यापिका श्रीचन्दनदेवी 'भ्रातृ-संस्मृति', बंगका कार्मीरा सोसायटी, अहमदाबाद।
* वर्मा, सावॅलिया बिहारीलाल। (2002). विश्वधर्म दर्शन (तृतीय संस्करण)। इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
* गुरु ग्रंथ साहिब। (2009). श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी (मूल पाठ सहित हिन्दी अनुवाद) (भाग 2; साहिब सिंह, चरण सिंह, - अजीत सिंह औलख, अनुवादक; जतिन्द्र कुमार, लिप्यन्तरण)। भाई चतर सिंह जीवन सिंह, अमृतसर/दिल्ली।
* सिंह, उदय प्रताप (सम्पा.)। (2011). जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीसम्प्रदाय (रामावत) : विविध आयाम (द्वितीय संस्करण)। जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास, हरिद्वार।
* नाभाजी, श्रीमद्गोस्वामी। (2017). श्रीभक्तमाल (भक्तिरस-बोधिनी टीका सहित) (प्रियादास, टीकाकार; राजेन्द्र दास देवाचार्य, सम्पा.)। श्री मलूक ग्रन्थागार, श्री मलूक पीठ, वंशीवट, श्रीधाम वृन्दावन।
* धर्मवीर, डॉ.। (2017). महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोसाल (प्रथम संस्करण)। वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
* रामानन्दाचार्य, श्री। (2018). श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर: (प्रथम संस्करणय त्रिभुवन दास,भाष्यकार)। चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
* **अंतरजालस्रोता:**
  आर्काइव - https://archive.org/
  विकिपीडिया - https://www.wikipedia.org/
  चैट जीपीटी - https://chatgpt.com/

Research Paper

Dr. Tsupokyemla

Soft Pragmatism enroute Strategic Partnership: India and Morocco Relations

Abstract

India's foreign policy towards Morocco has gradually moved from soft power diplomacy to larger strategic depth. Historically, India's relations with African countries was mainly focused in the sub-Saharan Africa but after the Cold War, it has gradually started to get engage in North African countries as part of a larger Africa strategy. India-Morocco Relations is one of them. India's policy towards Morocco is embedded in Global South Diplomacy.

In this paper an attempt is made to critically analyse the relations between India and Morocco and how it has evolved from a low-profile traditional trade partner to a more deeper strategic partnership.

Historical background

Historically India and Morocco shared cordial relations since the 14th century, when the renowned scholar and explorer Ibn Batuta embarked on a journey to India. Many years later, India was among the first nations that supported Morocco's decolonization and independence. India and Morocco's relation was measured and not as robust like with other countries in Africa, however had maintained diplomatic relations since 1957. The relation lacked symbolic density associated with Third World solidarity. There were several factors that hindered both the countries from working closer. The Cold War geopolitical landscape compelled both the countries to establish divergent alignments. India, one of the founding members of Non-alignment Movement (NAM) stayed away from both the US and Soviet blocs. Morocco, a monarchy led by King Hassan II on the other hand was explicitly close to the Western bloc especially the US and France and many a times intervening in the African conflicts-Zaire, Equatorial Guinea and Gabon and supporting the West. Morocco famously revelled the role of the "gendarme of the West".

One of the most striking event that deeply strained the relation between India and Morocco was on the issue of the Western Sahara.[1] In October 1985, India recognised the Sahrawi Arab Democratic Republic (SADR) which Morocco claims sovereignty over it. In response, Morocco severed diplomatic relations with India. However, India in a way did not totally sever diplomatic ties with Morocco. A small channel of communication still continued under the banner of the Austrian embassy in Morocco. After four years in 1989, with the initiative of Morocco, diplomatic relations were restored with India de-recognising SADR on 26 June, 2000.[2] With the death of King Hassan in 1999, and with the end of the Cold War, the relations between India and Morocco gained momentum. After his father's death, King Mohammed VI chose India his first port of call in Asia in 2001.

Post-Cold War engagement: Traditional Trade partnership

With the end of the Cold war, India and Morocco's initial drivers of cooperation were on economic, cultural diplomacy and development assistance. Collaboration in the fields of agriculture, trade and food security were the main areas around which partnership revolved. India's main imports

from Morocco was potash and phosphate. It can be stated that, Morocco was one of the countries that pivoted India to attain green revolution. With her supply of fertilisers which was suitable for the Indian soil, it helped hasten India move faster towards achieving a green revolution. It is to be noted that Morocco holds 70% of world's phosphate reserves and considering that India is an agrarian economy, the requirement of phosphate becomes inevitable for food security. This requirement is reflected by the formation of IMACID- a joint venture between Morocco-state owned phosphate company OCB and Indian companies Tata and Birla. India's exports were more diversified covering textiles, chemical products, petroleum products and pharmaceutical products.

From 2001 to 2014, trade between the two countries which started around $150 million had by 2014 reached close to $1.36 billion. It was in the year 2011, when the trade rose to $2.04 billion in which India had to pay $1.45 billion which was a total asymmetric one-sided trade balance favouring Morocco.

Low-Key Trade Partnership to Strategic Partnership

Three major factors augmented the relationship between India and Morocco

1. **Make in India National Program**

With the coming of the Prime Minister Narendra Modi to power on 26 May 2014, India launched a national program, *Make In India*. According to Press Information Bureau, this initiative aimed "to facilitate investment, develop manufacturing infrastructure and boost innovation and skill development".[3] This program facilitated in modernizing the local manufacturing of defence machinery. The making of the first indigenous aircraft carrier INS Vikrant and the advanced light helicopter MK III squadron and the indigenously developed Laser-guided Ani Tank Guided Missile (ATGM) which was successfully tested and also the nuclear-capable ballistic missile Agni P. This major growth and advancements made Morocco as one of the interested partner in investing in India and expanding its defence and security sector. Morocco's military budget has been steadily increasing in recent years. According to the International Institute for Strategic Studies (IISS) report, "Morocco's defence spending reached 4.2 percent of its Gross Domestic Product (GDP)in 2025 which is around $5.2 billion".[4] This large investment in defence is also directly related to the arms race with Algeria which has been going on for years. Tensions have been mounting since 2021 with the tendency of an armed conflict.

Tactical transport trucks named as TATA LPTA 2038 was ordered from India which is a military vehicles suitable for desert region in the eastern region of Morocco. In the field of defence cooperation, both countries have keen interest to expand their defence industry cooperation. According to the Ministry of External Affairs website, "M/s Tata Advance Systems Limited has set up a production plant in Morocco for production of ground combat vehicles for use by the Moroccan Defence Forces". Furthermore, the defence cooperation between these two countries attained another greater impetus with the signing of MoU on defence cooperation when Defence Minister of India Sri Rajnath Singh visited Morocco in September 2025. This was signed within the framework of collaboration in defence industry, capacity building and counter terrorism.[5] Morocco besides Egypt participated and represented in the Biennial Defence Exhibition DefExpo in October 2022 which was held in Gandhinagar, supposedly the largest defence exhibition ever held in India. The theme was "to adopt a strategy to create synergies and strengthen defence and security cooperation". On July 13, 2022, with the approval by King Mohammed VI, the post of military attaché to kingdom's embassies in India and Turkey was created to diversify Défense procurement for the Royal Armed Forces (FAR). As reported by EFE a Spanish news agency, "Morocco now ranks as Africa's second-largest arms importer. Its military spending reached $6.3 billion in 2025, a 6.6% year-on-year increase that consumed 3.5% of GDP, according to figures from the Stockholm International Peace Research Institute (SIPRI).[6] During the 70th anniversary of the Royal Armed Forces (FAR), in May 2026, King Mohammed VI commented on the country's defensive capabilities as a "great priority" and a pillar of ongoing modernization.[7] Defence Minister Rajnath Singh said, "there was a time when India was exporting only $23

million worth of defence equipment. The figure today has crossed more than $157 million. According to MEA website , "the bilateral trade between India and Morocco in year 2025 has grown to USD 3.819 billion compared to USD 2.66 billion in year 2024". It reached a record high $4.2 billion in 2023. In an interview with WION's Sidhant Sibal, Ambassador Maliki, one of the longest-serving envoys in New Delhi and Dean of both the African and Arab diplomatic corps, described the trajectory of the relationship as "tremendous," tracing it back to King Mohammed VI's landmark visit to India in 2001. "In 2000 we had around $300 million in exchanges," said the Ambassador". By 2015 we were at $1.1 billion. By 2023, we reached a record high of $4.2 billion."[8] Morocco is one of the largest Asian country to invest in India. This he attributed to over 50 bilateral agreements signed since 2015 and a sharp rise in Indian corporate presence in Morocco, from 12-13 companies a decade ago to more than 45 today.

2. **India backs Morocco to join the African Union (AU)**

Another factor is the proactive role that India played in bringing Morocco to the African Union in 2017 that brought India and Morocco even closer and strengthened India's Africa policy. In general, India views Africa as the main cornerstone of its Global south diplomacy. By Morocco re-joining the AU, it fosters India-Africa economic engagement and fulfils India's goal of a greater and stronger African integration. Rather than having a partisan relationship with countries and taking unilateral positions in regional crisis, India's Africa policy is partnership with the entire continent. So, closer cooperation with Morocco opens up access to Francophone Africa, access to West African markets and avenues for collaborations in the field of agriculture and fertilizer production. Morocco serves as a commercial gateway between Europe and Africa, which complements India's economic outreach. Not only does it help in furthering economic exchanges, it helps balance the regional geopolitics. One of the most contentious issue in North Africa has been the rivalry between Algeria and Morocco and the West Sahara issue. Due to this factor, India also in the initial years had diplomatic problems with Morocco. Therefore, supporting Morocco's reintegration into the AU allowed India have cordial relations with both Morocco and Algeria and promote dialogue through African institutions rather than external intervention. This geopolitical balance fits India's broader diplomatic principle of strategic autonomy. At the level of further expanding India's engagement in Africa, Morocco is fast growing into strategic hub and multiple countries are in competition to get into this region. Countries like the US, China, the European Union, Turkey, the Gulf states and India are some of the major competitors. Morocco serves as a good channel for India to branch out its partnership with other African countries under AU for trade, development, maritime connectivity and investment networks. In short, Morocco's growing presence across Africa makes it strategically useful for India's continental outreach and also enhances India's strategic presence in the midst of the growing global competition in Africa.

In this sense, India's support for Morocco's AU membership was less about the Western Sahara dispute itself and more about India's broader vision of an integrated, stable, and economically connected Africa in which both India and Morocco could emerge as important partners of the Global South.

Economics and diplomacy goes hand in hand and this was reflected in the intensification of relations post the third India-Africa Forum Summit (IAFS-III) in New Delhi, when the two heads of states met on 29 October, 2015 during the summit. Morocco though not being a member of the African Union in 2015 (Morocco left Organisation of African Union in 1984), was invited for the summit. This was a calculated political move from the side of India, signalling a positive gesture to engage with Rabat on a larger scale. Hence, in 2018, India and Morocco signed a memorandum of understanding on space and cyber security. On 26 September, 2018, India and Morocco entered multiple bilateral agreements to enhance cooperation in the field of defence, and security as well as in the development of micro, small and medium enterprises (MSME). Since India has a strong MSME sector, mainly in manufacturing, which Morocco is behind in that area but has minerals and

ores; the two nations are finding ways to collaborate in MSME sector in terms of capacity building, infrastructure development, financing etc.

India as an emerging global player and a strong advocate for the interests of the global south was vividly manifested when India as the President of the G-20 strongly supported African Union- a union of 55 states to be given permanent membership in the G-20 in September 2023. This inclusion led to encompass 80% of the global population. Geopolitics plays a very important factor in bringing two countries together. Morocco located in a very strategic location, a gateway to Africa and Europe with China in line with the Belt and Road Initiative (BRI)-one of India's competitor, enlarging its footprint in Africa is also one of the many reasons why India is deepening her strategic partnership with Morocco. Morocco on the other hand is deftly balancing between India and China. Morocco became the first north African country to sign the BRI in 2022. India on the other hand has not joined BRI and opposes the China-Pakistan Economic Corridor (CPEC), which is a flagship project of BRI. However, both India and Morocco have identified common areas of cooperation in the areas of security. Located in a volatile environment, both countries face threats which is both domestic and external. Joint multidimensional approach is essential to combat terrorism which requires cooperation, intelligence sharing etc. Morocco's Central Bureau of Judicial Investigation (BCIJ) created in 2013 has established a reputation for itself as an international strategic partner in counter-terrorism. According to BCIJ Director Cherkaoui Habboub, "a total of 84 terrorist cells have been dismantled by BCIJ".[9] The US Africa Command (USAFRICOM) has given Morocco the title "Africa's premier security exporter" due to its effective program for counter terrorism and countering violent extremism.[10] India, with her share of terror attacks, co-ordination and data sharing from countries like Morocco is pertinent. With a track record of successfully interdicting 183 terror cells, prevented 361 terrorists acts and experiencing only two terror attacks since 2012- by far the least in North Africa,[11] Morocco becomes a key counter-terror and de-radicalization partner for India in North Africa.

3. **Abraham Accords : Intersecting between India and Morocco Relations**

Morocco became one of the signatories of the Abraham accords in 2020 alongwith Sudan, UAE and Bahrain. This development created a favourable and new geopolitical environment in the Middle East. For India, it lifted up some constraints and opened strategic avenues that indirectly bolstered its partnership with Morocco. Earlier, it was difficult to have a transnational alliances with Israel, Gulf states and the North African countries. This constraint has been lifted with the signing of the Abraham Accords. Countries like India instead of only limited to bilateral relations with these countries, now got a platform to have connectivity links. Alliances like I2U2 comprising of India, Israel, the UAE and the US and IMEC (India-Middle East Europe Corridor) was made possible.[12] Such type of initiatives link India with the Gulf, Israel and Europe through trade, logistics, energy corridor etc. This benefits India-Morocco relations as Morocco is the gateway to north and west Africa, and hence Morocco becomes a natural African extension of this corridor. India follows a strategic autonomy and this accord helped create a wider networked strategic space. Scholars increasingly describe this as a "connectivity-driven geopolitical order based on economic cooperation rather than ideological alignments".[13] One of the outcomes of the Accords has led to the expansion of technology partnerships among Israel, Gulf countries and external countries like India. In the areas like water management, smart agriculture, renewable energy, cyber security and logistics, India can cooperate with Morocco by leveraging Israel technologies, as Morocco has been engaging in modernising its agricultural and water sectors. Areas of cooperation in the field of energy integration and projects linked to IMEC like hydrogen infrastructure and electricity connectivity has opened up for India and Morocco. Morocco has acquired the position as a global green hydrogen power house. For instance, OCP Group, Morocco's state-owned phosphate and fertilizer giant is investing majorly in green ammonia for domestic fertilizer production, targeting 1 million tons by 2027. Production is focussed on green ammonia for agriculture and e-fuels for export to the European

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

market. Total energies, TE H2 & Copenhagen Infrastructure Partners (CIP), which is spearheading the " Chbika" project is "developing 1 GW of solar and wind capacity to produce 200,000 tons of green ammonia annually for Europe".[14] According to reports, a Moroccan committee has announced in March 2026 that Morocco has approved green hydrogen projects worth $32.5 billion to focus on producing ammonia, steel and industrial fuel. Morocco is on a mission to capture the European market by exporting hydrogen as the European Union has announced its commitment "to reduce carbon emissions by importing 10 million tons of renewable hydrogen by 2030".[15]

Morocco is located in a region with abundant sunlight, potential for high solar irradiation and strong wind corridors along the Atlantic coast making it an ideal location for renewable energy projects. Noor Quarzazate Solar complex is one such example which is world's largest solar facilities. With the global community on the march towards cutting down carbon emissions due to its hazardous effect on climate and health, Morocco has started to use this geographical advantage and leverage its natural resources to develop a green hydrogen economy, and enhance energy security. According to Reuters, in 2024, "Morocco allocated 300,000 hectares for renewal energy projects integrating electricity generation and green hydrogen conversion into ammonia, methanol, and synthetic fuels".[16] Morocco has the potential and hence the government aims to position itself as a global leader in green hydrogen production. Against this backdrop is India with its Green Energy mission. According to the press release by the Ministry of Power, India aims to achieve 500 GW of non-fossil fuel electricity capacity and derive about 50% of its power capacity from renewable sources.[17] The goal is to achieve net-zero emissions by 2070. Under the National Green Hydrogen Mission which was started in 2023, India aims to become a global hub for decarbonization of heavy industries, electrolyser manufacturing and green ammonia exports. Lately, Green Hydrogen Partnership stands out as one of the most promising partnership between India and Morocco. The US formally exiting the Paris Agreement for the second time in January 2026, though being the world's largest historical emitter and second largest current greenhouse gas emitter is a major setback for the achieving global net-zero goals by 2050. In this current scenario, India and Morocco can be the champions of climate change amongst the developing countries and gather stronger voice representing the Global South in the international climate negotiations and deliberations. In regard to the energy transition goals, as mentioned above, Morocco holds 70% of world's phosphate reserves which is a crucial resource for fertilizers and also added importance for developing battery technology. The important areas of cooperation between India and Morocco in this sector are battery manufacturing, energy storage systems , critical mineral supply chains and knowledge sharing and research on next-generation batteries.

The convergence of India's Green Energy Mission and Morocco's renewable-energy ambitions creates a strong foundation for a strategic partnership. Green hydrogen, solar energy, battery technologies, and renewable-energy investments in Africa offer mutually beneficial opportunities. Beyond economic gains, India–Morocco cooperation can serve as a model of South-South collaboration, advancing energy security, sustainable development, and climate leadership across Africa, Asia, and the wider Global South.

The Abraham Accords help the India–Rabat strategic partnership by linking India, the Gulf, Israel, and North Africa into a common economic space, strengthening India's Africa outreach through Morocco and promoting a geo-economics order centred on trade corridors and strategic connectivity rather than traditional political rivalries. In geopolitical terms, Morocco is increasingly becoming an important Atlantic gateway for India's westward strategic expansion, while the Abraham Accords provide part of the diplomatic foundation that makes this broader regional integration possible.

Conclusion

The relationship between India and Morocco has evolved from a traditionally friendly diplomatic relationship into an emerging strategic partnership shaped by converging geopolitical, economic, and security interests. Morocco serves as a critical gateway for India's engagement with North and West

Africa, while India offers Morocco access to one of the world's fastest-growing major economies, technological expertise, and expanding investment opportunities. Both countries increasingly view each other as important partners in a rapidly changing multipolar international order. Morocco's strategic location connecting Africa, Europe, and the Atlantic further enhances its importance for India's broader economic outreach.

At the strategic level, defence and security cooperation have emerged as important pillars of the partnership. Recent defence agreements, military exchanges, maritime cooperation, and defence-industrial collaboration indicate a growing convergence of interests in regional security, counter-terrorism, and capacity building. From a geopolitical perspective, the partnership reflects; South–South cooperation, Global South diplomacy, strategic autonomy, and the search for diversified partnerships beyond traditional power blocs.

Both countries support a more multipolar international system and increasingly cooperate in multilateral forums on issues such as food security, renewable energy, sustainable development, and reform of global governance institutions. However, the relationship still possesses untapped potential. Greater connectivity, higher trade volumes, stronger private-sector engagement, educational exchanges, and institutionalized strategic dialogue will be necessary to transform the partnership into a comprehensive long-term alliance.

Overall, India–Morocco relations represent a convergence of economic pragmatism, strategic cooperation, and Global South solidarity. As both countries expand their regional and international roles, the partnership is likely to become an increasingly important pillar linking South Asia, Africa, the Mediterranean, and the Atlantic geopolitical space.

Documentation Officer
Centre for West Asian Studies
School of International Studies
JNU-New Delhi
Email id: ayem.jnu@gmail.com

References:

1. Mormul J and KBosowicz R. (2024), "A de facto state's struggle for international recognition: The case of the Sahrawi Arab Democratic Republic", Stosunki Mi'dzynarodowe – *International Relations*, 4:6 (https://doi.org/10.12688/stomiedintrelat.17789.1)
2. https://www.mea.gov.in/Portal/ForeignRelation/India-Morocco26.pdf
3. https://www.pib.gov.in/Pressreleaseshare.aspx?PRID=1814144&reg=3&lang=2; Accessed on 4 May, 2026
4. "Morocco increases defence budget", *The Arab Weekly*, 22 September, 2025, https://thearabweekly.com/morocco-increases-defence-budget-boosting-domestic-arms-industry-response-regional-threats; Accessed on 3 May, 2026
5. https://www.mea.gov.in/Portal/ForeignRelation/India-Morocco26.pdf, Accessed on 3 March, 2026
6. https://www.moroccoworldnews.com/2026/05/311795/spyder-barak-mx-apache-himars-moroccos-state-of-the-art-military-upgrades-worry-spain/, Accessed on 16 April, 2026
7. https://www.globaldefensecorp.com/2026/05/31/morocco/, Accessed on 15 April, 2026
8. Siddhant Sibbal, 25 March, 2026, Interview with Ambassador Maliki, https://www.wionews.com/world/india-morocco-trade-hits-record-4-2bn-as-ambassador-maliki-eyes-stronger-ties-1774445001814, Accessed on 1 June, 2026
9. https://en.hespress.com/24140-since-its-creation-bcij-has-dismantled-84-terror-cells-official.html
10. Jay Figurski, "Information Paper: Morocco Overview," U.S. Africa Command J52, June 4, 2018, I quoted in https://ndupress.ndu.edu/Media/News/News-Article-View/Article/2018915/america-first-america-alone-morocco-as-exemplar-for-us-counterterrorism-strategy/, Accessed on 3 May 2026
11. James B Cogbill, November 18, 2019, *Joint Force Quarterly,* https://ndupress.ndu.edu/

Media/News/News-Article-View/Article/2018915/america-first-america-alone-morocco-as-exemplar-for-us-counterterrorism-strategy/, Accessed on 3 May 2026
12. The Abraham Accords, November 17, 2025, *Middle East Institute*, https://mei.edu/backgrounder/abraham-accords/Accessed on 3 May, 2026
13. Francesco Foti, June 25, 2025, "The Geopolitics of the Abraham Accords", Atlas Institute for International Affairs, https://atlasinstitute.org/the-geopolitics-of-the-abraham-accords/
14. Geofrey Njovu, December 02, 2024, "Updates from Morocco: Renewable Ammonia value chain expansion", *Ammonia Energy Association*, https://ammoniaenergy.org/articles/updates-from-morocco-renewable-ammonia-value-chain-expansion/; Accessed on 17 May 2026
15. European Commission, https://energy.ec.europa.eu/topics/eus-energy-system/hydrogen_en Accessed on 17 May 2026
16. Reuters, "Morocco to dedicate 1mln hectares to green hydrogen projects", https://www.reuters.com/sustainability/morocco-dedicate-1-mln-hectares-green-hydrogen-projects-2024-03-11/Accessed on 17 May 2026
17. February 5, 2026, Press Release, Ministry of Power, https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=2223720&reg=3&lang=2 Accessed on 1 June, 2026

Research Paper

Krishna Murari

Re-evaluating the Concepts of 'Killer' and 'Healer' in Buddhist Narratives and Modern Historiography: A Re-evaluation of the Personality of Ashoka the Great

Abstract

This paper examines the different narratives and interpretations to the legacy of the Mauryan Emperor Aśoka (268-232 BCE). He has been caricatured and often depicted as both 'a destroyer' and 'a healer'. This paper traces how the two aspects of Ashoka's persona evolved through his experiences and examines their accuracy. The paper uses information extracted from his major and minor rock edicts and pillar edicts as epigraphic sources and compares them with literary sources, such as Ashokavadana (his biography), and major historical chronicles, such as the Dipavamsa and the Mahavamsa. The paper argues that the narrative of 'Chanda Ashoka' (Ashoka: The Cruel) is the product of various powerful literary and religious compositions. It seems an exaggeration to assert the religious supremacy of the evolving Buddhist canons, and it lacks historical authority. The reality of Aśoka's cruelty is best reflected in the Kalinga War (261 BC), an event described by Ashoka himself in his work. Conversely, the concept of 'Dhamma Ashoka' (Ashoka: The Pious) and the 'healer' persona seem to have emerged from his self-reflections, articulated through the 'policy of Dhamma' or 'Aśoka's Dhamma'. Aśoka's Dhamma was profoundly influenced by Buddhist ethics; however, it was interpreted as a secular and universalist philosophy. The sole objective of his philosophy of dhamma was to consolidate social harmony and political unity in the vast and diverse empire he was to control. Based on a comparative study and analysis of various evidence derived from his edicts alongside the historical works of scholars like Romila Thapar, John S. Strong, and others, this research paper opines that Aśoka was neither a 'cruel tyrant' nor a 'saintly pacifist'. Instead, Aśoka's reign represents a complex and unprecedented experiment in ethical statesmanship. These experiments encompassed aspects such as genuine personal faith, political pragmatism, and state violence, giving rise to a multifaceted emperor whose legacy continues to shape scholarly debates and reconstructions to this day.

1. Introduction: The Enigma of an Emperor

Ashoka, one of the most important figures in global history, remains a case of a paradox. The great Ashoka symbolises ancient India, with its strong imperial power and a compassionate style of governance, and his paradoxical character emerges from his dual nomenclature, Chanda Ashoka and Dhamma, which appeals to contemporary academics and the broader audience. A classic story, based on Buddhist writings, depicts Ashoka at first as a ruthless king; this tale states that after the Kalinga War (which he sparked), appalled by the slaughter caused on the field by him and his forces, he changed into a compassionate ruler and a significant supporter of the Buddhist Dharma. The story of his transformation from a merciless assassin to a protector of mankind is incredibly captivating and has significantly contributed to his lasting legacy. His story left an enduring imprint on the thoughts

of prominent political theorists and literary personalities, such as Jawaharlal Nehru and H.G. Wells.

Deep analysis shows that the great Ashoka possessed a more complex and subtle personality. The primary sources of his reign are also divided. Tradition from Buddhist texts such as Ashokavadana in Sanskrit and Deevapansh and Mahavansh (originated centuries after his death) in Pali may be considered more eulogistic, exaggerating the powers of the Buddhist religion to change the heart of even the most wicked person. The epigraphs written in Brahmi and Kharoshthi scripts on the rock and pillar edicts across the subcontinent of India are themselves the voice of Ashoka and constitute the most significant written evidence, documents, and vast collections of ancient Indian history that cannot be forgotten. These edicts shed light on his policy of dhamma (Pali; Sanskrit: dharm), an ethical code of conduct aimed at disseminating it throughout his empire.

A comprehensive analysis reveals that the personality of the great Ashoka was notably more complex and nuanced. Even the primary sources related to his reign are contradictory. The traditions stemming from Buddhist texts, such as the 'Ashokavadana' in Sanskrit and the 'Dipavamsa' and 'Mahavamsa' in Pali (composed centuries after his death), appear to be quite complementary; these writings frequently enhance the power of Buddhism, portraying it as capable of transforming the hearts of even the most wicked individuals. Engravings written in the Brahmi and Kharoshthi scripts on rocks and pillars across the Indian subcontinent, showcasing Ashoka's unique perspective, constitute the most significant assembly of written evidence, records, and documentation in ancient Indian history; a legacy that will endure forever. These carvings shed light on his 'Dhamma' policy (a Pali term, known as Dharma in Sanskrit), an ethical principle he sought to disseminate throughout his vast empire.

This study examines the concepts of the 'Killer' and the 'Healer' through an analysis of key primary sources. This effort raises several significant questions, such as the historical realities of Ashoka's reign and the parallels between the depictions in his inscriptions and those present in Buddhist narratives. This study necessitates a varied approach: first, it includes a literature review on Buddhist principles, especially an evaluation of their spiritual objectives, which also questions their historical validity. Moreover, it requires an in-depth analysis of Ashoka's inscriptions/epigraphs to enable a clear comprehension of his self-portrayal and the various facets of his 'Dhamma' policy Thirdly, it consists of results from modern scholars' analyses of these core materials. Recent scholarly studies offer deeper, more detailed perspectives on Ashoka's story, his motivations, and his achievements, going beyond mere superficial evaluations.

This study's main argument posits that the idea of the 'Killer' serves as a literary device grounded in the historical brutality of the Kalinga War. This depiction of the 'Killer' was intentionally and thoughtfully created by Buddhist writers, whose main goal was to highlight the ethical importance of Ashoka's new spiritual journey. In opposition to this notion, the depiction of the 'Healer' signifies a deliberate effort to mould Ashoka's public image. Such representation is communicated through inscriptions and archaeological finds, showing attempts to develop socio-political ethics and unity that rested not only on truth but also on practical necessity from a political perspective. Of course, Ashoka's 'Dhamma' was inspired by Buddhism; nevertheless, it was specifically distanced from any specific sects to ensure the security and stability of such a vast empire. As for other reasons, there is another interesting point to consider in this context. Although Ashoka's transformation from a cruel king into a saint-like figure might seem simple and logical, in fact, it is a much deeper and more complex process. Specifically, Ashoka sought not only to unite his large empire through socio-political unity but also to teach people to feel morally responsible for their behaviour. The achievements and constraints of this pursuit still provide us with significant insights to this day.

This research will first set the historical context of the Mauryan Empire; then, it will examine

Buddhist legends and the Kalinga War, in which Ashoka is depicted as a 'Great Slayer.' Afterwards, it will analyse the idea of the Healer' through an in-depth study of the 'Dhamma policy' recorded in the edicts. In another part of this study, the particular influence of Ashoka's support for Buddhism will be assessed. Ultimately, it will provide a conclusive overview of Ashoka's 'dual legacy' and examine. Finally, it will present a definitive summary of Ashoka's 'dual legacy' and analyse the key points of divergence among modern scholars.

2. The Historical Context: The Mauryan Empire at its Zenith

To understand Aśoka's deeds, it is essential to recognise the extent and character of the empire he inherited. The Mauryan Empire (c. 322-185 BCE), established by his grandfather Chandragupta Maurya, was the initial and one of the most extensive native empires in Indian history. Chandragupta, guided by the clever political strategist Kautilya (or Chanakya), writer of the political work Arthaśāstra, toppled the Nanda dynasty and founded his capital at Pmaliputra (current Patna).[1] He extended his territory to the west, notably challenging Seleucus I Nicator, a successor of Alexander the Great, and subsequently allying with him, thus safeguarding the empire's northwestern border. The Mauryan government, as depicted in the Arthaśāstra and supported by Greek narratives from Megasthenes, was extremely centralised and bureaucratic.[2]

It comprised a powerful standing army, a network of spies, and a sophisticated administrative system for tax collection and governance. The social structure was diverse, comprising various ethnic, linguistic, and religious groups. While the Brahmanical way of life had deep roots, this period also witnessed the emergence of ṣramaṇic schools of thought such as Buddhism and Jainism, which challenged the authority of the Vedic tradition and offered alternative ways to attain liberation.[3]

Aśoka's father, Bindusara, ruled the empire but did not expand its borders much. In the Buddhist texts, Aśoka's succession is described as a series of struggles. According to the Mahāvaṁsa, Aśoka, who was a viceroy at Ujjain, rushed back to Pataliputra upon learning of his father's illness and grabbed the crown by killing all 99 of his half-brothers, leaving only his one full brother Tissa alive.[4] This story of an aggressive struggle for power became the basis for Aśoka's nickname, Chandāśoka. While the story about the 99 brothers might be a bit exaggerated, it is well known that there were many instances of rival claimants to the throne, and so this story was not implausible.

He became emperor around 268 BC and faced the daunting task of managing a vast and complex empire. The beginning of his rule was marked by efforts to consolidate and assert his power within the boundaries of this enormous empire, and this, of course, involved the traditional means of Mauryan statecraft, such as military force and effective administration.

3. The 'Killer': Deconstructing the Narrative of Caṇḍāśoka (Aśoka the Fierce)

The image of Aśoka as a ruthless tyrant is derived almost entirely from two sources: Buddhist literary traditions and the account of one single, though catastrophic, military campaign described in his own words. A critical analysis reveals that the former is largely a pious fabrication. At the same time, the latter is a stark admission of historical fact that serves as the pivot for his entire reign.

3.1 The Legendary Fratricide and 'Aśoka's Hell'

Aśokāvadāna, an assemblage of legends compiled several centuries after his death, tells the most lurid tales of Aśoka's brutality. This text presents a chilling portrait of the emperor before his conversion to Buddhism. It echoes the story of the fratricide of his having killed his 99 brothers to secure the throne.[5]

More fantastically, it describes his creation of an earthly 'hell', a beautifully adorned palace of torture designed to ensnare and execute unsuspecting victims. An executioner named Girika was placed in charge, with orders from Aśoka to torture and kill anyone who entered, including Girika himself if Aśoka so commanded. The legend concludes with a Buddhist monk, Samudra, entering the palace, who is thrown into

a cauldron of boiling water and human remains, yet remains unharmed by his spiritual merit - an episode that marks the beginning of Asoka's conversion to Buddhism, moved as he is by remorse.

However, while these stories are powerful narratives, they lack cogent historical corroboration. Such claims are not supported by archaeological evidence, nor is there any mention of it outside of these Buddhist texts. More dramatically, Aśoka's own edicts contradict the fratricide story. In Rock Edict V, for example, he expresses concern for the welfare of his 'brothers and sisters and other relatives' living in Pataliputra and other towns.[6] Such findings go against the grain of the 'killer' theory and strike at the heart of the legend of a wholesale slaughter.

3.2 The Hagiographical Imperative: The Greater the Sinner, the Greater the Saint

Recent scholarship, especially the work of John S. Strong, has established that these stories should be understood not as historical documents but rather as hagiographies intended to convey a profound theological message.[7]

From this standpoint, the greater Aśoka's transgressions as depicted in the stories, the greater his conversion becomes, thus reflecting the glory of Buddhism and its teaching. The role of Chandāśoka here serves as the dramatic opposite of Dhammāśoka. Such a 'sinner-to-saint' narrative type is common for most religions and cultures around the globe, as illustrated by the example of Aṅgulimāla in the Pali Canon, another notorious serial killer whose fingers made a garland and who was later converted by the Buddha.[8]

Thus, the story of Aśoka can be seen as an expansion of Aṅgulimāla's story on an imperial scale. Such narratives played an important role in Buddhism because they helped establish a royal paradigm that fostered the relationship between monks and their supporters among the masses, providing an efficient means of cooperation between the Buddhist Saṅgha and the laity.

3.3 The Historical Core: The Kalinga War and its Aftermath

Although the tales involving fratricide and the palace of torture may be fictitious additions, the 'Killer' image remains embedded within the authentic context of the Kalinga War. It was in the eighth year of his rule that Aśoka launched a significant war campaign against Kalinga, a wealthy kingdom on the eastern coast of India, now known as Odisha, sometime around 260 BCE. The geographical significance of Kalinga in providing access to Southeast Asia made it a practical yet very brutal choice for invading, contributing to the establishment of the power and influence of the Mauryan Empire. Unlike the events in the Aśokāvadāna, the Kalinga war is documented by Aśoka himself in what is perhaps his most famous and moving inscription, Major Rock Edict XIII. The edict provides a chilling account of the consequences of the war:

''When he had been consecrated eight years, the Beloved of the Gods, the king Piyadasi [Aśoka's typical self-referential title], conquered Kalinga. A hundred and fifty thousand people were deported, a hundred thousand were killed, and many times that number perished. Afterwards, now that Kalinga was annexed, the Beloved of the Gods very earnestly practised Dhamma, desired Dhamma, and taught Dhamma. On conquering Kalinga, the Beloved of the Gods felt remorse, for when an independent country is conquered, the slaughter, death, and deportation of the people is extremely grievous to the Beloved of the Gods and weighs heavily on his mind.''[9]

This inscription is unusual, being an instance of rare admission of guilt and repentance by a triumphant monarch of the ancient world. The enormity of the violence, numbering a hundred and fifty thousand people killed or deported, is staggering. The edict exemplifies his sorrow, suggesting that the suffering afflicted not just combatants but also 'Brahmans, ascetics, and householders' and that 'injury, death, or deportation' of loved ones was felt by all.[10]

It is this personal, public expression of remorse that marks the definitive turning point of his reign. The Kalinga war was the last act of Chandāśoka. The remorse it engendered gave birth to the policies of Dhammāśoka, the 'Healer.'

4. The 'Healer': The Policy of Dhamma and its Epigraphic Evidence

Aśoka's response to the horror of Kalinga was not to renounce his throne but to fundamentally redefine the purpose of his rule. He replaced the policy of military conquest (digvijaya) with a new policy of conquest by righteousness (dhammavijaya). This new vision was articulated through his unique policy of Dhamma, which he painstakingly had inscribed on rocks and pillars across his empire for all his subjects to see.

4.1 The Nature and Content of Aśoka's Dhamma

What exactly was Aśoka's Dhamma? A closer scrutiny of the edicts discloses that it was not a religion in the sectarian sense. While Aśoka himself became a lay follower of Buddhism (upāsaka), his public Dhamma was presented as a universal ethical code applicable to all subjects, regardless of their religious affiliation, whether Brahman, Buddhist, Jain, or Ājīvika. The edicts do not mention the core metaphysical doctrines of Buddhism, such as the Four Noble Truths, the Eightfold Path, Nirvāṇa, or the concept of Anattā (no-self). Instead, they focus on a set of social and ethical behaviours. The core components of Dhamma included non-violence (avihiṃsā), which enlarged to include the prohibition of animal sacrifice and restrictions on slaughter for the royal kitchens, respect for elders and superiors, proper courtesy towards Brahmans, ascetics, parents, and teachers, and tolerance for all religious sects and a call for inter-faith harmony. Major Rock Edict XII clearly states that one should not honour only one's own sect and decry others, for by doing so, one injures one's own sect. This formulation recommends that Dhamma was, in essence, an attempt to distil a common ethical denominator from the various religious and philosophical traditions of India, with a strong emphasis on the practical ethics prominent in Buddhism.

4.2 Dhamma as a Tool of Imperial Integration

While Aśoka's personal conviction appears genuine, modern historians, most notably Romila Thapar, have argued that the policy of Dhamma also served a crucial political purpose of unification.[11]

Thapar suggests that the Mauryan Empire was a vast and diverse entity, composed of centralised core regions, semi-autonomous provinces, and tribal territories on the frontiers. Maintaining cohesion over such a heterogeneous polity together through force alone was precarious and expensive. Thapar further argues that Aśoka formulated Dhamma as a new social and political ideology to instil a sense of shared identity and social responsibility among his disparate subjects. By promoting a common ethical code, he sought to create a 'middle ground' that would unify diverse social and religious groups, thereby strengthening the empire's cohesion. Dhamma was thus a brilliant instrument of political integration, using moral persuasion as a complement to, and partial replacement for, military coercion. It was an ideology that sought to transform subjects into citizens with a shared civic virtue.

4.3 The Instruments of Dhamma: Edicts and Mahāmattas

To promulgate his philosophy, Aśoka employed innovative communication strategies - the most visible of which were his edicts carved on prominent rocks along trade routes and on monumental sandstone pillars in major cities. The edicts were written in local Prakrit languages and scripts so that his officials and literate subjects could read, understand, and imbibe them.[12]

The placement of the edicts was strategic, ensuring the message of Dhamma reached the furthest corners of his empire, from modern-day Afghanistan in the west to Andhra Pradesh in the south. Furthermore, in the thirteenth year of his reign, Aśoka also created a new class of officials known as the Dhamma-mahāmattas (Officers of Dhamma). According to Rock Edict V, their duties were to work among all sects for the establishment and promotion of Dhamma and for the welfare and happiness of those devoted to it.[13]

They were tasked with overseeing justice, ensuring the fair treatment of prisoners, and managing charitable donations. These officials were Aśoka's executive arm for his ethical policy, an extraordinary effort to institutionalise morality

within the state bureaucracy. However, some edicts suggest their activities could be seen as intrusive, hinting at a potential tension between moral guidance and state surveillance.[14]

4.4 Welfare Statecraft: Public Works and Animal Rights

What makes Aśoka's role as a 'Healer' stand out is that his abstract ethical teachings extended to concrete welfare projects. In Pillar Edict VII, he proudly mentions his achievements:

''On the roads, I have had banyan trees planted, which will give shade to beasts and men, and I have had mango groves planted. At intervals of eight kos, I have had wells dug and rest-houses built. And I have had many watering-places made everywhere for the use of beasts and men.''[15]

His concern for animal welfare resulted in the establishment of medical facilities for both humans and animals, not just in his own kingdom, but also beyond, as is evident from Major Rock Edict I, which illustrates his ban on festival gatherings that involved animal slaughter and a drastic reduction in the number of animals killed for the royal kitchens. Pillar Edict V provides a detailed list of protected species, including parrots, wild geese, and rhinoceroses, and prohibits the killing of young animals and nursing mothers. Such efforts constitute one of the earliest known declarations of state-sponsored conservation and animal rights in world history.

5. Aśoka as Patron and Propagator of Buddhism

While his public policy of Dhamma was non-sectarian, Aśoka's personal commitment to Buddhism is well-documented, primarily in Buddhist texts but also hinted at in his inscriptions. His role as a patron was crucial to the transformation of Buddhism from a regional Indian sect into a major world religion.

5.1 The Third Buddhist Council and the Purification of the Sangha

The Sri Lankan chronicles, Mahāvaṁsa and Dṁpavaṁsa, recount that Ashoka convened the Third Buddhist Council at Pāṭmaliputra around 250 BCE. According to these sources, the council–presided over by the elder monk Moggaliputta-Tissaṃaimed to purify the Buddhist Saṅgha by refuting heretical doctrines and removing corrupt or non-conformist monks who had joined due to the prestige of royal patronage.

Although historians debate the accuracy of this account, because the event is not mentioned in Aśoka's own edicts, epigraphic evidence supports its broader objective. In particular, inscriptions discovered at Sarnath, Sanchi, and Kausambi echo similar concerns. In the so-called Schism Edict, Aśoka warns that any monk or nun who attempts to divide the Saṅgha will be forced to wear white robes–the dress of laypeople–and expelled from the monastery. This reflects his active role in safeguarding the unity and discipline of the monastic community, an intervention that had lasting consequences for the consolidation of Theravāda orthodoxy.

5.2 The Dhamma Missions: Spreading the Buddha's Word

According to Buddhist texts, after the Third Council, Aśoka initiated nine missionary missions to spread Buddhism worldwide. Some of the missions were sent to distant places such as Kashmir, Gandhara, the Himalayas, western India, and Suvaṇṇabhūmi, which refers to mainland Southeast Asia. The most well-known and historically proven of these missions was the one led by Aśoka's own son, Mahinda, whose efforts were instrumental in spreading Buddhism across the island nation. This was followed by the daughter of Aśoka, Saṅghamittā, who further reinforced Buddhism in the court of King Devanampiya Tissa in Sri Lanka. This mission led to the establishment of Buddhism in Sri Lanka, which has remained a bastion of the Theravāda tradition ever since. Rock Edict XIII also states that his dhammavijaya (conquest by Dhamma) was successful among the Greek kings to the west, naming Antiochus II of the Seleucid Empire, Ptolemy II of Egypt, Antigonus Gonatas of Macedonia, Magas of Cyrene, and Alexander of Epirus.[16]

While it is unlikely that these Hellenistic rulers converted, it indicates that Aśoka sent envoys to these courts, marking an early and ambitious attempt at cross-cultural diplomatic and philosophical exchange.

5.3 Architectural Sponsorship: The Tale of 84,000 Stupas

The Aśokāvadāna attributes to Aśoka the remarkable accomplishment of constructing 84,000 stūpas (reliquary mounds) across his empire, one for every 'atom of the Dharma.' Though the figure is obviously symbolic, signifying vastness, archaeological findings verify that Aśoka was an active constructor. He is noted for moving the bones of Buddha from their original eight stupas to many others. The magnificent sandstone pillars that are decorated with beautiful animal capital designs, such as the famous Lion Capital of Sarnath (now India's national symbol), are an example of the remarkable architectural achievements of his reign, all in an effort to spread his message.

6. Contemporary Historical Discussions and Reassessments

Scholarship in the twentieth and twenty-first centuries has progressed beyond merely accepting either the Buddhist narratives or Aśoka's portrayal of himself. Historians currently grapple with the intricacies and inconsistencies of his rule, sparking significant debates.

6.1 Romila Thapar and Dhamma as a Political Philosophy

The research conducted by Romila Thapar has been invaluable in reassessing the historical role of Aśoka, the Mauryan emperor, as she argues that Dhamma was not only used by Aśoka as a form of personal religious expression but also as a deliberate tool to unite his vast empire. She rejects the idealistic image of Aśoka as a mere dreamer or that of a detached political strategist. On the contrary, Romila paints a picture of a pragmatic and innovative monarch who realises that traditional concepts of kingship, such as Brahmanism, do not adequately serve his goal of creating unity within his vast empire. Hence, Dhamma provides him with a solution to his problem by offering an ethical framework that transcends barriers of caste, class, and religion, thereby fostering social and, ultimately, political unity within his empire.

6.2 The Question of Pacifism: A Critical Re-assessment

The idea that Aśoka became a total pacifist after the Kalinga War has been challenged. While he renounced wars of aggression, there is no evidence that he disbanded the Mauryan army. The state's coercive power remained intact. Indeed, in the very same edict where he expresses his remorse over Kalinga, he issues a stern warning to the unconquered tribal peoples living on the frontiers of his empire:

''The Beloved of the Gods...desires that they should not be afraid of him, that they should trust him, and that they should receive from him happiness, not sorrow. ...And they should understand that the Beloved of the Gods will forgive those who can be forgiven, and that he wishes to win them over by Dhamma... But the Beloved of the Gods also tells the forest tribes in his dominions that he has power even in his remorse, and he tells them to repent, lest they be killed.''[17]

As can be gleaned from the extract above, it is not the language of a pure pacifist. Rather, it is a statement by a powerful emperor who has chosen moral persuasion as his primary tool, while reserving the threat of force. His 'healing' was pragmatic; he sought to rule through Dhamma, but the imperial army remained the ultimate guarantor of order.

6.3 Aśoka's Policies and the Decline of the Mauryan Empire

Some earlier nationalist historians, like H.C. Raychaudhuri, argued that Aśoka's policies were directly responsible for the decline of the Mauryan Empire. They claimed his emphasis on non-violence weakened the military, and his pro-Buddhist policies antagonised Brahmans, leading to a Brahmanical backlash under Pushyamitra Shunga, who assassinated the last Mauryan king.[18] Most modern historians, including Thapar, dismiss this explanation and instead emphasise a range of deeper causes behind the empire's decline. They suggest that the Mauryan system of governance was highly centralised and relied heavily on the ruler's capabilities; after Aśoka, his successors proved ineffective. Additionally, maintaining a large bureaucracy and a standing army put significant pressure on the state's finances. The sheer size of the empire also made communication

slow and the administration of distant regions difficult. Therefore, the decline of the Mauryan Empire, which started soon after Aśoka's death in 232 BCE, was likely the result of intertwined economic, administrative, and political issues rather than the direct impact of the Dhamma policy.

7. Conclusion: Synthesising the Killer and the Healer

Thus, in conclusion, it would be fair to say that the story of the life of the great ruler Ashoka cannot be viewed through the lens of a man who transformed from a 'Killer' to a 'Healer'. On the contrary, he was a unique character who left an indelible impression on the history of governance and religion. The personality of Caṇḍāśoka, the tyrant who killed his brothers and kin and delighted in torture, is best understood as a literary and theological construction within Buddhist traditions, designed to magnify the redemptive power of the 'Dhamma'. While it offers a powerful narrative, it lacks historical credibility beyond the plausible, though unproven, and unfounded violence of his succession.

The historical basis of the 'Killer' narrative is the Kalinga War of 261 BC, where a ruthless event of imperial consolidation happens that Aśoka himself records. His deepest regret regarding this incident seems sincere and transformative, finally resulting in the creation of the 'Healer' narrative of his identity, which is represented in his 'Dhamma'. As being the Dhammāśoka, he was a trailblazer of the utmost calibre. His Dhamma was an impressive mix of his personal beliefs and political practicality–an ethical structure aimed at mending the scars of discord and uniting a varied empire through common principles and a balanced statesmanship rather than the sheer might of the emperorship. He initiated welfare programs, promoted acceptance, and led state-funded conservation efforts. His support was crucial in elevating Buddhism to a world religion and its internationalisation. Yet, the 'Healer' was far from a holy Immanuel Kant. He continued to be an emperor, the leader of a strong military-bureaucratic set-up. His pacifism was not absolute, and his Dhamma-mahāmattas marked an extraordinary state interference in the ethical lives of its citizens. He was a leader aiming to control morality, an endeavour whose ambition was only rivalled by its intricacy.

In conclusion, comparing 'Killer' and 'Healer' is just an oversimplification that conceals the true nature of Ashoka's achievements. On the one hand, he was a brutal ruler during the period of prosperity. On the other hand, he was a righteous ruler at some point. In addition, Ashoka was an unambiguous ruler who aimed to govern through persuasion. His rule presents a timeless examination of the challenges and possibilities of enlightened statesmanship.

Associate Professor
Aryabhatta College
University of Delhi

References:

1. Patrick Olivelle, trans., King, Governance, and Law in Ancient India: Kautilya's Arthaśāstra (Oxford: Oxford University Press, 2013), Introductory Section.
2. Romila Thapar, Aśoka and the Decline of the Mauryas, 3rd ed. (New Delhi: Oxford University Press, 2012), pp. 70-85.
3. A. L. Basham, The Wonder That Was India (London: Sidgwick & Jackson, 1954), pp. 243-248.
4. Wilhelm Geiger, translator, The Mahāvaṃsa or The Great Chronicle of Ceylon (London: Pali Text Society, 1912), Chapter V.
5. Strong, The Legend of King Aśoka, pp. 206-210.
6. Romila Thapar, Aśoka and the Decline of the Mauryas, p. 320 (translation of Major Rock Edict V).
7. Strong, The Legend of King Aśoka, pp. 16-18.
8. T.W. Rhys Davids, trans., 'The Angulimala Sutta,' in Buddhist Suttas, The Sacred Books of the East, Vol. 11 (Oxford: Clarendon Press, 1881).
9. Thapar, Aśoka and the Decline of the Mauryas,

pp. 363-365 (translation of Major Rock Edict XIII).
10. Ibid.
11. Romila Thapar, The Mauryas Revisited (Calcutta: K.P. Bagchi & Company, 1987), pp. 15-30.
12. Upinder Singh, A History of Ancient and Early Medieval India: From the Stone Age to the 12th Century (Delhi: Pearson Longman, 2008), pp. 331-333.
13. Hultzsch, Inscriptions of Asoka, pp. 9-11 (Major Rock Edict V).
14. Thapar, Aśoka and the Decline of the Mauryas, pp. 151-155.
15. Ibid., p. 384 (translation of Pillar Edict VII).
16. Nayanjot Lahiri, Ashoka in Ancient India (Cambridge, MA: Harvard University Press, 2015), pp. 215-220.
17. Romila Thapar, The Mauryas Revisited (Calcutta: K.P. Bagchi & Company, 1987), pp. 15-30.
18. H.C. Raychaudhuri, Political History of Ancient India (Calcutta: University of Calcutta, 1923), pp. 305-310.

Bibliography

- Allen, Charles. *Aśoka: The Search for India's Lost Emperor.* London: Little, Brown, 2012.
- Basham, A. L. *The Wonder That Was India: A Survey of the Culture of the Indian Sub-Continent Before the Coming of the Muslims.* London: Sidgwick & Jackson, 1954.
- Geiger, Wilhelm (trans.). *The Mahāvaṁsa or The Great Chronicle of Ceylon.* London: Pali Text Society, 1912.
- Hultzsch, Eugen. *Inscriptions of Asoka.* Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. 1. Oxford: Clarendon Press, 1925.
- Lahiri, Nayanjot. *Aśoka in Ancient India.* Cambridge, MA: Harvard University Press, 2015.
- Olivelle, Patrick, trans. *King, Governance, and Law in Ancient India: Kautilya's Arthaśāstra.* Oxford: Oxford University Press, 2013.
- Raychaudhuri, H.C. *Political History of Ancient India: From the Accession of Parikshit to the Extinction of the Gupta Dynasty.* Calcutta: University of Calcutta, 1923.
- Rhys Davids, T.W. (trans.). *Buddhist Suttas. The Sacred Books of the East, Vol. 11.* Oxford: Clarendon Press, 1881.
- Singh, Upinder. *A History of Ancient and Early Medieval India: From the Stone Age to the 12th Century.* Delhi: Pearson Longman, 2008.
- Strong, John S. *The Legend of King Aśoka*: A Study and Translation of the Aśokāvadna. Princeton, NJ: Princeton University Press, 1983.
- Thapar, Romila. *Aśoka and the Decline of the Mauryas.* 3rd ed. New Delhi: Oxford University Press, 2012.
- Thapar, Romila. *The Mauryas Revisited.* Calcutta: K.P. Bagchi & Company, 1987.
- Wolpert, Stanley. *A New History of India.* 8th ed. New York: Oxford University Press, 2009.

Research Paper

Devaki Mishra

The Dialectics of Word and Essence: A Comparative Investigation of Maṇḍana Miśra's Sphoṭasiddhi and Vācaspati Miśra's Tattvabindu

This paper presents a comprehensive comparative investigation of the epistemological, ontological, and metaphysical debates between Maṇḍana Miśra's *Sphoṭasiddhi* and Vācaspati Miśra's *Tattvabindu.* Emerging from the orthodox (*āstika*) intellectual environment of classical India, both treatises seek to establish the self-validating authority of verbal testimony (*śabda*) while presenting radically opposing cognitive architectures. Maṇḍana Miśra defends the grammarian (*Vaiyākaraṇa*) doctrine of the *sphoṭa*, i.e., the partless, indivisible linguistic unit manifested by transient sounds, and elevates it to the level of the ultimate metaphysical absolute (*Śabda-Brahman*). Vācaspati Miśra, writing from the Bhāṭṭa Mīmāṃsā tradition, critiques this model, advancing a compositional phonemic framework (*varṇavāda*) where meaning is synthesized sequentially through memory impressions (*saṃskāra*). By analyzing their shared orthodox foundations alongside their structural divergence on syntactic processing, this study highlights the perennial tension between Gestalt holism and compositional formal semantics.

The classical Indian debate concerning the locus of linguistic signification and the cognitive mechanics of verbal comprehension is defined by the intellectual tension between two landmark treatises: the *Sphoṭasiddhi*, authored by the grammarian-philosopher Maṇḍana Miśra, and the *Tattvabindu*, composed by the multi-system commentator Vācaspati Miśra. Both texts emerge from an orthodox (*āstika*) intellectual environment that views the Sanskrit language not merely as a human convention but as a transcendent, eternal instrument of cosmic and ritual reality. Despite their ultimate divergence on the existence of the *sphoṭa* (the indivisible linguistic essence), Maṇḍana and Vācaspati share foundational tenets that unite them against heterodox schools, particularly the Buddhist nominalists and the materialist Cārvākas.

The text-level interaction between these works is explicit and historically grounded. Vācaspati Miśra's *Tattvabindu* systematically reviews the *Vaiyākaraṇa* doctrine of *sphoṭa*, primarily as expounded by Bhartṛhari and Maṇḍana Miśra, and systematically amplifies and reaffirms Kumārila Bhaṭṭa's criticism of the *sphoṭa* doctrine. More than half a millennium later, the medieval commentator Parameśvara II, in his authoritative commentary titled *Tattvavibhāvanā*, observed that the first part of the *Tattvabindu* contains a direct point-by-point refutation of the views of Maṇḍana Miśra as expounded in the *Sphoṭasiddhi.* By citing karikas and prose passages directly from Maṇḍana's work, Vācaspati establishes a rigorous dialectic that forces both the grammarian and the ritualist traditions to clarify their semantic and cognitive assumptions.

The primary point of agreement between the two treatises is the belief in the eternality of both word (*śabda*) and meaning (*artha*). Grounded in the classical traditions of Mīmāṃsā (hermeneutics)

and Vyākaraṇa (grammar), both authors defend the premise that the connection between a linguistic signifier and its signified content is primordial and permanent. In his *Mīmāṃsā Sūtras*, the sage Jaimini characterizes this relationship as *autpattika*, indicating that the bond between word and meaning is primordial, having no historical beginning or human author. In the *Tattvabindu*, Vācaspati Miśra asserts that preserving this uncreated relationship is essential to maintaining the Veda's independent, self-validating authority (*svataḥ prāmāṇya*) against the threat of conventionalism. Maṇḍana Miśra agrees that linguistic units are eternal, though he applies this concept of eternality to the *sphoṭa*--which he correlates with the Vedic concept of *śabda-brahman*. Thus, both texts defend verbal testimony as an autonomous source of valid knowledge (*pramāṇa*), indicating that hearing a meaningful utterance can produce a valid, direct cognition (*śābda-bodha*) that cannot be achieved through sensory perception or logical inference alone.

Additionally, both authors employ a realist theory of meaning, assuming that words correspond directly to real, objectively existing entities rather than to mere mental fabrications or a negation of opposites, as advanced by the Buddhist *apoha* (exclusion) theory. Vācaspati and Maṇḍana agree that words primarily denote universals (*jāti*) rather than specific, transient individuals. This position aligns with Bhāṭṭa Mīmāṃsā, which posits that a word like ''cow'' refers to the universal ''cowness'' (*gotva*), thereby allowing the word to encompass any cow across past, present, and future timelines. Viewing meaning as an eternal universal (*nitya jāti*) guarantees the perpetual connection between word and meaning. Finally, both authors employ a shared psychological baseline, acknowledging that because speech is spoken sequentially over time, the preceding segments must be preserved as mental impressions (*saṃskāra*) in the listener's mind until the final segment is perceived, facilitating the emergence of a composite understanding.

Despite these shared foundations, Vācaspati Miśra and Maṇḍana Miśra disagree on the most fundamental question of linguistic ontology: what is a ''word'' and how does it carry meaning? Coined by grammarians, the term *sphoṭa* refers to an undivided, partless linguistic totality that is separate from the sequence of physical sounds (*dhvani*) or letters (*varṇa*) and carries meaning directly. Maṇḍana Miśra begins the *Sphoṭasiddhi* by asking: ''What does 'word' or *pada* mean?'' He dismisses the assumption that a word is merely a collection of phonetic letters, contending that individual phonemes pronounced one after another cannot be the final carriers of meaning. He asserts that the term ''word'' refers to ''that which causes the cognition of an object's idea,'' signifying the immediate source of understanding, which is the underlying unity manifested by the letters, i.e., the *sphoṭa*. Maṇḍana expresses this by explaining that we understand the meaning from the word ''cow'', not from residual impressions or from the individual phonemes like *g*, *o*, and the rest. The physical sounds heard are temporary and variable, but they point to a single, unchanging *sphoṭa* perceived all at once.

In the *Tattvabindu*, Vācaspati Miśra presents the opposite view: the word is simply a sequence of phonemes (*varṇa*) that have meaning when organized through convention. He maintains that letters, when regarded as phoneme-types, are eternal and possess the capacity (*sakti*) to convey meaning, rendering a separate entity like *sphoṭa* redundant. Vācaspati's refutation of *sphoṭa* uses a devastating dilemma: are the phonemes different or non-different from the *sphoṭa*? If one phoneme is non-different from the *sphoṭa*, then that single phoneme would be competent to convey the entire meaning, rendering the remaining phonemes obviously meaningless and redundant. On the other hand, if the phonemes are different from the *sphoṭa*, there is no logical explanation for why they should manifest the *sphoṭa*, nor why there should be an exclusive association between a particular sound sequence and a specific *sphoṭa*. Because *sphoṭa* is defined as partless and indivisible, the idea that it is ''progressively revealed'' by the succession of phonemes does not hold good, as something devoid of parts and properties cannot have stages of

disclosure. To guess something as *sphoṭa* apart from the letters is opposed to all experience; when we hear *gauḥ*, we do not perceive anything other than the three constituent letters, i.e., *g*, *au*, and *visarga*.

The ontological disagreement over the nature of words extends directly to how each author explains the unity of sentence meaning. Maṇḍana's approach is holistic, viewing a sentence (*vākya*) as a complete, self-contained unit of meaning, corresponding to what contemporary psychology refers to as a Gestalt perspective: the whole is perceived directly and is not merely the sum of its parts. He notes that just as successive glances prepare an examiner's mind until the true nature of a gem is grasped in a single, complete cognition, the sequential sounds of speech plant impressions until the complete, indivisible sentence-essence is perceived in a flash of intuitive insight. Any syntactic divisions we make, such as subject, verb, and object, are purely analytical or pedagogical; the actual understanding occurs ''all at once'' as a single, unified cognition.

Vācaspati, by contrast, adopts an analytic and compositional perspective. In the Bhāṭṭa Mīmāṃsā theory he supports, the coherence of a sentence's meaning arises from the semantic relationships among the meanings of the words, rather than from an inherent, mystical unity. He defends Kumārila's *abhihitānvayavāda* (the theory of relation of denoted meanings), which states that words first denote their own individual, literal meanings, operating under three strict syntactic requirements:

- **Mutual Anticipation (*ākāṅkṣā*):** The grammatical and logical expectancy that words have for one another, such as a transitive verb requiring a subject and an object.
- **Semantic Compatibility (*yogyatā*):** The logical fitness of word meanings (e.g., rejecting ''watering with fire'' because fire is semantically incompatible with watering).
- **Temporal Proximity (*sannidhi*):** The requirement that words be uttered within a short interval so that the listener's memory can link them.

To reinforce this framework, Kumārila Bhaṭṭa and Vācaspati argue that meaningfulness cannot be the sole criterion of a word; if that were the case, smoke would have to be classified as a word because smoke indicates the presence of fire. Rather, a word must be defined as that sound which can be spoken or heard and is conventionally tied to a meaning, building its unity through syntactic relationships rather than an indivisible *sphoṭa*.

To further ground this comparative critique, it is important to observe how each architecture addresses semantic anomaly. Under Vācaspati's compositional framework, if an utterance violates semantic compatibility–as in the classic example of ''watering with fire''–the mind isolates the error at the specific point of word juncture. Because meaning is built step-by-step, the syntax functions like a logical circuit where an invalid individual link breaks the synthesis, yet the preceding semantic items remain perfectly coherent. For Maṇḍana's holistic model, however, a semantic incompatibility threatens to destabilize the entire sentence unit simultaneously. Since the sentence-*sphoṭa* is perceived as an organic whole, an anomaly cannot be isolated to a single component; the entire linguistic block must fail to bloom into a cohesive flash of intuitive insight, highlighting a radical difference in how both authors conceptualize cognitive processing and communicative failure.

To explain how the mind treats these discrete components so rapidly that they appear as a unified whole, the *Tattvabindu* assigns a special power to the cognitive impressions (*saṃskāra*) left by sequential perception. Vācaspati references the three classical paths of cognitive encoding, noting that the internal disposition rich in memory-awakening power is deposited by three specific types of cognitions: *paṭu-pratyaya* (a sharp, vivid, or intense cognition), *abhyāsa-pratyaya* (a repeated, habituated cognition), and *ādara-pratyaya* (a respectful, highly attentive cognition). These three paths guarantee that the mental impressions left by transient phonemes are sufficiently robust to be recalled and synthesized by the listener's intellect at the moment the final sound is processed, producing the unified understanding without requiring any non-sensory *sphoṭa*.

Furthermore, Vācaspati employs Upavarṣa's *pratyabhijñā* (recognition) theory to demonstrate phonemic stability. According to Upavarṣa, letters are not of a momentary nature because, at the time of hearing them, they are recognized (*pratyabhijñā*) not merely as something similar to what was previously perceived, but as identical to them. He observes that even when we utter the word ''Cow'' for a thousand and one times, we do not perceive that the word on each occasion is a different individual; rather, we perceive that the exact same eternal word-type is being pronounced. While physical entities are distinct individual substances, linguistic phonemes are eternal types. When varying speakers pronounce a word with different pitches, volumes, or accents, what remains constant is the listener's recognition of the same eternal phoneme sequence type.

A critical evaluation of the *Sphoṭasiddhi* and the *Tattvabindu* reveals that Maṇḍana Miśra and Vācaspati Miśra are often addressing different facets of the same linguistic phenomenon. In modern terms, Vācaspati provides an algorithmic, step-by-step narrative of comprehension, while Maṇḍana offers a state-of-consciousness account of the final state of knowledge. The historical value of this Sanskrit debate lies in how both sides pushed each other to achieve greater analytical precision. Maṇḍana's *Sphoṭasiddhi* forced the Mīmāṃsakas to refine their theory of *abhihitānvaya* and explain how letters and memory can convey sentence meaning without a *sphoṭa*. Conversely, Mīmāṃsā critiques forced *sphoṭa* theorists to clarify that *sphoṭa* is not a separate physical substance (*dravya*) but the dynamic shape of the word or sentence itself, defending their theory against accusations of unnecessary duplication. By preserving these two distinct paths, classical Indian philosophy offers a rich legacy that continues to resonate with modern debates in cognitive science, Gestalt psychology, and compositional formal semantics.

Assistant Professor
Sri Kalabyraveshwara Swami
Ayurvedic Medical College, Bengaluru

References:

- Bhartṛhari. *Vākyapadīya*. Edited with the commentary *Ambākartrī* of Pt. Raghunatha Sharma. Sarasvati Bhavan Granthamala Series, No. 91, Varanasi, 1968.
- Devasthali, G.V. *Mīmāṃsa: The Ancient Indian Science of Sentence Interpretation*. Sri Satguru Publications, Delhi, 2nd edition, 1991.
- Kumārila Bhaṭṭa. *Ślokavārttika*. Edited with the commentary *Nyāyaratnākara* of Pārthasārathimiśra by Dwarikadas Sastri. Tara Publications, Varanasi, 1978.
- Maṇḍana Miśra. *Sphoṭasiddhi*. Edited by S.K. Ramanatha Sastri. Madras University Sanskrit Series, No. 6, 1931.
- Raja, K. Kunjunni. *Indian Theories of Meaning*. The Adyar Library and Research Centre, Madras, 1963.
- Vācaspati Miśra. *Tattvabindu*. Edited by V.A. Ramaswami Sastri with the commentary *Tattvavibhāvan* of Parameśvara II. Annamalai University Sanskrit Series, No. 3, 1936.

शोध-पत्र

नवजागरणकालीन पत्रिकाएँ और स्त्री-प्रश्न : स्त्री की बदलती उपस्थिति का अध्ययन

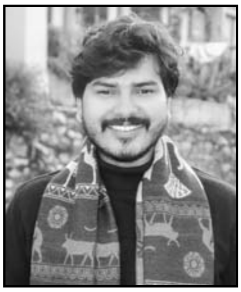

विकास कुमार

शोध सार

19वीं सदी में नवजागरण की शुरुआत एक सुधारवादी-धार्मिक आंदोलन के रूप में हुई थी, लेकिन 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में यही आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में उभर कर सामने आया। यह वह संधिकाल था जहाँ औपनिवेशिक आधुनिकता, पाश्चात्य शिक्षा और भारतीय परंपराओं के टकराव तथा समन्वय से एक नई सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का जन्म हो रहा था। इस नवजागरण के केंद्र में जो सबसे ज्वलंत प्रश्न था, वह था 'स्त्री प्रश्न'। मध्यकाल की रूढ़ियों, पर्दाप्रथा, सतीप्रथा, बाल-विवाह और अशिक्षा के अंधकार में डूबी स्त्री को आधुनिकता के आलोक में लाने का प्रयास इसी दौर में शुरू हुआ। मुद्रण कला के विकास और पत्रकारिता के उदय ने इस वैचारिक आंदोलन को गति दी। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में भारत में पत्र-पत्रिकाओं ने एक नए 'पब्लिक स्फीयर' (लोकवृत्त) का निर्माण किया। नवजागरणकालीन पत्रिकाओं ने न केवल पुरुषों के सुधारवादी दृष्टिकोण को मंच दिया, बल्कि पहली बार स्त्रियों को स्वयं अपनी आवाज उठाने, अपनी पीड़ा व्यक्त करने और अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का एक ऐतिहासिक धरातल प्रदान किया। यह शोध आलेख नवजागरणकालीन पत्रिकाओं के आलोक में स्त्रियों की उस बदलती दुनिया, उनकी वैचारिक कशमकश, संघर्ष और चेतना के क्रमिक विकास का विस्तृत विश्लेषण करता है।

बीज शब्द

नवजागरण, स्त्री , लोकवृत्त, राष्ट्रीय आंदोलन।

मूल आलेख

आधुनिक भारत के इतिहास में 19वीं सदी की अपनी विशिष्ट पहचान है। यह दौर वह कालखंड है, जब समाज सुधार के लिए कृत संकल्प अनेक बौद्धिक धाराएँ अस्तित्व में आती हैं। अपनी स्वरूपगत भिन्नता के बावजूद इनके मूल में वर्तमान की बदहाली से मुक्ति की आकांक्षा निहित है। इस आकांक्षा से प्रेरित इन धाराओं को संयुक्त रूप से भारतीय नवजागरण के नाम से जाना जाता है।

यहाँ भारतीय नवजागरण से तात्पर्य उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी-राष्ट्रवादी आंदोलन से है जो भारत में 19वीं सदी के ऐतिहासिक दबावों के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई। भारतीय नवजागरण केवल धार्मिक या सामाजिक सुधारों का काल नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज के आत्म-मंथन और पुनर्रचना का दौर था। इस दौर का सबसे महत्वपूर्ण पहलू 'स्त्री-प्रश्न' का उदय था। शुरुआती नवजागरण मुख्यत: पुरुषों द्वारा संचालित था, जहाँ स्त्री सुधार का विषय तो थी, लेकिन उसकी अपनी आवाज नेपथ्य में थी। पत्र-पत्रिकाओं का भारतीय नवजागरण से गहरा रिश्ता रहा है। भारतीय पत्रिकाओं का इतिहास वस्तुत: भारतीय नवजागरण का इतिहास है, इसीलिए स्त्री मुक्ति का स्वर भी हमें पत्र-पत्रिकाओं में सुनाई देते हैं। नवजागरण के शुरुआती दौर में सुधारवादी, धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों पर जोर दिया गया, जिनमें 'महिलाएं' केंद्र में थी। समाज सुधारकों को यह एहसास हुआ कि संपूर्ण समाज के विकास के लिए स्त्री शोषण और अशिक्षा जैसी समस्याओं का समाधान करना आवश्यक है।

भारतीय नवजागरण के आरंभिक दो प्रमुख केंद्र बंगाल एवं महाराष्ट्र थे। राजा राममोहन राय ने अगस्त, 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिनमें उन्होंने, जाति-भेद, छुआछूत, अंधविश्वास और रूढ़िवाद को समाप्त करने की बात कही है

और स्त्रियों की स्थिति सुधार के लिए बहुविवाह, भ्रूण हत्या तथा सती प्रथा पर भी बड़ी बेबाकी से अपनी पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे हैं। राजाराममोहन राय ने सुधारवादी आंदोलन के लिए पत्र-पत्रिकाओं को ही अपना माध्यम बनाया। महाराष्ट्र में पंडित रमाबाई, और ज्योतिबाई फुले दंपति ने स्त्री शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, शोषित वर्गों के मुक्ति की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसमें कई सुधारवादी संस्थाओं ने भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, जिनमें ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी भी शामिल है।

शुरूआती दौर की पत्रिकाएं स्त्रियों को पढ़ना-लिखना तो सिखाती थीं, लेकिन साथ ही यह भी तय करती थीं कि एक 'आदर्श स्त्री' का आचरण कैसा होना चाहिए। इन पत्रिकाओं की मुख्य चिंता यह नहीं थी कि स्त्री राजनीतिक रूप से जागरूक हो या पुरुषों के समान अधिकार मांगे, बल्कि उनकी चिंता स्त्री के नैतिक चरित्र को सुधारने की थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा 1874 ई. में निकाली गई 'बालाबोधिनी' पत्रिका भी इसी पुरुष-निर्देशित सुधारवाद का हिस्सा थी, जिसका उद्देश्य स्त्रियों को 'आदर्श गृहिणी' बनाना था। बालाबोधिनी पत्रिका के पहले अंक के सम्पादकीय में अपनी मंशा जाहिर करते हुए भारतेंदु इश्वर से प्रार्थना करते हैं कि ''मेरे हिन्दुस्तान की सारी स्त्रियाँ लिख-पढ़कर पुरुषों की समभागिनी हो जाएँ।''[1]

भारतेंदु ने बालाबोधिनी में 'स्त्री चरित्र' नामक लेख में स्त्रियों को अपने पति के प्रति समर्पित रहने के लिए मिथकीय सहारा लिया है। शिव-पार्वती, सती के प्रसंग को लेकर इस लेख में कहा गया है ''इस आख्यान से यही शिक्षा है जो पति का वाक्य नहीं मानती वह सती की भाँति नष्ट हो जाती है। स्त्री को पति से बढ़कर और किसी का अभिमान नहीं होता इससे विवाह उपरान्त की आज्ञा के बिना पिता के घर भी जाना उचित नहीं... देखो तुम लोग भी इसी शिक्षा के अनुरूप चलो पति की आज्ञा मानो...''[2] भारतेंदु भलीभांति जानते हैं—जब किसी सामाजिक नियम को धर्म या मिथक से जोड़ दिया जाता है, तो समाज उसे सहजता से स्वीकार कर लेता है और उसे चुनौती देना पाप समझने लगता है इसलिए उन्होंने मिथकीय पुट दिया ताकि स्त्रियाँ इससे सहजता से प्रभावित हों। एक अन्य 'बालाप्रबोध' नामक लेख में पौराणिक चरित्र का सहारा लेकर भारतेंदु सरस्वती के मुख से कहलवाते हैं कि ''लज्जा, दया, शील और सत उत्तम स्त्रियों का लक्षण है। ऐसी सुलक्षण स्त्री अपनी नम्रता और सुभाव करके अपने सम्बन्धियों के हृदय को आनन्द और आँखों की तारा होती है।''[3] भारतेंदु स्त्रियों के जीवन के विभन्न पहलुओं पर गहन विचार तो किया है लेकिन तत्कालीन समय के पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाए थे इस संदर्भ में बलिया वाले भाषण में उनका यह मत समीचीन है - ''लड़कियों को भी पढ़ाइए किन्तु उस चाल से नहीं जैसी कि आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है।... ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।''[4] इलाहाबाद से एक पत्रिका निकली जिसका नाम 'गृहलक्ष्मी' था, इस पत्रिका का मुख्या उद्देश्य स्त्रियों को घर की लक्ष्मी बनने में मदद करना था। बनारस से 'आर्य महिला' नाम से एक पत्रिका निकलने की जानकारी मिलती है जिसका उद्देश्य सनातन धर्म को पुनर्जीवित करना और जाति-व्यवस्था की सुरक्षा करना था।

बीसवीं सदी में इन समस्याओं को और गंभीरता से देखा जाने लगा इसका महत्वपूर्ण कारण था समाज सुधार से सम्बन्धित मुद्दों पर स्वयं स्त्रियों का आगे आना। उन्होंने स्त्रियों की समस्याओं को स्वयं स्त्रियों की दृष्टि से देखा और समाज के सामने रखा। भारतीय नवजागरण के कारण कुछ समस्यायें अंशत: हल हो चुकी थीं जैसे सती-प्रथा को कानून बनाकर बन्द किया जा चुका था। स्त्री-शिक्षा का चलन धीरे-धीरे बढ़ रहा था। कुछ समस्यायें जैसे बाल-विवाह, 'एज ऑफ कॉन्सेन्ट' बिल आने के बाद भी व्यापक बहस का मुद्दा थीं। इस दौर में 'स्त्री दर्पण' पत्रिका की शसक्त उपस्थिति दिखती है। 1909 ई. में रामेश्वरी नेहरू ने इलाहाबाद से 'स्त्री दर्पण' का सम्पादन किया।

नवजागरण काल में स्त्री-शिक्षा पर सहमति तो थी, लेकिन पुरुषों का एक बड़ा वर्ग स्त्रियों को केवल 'धार्मिक और व्यावहारिक' शिक्षा देने के पक्ष में था। पत्रिका ने इस पर चोट किया कि स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य पुरुषों की सेवा करना या घर को सजाना नहीं है, बल्कि स्त्री के अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। श्रीमती रामेश्वरी देवी नेहरू ने 'स्त्री दर्पण' के जुलाई 1915 के अंक के सम्पादकीय में पत्रिका के उद्देश्य के बारे में लिखा है -''भारतीय स्त्री को मनुष्योचित पद दिलाना ही शुरू दिन से इस पत्रिका का लक्ष्य रहा है। ...इस लक्ष्य की प्राप्ति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो स्त्रियों के प्रति पुरुषों के विचारों के परिवर्तित होने से दूसरे स्वयं स्त्री

जाति की जागृति से। दर्पण अपनी लघु चेष्टाओं द्वारा बराबर इन दोनों बातों का प्रयत्न कर रहा है। इस पत्र में जहाँ स्त्रियों के प्रति पुरुषों के कर्तव्य दिखाये जाते हैं वहां स्त्रियों का ध्यान उनके असीम उत्तरदायित्व पर भी दिलाया जाता है।''[5]

'स्त्री दर्पण' पत्रिका ने आर्थिक स्वतंत्रता की कशमकश में सबसे बुनियादी प्रहार संपत्ति के असमान वितरण पर किया और एक अत्यंत तार्किक और कानून-सम्मत बहस की शुरुआत की। पत्रिका के माध्यम से यह मांग प्रखरता से उठाई गई कि स्त्रियों की सामाजिक सुरक्षा केवल पुरुषों की सद्भावना पर निर्भर नहीं रह सकती, इसके लिए ठोस कानूनी संरक्षण आवश्यक है। लेखिकाओं ने यह अनिवार्य शर्त रखी कि महिलाओं को उनके पिता तथा उनके पति, दोनों ही मोर्चों पर पुरुषों के समान कानूनी रूप से बराबर का मालिकाना हक मिलना चाहिए। उनका मानना था कि संपत्ति का यह वैधानिक अधिकार ही महिलाओं को समाज में वास्तविक बराबरी और सम्मान दिला सकता है। इस आर्थिक पराधीनता को तोड़ने के लिए उन्होंने स्त्रियों से सार्वजनिक कार्यक्षेत्रों में उतरने का आह्वान किया। महिलाओं को प्रेरित किया गया कि वे अपनी योग्यता के अनुसार स्वरोजगार, छोटे एवं कुटीर उद्योगों, शिक्षण कार्य, साहित्य सृजन और चिकित्सा जैसे गरिमापूर्ण व्यवसायों से जुड़ें। इस वैचारिक पहल का मुख्य उद्देश्य स्त्री को एक आर्थिक उत्पादक इकाई बनाकर उसे पुरुष-सत्ता के वित्तीय नियंत्रण से मुक्त करना था।

'स्त्री दर्पण' नियमित रूप से दुनिया के अन्य देशों (जैसे इंग्लैंड, अमेरिका, रूस और जापान) में महिलाओं की स्थिति और उनके आंदोलनों पर खबरें और लेख प्रकाशित करती थी। रामेश्वरी नेहरू ने केवल स्वयं लेख नहीं लिखे, बल्कि उन्होंने पूरे देश से शिक्षित और वैचारिक रूप से प्रखर महिलाओं का एक सुदृढ़ नेटवर्क तैयार किया। इन लेखिकाओं का वैचारिक स्तर इतना ऊँचा था कि वे समकालीन पुरुषों द्वारा संचालित पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों को सीधे चुनौती देती थीं। वीर भारत तलवार का इस पत्रिका के बारे में यह मत है कि ''स्त्री दर्पण हिन्दी प्रदेश में स्त्री की मुख्य पत्रिका बनी। स्त्रियों की समस्याओं को एक आंदोलनकारी ढंग से, इतनी गंभीरता और गहराई से, उठाने वाली पत्रिका उस समय कोई दूसरी न थी।''[6]

राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी के बीच समय की मांग ने चाँद पत्रिका को जन्म दिया। रामरख सिंह सहगल के संपादन में शुरू हुई 'चाँद' पत्रिका का नाम आज स्वर्णाक्षरों में दर्ज है। पत्रिका के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए इसके पहले अंक में कहा गया-''हमारे पत्र का उद्देश्य स्त्रियों का अज्ञान, पर्दे की कुप्रथा इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना, स्त्रियों की उपयोगी तथा उनके हित की बातों से सदा उनका परिचय कराते रहना, उनके बच्चों के पालने की उचित शिक्षा देते रहना, उन्हें गृहस्थ के कार्यों में निपुण बनाना है।''[7] 'चाँद' का दृष्टिकोण अन्य पत्रिकाओं की अपेक्षा अधिक आक्रामक, प्रगतिशील और विद्रोही था। 'चाँद' का मुख्य उद्देश्य केवल महिलाओं को 'सुंदर गृहिणी' बनाना नहीं था, बल्कि उन्हें उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के प्रति जागरूक करना था। 'चाँद' पत्रिका से नवम्बर 1934 में नारी आन्दोलन अंक निकला जिसके सम्पादकीय में तत्कालीन समय की सामाजिक स्थितियों की पड़ताल करते हुए कहा गया, ''जिस युग में हम जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह बड़ा ही आश्चर्यजनक है। यदि इसे चमत्कार युग कहा जाए तो कुछ भी अनुचित नहीं है। यह ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तनों का समय था जिन पर सहसा विश्वास नहीं होता। जो प्रथाएँ सैकड़ों वर्षों से चली आई हैं और जिनको लोग अजर-अमर समझते हैं, वे इस समय बालू की भीत की तरह ढहती नजर आती हैं। जिन सिद्धांतों और नियमों को धर्म का आधार समझा जाता है, वे लोगों के द्वारा ठुकराए जाते दिखलाई पड़ते हैं। इतना ही क्यों इस काल में ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, कला, व्यवसाय, राजनीति सभी विषयों के सिद्धांतों में तीव्र वेग से उलटफेर हो रहा है और उनका स्वरूप सर्वथा बदलता जाता है।''[8]

बाद में महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में पदार्पण के साथ, परिदृश्य तेजी से बदलने लगा। गांधीजी ने महिलाओं की नैतिक शक्ति और अहिंसात्मक प्रकृति को पहचाना और उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा में शामिल होने का आह्वान किया। महिलाओं ने इस आह्वान को स्वीकारा और वे घर की दहलीज लांघकर सड़कों पर आ गईं। भारतीय महिलाओं ने अपने पारिवारिक और पारंपरिक कर्तव्यों का त्याग नहीं किया, बल्कि राष्ट्र-सेवा को अपने धर्म के एक विस्तारित रूप में स्वीकार किया। चाँद पत्रिका ने इस चेतना को फैलाने में महनीय योगदान दिया और स्त्रियों के अधिकारों और मुद्दों को स्वाधीनता आन्दोलन से जोड़ने का भरसक प्रयास किया। इस संदर्भ में फ्रांचेस्का ओर्सीनी का मत समीचीन है-'''चाँद' का राष्ट्रवाद उसके दृष्टिकोण से ही स्पष्ट था। शुरू ही से हिन्दी

जनपद में महिलाओं की जागृति और उनकी गतिविधियाँ देशव्यापी, परिघटनाओं के परिप्रेक्ष्य में देखी जाने लगी। हालाँकि अधिकांश अपेक्षाकृत लम्बे लेख और विशेषांक उत्तर भारतीय महिलाओं और समाज पर ही केन्द्रित थे, समाचार वाला भाग समूचे भारत और विदेश की महिलाओं की जानकारी तथ्य और आँकड़े प्रस्तुत करता था मानो वे सभी उसी अदम्य लहर का हिस्सा थीं... इसके अतिरिक्त, शिक्षित और नई-नई साक्षरता प्राप्त महिलाओं को सम्बोधित करते हुए श्चाँदश उन्हीं से सम्बन्धित विषयों तक सीमित न रह कर, सामाजिक राजनैतिक पुनर्जन्म की उसी परियोजना के अन्तर्गत किसान और मजदूर औरतों के मुद्दों को भी उठाने लगाय स्वराज की खोज में सभी तरह के दमन और भर्त्सना का विषय था।''[9]

इस दौर की पत्रिकाओं ने स्त्री-मुक्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता को दो अलग-अलग खानों में बाँटने के बजाय, उन्हें एक ही बृहत्तर मुक्ति-परियोजना के दो अनिवार्य हिस्सों के रूप में प्रस्तुत किया। इन पत्रिकाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि जो समाज अपनी आधी आबादी को घर की चारदीवारी में कैद रखता है, वह राजनीतिक रूप से कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। उस समय का राष्ट्रवादी अभिजन वर्ग अक्सर महिलाओं को सीमित सार्वजनिक गतिविधियों में भाग लेने की छूट तो देता था, किन्तु पितृसत्ता की पकड़ को कमजोर नहीं होने देना चाहता था। ऐसे जटिल समय में पत्रिकाओं ने एक अत्यंत साहसिक और दोहरा मोर्चा खोला : पहले तो पत्रिकाओं ने बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, पर्दा प्रथा, और स्त्रियों पर होने वाले घरेलू व यौन अत्याचारों के खिलाफ तीखा अभियान चलाया। दूसरे सामाजिक जकड़न से स्त्रियों को मुक्त करने के साथ-साथ, इन पत्रिकाओं ने उन्हें स्वदेशी अपनाने, विदेशी वस्त्रों की होली जलाने और राष्ट्रीय आन्दोलनों में प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए प्रेरित किया। इस संदर्भ में फ्रांचेस्का ओर्सीनी का यह कथन दर्शनीय है, ''साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ और राजनीति एक ही पंक्ति में देखी जाती थीं- देश को स्वाधीन कराने का एक संयुक्त प्रयास।''[10]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में यह स्पष्ट है कि नवजागरणकालीन पत्र-पत्रिकाएँ केवल सूचना प्रसार का माध्यम नहीं थीं, बल्कि वे भारतीय समाज में 'स्त्री-प्रश्न' को केंद्र में लाने वाली वैचारिक प्रयोगशालाएँ थीं। 19वीं सदी के अंत से लेकर 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक का यह दौर स्त्री-चेतना के क्रमिक विकास का एक जीवंत दस्तावेज है। जहाँ शुरुआती दौर की पत्रिकाएँ जैसे 'बालाबोधिनी', 'गृहलक्ष्मी' और 'आर्य महिला' जिनका मुख्य सरोकार स्त्रियों को एक 'आदर्श गृहिणी' और नैतिक रूप से सुदृढ़ बनाना था; वहीं 20वीं सदी की शुरुआत में 'स्त्री दर्पण' और 'चाँद' जैसी पत्रिकाओं ने इस रूढ़िवादी ढांचे को पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया। नवजागरण-कालीन पत्रकारिता ने स्त्रियों की जिस नई दुनिया का निर्माण किया, उसने आधुनिक भारतीय स्त्री की अस्मिता, स्वावलंबन और वैधानिक अधिकारों की नींव रखी। आज की स्वतंत्र और अधिकार-सचेत भारतीय नारी की अनुगूँज वास्तव में इन्हीं पत्रिकाओं के पन्नों में छिपे संघर्षों का परिणाम है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल-vikasgiripoetry@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. बालाबोधिनी, काशी, जनवरी 1874, अंक-1, निवेदन शीर्षक सम्पादकीय, पृ. 2
2. बालाबोधिनी, संपादक - भारतेंदु हरिश्चंद्र, संकलन : वसुधा डालमिया, संजीव कुमार, राजकलम प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ.-129
3. वही, पृ.-146
4. (सं) शर्मा हेमंत, भारतेंदु समग्र, हिन्दी प्रचार संस्थान, 1989, पृ.-1013
5. स्त्री दर्पण, जुलाई 1915, सम्पादकीय, पृ.1-2
6. तलवार वीर भारत, हिन्दी प्रदेश : प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में स्त्री चेतना, साक्षात्कार, जुलाई-सितम्बर, 1987
7. पांडे पद्माकर, हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ.-159
8. चाँद, नवम्बर 1934,नारी आन्दोलन अंक, सम्पादकीय
9. ओर्सीनी फ्रांचेस्का, हिन्दी का लोकवृत्त 1920-1940, हिन्दी अनुवाद, नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. -318
10. वही, पृ.-376

मर्यादा के आवरण से समाधि का संगीत : कबीर और ओशो की विद्रोही वैचारिकी का तुलनात्मक समाजशास्त्र

मृत्युंजय कुमार शर्मा

शोध-सार

यह शोध-आलेख मध्यकालीन संत कबीर और बीसवीं सदी के आधुनिक क्रांति-द्रष्टा ओशो की वैचारिकी का एक गहन समाजशास्त्रीय और दार्शनिक अनुशीलन है। इतिहास की सीमाओं, कालखंडों और भौगोलिक दूरियों को लांघते हुए यह अध्ययन स्थापित करता है कि कबीर की 'अक्खड़ फकीरी' और ओशो का 'आधुनिक संन्यास' वास्तव में मनुष्य की आत्मिक स्वतंत्रता और संप्रभुता के एक ही 'अनादि प्रतिरोधी स्वर' की निरंतरता हैं। शोध-आलेख पारंपरिक और संस्थागत धर्म के समाजशास्त्र पर तीखा प्रहार करता है, जिसे विचारकों ने मानवीय चेतना के दमन और सामाजिक अनुकूलन का एक राजनैतिक उद्यम माना है।

ज्ञान-मीमांसा पर धरातल पर कबीर के 'आँखिन देखी' के सूत्र और ओशो के 'जानने' के सिद्धांत के अंतर्संबंधों की समीक्षा करते हुए उधार के ज्ञान और अकादमिक पाखंड का विखंडन किया गया है। जीवन-ऊर्जा के प्रति दोनों विचारकों के दृष्टिकोण का मूल्यांकन करते हुए यह शोध स्थापित करता है कि वैराग्यपरक दमन के विपरीत कबीर का 'काम से राम' का विमर्श और ओशो का 'संभोग से समाधि' का दर्शन मनुष्य को अपराध-बोध से मुक्त कर उसकी समग्रता को बहाल करता है।

इसके अतिरिक्त, भाषा की पारंपरिक तानाशाही को तोड़ने के लिए कबीर की 'उलटबांसियों' और ओशो के 'तार्किक विरोधाभासों' को भाषा के एक सजग गुरिल्ला युद्ध के रूप में विश्लेषित किया गया है, जिसका अंतिम लक्ष्य मनुष्य को 'मौन के मनोविज्ञान' में स्थापित करना है। 'कबीरा खड़ा बाजार में' और 'जोरबा द बुद्धा' के रूपकों के माध्यम से पलायनवादी संन्यास को खारिज कर संसार के कोलाहल के बीच तटस्थ साक्षी बने रहने के एक गतिशील समाजशास्त्र को रेखांकित किया गया है। अंततः, जैन दर्शन के 'अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद' तथा जीवित विद्रोहियों के प्रति सत्ता और पुरोहितवाद के क्रूर दमनकारी चरित्र का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए यह आलेख समकालीन तकनीकी विविधीकरण और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग में इस संयुक्त फकीरी चेतना को मानवीय अस्तित्व को बचाने का एकमात्र व्यावहारिक व मनोवैज्ञानिक मरहम सिद्ध करता है।

बीज शब्द

संस्थागत धर्म, ज्ञान-मीमांसा, सामाजिक अनुकूलन, जोरबा द बुद्धा, उलटबांसी, सहज समाधि, अनेकांतवाद, मौन का मनोविज्ञान।

मूल लेख

समय की अपनी एक क्रूर और यांत्रिक आदत होती है; वह इतिहास को मनमाने टुकड़ों और बंद कालखंडों में बांटता है, सदियों की अभेद्य दीवारें खड़ी करता है और मनुष्य के जीवंत चिंतन को भौगोलिक सीमाओं में कैद कर देता है। इतिहासकार और अकादमिक समीक्षक अक्सर समय के इसी बुने हुए जाल में फंस जाते हैं। वे राजाओं, तारीखों और युगों के फेर में मनुष्य की अंतश्चेतना के शाश्वत, अबाध प्रवाह को देखना भूल जाते हैं। लेकिन जब चेतना के गहरे धरातल पर कोई आत्मिक महाविस्फोट होता है, तो समय की ये सारी कृत्रिम दीवारें ताश के पत्तों की तरह ढह जाती हैं। पंद्रहवीं सदी के बनारस की संकरी, धूल भरी गलियों में एक खुरदरे करघे पर सूत कातते हुए एक अनपढ़, फटीहाल जुलाहे को देखना, और फिर सीधे बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दर्शनशास्त्र

के एक पूर्व-प्रोफेसर को वैश्विक बुद्धिजीवियों के बीच सुनना, पहली नजर में यह दूरी अकल्पनीय और अतार्किक लगती है। एक तरफ कबीर हैं, जो 'कबीरा खड़ा बाजार में' की अल्हड़, फकीराना मस्ती लिए हुए हैं, जिनके पास कोई औपचारिक अकादमिक डिग्री नहीं है; तो दूसरी तरफ ओशो हैं, जो आधुनिक वैभव, अत्याधुनिक पुस्तकालय और दुनिया भर के वाङ्मय की गहरी मर्मज्ञता समेटे हुए हैं।

यदि हम केवल इन बाहरी आवरणों, जीवन-शैलियों और युगों की भिन्नता को देखकर रुक गए, तो हम सत्य के उस महासागर को देखने से चूक जाएंगे जहाँ इन दोनों विचारकों की अंतर्दृष्टि मिलकर एक हो जाती है। यह आलेख कोई पारंपरिक तुलनात्मक अध्ययन नहीं है जो केवल दो भिन्न युगों के विचारकों की समानताओं और विषमताओं की एक शुष्क सूची बना दे। यह दरअसल उस अनादि प्रतिरोधी स्वर की खोज है, जो समय-समय पर मनुष्य के इतिहास में खुद को पुनर्जीवित करता रहता है। कबीर और ओशो का मिलना महज दो व्यक्तियों या दो भिन्न सदियों का यांत्रिक मिलन नहीं है; यह संस्थागत धर्म की तानाशाही, पुरोहितवाद के पाखंड और समाज द्वारा थोपी गई कृत्रिम नैतिकता के खिलाफ मनुष्य की आत्मा का एक सार्वभौमिक विद्रोह है। जब समाज इंसानी संवेदनशीलता को पूरी तरह कुचलकर उसे व्यवस्था का एक निर्जीव पुर्जा या लकीर का फकीर बना देता है, तब कबीर और ओशो जैसी प्रखर चेतनाएं इतिहास के रंगमंच पर अवतरित होती हैं। वे आकर उस सामाजिक और धार्मिक मर्यादा के मलबे को साफ करती हैं जिसके नीचे मनुष्य का असली, नैसर्गिक स्व दबा पड़ा था, और उस मलबे के बीच से ही समाधि का एक ऐसा संगीत पैदा करती हैं जो सदियों तक मनुष्यता को झंकृत करता रहता है।

कबीर और ओशो के इस वैचारिक महासेतु को समझने के लिए हमें उस आत्मीय मानवीय स्पर्श को महसूस करना होगा जो इन दोनों विचारकों की सबसे बड़ी आंतरिक ताकत थी। ये दोनों हवा में अमूर्त महल बनाने वाले शुष्क दार्शनिक नहीं थे। कबीर ने जब कहा कि 'सैयां सो साचा भया, जाके उर साचा होय', तो वे किसी अमूर्त, सातवें आसमान पर बैठे डरावने ईश्वर की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि वे मनुष्य के भीतर की प्रामाणिकता और उसके मनोवैज्ञानिक सत्य को रेखांकित कर रहे थे। ओशो ने भी जब ध्यान की सैकड़ों अनूठी और गतिशील विधियों का प्रतिपादन किया, तो वे किसी काल्पनिक स्वर्ग का लालच नहीं दे रहे थे। वे आज के उस आधुनिक मनुष्य की छाती पर हाथ रख रहे थे जो अपनी ही अंतहीन महत्वाकांक्षाओं, कुंठाओं और मानसिक कोलाहल के बोझ तले दबा जा रहा है। कबीर और ओशो, दोनों की वैचारिकी का केंद्र बिंदु एक ही है—मनुष्य की तात्कालिक, जीती-जागती पीड़ा और उस पीड़ा से मुक्ति का उसका अपना व्यक्तिगत, प्रामाणिक अनुभव। इस वैचारिक यात्रा में आगे बढ़ने से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इन दोनों के बीच जो अंतर्संबंध है, वह ज्ञान-मीमांसा की एक अटूट निरंतरता है। भारत की जो विखंडनवादी रहस्यवादी धारा मध्यकाल में सिद्धों और नाथों की साखियों से होती हुई कबीर में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची थी, वही धारा बीसवीं सदी के उत्तर-आधुनिक कोलाहल के बीच ओशो की तार्किकता और समकालीन शब्दावली पहनकर दोबारा प्रकट हुई। कबीर जिस सत्य को अपनी सधुक्कड़ी भाषा से कह रहे थे, ओशो उसी सत्य को समकालीन मनोविज्ञान, अस्तित्ववाद और आधुनिक विज्ञान के रूपकों से सिद्ध कर रहे थे। दोनों का मूल राग एक ही था कि बाहर के सारे मध्यस्थों को फेंक दो, और अपने भीतर की उस ज्योति को जलाओ जो तुम्हारी अपनी है—अप्प दीपो भव!

सत्य जब तक किसी चैतन्य महापुरुष के भीतर धड़कता है, तब तक वह एक मुक्त आकाश होता है; वह एक बहती हुई नदी होता है जिसका कोई बांध या किनारा नहीं होता। लेकिन जैसे ही वह क्रांति-द्रष्टा विदा होता है, समाज के चतुर नीति-नियंता और पुरोहित उस जीवित सत्य की लाश पर संस्थागत धर्म का एक भव्य, जड़ और दमनकारी महल खड़ा कर देते हैं। कबीर और ओशो का सबसे पहला, सबसे आक्रामक हमला इसी संस्थागत धर्म के समाजशास्त्र पर था। दोनों ने बहुत गहराई से यह भाँप लिया था कि धर्मगुरु और पुरोहित वर्ग मिलकर मनुष्य की सबसे बुनियादी मनोवैज्ञानिक कमजोरियों उसके भय, लोभ और हीनभावना का सदियों से व्यापार कर रहे हैं। संस्थागत धर्म वास्तव में परमात्मा की खोज नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की चेतना को बंधक बनाकर रखने का एक सुनियोजित राजनैतिक उद्यम है। पंद्रहवीं सदी का बनारस केवल संस्कृति की राजधानी नहीं था, वह धार्मिक वर्चस्व और सामाजिक विभाजन का सबसे बड़ा केंद्र था। एक तरफ पंडितों का आभिजात्य वर्ग था जो संस्कृत को देवभाषा घोषित करके आम जनता को ज्ञान के अधिकार से बेदखल कर रहा था, तो

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

दूसरी तरफ काजियों का दबदबा था जो शरीयत की रूढ़ियों में इंसानी रूह को जकड़ रहे थे। कबीर इस पूरे जमे-जमाए तंत्र के बीच किसी सुधारक की तरह हाथ जोड़कर नहीं खड़े होते; वे एक विखंडनकर्ता की तरह उसकी रीढ़ पर प्रहार करते हैं। वे दोनों के पाखंड को एक ही तराजू पर तौलते हुए कहते हैं कि 'पांडे कौन कुमति तोहे लागी' और 'काजी कौन कतेब बकानी'। यह हमला केवल सामाजिक समरसता की सतही इच्छा से प्रेरित नहीं था, इसके पीछे एक गहरा ज्ञान-मीमांसापरक संकट था। वे देख रहे थे कि कैसे पत्थर की मूर्तियों और मस्जिदों की दीवारों के पीछे असली हाड़-मांस का मनुष्य उपेक्षित हो रहा है। जब वे कहते हैं कि 'पाहन पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूं पहाड़', तो वे परमात्मा का उपहास नहीं उड़ा रहे होते, बल्कि वे उस मध्यस्थ वर्ग को नग्न कर रहे होते हैं जो मनुष्य और उसके स्वयं के स्वभाव के बीच एक नाका खोलकर बैठ गया है।

सदियों बाद, बीसवीं सदी के औद्योगिक कोलाहल के बीच ओशो ने इसी पुरोहितवाद के वैश्विक और कॉर्पोरेट चेहरे को बेनकाब किया। ओशो ने इस बात को स्थापित किया कि दुनिया में कोई ईसाई धर्म, हिंदू धर्म या इस्लाम धर्म नहीं होता; धर्म तो चेतना की एक वैयक्तिक, आंतरिक अवस्था है ठीक वैसे ही जैसे स्वास्थ्य। पुरोहितों को संगठित धर्मों की निरंतरता की जरूरत है, क्योंकि यदि मनुष्य सीधे अपनी अंतरात्मा से जुड़ गया, तो इन सत्ता-केंद्रों के विशाल साम्राज्य ध्वस्त हो जाएंगे। ओशो की यह स्थापना कबीर के सुर में एक तार्किक प्रतिध्वनि पैदा करती है कि पुरोहित संसार का सबसे परिष्कृत शोषक है। वह तुम्हें पहले यह समझाता है कि तुम पापी और हीन हो, जबकि यथार्थ यह है कि तुम अपनी समग्रता में परमात्मा के सबसे करीब हो। कबीर ने जिसे 'कपट की डोरी' कहा था, ओशो ने उसे सामाजिक कंडीशनिंग का नाम दिया। जन्म लेते ही अबोध बच्चे के मस्तिष्क में यह डाल दिया जाता है कि तुम अमुक धर्म या जाति के हो। इस तरह उसकी आँखें सत्य को देखने से पहले ही पूर्वाग्रहों से अंधी कर दी जाती हैं। दोनों विचारकों का समाजशास्त्र इस बात पर जोर देता है कि जब तक मनुष्य इन उधार की पहचानों से मुक्त नहीं होता, तब तक वह एक स्वतंत्र और प्रामाणिक इकाई नहीं बन सकता।

दर्शनशास्त्र और मनुष्य के आत्म-अन्वेषण का सबसे बुनियादी सवाल यह है कि हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता का स्रोत क्या है? क्या ज्ञान वह है जो हमें उपनिषदों या कुरान के पन्नों से विरासत में मिलता है, या वह है जो हमारे अपने जीवन के अनुभवों से छनकर बाहर निकलता है? इसी नाजुक मोड़ पर कबीर और ओशो का ज्ञान-मीमांसापरक विद्रोह सामने आता है। दोनों ही विचारक उधार के ज्ञान, शास्त्रों के निर्जीव बोझ और स्मृति के संचय के धुर विरोधी हैं। उनके लिए ज्ञान कोई बाहरी सूचना नहीं, बल्कि एक आंतरिक रूपांतरण है। कबीर जब अपने समय के बड़े-बड़े प्रकांड पंडितों के सामने खड़े होते हैं, तो वे किसी ग्रंथ का संदर्भ नहीं देते। वे सीधे अपने अस्तित्व के धरातल पर बात करते हैं : 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन देखी; मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो उरझाई रे।' इस एक साखी में कबीर ने पूरी दुनिया के शब्द-केंद्रित दर्शन को उलट कर रख दिया। 'कागद की लेखी' का अर्थ है वह सत्य जो अतीत में किसी और व्यक्ति का अनुभव था। कबीर कहते हैं कि यह तो ऐसा ही है जैसे कोई भूखा इंसान भोजन करने के बजाय पाक-कला की किताब पढ़ता रहे। सत्य कोई बौद्धिक विलासिता नहीं है, वह एक नितांत वैयक्तिक अनुभूति है। ओशो ने कबीर के इसी 'आँखिन देखी' के सूत्र को अपनी दर्शन-प्रणाली का प्राण बनाया। ओशो ने हजारों प्रवचनों में बुद्ध और लाओत्सु की व्याख्या की, लेकिन चेतावनी दी कि मेरी बातें तो केवल दूर खड़े पहाड़ की तरफ इशारा करने वाली उँगली हैं, वे स्वयं पहाड़ नहीं हैं। उँगली को मत देखते रहो, बल्कि उस तरफ देखो जहाँ वह इशारा कर रही है। ओशो विश्वास और जानने के बीच एक गहरा दार्शनिक अंतर रेखांकित करते हैं। विश्वास का मतलब है सुरक्षा की खोज में अंधानुकरण, जबकि जानने का मतलब है स्वयं उस अमृत का स्वाद चख लेना।

इस ज्ञान-मीमांसापरक विद्रोह का एक गहरा मनोवैज्ञानिक स्पर्श है। शास्त्र हमेशा आम मनुष्य को डराता है, उसे यह बताकर कि सत्य बहुत क्लिष्ट है। कबीर और ओशो इस बौद्धिक आतंकवाद से साधारण मनुष्य को आजाद करते हैं। कबीर जब कहते हैं कि 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ, और ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होइ', तो यहाँ प्रेम केवल भावुकता नहीं है, बल्कि वह ज्ञान की सबसे लोकतांत्रिक पद्धति है। जहाँ बुद्धि थक जाती है, तर्क की सीमाएं समाप्त हो जाती हैं, वहीं से जीवन का असली अनुभव शुरू होता है। ओशो का तर्क था कि बुद्धि हमेशा विभाजन करती है, वह चीजों को चीर-फाड़ करके देखती है, लेकिन

प्रेम पूरे अस्तित्व को समग्रता में स्वीकार करता है। जो पोथियाँ पढ़ रहा है, वह शब्दों के मलबे के नीचे दब रहा है। जब तक मनुष्य शब्दों के सघन जाल से बाहर नहीं निकलता, वह मौन के उस एकांत प्रदेश में कदम नहीं रख सकता जहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है। कबीर की 'अनहद नाद' की धारणा और ओशो का 'मौन ध्यान' इसी अनुभव के व्यावहारिक रूप हैं।

यदि हम वैचारिकी के उस केंद्र को छुएं जहाँ सामाजिक रूढ़ियाँ सबसे ज्यादा आक्रामक हो जाती हैं, तो वह है मनुष्य की आदिम जीवन-ऊर्जा और काम-वासना के प्रति दृष्टिकोण। सदियों से पारंपरिक वैराग्यवादी संतों ने मनुष्य के भीतर एक आत्म-घृणा का भाव भरा था। उन्होंने सिखाया कि ईश्वर को पाना है तो संसार से भागना होगा और अपने शरीर से नफरत करनी होगी। कबीर और ओशो ने इस पाखंडी और जीवन-विरोधी दार्शनिक ढांचे को ध्वस्त कर दिया। दोनों की वैचारिकी इस बात पर एकमत है कि ऊर्जाएं अशुद्ध नहीं होतीं; जो ऊर्जा संसार में लाती है, वही परिष्कृत होकर समाधि तक ले जा सकती है। कबीर स्वयं एक गृहस्थ संत थे। उन्होंने गेरुए वस्त्र नहीं पहने, अपनी पत्नी और बच्चों के साथ एक सहज जीवन जिया। उनके यहाँ काम और राम के बीच कोई बुनियादी दुश्मनी नहीं है। जब कबीर कहते हैं कि 'काम मिलाए राम को, जे कोई जाने मिलाय', तो वे पूरे मध्यकालीन वैराग्य विमर्श को उलट रहे होते हैं। वे कह रहे हैं कि काम-वासना कोई पाप नहीं, बल्कि प्राथमिक ऊर्जा है। कबीर ने उन साधुओं पर तीखा तंज कसा जो घर छोड़कर भाग गए थे लेकिन भीतर वासना से भरे थे-'मन ना रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा'। शरीर का निषेध नहीं, बल्कि शरीर के भीतर छिपी सहज ऊर्जा का अनुसंधान ही लक्ष्य है।

बीसवीं सदी में ओशो ने जब कबीर के इसी सूत्र को आधुनिक मनोविश्लेषण के धरातल पर रखा और 'संभोग से समाधि की ओर' का दर्शन दिया, तो पारंपरिक नैतिक समाज में भूचाल आ गया। लोगों ने बिना विचार-सरणी को समझे ओशो को सतही उपाधियाँ दे दीं। लेकिन ओशो का तर्क वही था जो कबीर का था : काम-वासना मनुष्य की रचनात्मक जैविक ऊर्जा है। इसका दमन करके विक्षिप्तता और मानसिक विकृति ही जन्म लेगी। ओशो ने इस दार्शनिक कोण को वैज्ञानिक तार्किकता के साथ समझाया कि संभोग के चरम क्षण में मनुष्य का अहंकार विलीन हो जाता है, समय का बोध रुक जाता है और व्यक्ति अनजाने में ही विचारशून्यता में प्रवेश कर जाता है। यदि तुम उस क्षण के मौन को होशपूर्वक समझ सको, तो समाधि का द्वार वहीं से खुलता है। दोनों ने देखा कि जो समाज काम-वासना को जितना दबाता है, वह भीतर से उतना ही हिंसक और कुंठित हो जाता है। कबीर का करघे पर बैठकर राम के रंग में रंग जाना और ओशो का जीवन के समस्त उत्सवों को स्वीकार करना ,ये एक ही चेतना के दो छोर हैं। यह वैचारिकी मनुष्य को अपराध-बोध से मुक्त करती है, जो आज के डिप्रेशन से भरे समाज के लिए सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक औषधि है।

सत्य की दार्शनिक त्रासदी यह है कि वह अनिर्वाच्य है, उसे भाषा के व्याकरण में कैद नहीं किया जा सकता। कबीर और ओशो दोनों भाषा के इस संकट से वाकिफ थे। वे जानते थे कि सपाट भाषा का प्रयोग करने पर बुद्धि उसे एक सिद्धांत मानकर अलमारी में बंद कर देगी। इसलिए, इन दोनों ने तर्क को थकाने के लिए भाषा का गुरिल्ला युद्ध लड़ा। कबीर की 'उलटबांसियाँ' इसी मारक क्षमता का प्रगटीकरण हैं : 'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई'। पहली नजर में यह पहेली लगती है, लेकिन यह एक सचेत दार्शनिक रणनीति है। बुद्धि हर चीज को कार्य-कारण के ढर्रे पर देखने की आदी है। जब शेर गाय चराता है, तो हमारी कंडीशन की हुई तार्किक व्यवस्था को जबरदस्त झटका लगता है। बुद्धि इस विरोधाभास को सुलझाने में असमर्थ होकर पंगु हो जाती है, और विचार का यांत्रिक प्रवाह रुक जाता है। यही विस्मय ध्यान की शुरुआत है। ओशो ने आधुनिक संवाद-सिद्धांत के साथ यही प्रयोग किया। उनके प्रवचनों की सबसे बड़ी खूबी विरोधाभास थी। यदि आज बुद्ध के अनुशासन की प्रशंसा की, तो कल लाओत्सु की सहजता के गीत गाए। ओशो ने स्पष्ट किया कि वे कोई नई विचारधारा देने नहीं, बल्कि माइंड के ढांचे को तोड़ने आए हैं। जब बुद्धि थक कर हार जाती है, तब जो खाली स्थान बचता है-वही असली संदेश है। कबीर और ओशो भाषा का उपयोग भाषा की ही तानाशाही को मिटाने के लिए करते हैं।

संसार और संन्यास के बीच चले आ रहे दमनकारी विभाजन को मिटाकर दोनों ने फकीरी का एक नया समाजशास्त्र रचा। कबीर की फकीरी का मुकम्मल बिंब है : 'कबीरा खड़ा बजार में, मांगे सबकी खैर'। बाजार कोलाहल, लेन-देन और सांसारिकता का सघन केंद्र है। कबीर बाजार से भागकर जंगल में नहीं छिपते; वे बाजार की अंधाधुंध महत्वाकांक्षाओं से मुक्त होकर, साक्षी भाव से वहीं खड़े रहते हैं। यह फकीरी

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

संसार को छोड़ने की नहीं, बल्कि संसार में रहते हुए उससे मुक्त होने की कला है – सहज समाधि। ओशो ने इसी बाजार वाले संन्यास को 'जोरबा द बुद्धा' का नाम दिया। जोरबा वह है जो भौतिक जीवन और शरीर का चरम आनंद लेता है, और बुद्ध वह है जो पूर्णत: शांत और अंतर्मुखी है। ओशो ने इन दोनों को मिलाकर एक नूतन मनुष्य की परिकल्पना की। उनका संन्यासी बाहर से जोरबा की तरह जीवन का रस पिएगा, लेकिन भीतर बुद्ध की तरह मौन रहेगा। यह विचार कबीर के उस पद से जुड़ता है जहाँ वे कहते हैं : 'दास कबीरा जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'। संसार के सारे अनुभवों को इतनी सजगता के साथ जीना कि आसक्ति का कोई दाग न लगे। यह विजन आज के बाजारवादी मनुष्य को बिना संसार छोड़े अपनी आत्मा को बचाने का प्रामाणिक रास्ता दिखाता है।

इन दोनों की वैचारिक इमारत दो महान स्तंभों पर टिकी है–मौन का मनोविज्ञान और अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद का दर्शन। जैन दर्शन का अनेकांतवाद स्थापित करता है कि सत्य अत्यंत बहुआयामी है और किसी एक एकांतवादी आग्रह से उसे नहीं बांधा जा सकता। कबीर के पदों में दिखने वाले विरोधाभास इसी अनेकांतवादी दृष्टि का परिणाम हैं। कभी वे शुद्ध सगुण भाव में गाते हैं 'हरी मोरा पीव', तो कभी अद्वैतवादी होकर कहते हैं 'एकम एका जो कहै, सोई मूढ़ मति जान'। ओशो आधुनिक युग के सबसे घोषित अनेकांतवादी विचारक थे। उन्होंने माना कि सत्य एक बहती नदी है, जो हर क्षण बदलती है। जीवन विरोधाभासी है–यदि प्रकाश है तो अंधकार भी है। इस समग्रता को स्वीकार करना ही असली अनेकांतवाद है। दूसरी ओर, मौन के मनोविज्ञान में ओशो ने आज के विक्षिप्त मनुष्य के लिए 'सक्रिय ध्यान' जैसी विधियाँ रचीं, ताकि दमित संवेगों का कैथार्सिस हो सके। कबीर का सूत्र भी यही है : 'पहले भीतर का मल बहाए, तब मन निरमल होए'। यह वैचारिक समन्वय इस विमर्श को एक अत्यंत सारगर्भित दार्शनिक धरातल प्रदान करता है।

समाजशास्त्र का यह कड़वा नियम है कि व्यवस्था अपने जीवित विद्रोहियों को कभी क्षमा नहीं करती। जो विखंडनकर्ता सीधे व्यवस्था की नींव पर हथौड़ा चलाते हैं, सत्ताएँ उनके प्रति हिंसक हो उठती हैं। कबीर का विद्रोह सार्वभौमिक था; उन्होंने पंडितों और मौलवियों दोनों के अहंकार को उघाड़ा। परिणामस्वरूप, दोनों वर्गों ने मिलकर सिकंदर लोदी के दरबार में उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। कबीर को जंजीरों से बांधा गया, गंगा में डुबाया गया। कबीर ने इस दर्द को दर्ज किया : 'सुखिया सब संसार है... दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै'। यही त्रासदी बीसवीं सदी में ओशो के साथ आधुनिक और वैश्विक रूप में घटी। जब ओशो ने पूंजीवादी लालच और राजनेताओं के पाखंड को छिन्न-भिन्न किया, तो अमेरिकी सरकार ने उनके कम्यून को नष्ट कर दिया और उन्हें अमानवीय परिस्थितियों में जेल में डाला। दुनिया के कई लोकतांत्रिक देशों ने उन्हें उतरने तक की इजाजत नहीं दी। सत्ता का चरित्र हमेशा एक जैसा क्रूर होता है। व्यवस्था जीवित बुद्धों को सूली पर चढ़ाती है, और विदा होने के बाद उनकी मूर्तियाँ बनाकर उन्हें कबीरपंथ या रजनीशपंथ के पिंजरों में कैद कर देती है।

आज के मनुष्य की स्थिति इतिहास के किसी भी कालखंड से अधिक जटिल है। तकनीकी विविधीकरण, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और घोर बाजारवाद के इस युग में हम सूचनाओं के महासागर में डूब रहे हैं, लेकिन भीतर का अवसाद अपने चरम पर है। हमने प्रकृति जीत ली है, पर स्व को खो दिया है। ऐसे संकटग्रस्त समय में कबीर और ओशो की विद्रोही फकीरी चेतना हमारे अस्तित्व को बचाने का एकमात्र मनोवैज्ञानिक मरहम है। असली अमीरी होश की अमीरी है। हमें कबीर के अक्खड़पन की जरूरत है जो कृत्रिम पहचानों को खारिज कर सके, और ओशो के जोरबा द बुद्धा के विजन की जो तकनीक का उपयोग तो करे, पर उसका गुलाम न बने।

निष्कर्षत:, कबीर की मध्यकालीन फकीरी और ओशो का आधुनिक संन्यास एक ही आध्यात्मिक विद्रोह की निरंतरता हैं। मौन का मनोविज्ञान और अनेकांतवाद ही वह आधारभूमि है जिस पर इनकी ज्ञान-मीमांसा टिकी है। ये जीवन की आदिम ऊर्जा का दमन नहीं, परिष्कार सिखाते हैं। यह संपूर्ण विमर्श हमें इस आत्म-समीक्षा के लिए विवश करता है कि क्या हमारे भीतर परंपराओं और कंडीशनिंग के इस मलबे को साफ करने का साहस है? कबीर का करघा और ओशो का शून्य आज भी हमारे भीतर के प्रामाणिक मनुष्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जीवन की चादर को ज्यों की त्यों धर देने का समय आ गया है; मर्यादा का आवरण साफ हो चुका है, अब केवल समाधि का शाश्वत संगीत गूंज रहा है।

शोध छात्र, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई.मेल. : mritunjaykmrsharma@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कबीर परचाई (संपादक : सुखदेव सिंह), वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन.
2. ओशो. (1976). संभोग से समाधि की ओर, पूना : रजनीश फाउंडेशन.
3. ओशो. (1977). कहै कबीर दीवाना (भाग 1 और 2), नई दिल्ली : ओशो दर्शन प्रकाशन.
4. ओशो. (1986). जोरबा द बुद्धा (Zorba the Buddha), राजनीशपुरम, ओरेगन : रजनीश फाउंडेशन इंटरनेशनल.
5. कबीर ग्रंथावली (संपादक : बाबू श्यामसुंदर दास), काशी : नागरी प्रचारिणी सभा.
6. कबीर वाङ्मय (भाग 1 : साखी, भाग 2 : पद; संपादक : जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह), वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन.
7. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (1971). कबीर : कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
8. जैन, भागचंद्र. (2004). जैन दर्शनपरक अनेकांतवाद और स्याद्वाद की प्रासंगिकता, जैन विश्व भारती.
9. मिश्र, रामप्रसाद. (1985). संत काव्य और विद्रोही चेतना, दिल्ली : मैकमिलन इंडिया.
10. शर्मा, रामविलास. (1992). भारतीय संस्कृति और हिंदी संत परंपरा, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
11. सिंह, नामवर. (1982). दूसरी परंपरा की खोज, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. (विशेष संदर्भ कबीर की विखंडनवादी दृष्टि).
12. सुखदेव सिंह. (2020). कबीर की उलटबांसियाँ : एक भाषाई और दार्शनिक विश्लेषण, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

शोध-पत्र

मुस्कान गिरि

माधवी के जीवन की त्रासदी पुरुष अहं का शिकार

भीष्म साहनी हिंदी साहित्य के प्रमुख कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार और चिंतक हैं। उनका जन्म 8 अगस्त 1915 को रावलपिंडी (अब पाकिस्तान में) में हुआ था। वे प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन से जुड़े रहे अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के लिए वे विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। विभाजन की त्रासदी, सामाजिक विषमता, सांप्रदायिकता, शोषण तथा मानवीय मूल्यों की रक्षा उनके साहित्य के प्रमुख विषय रहे हैं। भीष्म साहनी की समकालीन रचनाकार कृष्णा सोबती 'भीष्म साहनी : सादगी का सौंदर्य' में लिखती हैं कि ''भीष्म का पूरा व्यक्तित्व दायें-बायें का विस्तार नहीं है। इसकी शख्सियत गहराई में बड़ी सादगी से अटी है।''[1] साथ ही उनके लेखन पर विचार करते हुए कहती हैं कि ''भीष्म मध्यम वर्ग की खरोचें, जख्म, उसके दर्द और उसके ऊपरी खोल को छू-छूकर, अपने को उस भीड़ से अलग खड़ा कर लेते हैं और नये सिरे से अपनी पुरानी चिर-परिचित जमीन में उन्हें अंकित करने का निर्णय कर डालते हैं। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'तमस' हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर माना जाता है।''[2] उनके अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासों में 'झरोखे', 'कड़ियाँ', 'बसंती', 'माय्यदास की माड़ी' तथा 'कुन्तो' उल्लेखनीय हैं। नाट्य साहित्य में 'हानूश', 'कबिरा खड़ा बाजार में', 'माधवी', 'मुआवजे' आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। भीष्म साहनी का व्यक्तित्व अत्यंत सरल, संवेदनशील और मानवीय था। वे साहित्य को केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का साधन मानते थे। उनकी भाषा सहज, प्रवाहपूर्ण तथा जीवन के यथार्थ से जुड़ी हुई है। वे अपने पात्रों के माध्यम से समाज की विसंगतियों और मानवीय संघर्षों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनकी नाट्य-कृति 'माधवी' उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह नाटक महाभारत की एक कथा पर आधारित है, जिसमें राजा ययाति की पुत्री 'माधवी' को पुरुषों की महत्वाकांक्षाओं और स्वार्थों की पूर्ति के लिए बार-बार उपयोग किया जाता है। भीष्म साहनी ने इस पात्र के माध्यम से नारी-शोषण, पितृसत्तात्मक व्यवस्था तथा स्त्री-अस्मिता के प्रश्नों को अत्यंत मार्मिक ढंग से उठाया है। 'माधवी' केवल एक पात्र नहीं, बल्कि उस स्त्री की प्रतीक है जिसे समाज त्याग, समर्पण और बलिदान के नाम पर वस्तु की तरह प्रयोग करता है। इस प्रकार भीष्म साहनी का साहित्य मानवीय संवेदना, सामाजिक न्याय और स्त्री-मुक्ति की चेतना से अनुप्राणित है। 'माधवी' उनके प्रगतिशील और मानवतावादी साहित्यिक दृष्टिकोण की सशक्त अभिव्यक्ति है।

भीष्म साहनी का मानना है कि समाज में स्त्री को अक्सर त्याग और बलिदान का प्रतीक बनाकर उसके अधिकारों की उपेक्षा की जाती है। 'माधवी' नाटक इसी सामाजिक सच्चाई को सामने लाता है। नाटक में 'माधवी' केवल एक पात्र नहीं, बल्कि उस स्त्री का प्रतीक है जो दूसरों के हित के लिए अपना जीवन समर्पित कर देती है, फिर भी उसे सम्मान और संतोष नहीं मिलता। भीष्म साहनी ने इस नाटक के माध्यम से नारी-अस्मिता, स्वतंत्रता और मानवीय गरिमा जैसे प्रश्नों को उठाया है। उन्होंने दिखाया है कि किसी भी व्यक्ति को साधन या वस्तु के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इस प्रकार 'माधवी' केवल पौराणिक कथा का पुनर्पाठ नहीं, बल्कि स्त्री-शोषण के विरुद्ध एक सशक्त सामाजिक और मानवीय विमर्श है।

भारत में स्त्री को प्राय: देवी, जननी या तपस्विनी के रूप में देखा जाता रहा है। परन्तु इस देवत्व के पीछे स्त्री जीवन की

त्रासदी और पीड़ा की कहानी सदैव अनकही ही रह जाती है। इसी प्रकार महाभारत की 'माधवी' को 'त्याग की प्रतिमूर्ति' के रूप में, 'आज्ञाकारी बेटी' के रूप में देखा जाता रहा है। 'माधवी' को और महाभारत की इस कथा को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने और पढ़ने से समझ आता है कि माधवी की कथा त्याग की नहीं, बल्कि पुरुष-अहं द्वारा स्त्री के शोषण की कथा है। इस सन्दर्भ में डॉ. रामचंद्र तिवारी लिखते हैं कि "माधवी में गालव ऋषि (विश्वामित्र के शिष्य)और माधवी की प्रसिद्ध पौराणिक कथा को आधुनिक सन्दर्भ में जोड़कर सदियों से पशुवत् जीवन व्यतीत करती हुई नारी की पीड़ा को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है।"[3]

भीष्म साहनी द्वारा महाभारत की कथा को आधार बनाकर लिखा गया 'माधवी' नाटक का केंद्रीय पात्र माधवी है जिसके आस-पास घूमते हुए नाटक अपनी सम्पूर्णता प्राप्त करता है। 'माधवी' राजा ययाति की कन्या है। 'माधवी' पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष की सम्पति है जहाँ पिता अपने दानी होने के अहंकार को जीवित रखने के लिए अपनी पुत्री का ही दान कर देता है। 'माधवी' नाटक की रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'भीष्म साहनी' अपनी आत्मकथा 'आज के अतीत' में लिखते हैं कि "नाटक तो लिखा गया। मैंने कथानक के नाते तो महाभारत में वर्णित कथा के ही प्रसंग रखे परन्तु नाटक के केंद्र में माधवी आ गई। यह उसी की कहानी है पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री की अवहेलना और शोषण की कहानी। पर अब सोचता हूँ तो मुझे लगता है, मुझे यह नाटक अधिक धैर्य से लिखना चाहिए था। अधिक धैर्य से भी और ज्यादा खुले बन्दों भी, क्योंकि इसमें विकास की बड़ी संभावनाएँ थी, जिनकी ओर जल्दबाजी के कारण मेरा ध्यान नहीं गया।"[4]

इस नाटक के अनुसार 'माधवी' महाभारत के समय की एक स्त्री पात्र है, जिसको उसके पिता के द्वारा दान दे दिया गया है और वह गालव के द्वारा उसकी गुरु दक्षिणा जुटाने का साधन बनती है। माधवी एक पौराणिक पात्र ही नहीं है बल्कि गौर किया जाए तो ऐसी और भी माधवियाँ आज भी हमारे समाज में मिल जाएँगी। माधवी आज भी प्रासंगिक है बस माधवी के रूप में परिवर्तन हुआ है। माधवी के साथ-साथ गालव भी वर्तमान समय में उपस्थित है जो कहीं न कहीं हर रोज 'माधवी' का शोषण कर रहा है। स्त्री के शोषण के रूप में भले ही परिवर्तन हुआ हो परन्तु आदिकाल से चली आ रही स्त्रियों की स्थिति आज भी कुछ वैसी ही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था आज भी स्त्री को भोग के साधन के रूप में देखता है यहाँ स्त्री का अपने लिए आवाज उठाना सही नहीं समझा जाता। स्त्री जब तक चुप रहती है, सहती रहती है और त्याग करने को तैयार रहती है तभी तक वह महान और देवी के रूप में मानी जाती है। उसका अपने लिए आवाज उठाना, अपनी रूचि के अनुसार जीवन जीना उसे बदचलन और मुंहजोर बना देता है। 'माधवी' जब तक चुप रहती है गालव उसे त्याग की मूर्ति मानता है परन्तु जैसे ही माधवी अपने पहले पुत्र के लिए अपनी भावनाएं व्यक्त करती है, वह उसे कमजोर और दुर्बल समझने लगता है। गालव यह भूल जाता है कि अगर आज वह गुरु दक्षिणा जुटाने के कार्य में सफल हो रहा है तो वह सिर्फ और सिर्फ 'माधवी' के कारण। जिस स्त्री को वह कमजोर कहता है अगर वही स्त्री बीच से हट जाये तो गालव कुछ भी करने योग्य नहीं। गालव माधवी से कहता है, "मैं नहीं जानता था कि संतान पैदा हो जाने पर तुम इतनी दुर्बल हो जाओगी। इसीलिए शायद स्त्रियाँ जोखिम के काम नहीं कर सकतीं, किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकतीं।"[5]

'माधवी' के जीवन की त्रासदी के दो कारण। एक, उसके पिता का अहं और दानवीर कहे जाने का लोभ; दो, गालव जो गुरुदक्षिणा जुटाने में असमर्थ होने के बावजूद अपने अहं के कारण न झुकना। ययाति और गालव दोनों ही अपने अहं की पूर्ति का सामर्थ्य नहीं रखते हैं और माधवी को एक साधन के रूप में देखते हैं। पुत्री का दान करते समय न पिता अपनी पुत्री की स्थिति का विचार करते हैं और न गालव आठ सौ अश्वमेधी घोड़ों के लिए तीन राजाओं के रानीवास में भेजने के पूर्व उसकी स्थिति का ख्याल करता है। यह दोनों ही पुरुष पात्र केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति मात्र करते हैं। ययाति का कथन है, "राजज्योतिषियों ने माधवी के लक्षणों की जाँच की है। इसके गर्भ से उत्पन्न होनेवाला बालक चक्रवर्ती राजा बनेगा। सुना मुनिकुमार? ऐसे लक्षणोंवाली युवती को पाकर कोई भी राजा तुम्हें घोड़े दे देगा। माधवी को पाकर वह धन्य होगा। तुम निःसंकोच इसे ले जाओ।"[6] चक्रवर्ती पुत्र की कामना में केवल तीन राजा ही माधवी को अपने रानीवास में नहीं रखते बल्कि नाटक के अंत में ऋषि विश्वामित्र भी माधवी को अपने आश्रम में रखकर गालव को गुरुदक्षिणा के भार से मुक्त करते हैं। यदि विश्वामित्र चाहते तो माधवी को अपने आश्रम में रखे बिना भी गालव को गुरुदक्षिणा के भार से मुक्त कर सकते थे; परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। यहाँ भी पुरुष

की लोलुप दृष्टि का परिचय मिलता है जो गुरु होने के बावजूद भी भोग की कामना से मुक्त नहीं हो पाया है। इस सन्दर्भ में लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने नाटक 'सिन्दूर की होली' में 'मनोरमा' के जरिये पुरुष प्रवृति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि ''क्षमा कीजियेगा, पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषत: स्त्रियों के सन्दर्भ में, मृत्यु शय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सब से बड़े लोभ की चीज है।''[7] माधवी के साथ भी यही होता है। सभी पुरुष उसे लोभ और वासना की दृष्टि से देखते हैं, जहाँ उसकी भावनाओं की कोई परवाह नहीं करता। गालव भी माधवी के गुणों के कारण माधवी को पाने की लालसा अपने मन में दबाए रहता है। वह चाहता है कि माधवी पहले उसकी गुरु दक्षिणा जुटा दे। उसके बाद वह उससे अनुष्ठान करवाकर विवाह करेगा। गालव मन-ही-मन सोचता है कि ''माधवी को पाने का अर्थ है, चक्रवर्ती राजा तक बन जाने की संभावना।''[8] वह माधवी को केवल देह के रूप में देखता है। उसके हृदय को नहीं देखता है। जब 'माधवी' अनुष्ठान कर पुन: कौमार्य प्राप्त करने से मना कर देती है तो यही गालव उससे विवाह करने से मना कर देता है। गालव कहता है, ''माधवी, मैं चाहूँ भी तो तुमसे विवाह नहीं कर सकता। मैं विवश हूँ।...मैं धर्म और नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता।''[9] जो माधवी उसकी गुरु दक्षिणा जुटाने के लिए उसी के गुरु के आश्रम में रहती है। कुछ समय बाद उसी को हवाला देते हुए गालव कहता है, ''जो स्त्री मेरे गुरु के आश्रम में रह चुकी हो, उसे मैं अपनी पत्नी कैसे मान सकता हूँ?''[10] यही गालव जो बिना अनुष्ठान के 'माधवी' को स्वीकार करने से मना करता है। वही गालव अनुष्ठान के पश्चात सब भूलकर माधवी से विवाह करने को तैयार हो जाता है। गालव कहता है, ''तुम फिर से अनुष्ठान कर अपना पहला रूप धारण कर सकती हो। माधवी, मैं तुम्हें पाकर अपने को धन्य समझूंगा।''[11] इसका आशय स्पष्ट है। गालव को माधवी चाहिए परन्तु कौमार्य रहित नहीं। गालव की सोच पुरुष मानसिकता का सहज परिचय देता है। यहाँ गालव केवल माधवी के शरीर को महत्व देता है, माधवी की भावनाओं को नहीं।

स्त्री माँ बनने से पूर्व प्रेमिका, पत्नी, बहन, मित्र सब होती है पर माँ बनने के बाद उसके भीतर सबसे अधिक अगर कोई भाव व्याप्त होता है तो वह भाव मातृत्व का होता है। माधवी भी अपने पुत्र के जन्म से पहले गालव के प्रेम की कल्पना में डूबी हुई है परन्तु बच्चे के जन्म के पश्चात वह कोई दूसरी ही माधवी हो जाती है। जिस नई 'माधवी' का जन्म होता है वह अब कल्पना की दुनिया से यथार्थ की दुनिया में कदम रख चुकी है, जहाँ केवल प्रेम की कल्पना ही नहीं जीवन का यथार्थ भी उसके सामने खड़ा है जब उसे अपने दुधमुँहे बच्चे को छोड़ कर अब आगे बढ़ना है। इसकी कल्पना माधवी को विचलित करती है, जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती जाती है उसे अपने बच्चे के रोने की आवाज सुनाई देती है। माधवी कहती है, ''मुझे लगता है, बेटे के जन्म के पहले मैं कोई दूसरी ही माधवी थी, बेटे के जन्म के बाद मैं बिलकुल बदल गई हूँ। वह माधवी नहीं रही हूँ।''[12] इसके पश्चात 'माधवी' अपनी स्वतंत्रता को लेकर गालव पर व्यंग्य करते हुए कहती है, ''स्वतंत्र? कैसी स्वतंत्रता, गालव? उन दीवारों के पीछे मेरा नन्हा बालक मुँह खोले मेरा स्तन ढूंढ रहा है, और तुम कहते हो, मैं स्वतंत्र हूँ? गालव, क्या सचमुच तुम मुझे स्वतंत्र समझते हो? जो माँ अपने बच्चे को छाती से लगा पाए, वही स्वतंत्र होती है।''[13] यहाँ पर मैथिलीशरण गुप्त की यह पंक्ति भी एकदम उपयुक्त प्रतीत होती है-

''अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।''[14]

इस पंक्ति को आज स्त्री विमर्श की दृष्टि से बाहर रखा जाता है परन्तु इस नाटक में माधवी की स्थिति को इस पंक्ति के माध्यम से आंका जा सकता है। यहाँ 'माधवी' की स्थिति ऐसी है जिसके स्तन में दूध तो है पर उसको पिलाने के लिए उसका बालक उसकी गोद में नहीं है। वह अपने दूधमुंहे बालक को दूध पिलाने के लिए बिलख रही है पर वह एक ऐसी अभागन माँ है जो जन्म के पश्चात ही अपने पुत्र के वियोग को सहती है। इस माँ के आँसू; इस माँ का त्याग; इस माँ के हृदय की पीड़ा और इस माँ का टूटता आत्मबल किसी को नजर नहीं आता है। सभी अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे हैं। स्त्री जीवन को पुरुषवादी सत्ता के हाथ में सौंप दिया जाता है यही उसकी सबसे बड़ी त्रासदी है। भीष्म साहनी की माधवी की पीड़ा को मैथिलीशरण गुप्त ने उपर्युक्त पंक्तियों में वाणी दी है। बिल्कुल इसी पीड़ा को कथाकार सुभाष शर्मा की कहानी 'कुदेश' भी चित्रित करती है।[15] कुदेशन की नायिका एक मजदूर है जो बिहार से पंजाब मजदूरी करने गई है।

स्त्री समाज की मुक्ति पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बंधन से मुक्ति है। केवल पुरुष ही इस भाव से ग्रसित नहीं है कुछ स्त्रियाँ भी हैं जो इस भाव से ग्रसित है। जब तक सभी इस भाव

से मुक्त नहीं हो जाते स्त्री मुक्ति कपोल कल्पना मात्र है। वर्तमान में भी कुछ स्त्रियों की यदि बात न की जाये तो आधे से ज्यादा स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की बेड़ियों से बंधी हुई हैं और उससे मुक्ति के प्रयास में है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था से पीड़ित स्त्रियों की स्थिति आज भी माधवी की ही तरह है जो अपने पिता, पति, भाई की आज्ञा का पालन कर रही हैं। इस पितृसत्तात्मक समाज में, इस कहें तो इस पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्री की न तो कोई स्वतंत्रता है, न ही कोई पहचान है और न ही परिवार से स्वतंत्र कोई अस्तित्व है। स्त्रियाँ अगर हैं तो केवल आश्रित। अपने आश्रित होने की स्थिति में माधवी गालव और ययाति पर व्यंग्य करते हुए कहती है, ''क्यों? क्या मैं नाचूं? गाऊँ? अपने भाग्य पर इठलाऊँ? पिताजी ने आदेश दिया तो तुम्हारे साथ चली आई, तुम आदेश दोगे तो किसी राजा के रानीवास में चली जाऊँगी।''[16] यहाँ उसकी विवशता स्पष्टत: व्यक्त हो रही है कि कैसे वह अपने पिता और गालव की प्रतिज्ञा के बीच जूझ रही है। जब जन्म देने वाले पिता ने ही साथ नहीं दिया, उन्होंने ही साथ छोड़ दिया तो गालव से क्या अपेक्षा की जा सकती है।

अत: 'माधवी' नाटक के माध्यम से भीष्म साहनी केवल एक पौराणिक कथा का पुनर्पाठ ही नहीं करते हैं, बल्कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और पुरुष-प्रधान व्यवस्था की गहन पड़ताल भी करते हैं। इस नाटक की नायिका माधवी का सम्पूर्ण जीवन पुरुषों के अहं, स्वार्थ और महत्वाकांक्षाओं का शिकार बनकर रह जाता है। वह एक संवेदनशील, त्यागमयी और समर्पित स्त्री है, किंतु उसके व्यक्तित्व, इच्छाओं और भावनाओं को कभी उचित महत्व नहीं दिया जाता। पिता ययाति, ऋषि गालव, गुरु विश्वामित्र तथा विभिन्न राजा सभी उसे अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र समझते हैं। भीष्म साहनी ने 'माधवी' के चरित्र के माध्यम से यह दिखाया है कि पुरुष अहं केवल स्त्री का शोषण ही नहीं करता, बल्कि मानवीय संवेदनाओं और संबंधों को भी नष्ट कर देता है। नाटक में 'माधवी' का अंतत: संसार से विरक्त होकर वन की ओर प्रस्थान करना, उसके आत्मसम्मान और आत्ममुक्ति का प्रतीक है। यह निर्णय उसके भीतर की उस चेतना को व्यक्त करता है जो पुरुषों द्वारा नियंत्रित जीवन को अस्वीकार कर अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करना चाहती है। इस प्रकार 'माधवी' स्त्री-शोषण, लैंगिक असमानता और पुरुष-अहं की विनाशकारी प्रवृत्तियों पर तीखा प्रहार करता है। 'माधवी' का जीवन हमें यह सोचने के लिए विवश करता है कि किसी भी समाज की वास्तविक प्रगति तभी संभव है, जब स्त्री को वस्तु या साधन नहीं, बल्कि स्वतंत्र व्यक्तित्व और समान अधिकारों वाले मनुष्य के रूप में स्वीकार किया जाए।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110007
ई-मेल : 2018muskangiri@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. भीष्म साहनी : सादगी का सौन्दर्यशास्त्र- हरियश राय- वाणी प्रकाशन- संस्करण-2020-पृष्ठ संख्या-22
2. वही, पृष्ठ-22
3. हिंदी का गद्य साहित्य- रामचंद्र तिवारी- विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-संस्करण-2022- पृष्ठ संख्या-480
4. आज के अतीत-भीष्म साहनी-राजकमल प्रकाशन- नई दिल्ली, दरियागंज-संस्करण-2003-पृष्ठ संख्या-239
5. माधवी-भीष्म साहनी-राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली, दरियागंज-संस्करण- 2016- पृष्ठ संख्या-65
6. वही, पृष्ठ-21
7. सिंदुर की होली- लक्ष्मीनारायण मिश्र- निकष प्रकाशन, दिल्ली- संस्करण-2018- पृष्ठ संख्या-33
8. माधवी-भीष्म साहनी-राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली, दरियागंज-संस्करण- 2016- पृष्ठ संख्या-25
9. वही, पृष्ठ-115
10. वही, पृष्ठ-115
11. वही, पृष्ठ-118
12. माधवी-भीष्म साहनी-राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली, दरियागंज-संस्करण- 2016- पृष्ठ संख्या-60
13. वही, पृष्ठ-64
14. यशोधरा-श्रीमैथिलीशरण गुप्त- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-संस्करण- 2018-पृष्ठ संख्या-1
15. भूख तथा अन्य कहानियाँ- सुभाष शर्मा-भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-संस्करण-2011
16. माधवी-भीष्म साहनी-राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली, दरियागंज-संस्करण-2016- पृष्ठ संख्या-27

शोध-पत्र

वैराग्य का पलायन बनाम सृजन का यथार्थ : 'यशोधरा' और 'यशोधरा जीत गई' के विशेष संदर्भ में

आयुष दुबे

शोध सार

प्रस्तुत शोध आलेख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के प्रबंध काव्य 'यशोधरा' और रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यास 'यशोधरा जीत गई' के तुलनात्मक अध्ययन पर केंद्रित है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य विधा के प्रभाव को जाँचना है। साहित्य की विधा बदलने से ऐतिहासिक पात्र के वैचारिक चरित्र में बहुत बदलाव आता है। गुप्त जी की कविता यशोधरा को एक आदर्श विरहिणी बना देती है। वहाँ उसका विरोध केवल आंसुओं तक सीमित रहता है। वह पति के संन्यास को महान मानती है। उसे केवल बिना बताए चले जाने का दुख है। इसके विपरीत गद्य की जमीन पर यशोधरा एक प्रखर स्त्री के रूप में उभरती है। उपन्यास की यशोधरा सिद्धार्थ के गृहत्याग को वैराग्य नहीं मानती। वह इसे जीवन की कठोरताओं से एक पलायन सिद्ध करती है। वह समाज से सीधे सवाल पूछती है। वह पुरुष के एकांगी वैराग्य की तुलना में स्त्री के सृजन को अधिक महान बताती है। यह आलेख स्थापित करता है कि काव्य यशोधरा के हृदय का दस्तावेज है। वहीं उपन्यास उसकी तार्किकता का प्रामाणिक प्रमाण है।

बीज शब्द

यशोधरा, विधागत, अनुशीलन, महाभिनिष्क्रमण, स्त्री विमर्श, रांगेय राघव, मैथिलीशरण गुप्त पलायन, सृजन।

प्रस्तावना

साहित्य के गंभीर आख्यानों में अक्सर कुछ पात्र पीछे छूट जाते हैं। इतिहास हमेशा विजेताओं और संन्यासियों की गाथा गाता है। इस प्रक्रिया में स्त्रियां अक्सर हाशिए पर धकेल दी जाती हैं। यशोधरा भी इतिहास की एक ऐसी ही उपेक्षित पात्रा है। सिद्धार्थ का घर छोड़कर जाना एक बहुत बड़ी घटना थी। इस घटना ने दुनिया को बुद्ध दिया। लेकिन इस महान वैराग्य की चमक में यशोधरा का बलिदान कहीं छिप गया। आधुनिक हिंदी साहित्य ने इस उपेक्षित पीड़ा को स्वर देने का प्रयास किया। इसके लिए मुख्य रूप से दो अलग विधाओं का सहारा लिया गया। एक तरफ मैथिलीशरण गुप्त का प्रबंध काव्य 'यशोधरा' है। यह काव्य उन्नीस सौ बत्तीस में प्रकाशित हुआ था। दूसरी तरफ रांगेय राघव का ऐतिहासिक उपन्यास 'यशोधरा जीत गई' है। यह उपन्यास उन्नीस सौ चौवन में सामने आया। ये दोनों कृतियां यशोधरा के चरित्र को बिल्कुल अलग ढंग से पेश करती हैं। गुप्त जी का काव्य भावनाओं से भरा है। राघव जी का उपन्यास कठोर यथार्थ पर खड़ा है। प्रस्तुत आलेख इन्हीं दो कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन है। हम देखेंगे कि कविता और गद्य की तासीर कैसे एक ही पात्र की सोच को बदल देती है।

विधा केवल कहानी कहने का तरीका नहीं है। यह पात्रों की आत्मा और उनके सोचने के ढंग को भी तय करती है। कविता की अपनी एक अलग दुनिया होती है। यह भावनाओं की सघनता मांगती है। कविता में तर्क से ज्यादा करुणा होती है। यही कारण है कि गुप्त जी की यशोधरा महलों में बैठकर बस आँसू बहाती है। वह विरह की आग में जलती है। वह एक आदर्श भारतीय नारी की मर्यादा में बंधी हुई है। उसका सारा विद्रोह उसके आंसुओं तक ही सीमित रह जाता है। वह सिद्धार्थ के संन्यास के खिलाफ कोई झंडा नहीं उठाती।

इसके विपरीत गद्य की दुनिया बिल्कुल अलग होती है। उपन्यास हमेशा यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ा होता है। यहाँ केवल आंसुओं से काम नहीं चलता। यहाँ पात्रों को तर्क करने पड़ते हैं। उन्हें समाज से टकराना पड़ता है। रांगेय राघव ने अपने उपन्यास में इसी गद्य का सहारा लिया है। उनकी यशोधरा केवल रोती नहीं है। उपन्यास में उसका नाम भद्राकापिलायिनी रखा गया है। वह पितृसत्ता और समाज की आँखों में आँखें डालकर सवाल पूछती है। गद्य की यह तार्किकता उसे असीम शक्ति देती है। वह सिद्धार्थ के महान त्याग को कटघरे में खड़ा कर देती है। विधा के इस बदलाव ने यशोधरा को एक अबला से एक विचारक बना दिया है। कविता उसे भावनाओं के शिखर पर बैठाती है। उपन्यास उसे यथार्थ की खुरदरी जमीन पर लाकर एक मजबूत इंसान बनाता है।

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के बहुत बड़े कवि थे। उस दौर में भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। गुप्त जी स्त्री के खोए हुए गौरव को वापस लाना चाहते थे। उनकी 'यशोधरा' रचना के पीछे भी यही छटपटाहट थी। उनकी यशोधरा केवल रोने वाली स्त्री नहीं है। वह भारतीय अस्मिता का एक जीवंत रूप है। गुप्त जी ने तत्कालीन स्त्री की बेबसी को बहुत गहराई से लिखा है। उन्होंने लिखा कि अबला जीवन की कहानी केवल आंसुओं और दूध तक सीमित है।

लेकिन हमें यशोधरा के मनोविज्ञान को भी समझना होगा। वह अपने पति के रास्ते की रुकावट नहीं बनना चाहती। उसका असली दुख सिद्धार्थ के संन्यास लेने से नहीं है। उसका स्वाभिमान इस बात पर आहत है कि सिद्धार्थ उसे बिना बताए चले गए। वह छले जाने का दर्द सहती है। वह अपनी सखी से कहती है कि सिद्धि के लिए जाना गौरव की बात है। लेकिन चोरी से जाना बहुत बड़ा आघात है। वह सोचती है कि क्या सिद्धार्थ उसे अपने मार्ग की बाधा समझते थे। यहाँ यशोधरा का स्वाभिमान बहुत ऊँचा है। इसके अलावा गुप्त जी की यशोधरा दार्शनिक भी है। वह संसार को केवल जन्म और मरण का चक्र नहीं मानती। वह प्रकृति के नियमों का हवाला देती है। वह कहती है कि सूर्य और चंद्रमा हमेशा अपना काम करते हैं। वे मोक्ष के लिए भागते नहीं हैं। इसलिए मनुष्य को भी अपने कर्म से नहीं भागना चाहिए। गुप्त जी की यशोधरा का विरह बहुत मर्यादित है। उसमें छायावादी वेदना है और जीवन को थामे रखने का संकल्प भी है।

रांगेय राघव प्रगतिशील विचारधारा के लेखक थे। वे इतिहास को चमत्कारों की नजर से नहीं देखते थे। उनकी नजर भौतिक और सामाजिक यथार्थ पर रहती थी। उनके उपन्यास में प्रवेश करते ही एक बिल्कुल अलग यशोधरा सामने आती है। यह यशोधरा आंसुओं में नहीं डूबती। वह अपने समय के पुरुष प्रधान समाज से सीधे टकराती है। प्राचीन बौद्ध समाज में स्त्रियों को बहुत नीचा माना जाता था। शुरुआत में बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश भी नहीं दिया था। ऐसे रूढ़िवादी माहौल में यशोधरा का मुखर होना बहुत बड़ी बात है।

राघव जी की यशोधरा सिद्धार्थ के गृहत्याग को कोई महान काम नहीं मानती। वह इसे सीधे तौर पर जीवन की कठोरताओं से एक 'पलायन' कह देती है। उसका मानना है कि संसार के दुखों से घबराकर भाग जाना वैराग्य नहीं है। यह केवल पुरुष के भीतर छिपा हुआ अहंकार है। सिद्धार्थ बीमारी और बुढ़ापे से डर गए थे। उन्होंने मुक्ति का आसान रास्ता चुना। अपनी वैचारिक शांति के लिए उन्होंने पत्नी और नवजात बच्चे को अकेला छोड़ दिया। यशोधरा इस बात को कतई स्वीकार नहीं करती। वह इस भागने को महानता का नाम देने का कड़ा विरोध करती है। वह समाज के इस दोहरे मापदंड पर गहरी चोट करती है। गद्य की शक्ति ने यशोधरा को यह साहस दिया है। वह चुपचाप दुख सहने वाली देवी नहीं रहना चाहती। वह अपना हक और अपना न्याय मांगती है।

इन दोनों रचनाओं का सबसे बड़ा वैचारिक टकराव यहीं सामने आता है। यह टकराव वैराग्य और सृजन के बीच का है। गुप्त जी की यशोधरा संन्यास को ऊँचा आदर्श मानकर मन को समझा लेती है। लेकिन राघव जी की यशोधरा सृजन को वैराग्य से बहुत बड़ा मानती है। वह महाप्रजापती गौतमी से बहुत गंभीर बातचीत करती है। वह समझाती है कि जीवन को जन्म देना सबसे कठिन काम है। एक स्त्री अपने शरीर को कष्ट देकर बच्चे को जन्म देती है। वह उसे पालने के लिए अपनी हर इच्छा को मार देती है। दूसरों के सुख के लिए खुद को मिटा देना ही असली सृजन है। यह सृजन उन लोगों से बहुत महान है जो दुख से डरकर जंगल भाग जाते हैं।

यशोधरा पुरुष के उस दंभ को पूरी तरह तोड़ देती है। पुरुष हमेशा स्त्री को अपने मार्ग की बाधा समझता है। उसे

लगता है कि स्त्री उसे माया में फंसा लेगी। यशोधरा इस सोच को गलत साबित करती है। वह पूछती है कि जो संसार को बनाती है वह पुरुष से छोटी कैसे हो सकती है। असली त्याग तो स्त्री करती है। वह महल में रहकर तमाम साजिशों को सहती है। वह अकेले अपने बेटे राहुल को बड़ा करती है। वह जीवन की हर चुनौती का डटकर सामना करती है। उसने यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ा। यही उसका सबसे बड़ा सृजन है। वैराग्य केवल एक व्यक्ति की मुक्ति है। लेकिन सृजन पूरे समाज और मानवता का आधार है। यशोधरा इसी सृजन की सबसे बड़ी प्रतीक बनकर उभरती है।

उपन्यास का शीर्षक 'यशोधरा जीत गई' बहुत ही प्रतीकात्मक है। आखिर यशोधरा कैसे जीत गई। सिद्धार्थ ने संसार के दुखों से घबराकर घर छोड़ दिया था। उन्होंने कठोर तपस्या की और बुद्ध कहलाए। पूरी दुनिया ने उनके सामने सिर झुकाया। लेकिन यशोधरा ने जीवन को चुना। उसने दुख और अकेलेपन को अपना साथी बनाया। उसने अपनी जिम्मेदारियों से मुँह नहीं मोड़ा। उसने एक परित्यक्ता स्त्री के रूप में हर पीड़ा को झेला। उसने साबित कर दिया कि सच्ची मुक्ति भागने में नहीं है। जीवन के बीच रहकर उसे पूरी ईमानदारी से जीने में ही असली मुक्ति है।

जीवन को छोड़ने वाले बुद्ध की तुलना में यशोधरा बहुत बड़ी दिखाई देती है। उसने अपने आंसुओं को अपनी ताकत बनाया। उसने अपने बच्चे को एक योग्य इंसान बनाया। जब बुद्ध वापस कपिलवस्तु आते हैं तो यशोधरा उनसे मिलने नहीं जाती। वह अपनी जगह पर अडिग रहती है। बुद्ध को स्वयं उसके पास आना पड़ता है। यही यशोधरा की सबसे बड़ी वैचारिक और नैतिक जीत है। उसने अपने सृजन के यथार्थ से बुद्ध के वैराग्य को झुका दिया। गद्य के इस विमर्श में यशोधरा पूरी तरह से विजयी होती है। वह पुरुष सत्ता के सामने हार नहीं मानती। वह अपनी शर्तों पर जीवन जीती है। यह जीत केवल यशोधरा की नहीं है। यह जीत दुनिया की हर उस स्त्री की है जो सृजन करती है।

अब तक की चर्चा से दोनों कृतियों का अंतर बिल्कुल साफ हो जाता है। दोनों ही रचनाएं एक उपेक्षित नारी के दर्द को सामने लाती हैं। लेकिन विधाओं की भिन्नता के कारण उनका रास्ता अलग हो जाता है। सबसे पहला अंतर त्याग को देखने के नजरिए में है। काव्य की यशोधरा पति के त्याग को सिर माथे पर रखती है। गद्य की यशोधरा उस त्याग को पलायन कहकर नकार देती है। दूसरा बड़ा अंतर स्त्री स्वाभिमान के स्तर पर है। गुप्त जी की यशोधरा का स्वाभिमान केवल बिना बताए जाने से आहत है। यहाँ रोने और विलाप करने की प्रधानता है। इसके विपरीत राघव जी की यशोधरा अपनी गरिमा पर अडिग है। वह पुरुष वर्चस्व से सीधे सवाल पूछती है।

तीसरा अंतर भाषा और अभिव्यक्ति का है। गुप्त जी का काव्य गीतों से भरा है। इसमें खुद से बातें करने की प्रवृत्ति है। इसकी भाषा बहुत ही शास्त्रीय और संस्कृतनिष्ठ है। इसके विपरीत उपन्यास का पूरा ढांचा तेज संवादों पर टिका है। राघव जी की यशोधरा दूसरे पात्रों से सीधी बहस करती है। यही बहस उसे एक बेबस औरत से बाहर निकालती है। वह एक बौद्धिक विमर्शकार बन जाती है। काव्य में जहाँ शांति और समर्पण है वहीं उपन्यास में बगावत और तर्क है। एक जगह यशोधरा देवी है तो दूसरी जगह वह एक जीती जागती संघर्षशील इंसान है।

निष्कर्ष

इस पूरी लंबी चर्चा को समेटते हुए हम कई अहम् नतीजों पर पहुँचते हैं। मैथिलीशरण गुप्त और रांगेय राघव दोनों ने ही हिंदी साहित्य को बहुत बड़ी सौगात दी है। उन्होंने इतिहास के अंधेरे में खोई एक महान स्त्री को रौशनी में खड़ा किया। विधाओं की ताकत ने इस एक ही चरित्र को दो बिल्कुल अलग दिशाओं में विकसित किया। कविता के साँचे में ढलकर यशोधरा भारतीय नारी के महान आदर्श की चरम सीमा बन जाती है। वह पति के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने वाली देवी है। लेकिन गद्य के विशाल फलक पर वह एक तार्किक और मुखर स्त्री के रूप में सामने आती है। वह पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे पैमानों पर सीधी चोट करने वाली विद्रोही है।

ये दोनों रचनाएं एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। असल में ये एक दूसरे को पूरा करती हैं। गुप्त जी की कविता यदि यशोधरा के हृदय का आख्यान है। यह उसकी भावनाओं का सबसे सुंदर रूप है। तो रांगेय राघव का उपन्यास उसके मस्तिष्क का दस्तावेज है। यह उसकी तार्किकता और जीवन के मोर्चे पर शानदार विजय का प्रमाण है। इंसान केवल भावनाओं या केवल तर्कों से नहीं बनता। वह इन दोनों का मिला–जुला

रूप होता है। यशोधरा को उसकी पूरी गहराई में समझने के लिए हमें इन दोनों ही रास्तों से होकर गुजरना पड़ता है। काव्य हमें रुलाता है और उपन्यास हमें सोचने पर मजबूर करता है। यही इन दोनों महान साहित्यकारों की सबसे बड़ी सफलता है। वैराग्य का पलायन भले ही दुनिया को लुभाता हो। लेकिन यशोधरा के सृजन का यथार्थ हमेशा उससे भारी रहेगा। यशोधरा सचमुच जीत गई है।

हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची

* गुप्त, मैथिलीशरण. (1932). यशोधरा. चिरगाँव : साहित्य सदन.
* राघव, रांगेय. (1954). यशोधरा जीत गई. आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर.
* सरोज, निशा एवं पाठक, ऋचा. (2023). बौद्ध साहित्य में महिलाओं की स्थिति. ह्यूमैनिटीज एंड डेवलपमेंट, 18(2), 64-69.
* (लेखक अज्ञात). (प्रकाशन वर्ष अप्राप्य). यशोधरा और राष्ट्र : मैथिलीशरण गुप्त. आगरा : नाथ पब्लिशिंग हाउस.
* (लेखक अज्ञात). (प्रकाशन वर्ष अप्राप्य). मैथिलीशरण गुप्त का काव्य शिल्प (अध्याय 7). पृ. 118-122.

शोध-पत्र

आधुनिक हिन्दी साहित्य : चेतना के नए स्वर

विनय यादव

शोध सार

आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतीय समाज में आए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का दर्पण है। इस साहित्य में नई चेतना, नए विचार और नए जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। आधुनिक काल के साहित्यकारों ने स्वतंत्रता, समानता, स्त्री-अधिकार, दलित चेतना, आदिवासी अस्मिता, पर्यावरण और मानवीय मूल्यों जैसे विषयों को प्रमुखता से उठाया है। इसका उद्देश्य आधुनिक हिन्दी साहित्य में उभरने वाले नए चेतना-स्वरों का अध्ययन करना है। यह बताता है कि साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज को जागरूक करने और परिवर्तन लाने का माध्यम भी है। आधुनिक रचनाकारों ने आम लोगों के संघर्ष, समस्याओं और आकांक्षाओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य ने बदलते समय के साथ नई सोच और नई संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया है। इन नए स्वरों ने साहित्य को अधिक व्यापक, लोकतांत्रिक और जनोन्मुख बनाया है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य समाज में सकारात्मक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

बीज शब्द

आधुनिकता, चेतना, नए स्वर, भाषा, संस्कृति, देशभक्ति, अतीत।

मूल लेख

आधुनिक शब्द सामान्य न होकर विशिष्ट शब्दों की श्रेणी में गिना जाने वाला शब्द है। आधुनिक शब्द अपने आप में विशिष्ट है। जहां भी आधुनिकता का जन्म होता है वहाँ तार्किक प्रश्नों की उत्पत्ति होती है। आधुनिकता जिस तरह मानव विकास का स्वाभाविक चरण है उसी प्रकार साहित्य में आधुनिकता का भी एक स्वाभाविक चरण है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का उदय 19वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकता के उदय होने से समाज तो बदल ही गया उसके साथ ही साहित्य का समाज भी बदल दिया। यदि हम आधुनिकता की कसौटियों पर बात करें तो हम सर्वप्रथम तर्क की बात करेंगे, उसके बाद नयापन, जीवन मूख्य, दृष्टिकोण आदि। इन्हीं कसौटियों को ध्यान में रखकर आधुनिक हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करें तो आधुनिक साहित्य सम्पूर्ण साहित्य में क्रांति का कार्य करता है। जैसाकि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं, 'साहित्य समाज का दर्पण होता है।' यह कथ्य आधुनिकता से किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के पितामह भारतेन्दु हरिश्चन्द जी योगदान अतूल्यनीय है। साहित्य के सभी विद्यायों में अधिकतर उनका आगमन हुआ है। जब भारतेन्दु साहित्य में प्रवेश करते हैं तब अपना भारत, ब्रिटिश की जंजीरों से जकड़ा हुआ था। उस काल में भारतेन्दु जी साहित्य में चेतना को प्रवेश कराने का कार्य करते हैं। हालांकि भारतेन्दु समान में सक्रिय थे लेकिन जब उन्होंने साहित्य की ओर देखा तब उन्हें इस ओर आना आवश्यक लगा। भारतेन्दु जी चेतना को केन्द्र में रखकर लगभग सभी विधाओं में सृजन किया। यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि है। इन्होंने अपने सूचनाओं में अंग्रेजों का तो पर्दाफाश तो किया ही है और साथ ही समाज में उपस्थित भ्रष्टाचारियों का भी पर्दाफाश किया है। जैसे–

''भीतर भीतर सब रस चूसै,
हँसि-हँसि के तन मन धन मूसे।
जाहिर वाचन में अति तेज।

क्यों सखि साजन नहिं अंग्रेज॥''

भारतेन्दु की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि अपने नाटक में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग करते थे। इन्होंने मौलिक और अनुदित दोनों में रचना करने का सामर्थ रखते हैं। इनके मौलिक नाटकों की संख्या लगभग 8 नाटक है। अपने नाटकों में संस्कृति पर विशेष बल दिये हैं-

''जय सतजुग थापन करन, नासन मलेच्छ आचार।
कठिन धार तरवार कर कृष्ण कल्कि अवतार॥''

अपने समय के साथ सक्रिय रहना आधुनिकता के लक्षणों में गिने जाते हैं जो भारतेन्दु के यहाँ साफ तौर पर दिखाई देता है। भारतेन्दु के पूर्व राजामोहन राय, रानाडे, दयानंद सरस्वती एवं एनी बेसेन्ट ने समाज में महत्वपूर्ण योगदान दिये हैं। इन्हीं लोगों के कारण पत्र के रूप में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक उत्थान हुआ है। जिससे प्रेरित होकर साहित्य में महत्वपूर्ण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

आधुनिक साहित्य में चेतना के संदर्भ में बात करें तो हम तीन भागों में विभाजन करके देख सकते हैं-सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना।

सामाजिक चेतना- आधुनिक हिन्दी समाज का मुख्य विषय है जिसे केन्द्र में रखकर समाज के चारों ओर फैलाया गया। सर्वप्रथम सामाजिक चेतना की बात करें तो हम भारतेन्दु के नाटक, निबंध को आगे -

अंधाधुध मच्यों सब देशा,
मानहुँ सब राजा रहत विरेशा॥

भारतेन्दु कृत 'अंधेर नगरी' नाटक सामाजिक चेतना का नाटक है जिसमें भ्रष्ट समाज को दिखाने का प्रयास किया है। राजसत्ता होने के बावजूद समाज में इतनी कूरूपता क्यों... ? ऐसी चीजें दिखाने के लिए भारतेन्दु अपने सभी नाटकों में दिखाते हैं। भाषा में चेतना का स्वर सर्वप्रथम भारतेन्दु के यहां दिखाई देता है। उस वक्त दो भाषाओं का केन्द्र था। उसी समय इन्होंने लिखा-

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान न के मिटत न दिय को सूल।"

सबसे बड़ी जिम्मेदारी भारतेन्दु जी की यही थी कि अपने मातृ भाषाओं को प्राथमिकता दीजिए। बिना अपने मातृ/भाषा के ह्दय को सूकून नहीं मिलेगा। 20वीं शती के प्रारंभ में मैथिलीशरण गुप्त जी का प्रस्थान होता है। इन्होंने समाज में नारी को केन्द्र में रखकर 'साकेत' की रचना करते हैं। नारियों पर विशेष ध्यान देते हुए लिखते हैं कि-

''अबला जीवन, हाथ, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥''

चार दिवारों के बीच घिरी हुई महिलाओं का दर्द है जो गुप्त जी अपनी रचनाओं में बयाँ करते हैं। आज आधुनिक समाज में यह विसंगति व्याप्त है जो कोई भी बयाँ करने को तैयार नहीं है। यदि उनकी दुर्दशा को सामने लाया जाए तभी समाज में चेतना का विस्तार होगा। जब तक अपनी बीती सामने प्रदर्शित नहीं करोगे तब तक नारी का उत्थान नहीं हो सकता।

वर्तमान समाज में नारी का विषय बहुत कठिन हो गया है। उनके दर्द उनकी पीड़ा वे स्वयं बात करें तो बहुत सहजता से कर लेंगे लेकिन कोई दूसरा व्यक्त नहीं कर सकता है। आधुनिकता सम्पूर्ण समाज के लिए आ गया लेकिन स्त्रियों के लिए आधुनिकता क्यों नहीं कार्य कर रहा है। कुछ चीजें हैं जिन पर आधुनिकता ने स्त्रियों पर कार्य किया है जैसे मताधिकार, शिक्षा, व्यवसाय आदि चीजों में प्रभाव दिखाई पड़ता है। अत: कहने तात्पर्य यह है कि आधुनिकता केवल शहरों पर हावी हुआ है, गाँव जैसा था वैसा ही है।

समाज की अकुलाहट को देखकर आधुनिक साहित्य के लेखक एवं कवि चुप बैठ नहीं पाते हैं। यदि एक लेखक शांत बैठता है तो दूसरा अपना प्रदर्शन दिखाना आरंभ कर देता है। आधुनिक कविता में सामाजिक चेतना को केन्द्र में रखकर नवयुवक घर निशाना साधते हैं-

''तुम अपने सुख के प्रबंध के न हो पूर्ण अधिकारी
यह मनुष्यता पर कलंक है प्रियबंधु तुम्हारी,
पराधीन रहकर अपना सुख शोक न कह सकता है,
वह अपमान जगत में केवल पशु ही सह सकता है।"

इन्होंने समाज के उत्थान के लिए नवयुवक को जागरूक करते हैं। ये अपने समान में व्याप्त सभी प्रकार के विसंगतियों को ध्यान में रखकर नवयुवक को जागरूक करते हैं। अन्य सभी लेखकों की तरह भाव वंचित नहीं करते हैं। यह सबसे बड़ी उपलब्धि लेखक की है। इनसे पहले एवं वर्तमान में अन्य लेखक गण अपना भाव-भंगिमा कहकर साहित्य रच देते हैं। लेकिन इनके यहाँ ऐसा कहीं दूर भी दिखाई नहीं देता है।

वर्तमान संदर्भ में समान की प्राथमिकता देना सभी लेखकों का धर्म होना चाहिए। लेकिन ऐसा बहुत कम लोगों के यहाँ

दिखाई देता है। एक बात सत्य है कि स्वतंत्रता के पूर्व भारत में अनेकों लेखकों ने योगदान दिया लेकिन इन सभी लेखकों की प्रेरणा आज के लेखकों क्यों नहीं दिखता यह बहुत विवादित प्रश्न हो जाएगा। खैर भाज भी हिन्दी साहित्य जिन्दा है जो सबसे बड़ी उपलब्धि है। जयशंकर प्रसाद छायावाद के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। उन्होंने अपनी रचना 'कामायनी' में लिखते हैं कि –

''नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नगपण तल में
पीयूष स्रोत–सी बहा करो,
जीवन के सुंदर समतल में॥''

समाज में व्याप्त कुरुतियों को दूर करने के लिए प्रसाद जी अपने रचनाओं में वक्त करते हैं। समाज में नारी को हमेशा हीन भावना से देखा गया है। आज भी स्त्रियों को घर से बाहर भेजने के लिए मन अनेकों बार सोचना पड़ता है। इन सब चीजों को ध्यान में रखकर प्रसाद जी अपनी रचना को सजाते हैं। समाज में चेतना के नये के सन्दर्भ में बात करें तो शिक्षा, समान, नारी, नवयुवक इन चारों को मुख्य रूप से जोड़ कर देखना लाजिम है।

उपर्युक्त अंश में नये स्वर के मुख्य भाग सामाजिक चेतना को रेखांकित किया गया है। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य का मुख्य भाग है। जिसे समग्र लेखक प्राथमिकता देता है। भारतेन्दु जी लेकर 20वीं शती के अर्थ तक खूब अच्छे से समाज की चेतना को देखने को मिलता है। प्रेमचंद जी के अनेक कहानी, उपन्यास में देखने को मिलता है। 'गोदान' प्रेमचन्द जी का उपन्यास बहुचर्चित है जिसमें एक किसान की गाथा है जिससे प्रेमचन्द जी समग्र समाज को चैतन्य करने का प्रयास करते हैं। ऐसे ही 'निर्मला' उपन्यास में अनमेल विवाह को लेकर बहुत सटीक चित्रण करते हैं। प्रेमचन्द जी के रचनाओं में अनेक स्वर व्यंजित हुए हैं।

राजनीतिक चेतना– अभी तक समाज को लेकर सटीक ढंग से चेतना के नये स्वर को व्यंजित करने का प्रयास किया गया है। आरंभ से लेकर जहाँ तक उपयुक्त दिखा वहाँ तक दिखाने का प्रयास किया गया है। राजनीति की बात करें तो आरंभ से इस पर जोर दिया गया है और लगभग सभी विद्याओं पर जोर दिया गया है। राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना सही ढंग से आज तक कोई लेखक या साहित्यकार नहीं कर सका है। सर्वप्रथम जब अंग्रेजों के शासन की बात करें तो हमें भारतेन्दु जी का निबंध याद कर लेना चाहिए। 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है. ?' नामक निबंध की रचना करते हैं। इस निबंध में अंग्रेजी शासन में राजनीतिक मुद्दा को उठाया हैं। और ब्रिटिश सरकार से तर्क करते हैं। यहाँ पर भारतेन्दु जी के अलावा कोई लेखक सामने आने का हिम्मत नहीं दिखाया। इस निबंध में राजभक्ति और देशभक्ति की मिश्रित भावना को दिखाया है। यहाँ पर हरिशचंद्र जी का एक उद्देश्य था कि भेदभाव मिटाकर सभी धर्मों और जातियों से समान अधिकार दिया जाना चाहिए।

भारतेन्दु न केवल निबंध में राजनीतिक चेतना को उठाया बल्कि नाटक में भी उठाया है। अत: नाटक में राजनेता को नंगा कर देते हैं। 'अंधेर नगरी' नाटक में भारतेन्दु जी कहते हैं कि–

''अंधेर नगरी अनबूझ राजा
टके सेर भाजी, टके से खाजा॥''

राजनेताओं को संबोधित करते हैं। ये ऐसे लेखक हैं जो कभी मर नहीं सकते हैं वो हमेशा जीवित रहेंगे। संसार में नहीं, वो अपने रचनाओं में, पंक्तियों में जीवित रहेंगे। आज भी इनकी पंक्ति को समाज में जोड़ें तो प्रासंगिक रहेगा। एक अच्छे साहित्यकार की यही पहचान होती है। भारतेन्दु जी राजनीति व्यवस्था से खेलने वाले पहले साहित्यकार हैं। इन्होंने ही अंग्रेजों को अपने रचनाओं के माध्यम से अपनी मुट्ठी हमें कैद कर लिया था। इनके बाद मैथिलीशरण जी ने 'भारत–भारती' की रचना किया। पहली बार में ही अंग्रेजों ने जप्त करा दिये। जो कि लेखक के साथ बहुत अन्याय हुआ। गुप्त जी भारतेन्दु के जैसा ही सभी को जागरूक एवं राजनीति को व्यवस्था है ठीक करना चाहते थे। भारत–भारती राष्ट्र को समर्पित पुस्तक है। जिसमें अँग्रेजों द्वारा पीड़ित जनता को दिखाने का प्रयास एवं असली चेहरा दिखाये हैं।

''हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥''

अपने अतीत और वर्तमान को देखकर दुर्दशा बताते हैं। और उसके समाधान के लिए विचार भी करते हैं। राजनीतिक पक्ष पर, इन्होंने ठोस कदम उठाया है। उसी प्रकार विदेशी फिरंगियों को केन्द्र में लेते हैं–

वैश्यो! सुनों व्यापार सारा मिट चुका है देश का
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का

भारतेन्दु जी जब नाटक में ब्रिटिशों को ललकारते हैं वहीं

पर गुप्त जी कविता में ललकारते हुए दिखाई देते हैं। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि केवल नाटक और निबंध में ही राजनीति को विस्तार नहीं बल्कि कविताओं में भी उतना ही स्थान दिया है। यह वह दौर है जहा भारत पर ब्रिटिश अपना पैर सही ढंग से जमा लिया था। जिसे उठाना सरल नहीं था। गुप्त जी का लेखन काल सबसे लम्बे समय तक चला, लेकिन इनका शुरुआती दौर राजनीति से गुंजा हुआ था। गुप्त के समकालीन कवि राममरेश त्रिपाठी जी अपनी रचनाओं में राजनीतिक चेतना को उठाने का प्रयास करते हैं–

''देश–प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से बिलमित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥''

रामनरेश त्रिपाठी जी अपनी राजनीतिक चेतना को ध्यान में रखते हुए, देश–प्रेम की बात करते हैं। देश–प्रेम सर्वोपरि है। इन्हीं से अपने भारत–भूमि में मनुष्यता विकसित होगी। यह वही दौर है जहाँ राष्ट्र को सर्वापरि माना गया है। बिना राष्ट्र–प्रेम के जीवन असंभव है। यदि सत्ता किसी भी व्यक्ति के हाथ में है उसे अपने राष्ट्र को प्रेम करना चाहिए। बिना किसी भेदभाव के उन्हें अपने राष्ट्र में विकसित करना चाहिए। जिससे मानवता में वृद्धि होगी। इसके साथ ही देश का कल्याण होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रगतिवाद के श्लाका पुरुष कहे जाने वाले कवि नागार्जुन ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में राजनीति की ऐसी रेखा खीची है जिसका कोई अंत नहीं है। इसका माप देना असंभव है। इन्हें आधुनिक कबीर भी कहा जाता है। कबीर भी जन की जज्बात को केन्द्र में रखते थे, यह भी वैसे अपनी रचनाओं में स्थान देने का प्रयास करते हैं–

''जन–जन में जो ऊर्जा भर दे,
मैं उद्‌गाता हूँ उस रवि का।''

उपर्युक्त पंक्तियों में ऊर्जा नामक शब्द का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति को लेकर सम्बोधित करते हैं। अन्याय के खिलाफ आवाज उठाओ और सक्रिय रही। कबीर का समाज, नागार्जुन के समाज दोनों बराबर दिखाई देते हैं। राजनीति की, बात को लेकर नागार्जुन अधिक उत्सुक रहते हैं। इनकी अधिकतर रचना राजनीति में जगह बना ही लेता है। काँग्रेस की सत्ता को जिस तरह ललकारते हैं शायद ही सम्पूर्ण साहित्य में किसी सत्ता को किसी लेखक ने इतने बेबाकी से कह दिया हो –

क्या हुआ आपको.. ?
सत्ता की मस्ती में
भूल गई बाप को
इंद्र जी, इंदूजी, क्या दुसा आपको.. ?

ऐसी स्पष्ट भाषा में कहना बलि के बकरा बनने से आज के समय में कोई नहीं रोक सकता। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि नागार्जुन इतना कुछ कह गये लेकिन उन्हें तिनका–सा खरोच नहीं हुआ। ऐसा कवि होना साहित्य के लिए न्याय है। क्योंकि कवि का काम समाज के सभी पक्ष का कान पकड़ कर खींचना होता है। जो आज के समय में थोड़ा–सा भी नहीं दिखाई देता है। आजकल कविता में अपना भाव व्यक्त करके, प्रेम कविताएँ लिखकर। महान कवि मानने का अधिकार जमा लेते हैं। हिन्दी साहित्य में साठोत्तर कविता राजनीतिक मामले में काफी चर्चित है। यहाँ घर केवल सपाट बयानी होती है। सुदामा पाण्डे 'धूमिल' आधुनिक हिन्दी साहित्य में राजनीतिक कविता म महत्वपूर्ण जगह बनाते हैं–

''अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
आधा पानी है।''

साठोत्तरी कविता में इकलौते कवि हैं जिन्होंने एक संसद को बारीकियों से बताया है। अर्थात् जनता को संसद के बारे में बता रहे हैं। 1980 के दशक में लगभग सभी जनता सक्रिय हो चुकी थे लेकिन अपने शब्दों को बाहर से निकालने की कसम खाये थे। जुबान सबकी सुखी हुई थी. कोई भी जनता अपने बात को रखने में असुरक्षा महसूस करते थे। इन्हीं देखते हुए राजनीतिक चेतना के स्वर को इतने बेबाकी से आधुनिक हिन्दी साहित्य में कहा गया है कि सभी राजनीतिज्ञ का पर्दाफाश हो गया।

सांस्कृतिक चेतना– संस्कृति मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। जो भारत के कोने–कोने में व्याप्त है। जैसाकि कहा जाता है आधुनिकता के आने से अपनी पुरानी संस्कृतियों पीछे छोड़ने की बात अवश्य होती है। लेकिन बिना संस्कृति के जीवन अधूरा है। इसके बिना जीवन में अंधेरा है। भारत एक ऐसा देश है, जहाँ संस्कृति बहुप्रचलित है। जितना आदर यहां की जनता अपनी संस्कृति देता है, उतना किसी भी पक्ष को नहीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कुछ अंश से ही संस्कृति का विकास हुआ है क्योंकि आदिकाल और भक्तिकाल में संस्कृतियों

का प्रचलन बहुत था। भारतेन्दु ने 1973 ई. में ही कह दिये थे, कि सभी उन्नतियों का मूल 'धर्म' है। बिना धर्म से उन्नति नहीं हो सकती है। यदि भारत में देखें तो सबकी संस्कृति अलग-अलग है। यह जातियों में बंटा हुआ है। आधुनिक हिन्दी कविता में लगभग सभी के यहाँ संस्कृति दिखाई पड़ जाती है। मैथिलीशरण गुप्त जी के यही संस्कृति का सही ढंग से लक्षण दिखाई पड़ जाता है-

भू-लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल वहाँ।

अपनी भूमि की जो सुंदरता है, वो किसी और देश में नहीं है। गुप्त जी ने इतने बेबाकी से अपनी धरती, अपनी संस्कृति को बयां करते हैं। छायावाद में जयशंकर प्रसाद जी संस्कृतियों पर विशेष बल देते हैं। लिखते हैं-

''मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन हा।
दुख-सुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन था।''

मानव जीवन को परिणय में बंध कर जीना आसान नहीं है। जिस तरह जीवन दूसरे का दिखाई देता है उसके आगे बहुत अंधेरा, है जो हम देख नहीं पाते हैं। मानव जीवन के लगभग सभी पक्ष को बहुत अच्छे चित्रित किये हैं। छायावाद में 'निराला' ने संस्कृति पर जोर देकर कहा है कि-

''शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन।''

हिन्दू संस्कृति को जगाने का प्रयास 'निराला' ने 'राम की शक्ति पूजा' काव्यग्रंथ में किया है। यह मौलिक कल्पना, वर्तमान समाज को बता रही है कि बिना मौलिक कल्पना के सिद्धि नहीं पा सकते हैं। जयशंकर प्रसाद जी अपने नाटक में विस्तार से भारतीय संस्कृति को चित्रित किया है-

''अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥''
''हिमादि तुंग शृंग से प्रवुद्ध शुरु भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती॥''

भारतीय संस्कृति, भारत का गौरव है, जिससे हम कभी अलग नहीं हो सकते हैं। संस्कृति है तो भारत है। संस्कृति, मनुष्य को मानवता सिखाती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में चेतना के नये स्वर को विभिन्न भागों में बाँटकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक साहित्य में सामाजिक चेतना, राजनीतिक चेतना एवं सांस्कृतिक चेतना को 19वीं शती के उत्तरार्द्ध से साहित्य में जगह बनाने प्रयास किये हैं। भारतेन्दु जी ने चेतना के तीनों पक्ष पर बहुत ढंग से रचना किये हैं। उन्हें सर्वगुणसम्पन्न भी कहा जा सकता है। उन्होंने साहित्य के लगभग हर विधा में कार्य किया है। मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी भारतीय राजनीति एवं संस्कृति पर विशेष बल दिया है। इसके साथ समाज के उन पक्षों पर भी ध्यान गया है औरों की विषयवस्तु अहुत छोड़ जाती है। जैसे नारी पर लिखने की कला सर्वप्रथम उन्हें आया। जिसे चार दिवारों से मुक्त कराना चाहते हैं। अन्य ऐसे कवि हैं जो सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तीनों पक्षों पर ध्यान दिया है। सम्पूर्ण रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में चेतना के नए स्वर 19शती के उत्तरार्द्ध से कवियों एवं लेखकों के यहां व्यापक रूप में दिखाई देता है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला', राम की शक्ति पूजा, लोकभारती, नई दिल्ली
2. सिंह,बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-180
3. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल दिल्ली, पृष्ठ संख्या-193
4. सिंह, नामवर, संपादक, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल
5. हरिश्चन्द्र, भारतेंदु भारत दुर्दशा, राधाकृष्ण, नई दिल्ली
6. हरिश्चन्द्र, भारतेंदु, अंधेर नगरी, राधाकृष्ण, नई दिल्ली
7. प्रसाद, जयशंकर, चन्द्रगुप्त, लोकभारती, दिल्ली
8. गुप्त, मैथिली शरण भारत-भारती, औरंगाबाद

भोजपुरी लोकगीतों में पर्यावरणीय चेतना, देशज ज्ञान और लोक संस्कृति का अंतर्संबंध

उदित सिंह

सारांश

पर्यावरण मानव जीवन की अमूल्य धरोहर है, जो वायु, जल, भूमि, वनस्पति, जीव-जंतु तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों से मिलकर बना है। यह जीवन के अस्तित्व और विकास का आधार है तथा मनुष्य को शुद्ध वायु, स्वच्छ जल और अनुकूल जीवन-परिस्थितियाँ प्रदान करता है। देशज ज्ञान स्थानीय समुदायों द्वारा प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित किया गया पारंपरिक ज्ञान है, जो कृषि, खाद्य सुरक्षा, चिकित्सा और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लोकगीत इस ज्ञान और संस्कृति के प्रमुख वाहक हैं, जो सरल भाषा में समाज और प्रकृति से जुड़े संदेशों का प्रसार करते हैं। भोजपुरी लोकगीतों में प्रकृति, कृषि, सामाजिक जीवन और पर्यावरण संरक्षण की गहरी चेतना निहित है। ये गीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि लोकजीवन, देशज ज्ञान और पर्यावरणीय समझ के सजीव दस्तावेज हैं, जो प्रकृति के साथ संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न अंगों में लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगीतों का अपना एक विशिष्ट और अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। मानव समाज के उदय के साथ ही लोकगीतों का इतिहास भी प्रवाहित होता आ रहा है। वास्तव में, हमारे लोकगीत लोक जीवन के समस्त तत्वों को उभारने वाले, सीधे-सादे तथा मानवीय हृदय की सबसे सच्ची भावनाओं को प्रकट करने वाले सजीव माध्यम हैं। इन लोकगीतों में भारतीय संस्कृति की आधारशिला लोक संस्कृति पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित होती है। समाज की यथार्थ दशा का सजीव चित्रण करने के साथ-साथ इनका परम उद्देश्य अपनी पारंपरिक धरोहर और लोक संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करके उसे हमेशा के लिए संरक्षित रखना है। यदि किसी देश या समाज की सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक व निष्पक्ष अध्ययन करना हो, तो वहाँ के लोकगीतों का अनुशीलन सबसे प्रामाणिक माध्यम माना जाता है, क्योंकि लोकगीत उस अंचल के लोगों के हृदय का सहज उद्गार होते हैं जिनमें भारत की आत्मा मुखर होकर बोलती है।

हमारा देश भौगोलिक रूप से ऋतुओं, पावन नदियों, घने वनों, विशाल पर्वतों तथा विभिन्न जातियों, भाषाओं और धर्मों की बहुरंगी छटा से समृद्ध है। प्रत्येक जन-समुदाय ने अपनी-अपनी स्थानीय भाषा में अपने अंतर्मन के भावों और जीवन के सभी व्यावहारिक क्षेत्रों को लोकगीतों में अभिव्यक्त किया है। इन समस्त विधाओं में 'भोजपुरी लोकगीतों' का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। बिहार प्रदेश तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली मुख्य भाषाओं में भोजपुरी सर्वाधिक प्रचलित है, जो न केवल भारत के एक विशाल भू-भाग में बल्कि देश की सीमाओं के बाहर (जैसे मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी आदि) भी व्यापक रूप से बोली और समझी जाती है।

'भोजपुरी' शब्द के नामकरण के संदर्भ में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं, परंतु ऐतिहासिक और स्पष्ट रूप से इसका संबंध बिहार प्रांत के बक्सर जिले में स्थित 'भोजपुर' नामक ऐतिहासिक गाँव से जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में 'नयका भोजपुर' तथा 'पुरनका भोजपुर' के नाम से दो गाँव आज भी अपने प्राचीन अस्तित्व के साथ मौजूद हैं। भाषाविदों और

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

समाजशास्त्रियों की यह सुदृढ़ मान्यता है कि भारतवर्ष ग्राम-गीतों की अमूल्य संपत्ति के मामले में संसार के अन्य सभी देशों की तुलना में सबसे अधिक धनी है। इस दृष्टि से भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा भोजपुर प्रांत की उर्वरा भूमि और वहाँ का सांस्कृतिक लोकजीवन सबसे अधिक समृद्धशाली है, जिसके कारण इस भाषा में लोकगीतों का एक अनंत और अटूट भंडार संचित है।

भोजपुरी लोकगीतों की प्राचीनता, भाव-संपन्नता, अंतर्निहित देशज ज्ञान और इसकी असीम मधुरता सहसा ही किसी भी सहृदय पाठक या श्रोता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। विषयों की अगाध विविधता, भाव-सौंदर्य, रस-परिपक्वता तथा लोक समाज के अंतर्मन की पुकार इन गीतों की अपनी निजी और मौलिक विशेषता है। इन गीतों में लोक जीवन अपनी समस्त नैसर्गिक सुंदरता, जीवंतता और सामूहिक शक्ति के साथ मुखर हो उठता है। इन गीतों से जनमानस का सीधा संस्कारगत संबंध होता है, यही कारण है कि भोजपुरी अंचल में जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रत्येक उत्सव, सामाजिक पर्व, मांगलिक अनुष्ठान और तीज-त्योहार के अवसर पर समयानुकूल पारंपरिक गीत गाकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना और मानसिक विनोद करना लोक की दिनचर्या का एक अनिवार्य और अभिन्न अंग बन चुका है।

देशज ज्ञान : परिभाषा, स्रोत और लोक-परंपरा

देशज ज्ञान (Indigenous Knowledge) से तात्पर्य उस पारंपरिक, स्थानीय, व्यावहारिक और संचित ज्ञान से है जिसे किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र के मूल निवासियों ने सदियों के अपने अनवरत अनुभवों, व्यावहारिक प्रयोगों और प्रकृति के साथ सीधे सह-अस्तित्व के माध्यम से निर्मित किया है। यह ज्ञान किसी आधुनिक प्रयोगशाला, विश्वविद्यालय या बंद कमरों में कृत्रिम रूप से तैयार नहीं किया जाता, बल्कि यह खेतों की मिट्टी में, घने जंगलों में, बहती नदियों के किनारों पर, बदलती ऋतुओं के थपेड़ों में तथा समाज के बुजुर्गों के जीवन-अनुभवों के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मौखिक रूप से हस्तांतरित होता आया है।

भोजपुरी अंचल के संदर्भ में देशज ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत यहाँ की कृषि व्यवस्था और प्रकृति पर पूर्ण निर्भरता रही है। एक खेतिहर किसान और ग्रामीण समाज प्रकृति के इन रहस्यों, बदलते मौसम की आहट, पेड़-पौधों की सूक्ष्म भाषा और पशु-पक्षियों की गतिविधियों को आधुनिक यंत्रों से भी पहले और अधिक सटीकता से समझ लेता है। बदलते मौसम की पहली खबर इन पेड़-पौधों और आकाश में उड़ते परिंदों के व्यवहार से उन्हें मिल जाती है। देशज ज्ञान का यह व्यावहारिक रूप खाद्य सुरक्षा, पारंपरिक जड़ी-बूटी आधारित चिकित्सा, कृषि चक्र के प्रबंधन और स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों के न्यायसंगत दोहन का मुख्य आधार रहा है।

लोक संस्कृति में देशज ज्ञान का हस्तांतरण लोकगीतों और लोक-कथाओं के माध्यम से अत्यंत सरल और ग्राह्य रूप में होता है। पहले के समय में जहाँ लोगों को सामाजिक और व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए कथा-प्रणाली और अनौपचारिक बैठकों का उपयोग किया जाता था, वहीं कालांतर में यह स्थान मुख्य रूप से लोकगीतों ने ले लिया। भोजपुरी लोकगीत अंचल के लोगों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावहारिक ज्ञान को संगीत के मधुर माध्यम से जन-जन की जिह्वा पर स्थापित कर देते हैं, जिससे पर्यावरण संरक्षण और नैतिक मूल्यों की सीख बिना किसी दबाव के सामाजिक आचरण का हिस्सा बन जाती है।

भोजपुरी लोकगीतों के पीछे छिपे सामाजिक-आर्थिक तत्त्वों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भोजपुरी लोकगीतों के महत्व और उनकी प्रासंगिकता को गहराई से समझने के लिए इन गीतों के पीछे छिपे सामाजिक-आर्थिक तत्वों को मात्र मनोरंजन न मानकर एक तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की अत्यंत आवश्यकता है। ये गीत केवल तुकबंदी या राग-रागिनियों के समूह नहीं हैं, बल्कि इनके भीतर तत्कालीन समाज की आर्थिक संरचना, श्रम की महत्ता, वर्ग-संबंध और प्रकृति के प्रति उनकी वैज्ञानिक समझ का पूरा खाका सुरक्षित है।

इन लोकगीतों में जहाँ एक तरफ भीषण गर्मी के बाद आसमान में उमड़ने वाले जीवनदायी काले बादलों का आत्मीय स्वागत किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ खेतों में लहलहाती फसल और चारों ओर बिखरी हरियाली को देखकर लोकमानस द्वारा अपनी परम खुशी व्यक्त की जाती है। आर्थिक दृष्टि से संपन्नता का सीधा संबंध कृषि की बेहतरी से जुड़ा होने के कारण, ये गीत पर्यावरण के अनुकूल वर्षा और मौसमी चक्र की कामना करते हैं। इसके साथ ही, ये गीत केवल बाह्य सौंदर्य तक सीमित नहीं रहते; इनमें सामाजिक जीवन की संकीर्ण रूढ़िवादिता, कुप्रथाओं और कुरीतियों पर करारा प्रहार भी किया गया है। पारिवारिक जीवन में व्याप्त आर्थिक विषमता,

सामाजिक भेदभाव और मानव जीवन की त्रासदियों का गहरा दु:ख भी इन गीतों में पूरी ईमानदारी के साथ प्रतिध्वनित होता है।

पर्यावरण और भोजपुरी लोकगीत : पंचभूत तत्वों का संतुलन

शाब्दिक अर्थ के आधार पर देखा जाए तो 'परि' और 'आवरण' के मेल से बने श्पर्यावरणश का तात्पर्य हमारे चारों ओर फैले उस प्राकृतिक घेरे से है जिसके भीतर हम सांस लेते हैं और अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसके अंतर्गत हमारे परिवेश में व्याप्त वायु, जल, धरती, आकाश, वनस्पति, जीव-जंतु और ध्वनि का पूरा प्राकृतिक वातावरण समाहित हो जाता है। प्रकृति में इन सभी तत्वों के बीच एक अत्यंत सूक्ष्म और अटूट संतुलन विद्यमान है, जो इस पृथ्वी पर समस्त प्राणियों के अस्तित्व का मूल आधार है।

हमारी सनातन और भारतीय संस्कृति के महान ग्रंथों के अनुसार मानव शरीर और इस संपूर्ण ब्रह्मांड का निर्माण पाँच मूलभूत तत्वों से हुआ है—

''क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा॥''

इन पंचभूत तत्वों के आपसी संतुलन से ही हमारा जीवन और प्रकृति सुचारू रूप से संचालित हो सकती है। एक सुखी और आनंदमय जीवन जीने के लिए शरीर और मन का स्वस्थ होना अनिवार्य है, और मानवीय स्वास्थ्य तभी उत्तम रह सकता है जब हमारे आस-पास का वातावरण, वायु और परिवेश पूरी तरह से स्वच्छ, प्रदूषण रहित और स्वास्थ्यप्रद हो। अत: एक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की पहली शर्त यह है कि हम पर्यावरण के साथ अपना संतुलन और आत्मीय सामंजस्य स्थापित करें।

नीम वृक्ष का महत्व और देवी का वास :

''निबिया की डार मईया मोरी झूलेली झुलुवआ हो कि झूलि-झूलि ना।
मईया मोरी गावेली गीतिया हो कि झूलि-झूलि ना॥''

विभिन्न फलदार वृक्षों का संरक्षण :

''नेबुला की गाछ वही निकली भवानी,
इमली की गाछ वही निकली भवानी।
हाय नेबुला फूलवो न लागे महारानी॥
अमवा की डाल वही निकली भवानी,
हाय अमवा बौरौ न लागे महारानी॥''

इसी प्रकार, घर के मुख्य द्वारों और मंदिर के प्रांगणों में पीपल जैसे विशाल और चौबीसों घंटे ऑक्सीजन देने वाले पूजनीय वृक्षों को लगाने और उनकी महत्ता गाने की अद्भुत परंपरा है :

''देवी के दुवरे हरियर पीपर, लाल धजा फहराये भाया।
मईया के दुआरे अन्हरा पुकारे, देहु नयन घरि जाये भाया॥''

तुलसी पौधे का औषधीय और पर्यावरणीय महत्व :

भारतीय समाज में तुलसी के पौधे का आध्यात्मिक और औषधीय महत्व सर्वविदित है। लोक मान्यता है कि घर के आंगन में तुलसी का पौधा लगाने से वहाँ का वातावरण पूरी तरह शुद्ध, रोगाणुमुक्त और प्रदूषण रहित रहता है। आज भी भोजपुरी क्षेत्र के लगभग हर घर के प्रांगण में तुलसी का चौरा अवश्य पाया जाता है। लोक आस्था के महापर्व 'छठ पूजा' के एक अत्यंत पवित्र गीत में तुलसी की महत्ता का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

''नदिया के तीरे-तीरे तुलसी मांग बाती,
पुजेली गउरा देई जनम ऐहिवाती।
ए छठी माता, करब राउर सेवा ऐ छठी माता॥''

जीव-जंतु, पशु-पक्षी और जैव-विविधता का संरक्षण :

भोजपुरी लोक संस्कृति में पशु-पक्षियों और वन्य जीवों के प्रति गहरी आस्था और सह-अस्तित्व की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जो यहाँ की उच्च्च पर्यावरणीय चेतना का अकाट्य प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संतुलन के लिए विभिन्न पशु-पक्षियों को किसी न किसी पूजनीय देवी-देवता का पवित्र वाहन (जैसे शिव का नंदी, सरस्वती का हंस, लक्ष्मी का उल्लू, गणेश का चूहा, दुर्गा का सिंह, विष्णु का गरुड़ और यमराज का भैंसा) मानकर उन्हें समाज में एक अभेद्य सुरक्षा और संरक्षण प्रदान किया गया है।

भोजपुरी समाज में गाय, भैंस और बैल जैसे 'पशु धन' को परिवार की वास्तविक सामाजिक और आर्थिक संपन्नता का प्रतीक माना जाता था, यहाँ तक कि बेटियों के विवाह में इन्हें प्रेमपूर्वक उपहार स्वरूप देने की गौरवशाली परंपरा रही है। विवाह के 'खिचड़ी' रस्म के गीतों में इसका सुंदर उदाहरण मिलता है :

''गईया में दिहलो भईसिया ऐ बेटी,
अवरू बरध धेनु गाय रे।
ऐतना दहेज हम बेटी के दिहली,
काहे तूहू रूसेल दमाद हो॥''

हिंसक वन्य जीवों के प्रति मानवीय करुणा और संवाद :

भोजपुरी के लोक-कवियों ने वनों में रहने वाले हिंसक जीवों जैसे बाघ और सांप आदि का मानवीकरण करके उनके प्रति एक अद्‌भुत आत्मीयता दिखाई है। संतान जन्म के एक अत्यंत मार्मिक 'सोहर गीत' में समाज द्वारा प्रताड़ित एक बांझ स्त्री और घने जंगल में रहने वाली एक 'बाघिन' के बीच का सुख-दु:ख साझा करने वाला संवाद वन्य जीवों के प्रति लोक की गहरी संवेदनशीलता को प्रकट करता है, जहाँ बाघिन उस दुखी स्त्री को सांत्वना देती है कि मैं तुम्हें नहीं खाऊँगी :

''घर में से निकले तिरियवा त बन बीच ठाढ़ भईली हो।
ललना बन में से निकले बधीनिया त सुख दु:ख पुछेले हो,
तिरिया कवन बिपत तोहे पड़ले, कवन दु:ख रोवेलु हो...
मत रोव एतिरिया मत रोव, हम नाही खाईब हो,
तिरिया जब हम तोहरा के खाईब, हमहू बांझिन होइब हो॥''

पक्षी-प्रेम और प्रतीकात्मक संदेश :

भोजपुरी लोकगीतों में तोता (सुग्गा), मैना, कौआ (काग), कोयल, कबूतर, बगुला, मोर, पपीहा और भँवरा आदि पक्षियों को मानव के सबसे निकट का साथी माना गया है। लोग पक्षियों की चहचहाहट और उनके बोलने के ढंग से मौसम और अतिथियों के आगमन का देशज अनुमान लगा लेते थे। देवी गीतों में सुग्गे से गंगा पार जाकर माता को बुला लाने का आत्मीय आग्रह मिलता है :

''उड़ि जा रे सुगन गंगा पार बोलाई लाओ देवीन को।
सोने की थाली में जेवना परोसो,
उड़ जा रे सुगन गंगा पार जेवाय लाओ देविन के॥''

जल स्रोत (नदियाँ, तालाब, कुएँ) और भू-शुद्धिकरण का पारंपरिक ज्ञान :

पंचभूत तत्वों में 'क्षिति' (धरती) और 'जल' का स्थान मानव सभ्यता के विकास में सबसे प्राथमिक रहा है। भोजपुरी लोक संस्कृति में भूमि की स्वच्छता और उसके शुद्धिकरण की एक अत्यंत प्राचीन और वैज्ञानिक देशज परंपरा रही है। अंचल में किसी भी मांगलिक उत्सव, त्योहार या पूजा-पाठ के अवसर पर जमीन को साफ करके गाय के गोबर और पीली मिट्टी से लीपने-पोतने तथा उस पर आटे व हल्दी से सुंदर 'चौक पूरने' का विधान है। लोकमानस की यह सुदृढ़ देशज मान्यता है कि गाय के गोबर से भूमि को लीपने से जमीन पर व्याप्त गंदगी का पूर्ण शुद्धिकरण हो जाता है और हानिकारक कीटाणु समूल नष्ट हो जाते हैं। विवाह और मांगलिक गीतों में इस परंपरा का चित्रण कदम-कदम पर मिलता है :

(विवाह मंडप की भू-शुद्धिकरण रस्म) :

''गाई के गोबर मंगाई, त अंगना लिपाई।
अरे माई गजमोती चउका पुराई, त पुजीला सुन्दर वर॥''

(आंगन लीपने की रस्म) :

''गाई के गोबर, पियर माटी अरे माई दहकि-दहकि
आंगन लीपि, सीता रे जोगे बर नाहीं...॥''

सूर्य-चन्द्र उपासना और ब्रह्मांडीय तत्वों के साथ आत्मीय संबंध

मानव जीवन और इस समस्त पृथ्वी पर ऊर्जा के प्रवाह के लिए सूर्य और चन्द्रमा की महत्ता पूरी तरह से निर्विवाद है। हमारी लोक संस्कृति में इन्हें केवल खगोलीय पिंड नहीं, बल्कि साक्षात प्रत्यक्ष 'जीवनदायिनी शक्ति' के रूप में पूजा जाता है। प्रात:काल ब्रह्म मुहूर्त में उठकर घर की गृहणियों द्वारा साफ-सफाई करना और स्नान के पश्चात सूर्य को ताँबे के पात्र से अर्घ्य देकर प्रणाम करना पर्यावरण के साथ अपने शरीर की जैविक घड़ी (Biological Clock) को संतुलित करने का अनूठा देशज नियम है।

एक अत्यंत प्रसिद्ध सोहर गीत में, जब एक ननद अपनी भाभी से उनके अत्यंत सुंदर, ओजस्वी और स्वस्थ पुत्र के जन्म का रहस्य पूछती है, तो भाभी उसे कोई कृत्रिम उपाय न बताकर कड़कड़ाती ठंड (माघ और पूस के महीने) में भोर के समय पवित्र गंगा नदी में स्नान करने और साक्षात सूर्य देव की उपासना व उनके चरणों में शीश झुकाने का वैज्ञानिक व प्राकृतिक कारण बताती है :

''ए भउजी कवन-जतन तुहु कइलु,
बलकवा बड़ी सुन्दर हो।
माघ ही पूस के महिनवा न,
गंगा नहइली अगिनी नाही तापीला हो।
ननदी निहुरी सुरज गोड़ लगली होरिलवा बड़ा सुन्दर हो॥''

चंदा मामा के साथ पारिवारिक और दाम्पत्य रिश्ता :

सूर्य के समान ही लोकमानस ने चन्द्रमा की महत्ता को सहर्ष स्वीकार करते हुए उसके साथ एक अत्यंत अटूट और आत्मीय संबंध स्थापित किया है। पूरी दुनिया में केवल भारतीय लोक संस्कृति ही ऐसी है जहाँ चन्द्रमा को 'चंदा मामा' कहकर पुकारा जाता है, जो सदियों से आज भी कायम है और हमेशा रहेगा। अपनी शीतल किरणों से संपूर्ण वसुधा को रससिक्त करने वाला चन्द्रमा बच्चों के लिए हमेशा एक प्रिय खिलौना

और रक्षक रहा है। आज भी हर माँ अपने नन्हे शिशु को सुलाते समय सदियों पुरानी पारंपरिक लोरी गाकर सुनाती है, जो देशज वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण है :

''ए चन्दा मामा आरे आव,
बारे आव, नदिया किनारे आव।
सोने के कटोइवा में दूध भात लेले आव,
बबुआ के मुँह में घूटूक॥''

निष्कर्ष

भोजपुरी लोकगीतों, देशज ज्ञान और पर्यावरण के इस विशद अनुशीलन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि हमारी लोक संस्कृति कभी भी पिछड़ापन नहीं रही, बल्कि वह प्रकृति-केंद्रित (Eco-centric) जीवन शैली का सबसे उत्कृष्ट और व्यावहारिक विज्ञान रही है। लोकगीत केवल मनोरंजन के साधन नहीं हैं, बल्कि वे समाज को पर्यावरण के प्रति जागरूक करने के सबसे सशक्त और जन-सुलभ माध्यम रहे हैं। आज के वैश्विक संकट के दौर में जब आधुनिक विज्ञान के पास भी प्रदूषण और क्लाइमेट चेंज का कोई स्थाई समाधान नहीं दिख रहा है, तब हमारी पारंपरिक लोक संस्कृति की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है।

समय की सबसे महत्वपूर्ण मांग यह है कि हम अपनी गौरवशाली लोक संस्कृति और जड़ों से विमुख न हों, बल्कि अपनी समृद्ध विरासत से जुड़े रहकर स्वाभाविक रूप से अपने पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाएं। हमें यंत्र युग की अंधी दौड़ को छोड़कर पुनः उस महान सनातन भावना को आत्मसार करने और नई पीढ़ी को समझाने की परम आवश्यकता है, जिसमें बिना किसी भेदभाव के इस संसार के समस्त जड़-चेतन प्राणियों के एक समान स्वस्थ, दीर्घायु, प्रदूषण मुक्त और परम सुखी होने की मंगलकामना की गई है :

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग भवेत्॥''

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सीता रानी (स्व.) : व्यक्तिगत रूप से ग्राम-भरखर, पोस्ट-मोहनियां, जिला-भभुआ, बिहार द्वारा संग्रहित एवं संरक्षित पारंपरिक लोकगीतों के प्रामाणिक मौखिक पाठ।
2. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकगीत (भाग-2), भोजपुरी लोक-साहित्य और गीतों के संरक्षण का अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रामाणिक ग्रंथ।
3. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोक संस्कृति, भोजपुरी अंचल के रीति-रिवाजों, देशज ज्ञान और लोक जीवन पर आधारित विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन।
4. डॉ. ज्योति सिन्हा : भोजपुरी लोकगीतों के विविध आयाम, लोकगीतों के विविध सामाजिक सरंचना का प्रमाणिक दस्तावेज।
5. प्रो. प्रकाश उदय, प्रो. गोरखनाथ : भोजपुरी लोकसाहित्य, भोजपुरी लोकसमाज के सुख-दुख, हास-रुदन, आशा-निराशा, राग-द्वेष के स्पंदनों को बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन।
6. डॉ. सुरेन्द्र कुमार : भोजपुरी संस्कृति एवं लोक नाट्यों में सांगीतिक परम्परा, लोक कलाओं के माध्यम से संस्कृति का विश्वसनीय चित्रांकन।
7. श्री कृष्णदास : लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या, लोक साहित्य के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तत्वों का वैज्ञानिक व तार्किक विश्लेषण।
8. श्यामा कुमारी : भोजपुरी लोक गीतों में सांस्कृतिक तत्व, भोजपुरी गीतों में अंतर्निहित पंचभूत तत्वों, वनस्पति और लोक-परंपराओं का शोधपरक अध्ययन।
9. स्मारिका 'सेतू' : प्रथम विश्व भोजपुरी सम्मेलन, वैश्विक स्तर पर भोजपुरी भाषा, पर्यावरण चेतना और लोक संस्कृति की प्रासंगिकता पर केंद्रित शोध पत्र।
10. सत्यव्रत सिनहा : भोजपुरी लोकगाथा, भोजपुरी अंचल की प्राचीन लोकगाथाओं, पशु-पक्षी संवादों और मानवीकरण की विधाओं का विस्तृत संकलन।
11. पत्रिकायें : 'लोकवाणी' अतएव 'लोकवार्ता' पत्रिका, समय-समय पर प्रकाशित लोक-जीवन, देशज ज्ञान और पारंपरिक पर्यावरण संरक्षण पद्धतियों से संबंधित विशिष्ट अंक।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

श्रेया

महाभोज उपन्यास में चित्रित सामाजिक यथार्थ

शोध सार

साहित्य समाज का दर्पण होता है जो समाज की वर्तमान स्थिति और भविष्य की संभावनाओं को दर्शाता है। लेखक समाज की राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार अपनी रचनाएँ करता है। इसमें दलितों पर होने वाले अत्याचार और उनके संघर्ष को दिखाया गया है। 'महाभोज' राजनीति के गिरते स्तर, मूल्यहीनता और स्वार्थपरता को उजागर करता है। दा साहब और सुकुल बाबू जैसे पात्रों के माध्यम से दिखाया गया है कि कैसे राजनेता सत्ता के लिए मानवीय मूल्यों को ताक पर रख देते हैं और जनता की भावनाओं का दुरुपयोग करते हैं। उपन्यास पुलिस और प्रशासनिक तंत्र के भ्रष्टाचार को दर्शाता है। पुलिस सुरक्षा देने के बजाय सत्ता के दबाव में काम करती है, जिससे आम आदमी का उस पर से भरोसा उठ गया है। समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित है। शोषक वर्ग (सत्ताधारी और शक्तिशाली) और शोषित वर्ग (दलित और गरीब)। बिसेसर जैसे पात्र जो शोषण के खिलाफ आवाज उठाते हैं, उन्हें दबा दिया जाता है। लेखिका ने समाज और मीडिया की संवेदनहीनता पर भी कटाक्ष किया है, जहाँ किसी की मृत्यु या अत्याचार की खबर केवल एक दिन की चर्चा का विषय बनकर रह जाती है।

प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण होता है। इस दर्पण में समाज के सभी रूप देखने को मिल जाते हैं, भूत में क्या हुआ, वर्तमान में क्या चल रहा है, इसके साथ की कुछ साहित्यिक रचनाएँ भविष्य में क्या होने की संभावनाएं हैं यह भी दिखा देती हैं। लेखक किसी भी विधा में लिखे लेकिन वह समाज को आधार बनाकर ही लिखता है। वह समाज के सकारात्मक पक्ष के साथ साथ नकारात्मक पक्षों पर भी बात करता है। साहित्य और समाज का संबंध बताते हुए मैंनेजर पाण्डेय ने कहा है कि "जब साहित्य का संबंध निर्धारणवादी (कार्य-कारण संबंध) से किया जाता है, तब अंतर्वस्तु का विश्लेषण ही समाज और साहित्य के संबंध को समझने का सबसे अच्छा माध्यम बनता है।"[1] साहित्य को समझना है तो आप पहले अपने परिवेश को समझिए अपने समाज को जानिए तब पाठक साहित्य से जुड़ाव की अनुभूति करेगा क्योंकि उस साहित्य में वह खुद उपस्थित है या उसका समाज उपस्थित है। प्रो. निर्मला जैन के अनुसार, "साहित्य केवल सूचनाओं का खान नहीं हैं। साथ ही यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि यह किसका प्रतिबिम्ब है। ऐसे में यह भी समस्या आ जाती है कि इस प्रतिबिम्ब को समझने के लिए उस परिवेश का होना अनिवार्य होगा।"[2] साहित्य समाज का दर्पण है यह एक बात है लेकिन उस परिवेश को कैसा होना चाहिए उसमें क्या नहीं होना चाहिए यह सब साहित्य के माध्यम से एक साहित्यकार समाज को देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्यिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है।"[3] समाज का मन समय के

साथ और परिस्थितियों के आधार पर बदलता रहता है। जिनमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक कारण प्रमुख होते हैं। समाज की मन:स्थिति में जो बदलाव होता है वह बदलाव हमें साहित्य में देखने को भी मिलता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में परिवर्तन आए हम स्वाधीन हुए और लोगों को आशा थी। अब एक नए भारत का निर्माण हम सब मिलकर करेंगे लेकिन होता इसका उल्टा है। भारत में राजनीतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक द्वेष बढ़ता चला जाता है। भ्रष्ट नेता अपने राजनीतक स्वार्थ के लिए मानवीय मूल्यों को ताक पर रख कर अपनी प्रगति में लगे रहते हैं और देश की जनता का हाल बुरा हो जाता है। इन्हीं सब परिस्थितियों को देखकर उस के साहित्यकारों ने इन सभी समस्याओं को साहित्य के माध्यम से उजागर करने का प्रयास किया। जिनमे श्रीलाल शुक्ल, मन्नू भंडारी, राही मासूम रजा, हरिशंकर परसाई इत्यादि शामिल थे।

महाभोज उपन्यास में चित्रित सामाजिक यथार्थ

'महाभोज' उपन्यास में सामाजिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया गया है। 1970 के दशक में पहली बार दलित वर्ग में सवर्णों के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष चेतना का विस्तार देखने को मिलता है। उस समय आम जनमानस 1977 के 'बेलछी कांड' को भूला नहीं था जिसमें दलित जाति के लोगों की निर्मम रूप से हत्या कर दी गई थी। इस घटना को आधार बनाकर नागार्जुन ने हरिजन गाथा कविता की रचना की थी। 'महाभोज' की शुरुआत में ही इस घटना की तरफ लेखक ने इंगित किया है। "महीने भर पहले की तो बात है, गाँव की सरहद से जरा परे हट कर जो हरिजन टोला है वहाँ कुछ झोपड़ियों में आग लगा दी गई थी, आदमियों सहित। दूसरे दिन लोगों ने देखा तो झोंपड़ियाँ राख में बदल चुकी थीं और आदमी कबाब में"[4] महाभोज में हरिजन टोले की झोंपड़ियों में आग लगाकर दलित लोगों को जिंदा जला देना सामाजिक द्वेष को दर्शाता है। हमारे समाज में सवर्ण, दलित, पिछड़े और भी न जाने कितने वर्गों में बंटे लोग जो यह समझ ही नहीं पाते की हमारे अलावा भी किसी और का कोई अस्तित्व है। सब में वर्चस्व और शक्तिशाली होने का अभिमान बसता है।

यही शक्ति और अभिमान उन्हें दूसरे व्यक्ति को नीचा समझने और उसका शोषण करने का भाव जागृत करता है। पुलिस का काम सुरक्षा प्रदान करना है लेकिन वह भी इस भ्रष्ट व्यवस्था का हिस्सा बनकर पीड़ित लोगों को न्याय नहीं दिलवा पाती। 'महाभोज' में मन्नू भंडारी लिखती हैं, "लोग दौड़े-दौड़े थाने पहुंचे, पर थानेदार साहब उस दिन छुट्टी पर थे; और जो दो लोग वहाँ ड्यूटी पर थे उन्होंने यह कहकर बात टाल दी कि थानेदार साहब के आने पर ही मौके पर आएँगे और तहकीकात होगी।"[5] जिस प्रकार उपन्यास में पुलिस ने जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ा वही स्थिति समाज में हमें देखने को भी मिल जायेगी जब भी कोई बड़ी घटना होती है तो पुलिस के बड़े अधिकारी छुट्टी पर ही रहते हैं। उनका कर्तव्य है लोगों के झगड़े सुलझाना और शांति बहाल करना लेकिन पुलिस से समाज के आम लोग डरते हैं वह क्या शान्ति बहाल करवायेंगे, वह क्या झगड़े सुलझाएँगे जो खुद भ्रष्ट हैं। इसलिए समाज का पुलिस से भरोसा उठ गया है। समाज में पुलिस का डर बन गया है कहीं पुलिस आए तो वह अपराधी के साथ-साथ पीड़ित को भी परेशान करेगी और अगर अपराधी शक्तिशाली है तो साँठ-गाँठ करके पीड़ित को ही अपराधी घोषित न कर दे। इस डर से समाज में पुलिस जैसी संस्था पर भरोसा नहीं रहा है। महाभोज उपन्यास में पुलिस की स्थिति कुछ इसी प्रकार की दिखाई गई है।

मन्नू भण्डारी ने 'महाभोज' उपन्यास में समाज में व्याप्त घिनौनी राजनीति करने वाले और समाज के सौहार्द बिगाड़ने वाले व्यक्तियों को दिखाया है, जो गाँधी व नेहरू को आदर्श बनाकर अपने घिनौने कार्यों को अंजाम दे रहे हैं। इस उपन्यास में घिनौनी राजनीति के कारण आम जनमानस बलि का बकरा बन रही है। इस तरह की राजनीति समाज में अराजकता, अत्याचार, पाखंडों तथा भ्रष्टाचार की स्थिति उत्पन्न करती है। उपन्यास को लिखते समय मन्नू भंडारी ने समाज में व्याप्त राजनीतिक उठा पटक, भ्रष्टाचार, और लोगों की स्थिति का अनुभव अवश्य किया होगा। उपन्यास की भूमिका में वह लिखती हैं, "अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द, अन्तर्द्वंद्व या आन्तरिक नाटक को देखना बहुत महत्वपूर्ण सुखद और आश्वस्तिदायक तो मुझे भी लगता है, मगर जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता? सम्भवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो।"[6] महाभोज उपन्यास में एक पात्र है दा साहब जिनका चरित्र वर्तमान में उन लोगों से मेल खाता है जो महिमामण्डित हैं और खुद को राजनेता समझे बैठे हैं। जो अपनी संस्कृति गर्व का अनुभव करते हैं। लेकिन वह अपना

पूरा ध्यान सत्ता पर पकड़ बनाने में लगाएं रखते हैं। वहीं दूसरी तरफ एक पात्र है सुकुल बाबू जो परिस्थिति तथा अवसर के अनुकूल खुद को बदलने में माहिर है जो किराए के लोगों की भीड़ इकट्ठा करना जानता है। सुकुल बाबू को अपनी चिकनी चुपड़ी बातों से किसी को अपने पक्ष में करना आता है। 'महाभोज' का एक संवाद देखिए ''सुकुल बाबू ने आवाज और अदा बदलकर बड़ी नाटकीय मुद्रा में कहा-आप लोग मुझसे नाराज हुए हक था आपका, पर बदले में मैं भी नाराजगी दिखाता तो गुनाह होता मेरा।''[7] सुकुल बाबू जैसे राजनेता आपको समाज में देखने को मिल ही जाएँगे जो अपने पद की लोलुपता में इतने डूब गए हैं कि उसको पाने के लिए किसी भी स्तर तक गिर सकते हैं। डॉ. जगन्नाथ राय के अनुसार, ''महाभोज आज के राजनैतिक जीवन में आई हुई मूल्यहीनता, तिकड़मबाजी, शैतानियत और सड़ांध का चित्रण करने वाला पहला साहसपूर्ण उपन्यास है। आज भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन गया है गरीबों के लिए झूठे आँसू बहाने में निपुण मगरमच्छनुमा नेताओं द्वारा लगाये गये खोखले नारों के पीछे कुत्सित षड्यन्त्रों और दमघोटू स्थितियों की निर्भीक चीर-फाड़ इसमें हुई है।''[8]

देश के विकास के लिए हम एक सरकार चुनते हैं। इस आशा से कि वह सरकार राष्ट्र व उसमें निवास कर रही जनता को सुरक्षित रखेगी उसके विकास के लिए कार्य करेगी। लेकिन जब वही सरकार भ्रष्ट हो जाए और सरकार में बैठे लोग अपने मूल्यों से डिग जाएँ तो उस समाज के लोगों की क्या स्थिति होती है यही महाभोज के आम जन के लोगों की स्थिति हो गई है। उपन्यास की शुरुआत जैसे होती उसकी कुछ पंक्तियां ''लावारिस लाश को गिद्ध नोच-नोचकर खा जाते हैं। पर बिसेसर लावारिस नहीं। उसकी लाश सड़क के किनारे पुलिस को पड़ी मिली, शायद इसीलिए लावारिस लाश का ख्याल आ गया वरना उसके तो माँ भी है, बाप भी। गरीब भले ही हों पर हैं तो।''[9] बिसेसर वही पात्र है जो शोषण के खिलाफ आवाज उठाता है और अपने अधिकारों के लिए लड़ता है। यहाँ बिसेसर ने उन लोगों को चुनौती देने का कार्य किया जो सदियों से कमजोर लोगों का शोषण करते हैं और मारे जाते हैं। बिसेसर के साथ जो हुआ वह कोई नई घटना नहीं थी। थोड़ा पीछे जाकर देखें तो समाज शुरुआत से ही दो वर्गों में विभाजित था। एक वह वर्ग जो शोषण करता था, दूसरा वह जो शोषण झेल रहा था। यहाँ देखा जाए तो शोषक वर्ग के लोगों के पास संसाधनों पर एकाधिकार प्राप्त था इसलिए वह कमजोर और शक्तिहीन लोगों का मनमाने ढंग से शोषण करते थे।

'महाभोज' की रचना के समय मन्नू भंडारी के जहन में यह बात रही होगी और इस दृष्टि से समाज में व्याप्त समस्याओं के समाधान हेतु वे सजग नजर आती हैं। अपनी सटीक तथा पैनी व्यंग्यात्मक शैली द्वारा मन्नू जी बिसेसर की मृत्यु पर अखबार में छपने वाली खबर पढ़ने वाले पाठकों पर व्यंग्य करते हुए लिखती हैं। ''किसी ने खुमारी में अंगड़ाई लेते हुए तो किसी ने चाय की चुस्की के साथ पढ़ा व देखा, देखते ही चेहरे पर विषाद की गहरी छाया पुत गई, चाय का घूँट भी कडुवा हो गया।''[10] लेखिका ने समाज पर बहुत ही सटीक व्यंग्य किया है। ऐसा लगता है कि वह खुद तीक्ष्ण दृष्टि से समाज को देख रही हैं। समाज जिसमें मानवीय मूल्य मर चुके हैं। इसी की आगे की पंक्तियां देखिए ''ढेर सारी सहानुभूति और दुख में लिपटकर निकला 'ओह, हॉरिबल... सिंपली इनह्यूमेन ! कब तक यह सब चलता रहेगा? त् त् त्!' और पन्ना पलट गया। थोड़ी देर के बाद गांव वालों की जिन्दगियों की तरह ही अखबार भी रद्दी के ढेर में जा पड़ा।''[11] शहरी लोग जो एक तरह से खुद भी शोषक वर्ग में शामिल हैं, उन्हें इस तरह की खबरों पर बस खेद प्रकट करना होता उनके लिए कुछ करने की वो सोचते भी नहीं हैं। रद्दी जैसे लोगों के बारे में सोचने को इस समाज के पास समय ही नहीं है। उपन्यास में दा साहब एक जगह कहते हैं, ''दुहाई सब गरीबों को देते हैं पर उनके हित की बात कोई नहीं सोचता, जनता को बाँटकर रखो. कभी जात की दीवार खींचकर तो कभी वर्ग की दीवारें खींचकर। जनता का बँटा बिखरापन ही तो स्वार्थी राजनेताओं की शक्ति का स्रोत है।''[12] दा साहब के कथन से आपको राजनीति का एक और सच पता चलता और इससे भी हम अवगत हो पाते हैं कि आम जनता नेताओं की कठपुतली बन कर रह जाती है।

निष्कर्ष

सामाजिक चेतना समाज को अपने आस-पास की समस्याओं, अन्याय और असमानताओं को समझने के लिए जागरूक बनाता है, उन्हें उसके समाधान के लिए प्रेरित करता है। यह केवल समस्याओं को पहचानने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि समाज को बेहतर बनाने के लिए सही तथा सक्रिय कदम उठाने की भावना को उजागर करता है। महाभोज भी एक ऐसा ही उपन्यास है जो सामाजिक चेतना को जगाने का काम करता है, पाठकों को अपने आसपास की समस्याओं पर

सोचने-समझने के लिए जागरूक करता है। मुन्नू भंडारी ने न केवल इस उपन्यास में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को उजागर किया है, बल्कि यह भी बताया है कि समाज को किस तरह अपनी चुप्पी या खामोशी को तोड़कर और एकसाथ मिलकर बदलाव लाना चाहिए। सामाजिक चेतना सिर्फ एक विचार नहीं है यह समाज को बदलने की पहली शर्त है। 'महाभोज' उपन्यास यथार्थ बोध का एक सशक्त उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में समाज की उन परतों को उजागर किया गया है, जिसे अक्सर हम नजरअंदाज कर देते है या कहें की जो हमें नंगी आंखों से नहीं दिखीं। इसमें सत्ता, समाज और व्यवस्था का गहराई से विश्लेषण करते हुए यथार्थ की कटुता को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। महाभोज में ग्रामीण समाज का यथार्थ तथा उसके जीवन की वास्तविक स्थिति को चित्रित किया गया है। गांव की अशिक्षा, गरीबी तथा ग्रामीण समाज में व्याप्त असमानता से मन्नू भंडारी ने पाठकों को अवगत करवाया है। दलित और गरीब वर्ग समाज में सबसे अधिक शोषित हैं तथा उनकी समस्याओं की ओर शासन और प्रशासन गंभीर नहीं होता। एक सामान्य घटना को राजनीतिक दल अपने हितों के लिए मुद्दा बना लेते हैं। चुनाव जीतने और सत्ता पाने के लिए नेताओं द्वारा जनता की भावनाओं का दुरुपयोग किया जाता है। प्रशासनिक तंत्र की विफलता पुलिस और प्रशासन निष्पक्ष होकर काम करने के बजाय सत्ता और नेताओं के दबाव में काम करते दिखाई देते हैं। न्याय की प्रक्रिया कमजोर पड़ जाती है और सच्चाई सामने नहीं आ पाती। उपन्यास यह भी दिखाता है कि जनमत और मीडिया किस प्रकार राजनीतिक प्रभाव में आ सकते हैं। कभी-कभी सच्चाई के बजाय प्रचार अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। उपन्यास का सबसे मार्मिक पक्ष आम आदमी की असहाय स्थिति है। गरीब और दलित वर्ग न्याय की उम्मीद करता है, लेकिन अंततः वह राजनीतिक षड्यंत्रों और सत्ता संघर्ष के बीच दब जाता है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल -shreya.singh.du1296@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. पांडे, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, प्र.स. 1989, पृष्ठ 13
2. जैन निर्मला, साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दि. वि. वि., पृष्ठ 5
3. शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 2
4. भंडारी मन्नू, महाभोज, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दसवाँ संस्करण, 2020, पृष्ठ 7
5. वही, पृष्ठ 8
6. वही, पृष्ठ, भूमिका
7. वही, पृष्ठ 8
8. चौधरी, जगन्नाथ राय, महाभोज सृजन और समीक्षा, पृष्ठ 5
9. वही, पृष्ठ 7
10. वही, पृष्ठ 8
11. वही, पृष्ठ 8
12. वही, पृष्ठ 110

वैश्वीकरण के दौर में भाषा और पहचान : 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म के सन्दर्भ में

निवेदिता

शोध सार

आज के वैश्वीकृत समाज में भाषा केवल विचारों के आदान-प्रदान का साधन नहीं है, बल्कि व्यक्ति की सामाजिक पहचान, आत्मविश्वास और सम्मान से भी गहराई से जुड़ी हुई है। प्रस्तुत शोध में 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म के माध्यम से यह समझने का प्रयास किया गया है कि भाषा किस प्रकार व्यक्ति की पहचान को प्रभावित करती है और वैश्वीकरण के प्रभाव में अंग्रेजी भाषा का महत्व किस तरह बढ़ा है। फिल्म की मुख्य पात्र शशि एक साधारण भारतीय गृहिणी है, जो अपने परिवार और समाज में अंग्रेजी न जानने के कारण उपेक्षा और असहजता का अनुभव करती है। उसके जीवन के अनुभव यह दर्शाते हैं कि आज के समय में अंग्रेजी को अक्सर योग्यता, आधुनिकता और सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़कर देखा जाता है। शोध में शशि की आत्मनिर्भरता की यात्रा का विश्लेषण किया गया है, जिसके माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का संबंध केवल संचार से नहीं, बल्कि व्यक्ति के आत्मसम्मान और आत्मविश्वास से भी है।

यह अध्ययन इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि वैश्वीकरण के कारण भाषाओं के बीच एक प्रकार का शक्ति-संबंध विकसित हुआ है, जहाँ अंग्रेजी को विशेष महत्व प्राप्त है। इसके बावजूद फिल्म यह संदेश देती है कि किसी व्यक्ति की क्षमता और पहचान का मूल्यांकन केवल उसकी अंग्रेजी दक्षता के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक भाषा अपने साथ एक सांस्कृतिक विरासत और मानवीय अनुभव लेकर चलती है, इसलिए सभी भाषाओं का समान सम्मान आवश्यक है।

बीज शब्द

वैश्वीकरण, भाषा, पहचान, आत्मसम्मान, सांस्कृतिक अस्मिता, अंग्रेजी भाषा, इंग्लिश विंग्लिश।

मूल आलेख

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने भाषा के स्वरूप और उसकी सामाजिक भूमिका में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। एंथनी गिडेन्स के अनुसार, "वैश्वीकरण विश्वव्यापी सामाजिक संबंधों के विस्तार और सघनीकरण की वह प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न देशों और समाजों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्तर पर परस्पर निर्भरता बढ़ती है। इस प्रक्रिया में स्थानीय जीवन भी वैश्विक घटनाओं और प्रवृत्तियों से प्रभावित होने लगता है।"[1] वर्तमान समय में अंग्रेजी केवल एक संप्रेषण की भाषा नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा, आधुनिकता और अवसरों से जुड़ी एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक पूंजी के रूप में स्थापित हो चुकी है। इसी संदर्भ में 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म भाषा और पहचान के अंतर्संबंधों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। फिल्म की नायिका शशि एक कुशल, संवेदनशील और आत्मनिर्भर गृहिणी है, किंतु अंग्रेजी भाषा में दक्षता के अभाव के कारण वह अपने परिवार और सामाजिक परिवेश में अपेक्षित सम्मान प्राप्त नहीं कर पाती। यह स्थिति दर्शाती है कि वैश्वीकरण के प्रभाव में भाषा व्यक्ति की योग्यता से अधिक उसकी सामाजिक स्वीकृति और पहचान का आधार बनती जा रही है। फिल्म में शशि का अंग्रेजी सीखने का प्रयास केवल भाषाई ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और स्व-पहचान की पुनर्स्थापना का प्रतीक है। उसके अनुभव यह संकेत करते हैं कि भाषा व्यक्ति के आत्मबोध को प्रभावित

अवश्य करती है, किंतु उसकी संपूर्ण पहचान को परिभाषित नहीं करती। फिल्म इस तथ्य को रेखांकित करती है कि किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी भाषाई क्षमता के बजाय उसके व्यक्तित्व, कौशल और मानवीय गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए। इस प्रकार इंग्लिश विंग्लिश वैश्वीकरण, भाषा और पहचान के संबंधों पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत करती है तथा यह प्रश्न उठाती है कि क्या किसी भाषा विशेष का ज्ञान ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का एकमात्र मानदंड होना चाहिए।

सिनेमा की यात्रा

"हिन्दी सिनेमा को केवल मनोरंजन उद्योग के रूप में नहीं देखा जा सकताय यह भारतीय समाज, संस्कृति, भाषा और पहचान के विकास का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेज है।"[2] सिनेमा केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि समय-समय पर समाज की संवेदनाओं, संघर्षों, मूल्यों और बदलती हुई जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त करने वाला सशक्त सांस्कृतिक उपकरण भी रहा है। भारतीय सिनेमा की शुरुआत 1913 में दादासाहेब फाल्के द्वारा निर्मित राजा हरिश्चंद्र से मानी जाती है। यह वह समय था जब चलचित्रों ने भारतीय जनमानस के समक्ष अभिव्यक्ति की एक नई दुनिया प्रस्तुत की। इसके पश्चात 1931 में आलम आरा के प्रदर्शन ने भारतीय सिनेमा को ध्वनि और संवाद का नया आयाम प्रदान किया। बोलती फिल्मों के आगमन के साथ भाषा, गीत-संगीत और संवाद सिनेमा के अभिन्न अंग बन गए तथा फिल्मों का प्रभाव समाज के व्यापक वर्ग तक पहुँचने लगा।

स्वतंत्रता आंदोलन और उसके बाद के दशकों में हिन्दी सिनेमा ने भारतीय समाज की जटिल वास्तविकताओं को गहराई से चित्रित किया। ग्रामीण जीवन, सामाजिक असमानता, राष्ट्रीय चेतना, स्त्री-अनुभव और मानवीय संबंधों जैसे विषय फिल्मों के केंद्र में रहे। विशेष रूप से 1950 और 1960 के दशक में निर्मित दो बीघा जमीन, मदर इंडिया, प्यासा और बंदिनी जैसी फिल्मों ने समाज के यथार्थ को संवेदनशीलता और कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया। इस दौर में सिनेमा सामाजिक विमर्श और जनचेतना का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरा।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के पश्चात हिन्दी सिनेमा की विषयवस्तु, भाषा और सांस्कृतिक दृष्टि में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई देने लगे। वैश्विक संस्कृति, उपभोक्तावाद और अंग्रेजी भाषा का बढ़ता प्रभाव फिल्मों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा। परिणामस्वरूप भाषा और पहचान से जुड़े प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गए। समकालीन हिन्दी सिनेमा में व्यक्ति की सांस्कृतिक अस्मिता, भाषायी आत्मविश्वास और सामाजिक स्वीकृति के प्रश्न नए रूपों में सामने आते हैं। इंग्लिश विंग्लिश जैसी फिल्में इसी संदर्भ में विशेष महत्व रखती हैं, क्योंकि वे यह रेखांकित करती हैं कि भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि व्यक्ति के आत्मसम्मान, सामाजिक स्थिति और पहचान के निर्माण का भी महत्वपूर्ण आधार है। इस प्रकार हिन्दी सिनेमा का इतिहास समाज, भाषा और पहचान के बदलते संबंधों को समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत प्रदान करता है।

इंग्लिश विंग्लिश में भाषा, आत्मसम्मान और पहचान का पुनर्निर्माण

5 अक्टूबर 2012 को गौरी शिंदे द्वारा निर्देशित फिल्म 'इंग्लिश विंग्लिश' एक साधारण भारतीय गृहिणी के जीवन-संघर्ष, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की पुनर्प्राप्ति की संवेदनशील कथा प्रस्तुत करती है। फिल्म का आरंभ शशि के लड्डू बनाने के कार्य से होता है, जो यह संकेत देता है कि वह एक कुशल, परिश्रमी और आत्मनिर्भर महिला है, जिसने अपने घरेलू कौशल को एक छोटे व्यवसाय का रूप दिया है। इसके बावजूद परिवार और समाज उसकी इस क्षमता को वह सम्मान नहीं देते जिसके वह योग्य है। फिल्म में अंग्रेजी भाषा को सामाजिक प्रतिष्ठा, आधुनिकता और बौद्धिक श्रेष्ठता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शशि का अंग्रेजी न बोल पाना उसके परिवार के लिए उपहास का कारण बन जाता है। प्रारंभिक दृश्यों में भोजन-तालिका पर परिवार के साथ बातचीत करते समय जब वह "जैज डांस" के स्थान पर "झास डांस"[3] उच्चारित करती है, तो उसकी बेटी और पति उसका मजाक उड़ाते हैं। यह प्रसंग केवल भाषायी त्रुटि का चित्रण नहीं है, बल्कि उस मानसिकता को उजागर करता है जिसमें किसी व्यक्ति के मूल्यांकन का आधार उसकी भाषा-क्षमता को बना दिया जाता है। परिवार के भीतर निरंतर होने वाला यह उपहास शशि के आत्मविश्वास को आहत करता है और उसे हीनभावना की ओर धकेलता है। हालांकि इस उपेक्षा और अवमानना के वातावरण में उसका छोटा बेटा तथा सास उसके प्रति संवेदनशील और सहयोगी दृष्टिकोण रखते हैं। उनके व्यवहार में शशि के व्यक्तित्व और श्रम के प्रति सम्मान दिखाई देता है। इस प्रकार फिल्म का प्रारंभिक भाग भाषा, सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक संबंधों के बीच मौजूद जटिल अंतर्संबंधों को रेखांकित

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

करते हुए यह प्रश्न उठाता है कि क्या किसी व्यक्ति की योग्यता और सम्मान का निर्धारण केवल उसकी अंग्रेजी दक्षता के आधार पर किया जा सकता है।

फिल्म में भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं रह जाती, बल्कि पारिवारिक संबंधों, आत्मसम्मान और पीढ़ियों के बीच संवाद को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण सामाजिक कारक बन जाती है। शशि और उसकी बेटी सपना के संबंधों में उभरता हुआ संवाद-अंतराल इसका प्रमुख उदाहरण है। यह दूरी किसी भावनात्मक अभाव के कारण नहीं, बल्कि अंग्रेजी भाषा को सामाजिक प्रतिष्ठा और बौद्धिक श्रेष्ठता के मानक के रूप में स्वीकार कर लेने की मानसिकता के कारण उत्पन्न होती है। सपना अपनी माँ को इसलिए कमतर समझने लगती है क्योंकि वह अंग्रेजी में दक्ष नहीं है। एक प्रसंग में जब सपना अपनी माँ से झूठ बोलकर मित्रों के साथ बाहर जाती है और लौटने पर शशि उससे सामान्य ढंग से प्रश्न करती है, तब सपना व्यंग्यपूर्ण स्वर में कहती है—''आप पढ़ाएँगी इंग्लिश लिटरेचर?''[4] यह कथन केवल एक तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि उस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है जिसमें ज्ञान, शिक्षा और बुद्धिमत्ता को केवल अंग्रेजी भाषा के साथ जोड़कर देखा जाता है। यहाँ 'इंग्लिश लिटरेचर' शाब्दिक अर्थ से अधिक एक व्यंग्यात्मक प्रतीक के रूप में उपस्थित है, जो शशि की भाषायी सीमाओं का उपहास करता है।

फिल्म में यह संवादहीनता केवल माँ-बेटी तक सीमित नहीं रहती, बल्कि पति-पत्नी के संबंधों में भी दिखाई देती है। शशि का पति एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में कार्यरत है, जहाँ अंग्रेजी कार्य-संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा है। धीरे-धीरे यह भाषायी अंतर उनके वैवाहिक संबंधों में भी दूरी उत्पन्न कर देता है। कई अवसरों पर शशि स्वयं कटाक्षपूर्ण स्वर में कहती है कि ''मुझसे क्यों करेंगे आप बात, मुझे कौन सा अंग्रेजी आती है।''[5] ये छोटी-छोटी टिप्पणियाँ देखने में साधारण प्रतीत होती हैं, किंतु इन्हीं के माध्यम से संबंधों में उपेक्षा, असमानता और भावनात्मक दूरी का भाव विकसित होता है। भाषा यहाँ शक्ति-संबंधों का रूप ग्रहण कर लेती है, जहाँ अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति अनजाने में श्रेष्ठ और न जानने वाला व्यक्ति हीन समझा जाने लगता है।

विद्यालय में आयोजित अभिभावक-शिक्षक बैठक (PTM) का प्रसंग इस मानसिकता को और अधिक स्पष्ट करता है। सपना अपनी माँ को अपने साथ ले जाने में संकोच अनुभव करती है, क्योंकि उसे भय है कि उसकी माँ की अंग्रेजी न जानने की स्थिति उसके लिए शर्मिंदगी का कारण बन सकती है। विद्यालय पहुँचने पर जब शशि अंग्रेजी साहित्य के शिक्षक से हिंदी में बातचीत करने का आग्रह करती है, तब शिक्षक सहजता से हिंदी को अपनाते हुए कहते हैं कि हिंदी हमारी भाषा है और उसमें संवाद करने में कोई समस्या नहीं है। विडंबना यह है कि जिस स्थिति को शिक्षक सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं, वही सपना के लिए असहजता का कारण बन जाती है। उसे लगता है कि उसकी माँ ने अपनी अंग्रेजी न आने की बात कहकर शिक्षक को असुविधाजनक स्थिति में डाल दिया है। यह प्रसंग दर्शाता है कि नई पीढ़ी का एक वर्ग अंग्रेजी को केवल भाषा नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मछवि के साधन के रूप में देखने लगा है। इन घटनाओं के माध्यम से शशि के भीतर यह अनुभूति गहराती जाती है कि आज के समय में बच्चे अपने माता-पिता की पहचान और मूल्यांकन भी सामाजिक मानकों के आधार पर करने लगे हैं। घर लौटने पर उसकी सास का यह कहना कि एक उम्र के बाद बच्चे अपने माता-पिता को कम समझने लगते हैं, इस अनुभव को और अधिक अर्थपूर्ण बना देता है। किंतु शशि का उत्तर कि ''बच्चे माता-पिता को नहीं, बल्कि विशेष रूप से माँ को कमतर समझते हैं''[6] फिल्म के केंद्रीय भाव को उद्घाटित करता है। यह कथन उस सामाजिक वास्तविकता की ओर संकेत करता है जहाँ गृहिणी का श्रम, त्याग और अनुभव अक्सर अदृश्य बना दिया जाता है, जबकि उसकी भाषायी या शैक्षिक सीमाओं को उसकी सम्पूर्ण पहचान का आधार बना दिया जाता है।

शशि और उसके पति सतीश के बीच का संबंध बाहरी दृष्टि से सामान्य और स्थिर प्रतीत होता है, किंतु संवादों और दैनिक व्यवहार के स्तर पर उसमें भावनात्मक दूरी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। एक महत्वपूर्ण दृश्य में सतीश अपने एक सहकर्मी का आत्मीयतापूर्वक आलिंगन करता है। इस पर शशि सहज जिज्ञासा के साथ कहती है कि वह अपने सहकर्मी को बहुत निकटता से गले लगा रहा है, क्या उनके बीच कोई विशेष संबंध है। इसके उत्तर में सतीश कहता है ''It was just a hug, Shashi· यह केवल अभिवादन करने का एक तरीका है, इससे कोई विशेष या करीबी रिश्ता नहीं बन जाता।''[7] यह संवाद केवल सांस्कृतिक भिन्नताओं को व्यक्त नहीं करता, बल्कि पति-पत्नी के बीच मौजूद भावनात्मक दूरी को भी

उजागर करता है। सतीश के उत्तर पर शशि का यह कहना कि "हम लोग तो कभी हग नहीं करते, मतलब हमारा रिश्ता करीबी नहीं है क्या?"[8] एक साधारण प्रश्न नहीं, बल्कि उसके भीतर वर्षों से संचित उपेक्षा और भावनात्मक रिक्तता की अभिव्यक्ति है। इस कथन में व्यंग्य भी है, पीड़ा भी, और अपने संबंध की वास्तविक स्थिति को समझने की एक मौन कोशिश भी। शशि का यह प्रश्न दर्शाता है कि वह अपने वैवाहिक जीवन में केवल आर्थिक सुरक्षा या सामाजिक मान्यता नहीं, बल्कि आत्मीयता, सम्मान और भावनात्मक साझेदारी की भी अपेक्षा रखती है। यह दृश्य इस तथ्य को भी रेखांकित करता है कि किसी संबंध की वास्तविक निकटता केवल साथ रहने से नहीं बनती, बल्कि पारस्परिक संवाद, सम्मान और भावनात्मक अभिव्यक्ति से निर्मित होती है। शशि का प्रश्न दरअसल उस अदृश्य अकेलेपन का संकेत है जिसे वह अपने ही परिवार के बीच अनुभव करती है। इसलिए यह प्रसंग फिल्म में केवल पति-पत्नी के बीच हुई एक सामान्य बातचीत नहीं है, बल्कि आधुनिक पारिवारिक संबंधों की उस विडंबना का प्रतीक है जहाँ लोग शारीरिक रूप से निकट होते हुए भी भावनात्मक रूप से एक-दूसरे से दूर होते चले जाते हैं।

फिल्म में विमान यात्रा के दौरान अमिताभ बच्चन द्वारा निभाया गया पात्र शशि के भीतर व्याप्त भाषाई हीनभावना को दूर करने का प्रयास करता है। वह उसे समझाता है कि किसी नई जगह पर जाना, विशेषकर पहली बार किसी विदेशी देश में पहुँचना, भय या संकोच का नहीं बल्कि नए अनुभवों को आत्मसात करने का अवसर होता है। उसका कथन कि "पहली बार केवल एक ही बार होता है"[9] शशि को अपनी झिझक छोड़कर वर्तमान क्षण का आनंद लेने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रसंग का महत्त्व इस बात में निहित है कि वह भाषा को मनुष्य के मूल्यांकन का आधार नहीं मानता। यद्यपि वह स्वयं हिंदी में संवाद करता है, फिर भी उसके व्यक्तित्व में कहीं भी आत्मग्लानि या असुरक्षा दिखाई नहीं देती। इसके माध्यम से फिल्म यह संदेश देती है कि भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम है, व्यक्ति की योग्यता, गरिमा अथवा पहचान का अंतिम मापदंड नहीं। अमिताभ बच्चन का पात्र शशि को यह एहसास कराता है कि आत्मविश्वास और मानवीय गुण किसी भी भाषा से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार यह दृश्य वैश्वीकरण के दौर में भाषा के कारण उत्पन्न होने वाली हीनभावना का प्रतिरोध करते हुए आत्मस्वीकृति और आत्मसम्मान की भावना को सशक्त बनाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका पहुँचने के बाद शशि के जीवन में एक ऐसी घटना घटित होती है जो भाषा, आत्मसम्मान और सामाजिक व्यवहार के जटिल संबंधों को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ उजागर करती है। एक कैफे में जब वह अपने लिए कॉफी और सैंडविच लेने का प्रयास करती है, तब भाषा की अपरिचितता उसके लिए गहरे मानसिक दबाव का कारण बन जाती है। वहाँ उपस्थित लोगों के बीच स्वयं को अभिव्यक्त न कर पाने की स्थिति उसे असहज, भयभीत और संकोचग्रस्त बना देती है। संवाद स्थापित करने में होने वाली कठिनाई के कारण वह घबरा जाती है और अनजाने में एक अन्य व्यक्ति का भोजन गिरा देती है। इस घटना के बाद उसे सार्वजनिक रूप से अपमान और शर्मिंदगी का अनुभव होता है। वह कैफे से बाहर निकलकर भावनात्मक रूप से टूट जाती है और उसके आँसू इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि भाषा का अभाव केवल संप्रेषण की समस्या नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के आत्मविश्वास और आत्मसम्मान को भी गहराई से प्रभावित करता है। इसी प्रसंग में मानवीय संवेदना का एक सकारात्मक पक्ष भी सामने आता है। एक अपरिचित व्यक्ति शशि की स्थिति को समझते हुए उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है और उसके लिए कॉफी लेकर आता है। यह व्यवहार इस बात का संकेत है कि मानवीय संबंध केवल भाषा पर आधारित नहीं होते, बल्कि संवेदनशीलता और समझ भी उनमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके पश्चात उसकी भतीजी राधा का चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय बनकर उभरता है। राधा शशि की भाषा संबंधी कठिनाइयों का उपहास नहीं करती, न ही उसे किसी प्रकार हीन या अयोग्य मानती है। इसके विपरीत, वह उसे निरंतर प्रोत्साहित करती है और विश्वास दिलाती है कि वह नई भाषा सीखने में सक्षम है। राधा का यह दृष्टिकोण नई पीढ़ी की उदार, सहयोगी और सहानुभूतिपूर्ण सोच को अभिव्यक्त करता है। वह शशि के भीतर छिपी संभावनाओं को पहचानती है तथा उसे आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार यह प्रसंग केवल भाषा सीखने की प्रक्रिया को ही नहीं दर्शाता, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि किसी व्यक्ति के आत्मविश्वास के पुनर्निर्माण में पारिवारिक सहयोग, सकारात्मक प्रोत्साहन और मानवीय संवेदनाएँ कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

फिल्म के एक प्रसंग में शशि का कथन केवल एक

व्यक्तिगत अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि वह भारतीय समाज में लैंगिक भूमिकाओं और श्रम के सांस्कृतिक मूल्यांकन पर गहरी टिप्पणी प्रस्तुत करता है। जब लॉरेंट भोजन बनाने को एक कला के रूप में देखता है, तब शशि यह कहती है कि ''मर्द अगर खाना बनाए तो वह कला होती है, लेकिन औरत जब खाना बनाती है तो वह उसका फर्ज माना जाता है।''[10] यह संवाद समाज में स्त्री और पुरुष के कार्यों के प्रति अपनाए जाने वाले भिन्न दृष्टिकोण को उजागर करता है। वस्तुत: वही कार्य, जो पुरुष के द्वारा किए जाने पर रचनात्मकता, प्रतिभा और पेशेवर दक्षता का प्रतीक बन जाता है, स्त्री के द्वारा किए जाने पर उसके स्वाभाविक दायित्व के रूप में देखा जाता है। परिणामस्वरूप स्त्री के श्रम को न तो पर्याप्त मान्यता मिलती है और न ही उसे विशेष उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है।

शशि का यह कथन घरेलू श्रम के उस अदृश्य स्वरूप की ओर संकेत करता है, जो परिवार और समाज के संचालन में अत्यंत महत्वपूर्ण होने के बावजूद अक्सर अवमूल्यित रहता है। एक गृहिणी के रूप में शशि प्रतिदिन भोजन बनाती है, किंतु उसके इस कौशल को कभी कला या प्रतिभा के रूप में नहीं देखा जाता; जबकि वही कार्य किसी पुरुष शेफ के हाथों संपन्न होने पर प्रतिष्ठा, सम्मान और पेशेवर पहचान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह संवाद लैंगिक असमानता, श्रम के सामाजिक मूल्यांकन तथा स्त्री की पहचान के प्रश्न को अत्यंत संवेदनशील ढंग से सामने लाता है। शशि के अनुभव के माध्यम से फिल्म यह दर्शाती है कि समस्या स्त्री की क्षमता में नहीं, बल्कि उस सामाजिक दृष्टि में निहित है जो स्त्री के योगदान को सामान्य और पुरुष के योगदान को असाधारण मानने की प्रवृत्ति रखती है। इसलिए यह दृश्य केवल भोजन या पाक-कला की चर्चा नहीं करता, बल्कि स्त्री-अस्तित्व, आत्मसम्मान और सामाजिक मान्यता के व्यापक विमर्श को भी उद्घाटित करता है।

राधा का चरित्र शशि के आत्मविश्वास-विकास की प्रक्रिया में सकारात्मक भूमिका निभाता है। जब उसे अपनी मौसी के अंग्रेजी सीखने के प्रयास के बारे में पता चलता है, तो वह न केवल उसका समर्थन करती है, बल्कि उसे नए अनुभवों को अपनाने और अपने दिन का आनंद लेने के लिए भी प्रेरित करती है। राधा का यह व्यवहार शशि के प्रति सम्मान और प्रोत्साहन का परिचायक है। दूसरी ओर, फिल्म पारिवारिक संबंधों में मौजूद असमानताओं को भी उजागर करती है। जब भारत से शशि की बेटी का फोन आता है और वह अपनी माँ से स्क्रैपबुक के विषय में असम्मानजनक ढंग से बात करती है तथा यह कहती है कि "पढ़ना आता तब न''[11], तब शशि गहरे भावनात्मक आघात का अनुभव करती है। इसके बाद लॉरेंट के सामने उसकी प्रतिक्रिया यह स्पष्ट करती है कि परिवार के भीतर लगातार मिलने वाला तिरस्कार उसके आत्मसम्मान को प्रभावित कर रहा है। वह कहती है कि ''बच्चे मासूम होते हैं, पर यह कैसी मासूमियत है कि हर बार हमारा दिल दुखाया जाए''[12], तब वह इस धारणा पर प्रश्न उठाती है कि बच्चों की हर बात को केवल उनकी नासमझी मानकर अनदेखा कर दिया जाए। शशि का मानना है कि ज्ञान, भाषा, व्यवहार और कौशल तो सिखाए जा सकते हैं, किन्तु दूसरों की भावनाओं का सम्मान करना और उनके आत्मसम्मान को समझना केवल औपचारिक शिक्षा से नहीं सीखा जा सकता। इसके लिए संवेदनशीलता, सहानुभूति और मानवीय मूल्यों की आवश्यकता होती है। यह संवाद दर्शाता है कि किसी व्यक्ति को सबसे अधिक चोट तब पहुँचती है जब उसके अपने ही उसकी भावनाओं को महत्व नहीं देते।

फिल्म का एक प्रसंग स्त्री की आत्मविकास-यात्रा और पारिवारिक दायित्वों के बीच उत्पन्न द्वंद्व को अत्यंत संवेदनशीलता से प्रस्तुत करता है। जब शशि अपने पति सतीश और बच्चों के अमेरिका आने के बाद भी अपनी अंग्रेजी कक्षा जारी रखने का प्रयास करती है, तो परिस्थितिवश उत्पन्न एक छोटी-सी घटना उसके प्रति परिवार की अपेक्षाओं और सामाजिक दृष्टिकोण को उजागर कर देती है। सतीश के तानों से आहत होकर शशि स्वयं को एक स्वार्थी माँ और पत्नी के रूप में देखने लगती है तथा यह निर्णय लेती है कि वह अंग्रेजी सीखने का प्रयास छोड़ देगी। यह स्थिति दर्शाती है कि पितृसत्तात्मक समाज में जब कोई स्त्री अपने आत्मविकास, शिक्षा या व्यक्तिगत पहचान के लिए समय निकालती है, तो उसके इस प्रयास को प्राय: पारिवारिक जिम्मेदारियों की उपेक्षा के रूप में देखा जाता है। परिणामस्वरूप वह अपराधबोध से भर जाती है और अपनी आकांक्षाओं का त्याग करने लगती है। शशि का यह भावनात्मक संघर्ष केवल एक पात्र की कहानी नहीं, बल्कि उन असंख्य महिलाओं के अनुभवों का प्रतिनिधित्व करता है जो स्वयं के लिए कुछ करने पर भी स्वयं को परिवार के प्रति दोषी महसूस करने लगती हैं। वहीं जब शशि के बनाए

हुए लड्डूओं की सभी लोग प्रशंसा करते हैं, तब सतीश यह कहता है कि ''मेरी पत्नी तो लड्डू बनाने के लिए ही पैदा हुई है।''[13] यद्यपि वह इस कथन को मजाक और प्रशंसा के रूप में प्रस्तुत करता है, परंतु इसके भीतर एक गहरा व्यंग्य और लैंगिक पूर्वाग्रह छिपा हुआ है। यह टिप्पणी शशि की संपूर्ण पहचान को उसके घरेलू कौशल तक सीमित कर देती है और उसके ज्ञान, प्रतिभा, इच्छाओं तथा आत्मविकास के प्रयासों को महत्वहीन बना देती है। सतीश के लिए यह एक सामान्य हास्यपूर्ण टिप्पणी हो सकती है, किंतु शशि के लिए यह उसके अस्तित्व को केवल रसोई और घरेलू कार्यों तक बाँध देने वाला दृष्टिकोण है। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्त्री की उपलब्धियों को प्राय: घरेलू भूमिकाओं के संदर्भ में ही सराहा जाता है, जबकि उसकी बौद्धिक क्षमता और व्यक्तिगत आकांक्षाओं को अपेक्षित सम्मान नहीं मिल पाता। इस प्रकार यह दृश्य स्त्री के आत्मसम्मान, पहचान और सामाजिक मान्यता से जुड़े प्रश्नों को अत्यंत मानवीय और संवेदनशील रूप में सामने लाता है।

फिल्म के अंतिम भाग में शशि का यह संवाद ''मुझे प्यार की जरूरत नहीं है, मुझे बस इज्जत की जरूरत है।''[14] फिल्म की केंद्रीय संवेदना को अत्यंत ढंग से अभिव्यक्त करता है। यह कथन केवल व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि उस सामाजिक यथार्थ की ओर संकेत करता है जहाँ स्त्री के अस्तित्व का मूल्यांकन अक्सर उसकी भाषाई दक्षता, शैक्षिक योग्यता अथवा सामाजिक प्रस्तुति के आधार पर किया जाता है। शशि अपने परिवार से प्रेम तो प्राप्त करती है, किन्तु वह सम्मान नहीं प्राप्त कर पाती जिसकी वह वास्तविक अधिकारिणी है। अंग्रेजी न बोल पाने के कारण उसे बार-बार कमतर समझा जाता है, उसकी बातों को गंभीरता से नहीं लिया जाता और उसकी घरेलू दक्षताओं को भी पर्याप्त मान्यता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में शशि का यह कथन स्पष्ट करता है कि किसी भी व्यक्ति, विशेषकर स्त्री, के लिए केवल स्नेह पर्याप्त नहीं होता; उसके आत्मसम्मान, उसकी क्षमताओं और उसकी पहचान की स्वीकृति भी उतनी ही आवश्यक है।

फिल्म के अंतिम भाग में शशि की आत्मविश्वासपूर्ण यात्रा अपने चरम पर पहुँचती है। चार सप्ताह की अंग्रेजी कक्षा पूरी होने के बाद जब उसकी परीक्षा का समय आता है, तो पारिवारिक परिस्थितियों के कारण वह परीक्षा केंद्र नहीं जा पाती। किंतु उसकी भांजी राधा, जो शुरू से ही शशि के प्रयासों को समझती और उसका समर्थन करती रही है, शशि के अंग्रेजी शिक्षक को विवाह समारोह में ही परीक्षा लेने के लिए आमंत्रित कर लेती है। इस बात की जानकारी स्वयं शशि को भी नहीं होती। विवाह समारोह में जब सभी लोग अपने विचार व्यक्त कर रहे होते हैं, तब शशि भी अंग्रेजी में अपना भाषण देती है। उसकी सहज और प्रभावशाली अभिव्यक्ति को सुनकर वहाँ उपस्थित सभी लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं। विशेष रूप से उसकी बेटी और पति, जो पहले उसकी अंग्रेजी को लेकर उसे कमतर समझते थे, यह देखकर हैरान हो जाते हैं कि शशि अब आत्मविश्वास के साथ अंग्रेजी बोल रही है। यह क्षण केवल भाषा सीखने की उपलब्धि नहीं, बल्कि उसके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की पुनर्प्राप्ति का प्रतीक बन जाता है।

फिल्म के अंत में शशि का बेटा अपनी बहन से कहता है कि ''अब माँ के सामने अंग्रेजी बोलने से पहले सोचना, क्योंकि वह तुमसे भी बेहतर अंग्रेजी बोल सकती है।''[15] यह संवाद संकेत करता है कि परिवार में यदि किसी ने शशि के प्रति सबसे कम पूर्वाग्रह रखा था, तो वह उसका बेटा था। राधा के अतिरिक्त वही एक ऐसा सदस्य था जिसने शशि का उपहास नहीं किया। वहीं दूसरी ओर, जो शशि कभी अपनी भाषा संबंधी असुरक्षा के कारण उपेक्षा और उपहास का सामना करती थी, आज उसी के लिए सभी लोग तालियाँ बजा रहे हैं। इस प्रकार फिल्म यह स्थापित करती है कि व्यक्ति का सम्मान किसी भाषा-विशेष के ज्ञान से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व, क्षमता और आत्मविश्वास से निर्धारित होना चाहिए।

फिल्म के अंत में जब शशि लॉरेंट को धन्यवाद देती है, तब वह एक अत्यंत भावनात्मक संवाद कहती है - ''जब हम स्वयं से प्रेम नहीं करते, तब अपनी ही जिंदगी हमें बोझिल और नीरस लगने लगती है। लेकिन जब हम अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और स्वयं को स्वीकार करना सीख जाते हैं, तब वही पुरानी जिंदगी भी नई और सुंदर प्रतीत होने लगती है। इसलिए मुझे स्वयं से प्रेम करना सिखाने के लिए धन्यवाद।''[16] यह संवाद शशि के व्यक्तित्व में आए गहरे परिवर्तन को व्यक्त करता है। यहाँ लॉरेंट केवल एक मित्र के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है जिसने शशि को उसकी क्षमता पहचानने और आत्मविश्वास विकसित करने में सहायता की। इस प्रसंग में दोनों के बीच एक विशेष भावनात्मक जुड़ाव भी दिखाई देता है, जिसे फिल्म

अत्यंत संयमित ढंग से प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि कुछ क्षणों में सतीश के व्यवहार में भी हल्की असहजता और ईर्ष्या का भाव दिखाई देता है। फिर भी फिल्म इस संबंध को प्रेम-कथा के रूप में नहीं, बल्कि आत्मसम्मान और आत्मस्वीकृति की यात्रा में मिले मानवीय सहयोग के रूप में प्रस्तुत करती है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म वैश्वीकरण के दौर में भाषा, पहचान और आत्मसम्मान के जटिल संबंधों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। फिल्म यह स्पष्ट करती है कि अंग्रेजी सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम अवश्य बन गई है, किंतु व्यक्ति की वास्तविक पहचान केवल भाषा-ज्ञान से निर्धारित नहीं होती। शशि की यात्रा आत्मविश्वास, आत्मस्वीकृति और सम्मान की पुनर्प्राप्ति की यात्रा है, जो समकालीन समाज में भाषायी असमानताओं पर महत्वपूर्ण प्रश्न उठाती है।

***शोधार्थी / रिसर्च स्कॉलर**
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. The Consequences of Modernity. Cambridge : Polity Press, 1990, p. 64.
2. राजाध्यक्ष एवं विलेमेन; द्वायर; प्रसाद
3. शशि - सपना संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 07:00 -07:07)
4. शशि - सपना संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय 08:02 - 08:48)
5. शशि - सतीश संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 10:00 - 10:14)
6. शशि अपनी सास से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 16:35 - 16:56)
7. शशि - सतीश संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 22:39 -22:49)
8. शशि - सतीश संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 22:50- 22:56)
9. अमिताभ बच्चन शशि से हवाई यात्रा के दौरान, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 31:41 - 31:57)
10. शशि - लॉरेंट का संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 1:03:56 - 1:04:45)
11. सपना- अपनी माँ शशि से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 1:10:56 - 1:11:24)
12. शशि - लॉरेंट से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 1:12:02 -1:12:50)
13. सतीश का संवाद, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय-1:41:41 - 1:42:04)
14. शशि - राधा से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय - 1:45:55 - 1:46:17)
15. सागर - सपना से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 2:01:36 - 2:01:45)
16. शशि-लॉरेंट से, इंग्लिश विंग्लिश फिल्म (समय- 2:02:19-2:03:10)

Research Paper

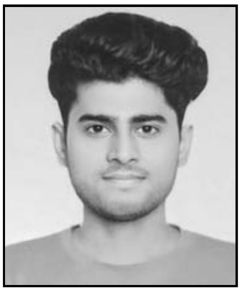

Kalim

Environmental Federalism and Centre–State Relations in Climate Governance in India (2015–2025)

Abstract

Climate change has become one of the most acute governance issues of the twenty-first century, which needs to be tackled on the levels of several governments. Climate governance in a federal polity like India is influenced by the relations between the Union and State governments and thus, environmental federalism is an important framework to be considered in the context of policy formulation and implementation. This article will analyze how the Centre-State relations and environmental federalism in India changes with time with the climate governance of the country between 2015 and 2025, a decade of major policy changes such as the Paris Agreement, revised Nationally Determined Contributions (NDCs), the Panchamrit commitments, and the declaration of the net-zero emission target by 2070. The paper evaluates the legal and constitutional background of environmental governance, institutional frameworks, and the emergence of states in climate adaptation and renewable energy transitions. It points out the development of the concept of cooperative federalism as a central tool to use in applying climate policies based on the sharing of responsibility, fiscal transfers and collaborative governance frameworks. The article also discusses how climate finance, State Action Plans on Climate Change (SAPCCs), and state-level innovations can be used to engage in the problem that is region-specific. Simultaneously, it outlines key limitations, such as overlapping institutional jurisdictions, Centre-State conflicts, unequal financial abilities, environmental vulnerability, and lack of climate data and monitoring infrastructure. The results indicate that although India has gone a long way in terms of incorporating climate issues into its federal system of governance, it still faces a lot of difficulties in terms of proper coordination and equal distribution of resources. The article contends that to meet climate commitments and sustainable development goals of India, the reinforcement of cooperative federalism, increased fiscal support mechanisms, and decentralized and participatory government is key. Finally, there is a need to balance national leadership, state autonomy, and local involvement in environmental decision-making as it is the future of climate governance in India.

Keywords

Environmental Federalism, Climate Governance, Cooperative Federalism, Centre–State Relations, India, etc.

Introduction

Climate change has become one of the greatest challenges in governance of the twenty first century that demands a concerted action among various levels of government. Its effects cut across administrative borders and impact a wide range of fields, including agriculture, water resources, energy, the health of the population, biodiversity, and disaster management. Therefore, successful climate governance requires the

cooperation between national, state and local institutions. Given the constitutionally shared powers and responsibility of various levels of government of federal countries like India, climate action is more and more reliant on the quality of intergovernmental relationship and coordination of policies.

The system of environmental governance in India is federally based with centralized authority and autonomy of the states. Although the environmental protection is mostly assigned to the Concurrent List of the Constitution, allowing both union and State governments to legislate, climate governance must be complicated between national obligations and regional actions. The Union government develops general climate policies, concludes international treaties, and gathers financial funds, but the state governments are also very significant in introducing mitigation and adaptation strategies based on local ecological, economic, and social factors. This interrelationship among the various governmental levels is commonly referred to as environmental federalism which is the sharing of environmental duties and authority in a federal system.

Between 2015 and 2025 is a particularly crucial stage in the Indian climate governance process. In 2015, the signing of the Paris Agreement marked a new chapter of international collaboration on climate and India made bold Nationally Determined Contributions (NDCs) to mitigate the intensity of emissions and increase renewable energy sources. This is the decade when India reinforced its climate commitments with the National Action Plan on Climate Change, renewable energy missions and updated NDC targets. The declaration of a net-zero target by 2070 at COP26 further demonstrated how the country is long-term committed to climate action. At the same time, the growing rate of climate-related disasters, such as heatwaves, floods, cyclones, droughts, and extreme rainfall events, underlines the necessity to make the Centre-State coordination and climate resilience more powerful.

Environmental Federalism and Climate Governance

As the concept of climate governance involves in India, a conceptual framework is needed that incorporates environmental federalism, climate governance, and cooperative federalism. These notions describe the allocation of duties in dealing with climate change between levels of government and how coordination processes influence the environmental policy outcomes. Environmental federalism is the separation and distribution of environmental functions to various levels of government in a federal political system. It is founded on the principle that environmental issues need to be addressed on the level of government that can handle them in the best way possible. Environmental federalism theories developed out of the political theory of federalism and the state of public administration, focusing on the relationships between centralized power, on the one hand, and decentralized decision-making, on the other. One of the main aspects of environmental federalism is the decentralization of the environmental responsibilities. As national governments formulate general environmental standards and international commitments, sub-national governments have a greater understanding of local ecological situations and socio-economic realities. Decentralization thus facilitates better solutions to environmental problems that are more context-specific. States in India have a significant role in enforcement of environmental legislation, management of natural resources, control of pollution as well as development of climate adaptation policies that are regionally appropriate. Also included in environmental federalism is the sharing of powers between the national and sub-national governments. International negotiations, creating national policy, and providing financial assistance are usually done at the central government level, whereas implementation and enforcement is done by state governments. This decentralization of power aims at achieving both national coordination and local flexibility.

The concept of climate governance is used to refer to the institutions, policies, processes and actors who deal with climate change. It is inclusive of decision-making mechanisms targeted at minimizing greenhouse gas emissions and promoting resilience to climate impacts. Governance of climate covers more than just governments, and encompasses civil society organizations, and private sector actors, international

institutions and local communities. Mitigation and adaptation are the two main aspects of climate governance. Mitigation entails the attempts to lower the emission of greenhouse gases by increasing renewable energy sources, conserving energy, planting trees, and sustainable development. Adaptation is concerned with enhancing the ability of societies and ecosystems to respond to climate-related risks like floods, droughts, heatwaves, and sea-level rise. Both goals need to be balanced in order to achieve effective climate governance.

The multi-level governance approach is becoming a key characteristic of climate governance as it acknowledges that climate action cannot be realized by one level of government. The international agreements, national policies, state-level plans, and local implementation mechanisms should collaborate to reach climate objectives. Cooperative federalism is a concept of the governance whereby the Centre and the States collaborate to solve common problems. Climate change is one such area of policy cooperation since environmental issues are not limited by administrative boundaries. The Union government sets national goals and policy frameworks whereas state governments set up climate programs and adaptation initiatives. Centre-State cooperation is very important in climate policy implementation, which includes development of renewable energy, forest protection, disaster management, sustainable agriculture and climate finance. Coordination promotes policy coherence, mobilization of resources and capacity of the institution.

A number of theoretical approaches are useful in representing the issues of environmental federalism and climate governance. Fiscal Federalism is based on sharing financial resources and duties between various levels of government, which brings out the significance of climate finance and intergovernmental transfers. Multi-Level Governance Theory is based on the principle that policymaking is an interplay of various actors acting at different territorial levels as opposed to hierarchical system. Ecological Federalism is an expansion of traditional federalism with ecological sustainability and environmental protection becoming the principles of governance. The Collaborative Governance Theory emphasizes collaboration between governments, civil society, private actors and the local communities in tackling complex public issues.

Constitutional and Legal Foundations of Environmental Federalism in India

The constitutional and legal framework of environmental federalism in India is the foundation of environmental protection and climate governance. The original Constitution did not specifically mention anything about environmental protection, but amendments to the Constitution and judicial interpretations that followed have improved the environmental responsibilities on both Union and State level. "The other significant development was the 42 nd Constitutional Amendment Act, 1976, which suggested Article 48A and Article 51A(g). Part 48A of the Directive Principles of State Policy provides the State to preserve the environment and improve forests and wildlife. To complement this provision, Article 51A(g) gives it a Fundamental Duty of every citizen to protect and improve the natural environment including forest, lakes, rivers, and wildlife".

"The Seventh Schedule of the Constitution gives legislative powers to the Centre and the States". The subjects of national interest such as the international treaties and inter-state affairs are contained in the Union List that enables the Central Government to enforce the international climate commitments. Areas mentioned in the State List, such as the public health, agriculture, water supply and land management are directly related to the climate adaptation. "The Concurrent List lists the forests, protection of wild animals and birds, and environmental issues, and through this, the Centre and the States can legislate, and cooperate on environmental matters".

The environmental jurisprudence has been established with the help of the Supreme Court of India. "It has also used judicial activism to broaden the scope of the interpretation of the right to life in Article 21 to encompass a right to a healthy environment". The Court has also incorporated burning environment principles in the Indian law. "The Public Trust Doctrine rests on the premise that state owns the natural resources acting on behalf of the people and that it cannot make use of the resources to the benefit of individuals". The Precautionary

Principle is that there must be some preventative action in the case where we are not scientifically certain that the environment will be damaged. "In the same way, the Sustainable Development Principle aims at achieving a balance between economic growth and environmental protection".

There are several landmark cases in India that have had an impact on the environmental law. "In Rural Litigation and Entitlement Kendra v. State of Uttar Pradesh (1985) the Supreme Court ordered the closure of the limestone quarries which were affecting the environment". The M.C. Mehta cases were a series of cases that dealt with pollution in the industry, conservation of rivers and automobile emissions. "The Court came up with the Precautionary Principle and Sustainable Development as the Indian environmental law in Vellore Citizens Welfare Forum v. Union of India (1996)". All these constitutional provisions and judicial interventions are the constitutional basis of environmental federalism and climate regulation in India.

Evolution of India's Climate Governance Framework

The years 2015-2025 were the years of the radical change in the climate governance system in India when the international obligation, the national efforts to develop the country policy and the increased interest towards the sustainable development led to the change. On the international scale, India was actively involved in the instrumentation of the Paris Agreement in 2015, during which India vowed to reduce the intensity of the GDP in relation to the emissions and expand the potential of non-fossil fuel energy. "In 2022, India made revised Nationally Determined Contributions (NDCs) that promise a reduction in emissions intensity by 45 percent of 2005 levels by 2030 and reach about 50 percent of cumulative power generation of non-fossil fuel. India constantly highlighted climate justice, equity and the common but differentiated responsibility concept through multiple Conferences of Parties (COP) meetings under the UN Framework Convention on Climate Change".

"At the federal level, the National Action Plan on Climate Change (NAPCC) continued to serve as the overall framework to guide the climate policy through its eight national missions". Nation Adaptation Fund to Climate change offered adaptation initiatives by undertaking projects to enhance resilience in susceptible regions. In 2023, the National Green Hydrogen Mission was introduced, which will be an important step to decarbonize industry and promote clean energy. Similarly, "the National Electric Mobility Mission was also to accelerate the adoption of electric vehicles and reduce the use of fossil fuels. India has ambitious Panchamrit targets at COP26 in Glasgow with an aim to have 500 GW of non-fossil energy capacity by 2030 and reduce the estimated carbon emissions by a huge margin".

This was a decade that had some significant developments. India had turned into one of the largest producers of renewable energy in the world, and the solar and wind power plants were becoming commonplace. In 2021, a breakthrough was made with India putting its targets to a net-zero by 2070. Another initiative by the government was the Carbon Credit Trading Scheme that was implemented in order to establish carbon market reforms to encourage the reduction of emissions in the sectors. In addition, there was a shift in energy transition policies to emphasize more on clean technologies, energy efficiency, green manufacturing, and sustainable infrastructure. Together, these developments demonstrate how the Indian climate governance system has developed to become more of an integrated framework that integrates economic growth, energy security, and climate resilience along with an agenda that is mostly environmental in nature.

Institutional Architecture and the Role of State Governments in Climate Governance

"The climate governance system in India has a multi-level institutional structure whereby the central and state governments have a pivotal role. The Ministry of Environment, Forest and Climate Change (MoEFCC) is the nodal ministry in the country in the area of environmental protection, formulating climate policies, and conducting international negotiations in climate change". The Ministry of New and Renewable Energy (MNRE) is encouraging the development of renewable energy sources, especially solar, wind, and green hydrogen projects. Strategic policy guidance on sustainable development, energy transition, and

climate resilience is given by NITI Aayog, with the Central Pollution Control Board (CPCB) monitoring the environmental quality and implementing pollution control standards nationwide.

On the state level, special State Climate Change Cells have been formed to organize the climate-related planning and implementation. "The role of the State Pollution Control Boards (SPCBs) is the enforcement of environmental regulations and monitoring of pollution in their jurisdictions". One of the main tools of state-level climate governance is the State Action Plans on Climate Change (SAPCCs), the plans that, based on national climate goals, translate them into regional strategies. SAPCCs evolved over time since their first development after the National Action Plan on Climate Change (NAPCC) to be able to cover the local vulnerabilities, adaptation priorities, and mitigation opportunities and to comply with the national or international climate pledges.

Climate governance necessitates well-coordinated mechanisms. Inter-ministerial committees promote collaboration between different ministries of central ministries addressing the energy, agriculture, water, transport, and disaster management. Bi-monthly Centre-State consultations contribute to aligning policy priorities and implementation plans. Moreover, the Finance Commission mechanisms have also adopted an ecological and environmental requirement in the distribution of resources, which makes states invest in climate resilience and environmental protection.

State governments have become significant actors in climate with much innovation being evident in dealing with climate challenges. Gujarat has become a pioneer in the development of solar energy through the development of solar parks and investments in renewable energy. Another type of climate adaptation that the state has put in place is water management and coastal resilience. To achieve urban climate resilience, Maharashtra has focused on sustainable urban planning, climate action plans, and green mobility policies to adopt electric vehicles and public transport.

Tamil Nadu has increased renewable energy production, especially through wind and solar energy, and has also implemented coastal adaptation strategies to overcome the problem of sea-level rise and cyclone risks. Rajasthan with rich solar energy resources has established some of the largest solar energy parks in India and has also established water conservation projects to fight drought and desertification. With the disastrous floods experienced in the past years, Kerala has intensified flood resilience policies, disaster preparedness policies, and climate adaptation planning. These instances show that the states are not only implementers of national policies but they are also proactive innovators in climate governance. There are however great regional differences because of geographical differences, economic structures, availability of resources and climate susceptibility. As a result, national frameworks are necessary to give general direction, but state-level efforts are critical in meeting the overall targets of climate in India and delivering context-specific responses to climate change.

Centre–State Relations and Climate Finance in India's Environmental Federalism

In India, the two factors of Centre-State relations and financial resources significantly determine the climate governance. Considering the country has a federal system, the ability to deal with climate would require cooperation to be founded on cooperative federalism, which focuses on collaboration between the Union and State governments to deal with common environmental issues. States have the key role of implementing policies related to renewable energy, sustainable agriculture, water management, and disaster resilience, as the Centre develops national climate policies and international commitments. This has resulted in climate governance being a collective responsibility that necessitates sustained coordination and harmonization of policies. Fiscal aspect of environmental federalism is also significant. The Finance Commission has a major part to play in financing environmental initiatives by way of grants and devolution. Green budgeting has been a significant policy instrument in recent years that allows governments to determine the environmental cost of government spending. The Centre and the States finance climate change through climate finance, which helps in adaptation projects, renewable energy development, and disaster preparedness, as well as

sustainable infrastructure. Such financial provisions can be beneficial to fill resource gaps and enhance climate action at the state level.

A number of regions are good examples of Centre-State cooperation. Policymaking, incentives, and regulations have helped to boost renewable energy growth. Conservation of forests is done through co-operation in afforestation and biodiversity conservation. National and state disaster response structures have made disaster management more collaborative. Likewise, the urban climate action, such as sustainable transport, waste management, and climate-resilient infrastructure, must be closely coordinated across the various levels of government. Regardless of these successes, a number of conflict areas still exist. There are frequent disagreements about clearing forests to build industries and infrastructure, whereby the states desire economic growth, and the Centre focuses on environmental protection. The regulations of Coastal Regulation Zone (CRZ) have created conflicts between environmental conservation and developmental interests in the coastal states. Renewable energy projects are often confronted with land acquisition and local resistance issues. The climate change has also exacerbated the water-sharing conflicts among the states especially in the river basins that are experiencing growing scarcity and fluctuations.

Another important pillar of environmental federalism is climate finance. The sources of funding are central government schemes, international climate funds, Green Climate Fund, multilateral development agencies and state government budgets. Environmental concerns are becoming more prominent in fiscal devolution as the Finance Commission has acknowledged the ecological criteria in fiscal devolution. An example is forest cover, which has been considered as a parameter in making transfers, thus encouraging conservation activities among states. Nevertheless, there are still considerable challenges. The financial capabilities of states are not equal, and climate preparedness and implementation have disparities. Central transfers remain a staple in the climate-related projects of many states, and the local governments tend to have insufficient funds and technical capabilities. The compromise between the national climate priorities and the state autonomy thus appears to be one of the key challenges. The enhancement of climate governance framework and long-term sustainability objectives will be highly important to strengthen fiscal cooperation and climate finance and ensure that resources are distributed fairly in India.

Conclusion

The years between 2015 and 2025 can be described as an important stage in the development of climate governance in India, where there is an increasing understanding of the significance of environmental federalism. With climate change becoming a critical concern to economic development, public health, agriculture, water security, and disaster management, the management of environmental problems has become a collective responsibility among the Union, State and local governments. In turn, the concept of environmental federalism has become a key cornerstone of the Indian climate governance system as it offers the institutional framework in which national obligations are converted into regional and local action. The climate governance framework of India in this decade was gradually shifted to the model of cooperative federalism. The Union government was a key participant in global climate talks, national policy development and mobilisation of climate finance with states playing a more proactive role on implementation via State Action Plans on Climate Change, renewable energy efforts, and adaptation plans. Nevertheless, with heightened collaboration, there are still conflicts over matters of environmental clearances, resource distribution, regulatory jurisdiction, and development priorities as it is part and parcel of a complex set of a federal government.

The state governments have become significant players in climate governance. States like Gujarat, Rajasthan, Tamil Nadu, Maharashtra and Kerala have been innovative in their development of renewable energy, climate adaptation, and resilience to disasters and sustainable management of resources. Their experiences explain that effective climate action needs policies that are grounded in different ecological, economic and social conditions in the country. However, there are still major financial, institutional,

and political limits when it comes to the implementation of climate policies. Centre-State disagreements, ineffective climate finance, fragmented governance structures and uneven state capacities tend to hinder policy effectiveness. Moreover, growing environmental stressors such as air pollution, water shortages, and severe weather conditions require more robust institutional reactions and an enhanced coherence of policies. In future, there is a need to increase the Centre-State coordination, decentralization of governance and fiscal support to fulfill the climate pledges of India under the Paris Agreement and long-term net-zero objectives. More engagement of local governments, communities, and civil society organizations will also contribute to better climate resilience and more effective policies. In the end, the future of climate governance in India lies in striking a delicate balance between national leadership and state autonomy and ensuring local participation is meaningful. This balanced and cooperative approach will play an important role in developing sustainable development and creating an India resistant to climate in the upcoming decades.

Department of Political Science
Insitution - University of Delhi
Mail : kalim675987@gmail.com

References:

- Arora, N. K., & Mishra, I. (2019). United Nations sustainable development goals 2030 and environmental sustainability: Race against time. *Environmental Sustainability, 2*(4), 339–342.
- Bandyopadhyay, J., & Perveen, S. (2003). The interlinking of rivers in India: Assessing the justification. *Economic and Political Weekly, 38*(50), 5307–5316.
- Centre for Science and Environment. (2022). State of India's environment 2022. Centre for Science and Environment. https://www.cseindia.org/state-of-india-s-environment-2022-11072
- Dubash, N. K. (2011). From norm taker to norm maker? Indian energy governance in global context. *Global Policy, 2*(S1), 66–79.
- Government of India. (2008). *National Action Plan on Climate Change (NAPCC)*. Prime Minister's Council on Climate Change.
- Government of India. (2022). *India's updated first nationally determined contribution under the Paris Agreement*. Ministry of Environment, Forest and Climate Change.
- Intergovernmental Panel on Climate Change. (2023). *Climate change 2023: Synthesis report*. IPCC.
- Pillai, A. V., & Dubash, N. K. (2023). Climate governance and federalism in India. In A. Fenna, S. Jodoin, & J. Setzer (Eds.), Climate governance and federalism: A Forum of Federations comparative policy analysis (pp. 177–197). Cambridge University Press. https://doi.org/10.1017/9781009249676.010
- Singh, A. (2025). Fiscal federalism and climate change: Building the institutional framework in India. Indian Public Policy Review, 6(1), 78–122. https://doi.org/10.55763/ippr.2025.06.01.003
- Ministry of Environment, Forest and Climate Change. (2021). *India: Third biennial update report to the UNFCCC*. Government of India.
- Ministry of Environment, Forest and Climate Change. (2022). *Annual report 2021–22*. Government of India.
- Ministry of Finance. (2021). *Economic Survey 2020–21*. Government of India.
- The Ozone Cell. (2019, March). India cooling action plan (ICAP) – e-circulation version. Ministry of Environment, Forest & Climate Change. https://ozonecell.nic.in/wp-content/uploads/2019/03/INDIA-COOLING-ACTION-PLAN-e-circulation-version080319.pdf
- Ostrom, E. (2010). Polycentric systems for coping with collective action and global environmental change. *Global Environmental Change, 20*(4), 550–557.
- Rajamani, L. (2012). The changing fortunes of differential treatment in the evolution of international environmental law. *International Affairs, 88*(3), 605–623.
- Sachs, J. D. (2015). *The age of sustainable development*. Columbia University Press.
- Sahu, G. (2014). Implications of Indian environmental jurisprudence on environmental governance. *Journal of Human Values, 20*(1), 61–72.
- Shankar, U., & Rodrigues, V. (2011). State-level climate change adaptation planning in India. *Climate and Development, 3*(4), 289–299.
- Stern, N. (2007). *The economics of climate change: The Stern review*. Cambridge University Press.

शोध-पत्र

मानसी

संत रविदास और समतामूलक समाज की कल्पना : बेगमपुरा एक दृष्टि

शोध-सार

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल का उदय एक विशेष सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुआ है। लगभग 14वीं से 17वीं शताब्दी के मध्य भारतीय समाज राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक संकीर्णता और सामाजिक विषमता से ग्रस्त था। उक्त समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था, धार्मिक क्षेत्र में कर्मकांड और बाह्य आडंबरों की प्रधानता थी। जिस समय भक्तिकालीन समाज का उदय हो रहा था उस समय इस समाज का परिवेश सामाजिक अन्याय, धार्मिक रूढ़ियों और राजनीतिक अस्थिरता से भरा हुआ था, भक्तिकालीन साहित्य का मुख्य उद्देश्य ईश्वर-भक्ति के माध्यम से समाज में नैतिकता, समानता और करुणा की स्थापना करना था। इस काल में सगुण और निर्गुण भक्ति की दो धाराएँ विकसित हुईं। राम और कृष्ण भक्ति के साथ-साथ निर्गुण संत परंपरा (कबीर, रविदास, नानक, दादू आदि) का उदय हुआ। संत कवि रविदास मध्यकाल के एक ऐसे ही साधक थे जिनकी रचनाओं में जीवन की गहरी स्वानुभूति प्रतीत होती हैं, तथा उन्होंने उस वातावरण में भी सामाजिक भेदभाव और असमानता के खिलाफ आवाज उठाते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में, संत रविदास की 'बेगमपुरा' अवधारणा का विश्लेषण उनके सामाजिक दृष्टिकोण के संदर्भ में किया गया है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना हैं, कि रविदास की भक्ति चेतना सामाजिक परिवर्तन की चेतना से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। उनकी काव्य-दृष्टि मध्यकालीन समाज की सीमाओं को लाँघते हुए एक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज की परीकल्पना प्रस्तुत करती है।

बीज शब्द

निर्गुण भक्ति, मध्यकालीन समाज, सामाजिक समानता।

प्रस्तावना

भक्ति आंदोलन भारतीय साहित्य का वह चरण हैं जिसमें साहित्य, समाज और धर्म एक-दूसरे के साथ गहनता से जुड़े है। संत रविदास मध्यकाल के निर्गुण शाखा के प्रमुख रचनाकार माने जाते हैं। निर्गुण निराकार उपासक रविदास ने अपने इष्ट को केवल निर्गुण रूप में नहीं पहचाना अपितु वे उन्हें सामान्य जीवन में समाज का कल्याण करने के लिए भी स्वीकारते हैं। वे उस स्वरूप की व्यापकता सृष्टि के हर अंश में देखते हैं। इस प्रकार संत रविदास की रचनाए सामाजिक परोपकार तथा विश्व कल्याण का भी साधन बनी। आत्मनिवेदन, नाम स्मरण की साधना, सात्विक गुणों का महत्व तथा उसके लिए दिया गया उपदेश ने सामाजिक रूप से हर वर्ग के व्यक्ति को साथ रहने, जोड़े रखने में सकारात्मक साबित हुआ। आपकी रचनाओं से समाज में व्याप्त कुरीतियों, आडंबरों ने मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद को कम कर दिया था। यह कहा जा सकता है कि संत कवियों में रविदास ने शोषित, पीड़ित, दलित मानव समाज को वाणी देने का भरसक प्रयास किया। मनुष्य को मनुष्य बनाना ही तो साहित्य का प्रधान लक्ष्य हैं और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रचनाकार को सामाजिक पीड़ा, विषमता, संत्रास आदि को महसूस करना ही पड़ता है। संत रविदास ने युगीन सामाजिक विषमता को स्वयं झेला और भोगा था। चर्मकार जाति से होने, अपने पेशे को हृदय से स्वीकार करते हुए रविदास ने अपनी रचनाओं में समाज के एक ऐसे परिवेश का अंकन किया जहाँ हर वर्ग स्वतंत्र रूप से एक दूसरे से

जुड़ा हुआ था। वह परमतत्व की अनुभूति को साधक के लिए आवश्यक मानते हैं, उनका यह परमतत्व ब्रह्मांड के हर अंश में व्याप्त है।

''सब में हरि हैं हरि में सब है, हरि अपनो जिव जाना॥''[1]

रविदास की भक्ति ईश्वर की उपासना तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक संरचना की आलोचना का माध्यम भी बनती है। वह कहते हैं—

''जाति-पाँति पूछै नहिं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई।''[2]

आपकी यह विचारधारा जाति व्यवस्था तथा समाज में फैली नकारात्मक सोच का खंडन-मंडन करती हैं और एक ऐसे समाज की अवधारणा प्रस्तुत करती हैं जहाँ जाति व्यवस्था के नाम पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होता है।

भक्तिकाल का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक परिवेश

सामाजिक परिवेश

हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन परिवेश सामंती दौर का तथा धार्मिक उथल-पुथल का युग माना जाता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाज शोषण एवं पतन का काल था, ऐसी विकट परिस्थितियों में संत रविदास अपने विचार से समाज को एक करने का भरसक प्रयास करते हैं। श्रमिक वर्ग आर्थिक शोषण और सामाजिक अपमान का शिकार था। शूद्रों और अछूतों को सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, स्त्रियों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी, बाल-विवाह, सती-प्रथा और पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियाँ समाज में व्याप्त थीं। निर्धनता, अशिक्षा और भय का वातावरण था, ऐसे समाज में सामान्य जन के लिए जीवन कठिन था।

धार्मिक परिवेश

धार्मिक सत्ता इस असमानता को ईश्वरीय विधान के रूप में वैध ठहराने का कार्य कर रहा था। छुआछूत, जातिगत भेदभाव और कर्मकांडों की प्रधानता ने समाज को विवेकशून्य और जड़ बना दिया था। ज्ञान और धर्म आम जनमानस से दूर हो चुका था। ऐसे समय में संत कवियों की वाणी एक प्रतिरोधी चेतना के रूप में उभरती है। धार्मिक क्षेत्र में कर्मकांड और बाह्य आडंबरों की प्रधानता थी। पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत और यज्ञों को ही धर्म समझा जाने लगा था। वर्ग विशेष ने धर्म को कठिन और जटिल बना दिया था, जिससे सामान्य जनता उससे दूर होती जा रही थी। ईश्वर, भक्ति जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो गई थी। ऐसे वातावरण में भक्तिकाल ने सरल और सहज भक्ति का मार्ग प्रस्तुत किया। मध्यकाल मे संत गुरु रविदास को निम्न जाति के लोगों ने अपनाया उन्होंने उन्हें अपना गुरु माना क्योंकि वो चमार जाति मे पैदा हुए थे और चमड़े से जूती 'श्रम' करते हुए अपनी साधना जारी रखते थे। अपनी आध्यात्मिक शक्ति से हर क्षेत्र मे अंधविश्वासी लोगों को हराते हुए साक्षात् दिखा दिया कि इंसान की पहचान जाति से नहीं गुणों से होती है।

''रविदास बामन न पूजिए जो होय गुनहीन।
पूजिए पैर चांडाल के, जो होय गुणप्रवीन॥''[3]

राजनीतिक परिवेश

मध्यकालीन समाज जहाँ एक ओर धार्मिक प्रवृत्तियों से घिरा था, वहीं एक ओर राजनीतिक परिवेश में बहुत उथल-पुथल मचा हुआ था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कहें तो ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व, और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियों को तोड़ा जाता था, पूज्य पुरुषों का अपमान किया जाता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[4] युद्ध, लूट और असुरक्षा की स्थिति बनी रहती थी। जनता पर करों का बोझ था। राजसत्ता का सीधा संबंध जनता के दु:ख-दर्द से नहीं था। राजनीतिक अस्थिरता सामाजिक जीवन को भी प्रभावित कर रही थी। संत रविदास का युग संक्रांति का युग था। हिन्दू और मुसलमान के बीच निरंतर ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला था। अंत: ऐसे परिवेश में अपने हृदय के आक्रोश, असहायता, निराशा, और दीनता को प्रभु के सम्मुख रखकर मन को शक्ति देने के अतिरिक्त और रास्ता क्या था? तत्कालीन समाज की स्थिति का वर्णन करते हुए संत रविदास कहते हैं कि-

''त्राहि-त्राहि त्रिभुवन पति पावन,
अतिशय शुल शकल बलि जाऊ।''[5]

साहित्यिक परिवेश

भक्तिकालीन परिवेश में जो हो रहा था, वही संत कवियों के माध्यम से उनकी वाणियों और पोथियों में दिखाई देता है। भक्तिकालीन साहित्य का मुख्य उद्देश्य जहाँ एक ओर ईश्वर

भक्ति था वहीं संत कवियों ने भक्ति के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को खंडित करने का मार्ग निकाला, साहित्य का मुख्य उद्देश्य समाज में नैतिकता, समानता और करुणा की स्थापना करना था। इस काल में भक्तिकालीन भक्तों की दो धारायें विकसित हुईं। राम, कृष्ण सगुण भक्ति के साथ-साथ निर्गुण परंपरा के भक्त भी हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तथा समाज में व्याप्त रूढ़ियों को इंगित किया और धार्मिक पाखंड को जोर-शोर से अपनी वाणी के माध्यम से उठाया और समाज को जागृत करने का प्रयास किया। भक्त कवियों ने जाति-पाति, पाखंड और आडंबर का विरोध किया तथा प्रेम, भक्ति और मानवता का संदेश दिया है। साहित्य लोकभाषा में रचा गया, जिससे जनसामान्य तक उसकी पहुँच बनी रही।

संत रविदास की विचारधारा

किसी भी समाज की गरिमा, वहाँ के जीवन मूल्य होते हैं। कह सकते हैं कि मानव समाज जैसे जैसे सुसंस्कृत होता गया, उसने अपनी आवश्यकता के अनुरूप मानव मूल्यों को स्वीकार करना आरंभ किया, यही उनकी सामाजिक दृष्टि थी। संत रविदास जी ने जिस मूल्यों को अपनी वाणी में स्थान दिया उससे केवल उनके इर्द-गिर्द ही प्रभाव नहीं पड़ा अपितु, उसका प्रभाव सर्वव्यापी सकारात्मक परिणाम देखने को मिला। आपका जीवन भारतीय जीवन मूल्यों का ही विषम रूप है। आपका समग्र आचार-विचार लोक कल्याण की चेतना में अनुप्राणित हैं। आपने सभी जगह अपने आप को ब्रह्म का अंश एवं अंग स्वीकार किया है। जब आप धार्मिक विश्वास की बात करते हैं तब तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आपने किसी एक धर्म को उसकी अनन्य धारणाओं के वजह से स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसके उदारवादी पथ के कारण उसे अपने जीवन में स्थान दिया है। सच तो यह है कि जहाँ एक ओर आपने हिन्दू पूजा पाठ तथा कर्मकांड का विरोध किया वहीं दूसरी ओर मुस्लिम समाज के अंदर व्याप्त रूढ़ियों को भी आपने अपने साहित्य के माध्यम से मे उजागर किया है।

''मंदिर मसजिद दोउ एक हैं। इन महं अंतर नाही।
रैदास राम रहमान का, झगड़उ कोउ नाही॥''[6]

इसी प्रकार साम्प्रदायिकता का विरोध कर हिन्दू और मुसलमान के अंतर को समाप्त कर आपने सभी को एक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है—

''हिंदू तुरक महि नाहीं कछु भेदा,
सभ महँ एक रत अरु मासा।
दोहू एकै दूजा को नाहीं, पेख्यो सोधि रविदासा॥''[7]

रविदास ने केवल अपने साहित्य के माध्यम से ही इन मूल्यों को प्रचारित प्रसारित नहीं किया बल्कि अपने सामान्य जीवन में भी ऐसा ही आचरण किया है। तथाकथित निम्न जाति से होने के कारण जहाँ एक ओर उन्होंने धार्मिक भेदभाव को अपने निजी जीवन में भी महसूस किया है। इस वजह से भी रविदास आडंबर प्रभाव धर्म की उपेक्षा कर वैयक्तिक आचरण को ही धर्म का मूल आधार माना है। आपने समाज में व्याप्त आडंबर का डट कर विरोध किया, आपने जन्म से किसी को ऊँचा या नीचा नहीं माना बल्कि अपने कर्मों से हर व्यक्ति अच्छा या बुरा होता है, इस पक्ष को समाज के सामने उजागर किया है। तथाकथित निम्न जाति के प्रति समाज में व्याप्त अवहेलना, उपेक्षा, संत्रास की भावना आपकी वाणी में प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं।

''मेरी जाति कमीनी, पाति कमीनी, ओछा जनमु हमारा''[8]

'बेगमपुरा' की परिकल्पना

मध्यकालीन युग में संतों ने धार्मिक अंधविश्वास के स्थान पर कर्म को प्रधानता दिया है। गुरु महिमा, मर्यादा को महत्व, कर्मनिष्ठा, सामाजिक लोक कल्याण में विशेष ध्यान दिया है। रविदास की वाणी में जिस सामाजिक चेतना की बात कही गई है, यदि उस पर ध्यान दिया जाए तो वह आज भी समाज में प्रासंगिक है। साहित्यकार की कल्पना चाहे आकाश में विचरण करती रहे पर उसके पैर जमीन पर ही रहते हैं। रविदास जी का समय राजनीतिक दृष्टि से बहुत उथल-पुथल का समय था। ऐसे में रविदास की 'बेगमपुरा' रचना उनकी सामाजिक दृष्टि का चरमोत्कर्ष रूप है। 'बेगमपुरा' के माध्यम से संत रविदास एक ऐसे नगर की परिकल्पना करते हैं जहाँ न दु:ख है, न भय है, न कर है और न ही सामाजिक विभाजन है।

''बेगम पुरा शहर कौ नाऊं , दुखू अंदोह नहीं तिहि ठाउ।''[9]

बेगमपुरा को आपके सपनों का भारत कह सकते हैं। बेगमपुरा, जहाँ सभी लोग आपस में मिलजुल कर रहते हैं। जहाँ धार्मिक, जातिगत भेदभाव नहीं बल्कि कर्म और मनुष्यता को महत्व दिया जाता है। बेगमपुरा में श्रम साधना और आत्मनिर्भरता के विषय में भी बात कही गई है। क्योंकि आप जानते थे, बिना आर्थिक संरचना के भारतवर्ष के उज्ज्वल भविष्य की कामना नहीं किया जा सकता। यही एकमात्र उपाय है, जिससे भारत में गरीबी के विरुद्ध लड़ाई लड़ी जा सकती है। रविदास कहते हैं कि ऐसे हाथ में हाथ रखकर कुछ

नहीं होगा, सभी समस्या को केवल उबासियाँ लेकर चिंतामग्न होकर नहीं सुलझाया जा सकता है। इसके लिए हमें अपने कर्म पर ध्यान देना होगा,यह श्रम साधन ही ईश्वर भक्ति हैं।

''रविदास श्रम करि खाइहि, जौ लों पार बसाइ।
नेक कमाई जउ करै, कबहुँ न निफल जाइ॥''[10]

बेगमपुरा की भवना के अनुसार धन संग्रह का विरोध, रोटी, कपड़ा, मकान का महत्व, समाज में हर वर्ग को खाने पहनने, रहने का समान अधिकार होना चाहिए, यह समस्या सिर्फ रविदास जी के समय नहीं, वर्तमान में भी व्याप्त है।

''ऐसा चाहौं राज मै, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट-बड़ों सब सम बसैं, रविदास रहैं प्रसन्न॥''[11]

निंदा, शोषण और स्वार्थ का लोप आपकी चिंतन का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है, आपके कथनानुसार जो मनुष्य निंदा रस में डूबा रहता है, वह चाहे कितना ही दान, धर्म, तीर्थ, व्रत क्यों ना कर ले उसका पुण्य उसे नहीं मिल सकता है।

''निंदा कहा करहु संसारा, निंदक का परगटि पहारा॥''[12]

समाज सुधार तभी संभव हैं, जब मनुष्य के सोच में सुधार होगा। यही धारणा है कि व्यक्तिगत चरित्र, सरलता तथा सहजता पर बल देते हुए सदा सत्य कहने, श्रम साधना, करने और विनम्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करने पर बल दिया गया है। इन सब प्रवृत्तियों के बाद ही बेगमपुरा की परिकल्पना पूरी होगी-

''बेगम पुरा शहर कौ नाउं, दुखू-अंदोह नहीं तिहिं ठांउ।
ना तसवीस खिराजु न मालु,
खउफु न खता न तरसु जवालु॥
अब मोहि खूद वतन गह पाई, ऊंहा खैरी सदा-मेरे भाई।
काइमु दाइमु सदा पातसाही, दोम न सेम एक सो आही॥
आबादानु सदा मसहूर, ऊँहा गनी बसहि मामूर।
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै,
महरम महल न कौ अटकावै।
कहि रैदास खलास चमारा,
जो हम सहरी सु मीत हमारा॥[13]

संत रविदास की 'बेगमपुरा' कविता मध्यकालीन हिंदी साहित्य की उन कुछ रचनाओं में है, जहाँ काव्य केवल आध्यात्मिक अनुभूति तक सीमित नहीं रहकर, सामाजिक चिंतन का सशक्त माध्यम बन जाती है। यह कविता एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करती है, जो मध्यकालीन सामंती, जातिगत और शोषणपरक व्यवस्था के पूर्णत: खिलाफ है।

''बेगमपुरा शहर कौ नाउं, दुखू-अंदोह नहीं तिहिं ठांउ।''[14]

इस पंक्ति में बेगमपुरा को एक ऐसे नगर के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जहाँ समाज का हर वर्ग सुख, समृद्धि तथा बिना पीड़ा के अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। आधुनिक परिवेश में देखा जाए तो यह पंक्ति एक ऐसे समाज की परिकल्पना पर बल देती है जहाँ व्यक्ति न तो धर्म, जाति, ऊँच-नीच के बंधन से मुक्त है। यहाँ दुख व्यक्तिगत कष्ट नहीं बल्कि सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण और जातिगत उत्पीड़न है।

''अब मोहि खूब वतन गही पाई,
ऊँच-नीच महि नाहीं कोई।''[15]

यह पंक्ति इस रचना की वैचारिक आत्मा है, यहाँ रविदास सामाजिक समानता की बात करते हैं। यहाँ न कोई ऊँची जाति का है, ना नीची जाति का है। सामाजिक विमर्श की दृष्टि से देखा जाए तो यह पंक्ति सामाजिक समानता और मानवाधिकार की घोषणा करती है। रविदास का बेगमपुरा कोई भगौलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं हैं बल्कि एक वैचारिक और नैतिक समाज है। जहाँ मनुष्य की पहचान किसी वर्ग से नहीं मनुष्यता से निर्धारित होती है।

निष्कर्ष

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रविदास जी का चिंतन और उनके रोजमर्रा जीवन में कोई अंतर नहीं था। मध्यकालीन समाज में अपनी वाणी के माध्यम से समाज के सभी वर्गों के समानता की भावना के लिए अपना विचार प्रकट करना बहुत बड़ा संकल्प था। आप जीवन पर्यंत ऐसे समाज की संरचना में संलग्न रहें, जहाँ पारस्परिक भेदभाव, घृणा, वैमनस्य एवं आडंबर का स्थान नहीं था। संत रविदास की यह रचना केवल भक्ति, काव्य नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय, मानव गरिमा और लोकतांत्रिक मूल्यों की वैचारिक प्रस्तावना भी है। इसी कारण 'बेगमपुरा' आज भी सामाजिक विमर्श, दलित अध्ययन और आधुनिक लोकतांत्रिक चिंतन में अत्यंत प्रासंगिक बनी हुई है। ऊँच-नीच की व्यवस्था ने लाखों लोगों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित कर रखा था, तथा नीची जाति वालों को पशुओं से भी हेय और घृणित जीवन बिताने के लिए मजबूर कर दिया था। वह स्थिति आज भी बहुत कुछ यथावत है। तत्कालीन समाज में नीची जाति की स्थिति अत्यंत सोचनीय थी, यही देखकर रविदास ने कहा मानव सब बराबर है, उनकी दृष्टि में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. श्यामसुंदर दास, रविदास पदावली, लोकभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ–43
2. वही, पृष्ठ–67
3. वही, पृष्ठ–71
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, दूसरा संस्करण, पृष्ठ–55
5. गौतम मीरा, गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ–28
6. वही, पृष्ठ–32
7. वही, पृष्ठ–45
8. डॉ. धर्मवीर, कबीर और रविदास की काव्य चेतना, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ–65
9. वही, पृष्ठ–55
10. डॉ. श्यामसुंदर दास, रविदास पदावली, लोकभारती प्रकाशन, वाराणसी
11. डॉ. बाबुराम, संत रविदास की काव्य चेतना, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ–88
12. वही, पृष्ठ–102
13. वही, पृष्ट–102
14. वही, पृष्ठ–106
15. कमलेश कुमारी रवि, क्रांतिकारी संत शिरोमणि गुरु रविदास, पृष्ठ–98

आधार ग्रंथ

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. डॉ. श्यामसुंदर दास, रविदास पदावली
3. संत रविदास, डॉ. धर्मवीर
4. संत काव्य, परशुराम चतुर्वेदी

गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों में समकालीन बोध

रवितोष कुमार पाण्डेय

शोध सार

प्रस्तुत शोध पत्र गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों के माध्यम से 'समकालीन बोध' का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। शोध का मुख्य उद्देश्य यह पड़ताल करना है कि मिश्र ने अपने कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों, बदलते मानवीय मूल्यों और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक द्वंद्वों को किस प्रकार चित्रित किया है। शोध के अनुसार, समकालीनता केवल समय में उपस्थित रहने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह लेखक का अपने युग और परिवेश के प्रति एक जागरूक, सार्थक एवं सजग हस्तक्षेप है। गोविंद मिश्र की कहानियाँ 'सुनंदो की खोली' और 'कचकौंध' के माध्यम से महानगरीय जीवन की भौतिक दरिद्रता, प्रशासनिक संवेदनहीनता और सांस्कृतिक भटकाव को उजागर करती हैं। वहीं, 'पगला बाबा' और 'मायकल लोबो' जैसी कहानियाँ क्रमश: आधुनिकता की अंधी दौड़ में मनुष्य के 'लावारिस' होने की त्रासदी और व्यसन के कारण हो रहे पारिवारिक विघटन के साथ-साथ आत्म-सुधार की जिजीविषा को रेखांकित करती हैं। गोविंद मिश्र अपनी कहानियों में आधुनिकता के दबाव में टूटते-बिखरते मध्यवर्गीय मनुष्य के अंतर्द्वंद्व और मानवीय गरिमा के संघर्ष को आधुनिक शिल्प के साथ प्रस्तुत करने में पूर्णत: सफल रहे हैं।

बीज शब्द

मानवीय मूल्य, भौतिकवाद, आधुनिकता, महानगरीय बोध, शहरीकरण, प्रशासनिक संवेदनहीनता, मूल्य सापेक्षता, मध्यवर्गीय विसंगतियाँ, कालबोध, आदिम करुणा।

आलेख

साहित्य-इतिहास में कहानी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आलोचकों ने इसे जीवन को समझने की कला एवं एक साहित्यिक विधा के रूप में ग्रहण किया है। हिन्दी के विश्व प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद और रूस के महत्त्वपूर्ण कहानीकार मैक्सिम गोर्की भी कहानी को मानव जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। इसी का परिणाम है कि जब भी साहित्य के इतिहास पर विचार होता है, उसमें कहानी और उसके इतिहास एवं कहानी में अभिव्यक्त मानव-जीवन के यथार्थ को धरातल पर अलग से समझने की कोशिशें होती रही हैं। विशेषकर जब हम गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों को देखते हैं, तब यह प्रश्न और भी गहरा हो जाता है कि उन्होंने समकालीन जीवन की जटिलताओं को अपनी कहानियों में किस सीमा तक आत्मसात किया है? उनकी कहानियाँ 'समकालीन बोध' के किन अनछुए पहलुओं को उजागर करती हैं और क्या वे आज के मनुष्य की संवेदनात्मक बेचौनी का सटीक दस्तावेज प्रस्तुत करने में सफल रही हैं?

बीसवीं सदी के आरंभ से हिन्दी कहानी की जो विकास-यात्रा प्रारंभ हुई वह अनेक पड़ावों से गुजरती हुई समकालीन समय तक पहुँची। अनेक मार्गों से गुजरने से जहां वह सशक्त हुई वहीं उसकी पहचान परिवर्तित होती रही। तब क्या इससे इंकार किया जा सकता है कि समकालीन हिन्दी कहानीकारों ने भी इसमें कुछ नया न जोड़ा हो? समकालीन समय व समाज में घटित परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं ने उनकी कहानी की दुनिया को प्रभावित न किया हो? क्या समकालीन हिंदी कहानी समकालीन समय के दबाव मुक्त रही होगी? क्या इस परिवेश में निर्मित मनुष्य और समाज के अंतर्संबंधों को गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों के माध्यम से समझा जा

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

सकता है? इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह पड़ताल करना है कि गोविंद मिश्र ने अपनी कहानियों में समकालीन बोध के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक द्वंद्व को किस प्रकार चित्रित किया है? साथ ही, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि उनके कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियां और बदलते मानवीय मूल्य समकालीनता के किन नए प्रतिमानों को स्थापित करते हैं?

समकालीन शब्द का प्रयोग बीसवीं सदी के सातवें दशक में हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगा। इससे पूर्व इस पद का इस्तेमाल इतना अधिक नहीं हुआ था। विद्वानों ने समकालीनता को अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्यायित और विश्लेषित किया है और आज भी कर रहे हैं। परंतु यह आश्चर्यजनक है कि उसकी एक सर्वमान्य सैद्धांतिक व्याख्या अभी तक नहीं हो पाई है। ऐसा होने की पृष्ठभूमि में कौन सी जटिलताएं हैं? क्यों इस पद को लेकर अभी भी भ्रामक स्थिति बनी हुई है? कभी इसे समसामयिक समझा जाता है तो कभी तात्कालिक! कुछ आलोचक इसे मूल्य सापेक्ष स्थिति में देखते हैं तो कुछ आलोचक इसे समय सापेक्ष मानते हैं। परंतु इसके वस्तुगत कारणों पर प्रकाश नहीं डालते! कुछ आलोचक इसे समय को देखने की खास दृष्टि भी मानते हैं। कुल मिलाकर समकालीन की निश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा अभी भी दूर की कौड़ी है। इसकी सिद्धांतिकी विकसित नहीं हो पाई है। ऐसे ही समकालीन कहानी का अर्थ क्या है? इसकी विकास प्रक्रिया या इतिहास क्या और कैसा रहा है? इस पर भी अनुसंधान की आवश्यकता बराबर बनी हुई है। इसके स्वरूप के निर्धारण को लेकर भी अभी भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। ऐसी स्थिति में इस विषय पर शोध करना क्या प्रासंगिक नहीं है?

समकालीनता का अर्थ

हिन्दी में समकालीनता शब्द आंग्ल भाषा के विशेषण परक 'कण्टेम्परेनियस' Contemporanceous अथवा 'कण्टेम्परेनिटि' Contemporaneity शब्दों के रूप में प्रचलित है। जिसका अर्थ है, 'एक ही समय में घटने वाला' या 'समान काल में विद्यमान' (Existing or occurring at the same time).[1]

डॉ. रवीन्द्र भ्रमर ने समकालीन शब्द के तीन अर्थ दिये हैं (1) काल विशेष से सम्बद्ध, (2) व्यक्ति विशेष के काल यापन से सम्बद्ध, (3) साहित्य, समाज अथवा प्रवृत्ति विशेष से संश्लिष्ट काल खंड।[2]

समय या काल यापन की दृष्टि से समकालीनता शब्द की लघुतम व्याप्ति एक क्षण में भी सिमट सकती है। व्यक्ति विशेष की दृष्टि से समकालीनता का अन्वेषण करने पर तो उसकी संपूर्ण आयु का कालखण्ड ही इसकी सीमा में आ जाता है। साहित्य के मूल्याँकन की दृष्टि से किसी भी लेखक, कवि, साहित्यकार अथवा आलोचक के लेखन काल में व्याप्त प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में इसका निर्धारण किया जा सकता है।

समकालीन शब्द विशेषण है और समकालीनता भाववाचक संज्ञा है। किसी व्यक्ति के समय या किसी कालखण्ड में प्रचलित या व्याप्त प्रवृत्तियों या स्थितियों को उस व्यक्ति के समकालीन माना जा सकता है और इन प्रवृत्तियों या स्थितियों के होने का भाव समकालीनता है।

अशोक सिंह समकालीनता को समसामयिकता से अलग करके देखते हैं। उनके अनुसार, ''समकालीनता का अर्थ समसामयिकता नहीं होता। तात्कालिकता से इसका अर्थ लेने से इसका अर्थ संकुचित हो जाता है। वस्तुतः समकालीनता एक व्यापक एवं बहुआयामी शब्द है और आधुनिकला का आधार तत्व है। जो समकालीन है, वह आधुनिक भी हो, यह आवश्यक नहीं किन्तु जो आधुनिक चेतना से संचालित दृष्टि है, वह निश्चित रूप से समकालीन भी हो सकती है। इसी संदर्भ में समकालीनता के अर्थ एवं तात्पर्य को थोड़ा व्यापक करके ही गृहीत करना चाहिए।।''[3]

समकालीनता से तात्पर्य है किसी रचनाकार का अपने समय के प्रति जागरुक, सार्थक एवं सजग हस्तक्षेप। लेखक अपने युग एवं परिवेश को छोड़कर अपनी कृति को प्रासंगिकता एवं सार्थकता प्रदान नहीं कर सकता है। अपने समय के विशेष संदर्भो से प्रभावित लेखकों की रचना में अगर उसका परिवेश नहीं आता है तो उसको समकालीनता संदिग्ध मानी जायेगी। समकालीनता मूल्य सापेक्ष भी है।

मनुष्य की नियति से ज्यादा उसकी स्थिति की चिंता है। आज उसको स्थिति क्या है? उसकी चिंता अधिक है। आज की चिंता, परिवार, समाज, देश-दुनिया और पर्यावरण को लेकर है। वर्तमान के इन्हीं संकटों की चिंता और उनको समझने की कोशिश समकालीनता है।

समकालीनता समय में उपस्थित रहने मात्र से नहीं बल्कि युग चेतना से संबद्ध होने से प्राप्त होती है। ''समकालीनता पद में आज हमारे विविध ज्ञानात्मक संवेदनों के परिप्रेक्ष्य का

व्यापक अर्थ अंर्तनिहित है। समकालीनता केवल दैहिक जीवन काल की ही नहीं, वैचारिक चिंतन धरातल व दर्शन-संबंधी सौंदर्यबोधी सृजनात्मकता की भी होती है।''[4]

प्रत्येक लेखक का अपना दृष्टिकोण हैय समाज व राजनीति को देखने का। किंतु समकालीनता एक ही समय में एक साथ रहने वाले लेखक के लिए समान नहीं हो सकती है। उदाहरण के तौर पर पंत कम समकालीन है जबकि निराला में समकालीनता अधिक है। समकालीनता एक सातत्य अवधारणा है, साथ ही यह एक ऐतिहासिक स्थिति भी है। समय के बदलते क्रम में प्रत्येक दौर की अपनी मुख्य प्रवृत्तियाँ चुनौतियाँ, समस्याएँ होती हैं। इन समस्याओं की अभिव्यक्ति आंदोलन के जरिए हो या बगैर आंदोलन के। जहां से या जिस भी समय से बदलाव के ऐसे संकेत मिलते हैं और नए रुख की स्थिति उत्पन्न होती है वहीं से समकालीनता का प्रस्थान बिंदु माना जा सकता है। हिंदी साहित्य जगत में 'समकालीन' जैसे शब्दों का शोर सन् 1960 के नेहरू युग से सुनाई पड़ी। यह मोहग्रस्त काल था, इससे पहले हिंदी कविता में नई कविता आंदोलन ने इस मोह भंग, आत्मनिर्वासन, अकेलापन, विसंगति-विद्रूपता आदि को अभिव्यक्ति दी।

आधुनिकता जहां मूल्य, दृष्टि, व बौद्धिक गतिशील परंपरा है जो मूल्य आधारित विचार के रूप में अधिक सामने आती है वही समकालीनता काल विषयक धारणा के अधिक निकट है जो अपने समय के सत्य को प्रस्तुत करती है अर्थात् वर्तमान के सत्य को। समकालीनता में वर्तमान की पीड़ा मौजूद है और उसी पीड़ा की अभिव्यक्ति समकालीन कवि करता है।

समकालीनता सिर्फ संज्ञावाचक नहीं है बल्कि मूल्य सापेक्ष भी है। जहाँ एक ओर श्कालबोधश की भावना है तो दूसरे ओर 'शाश्वतता' की भावना। कवि लेखक या उन जीवंत समस्याओं को पकड़ने की कोशिश करता है जिनसे वह निरन्तर रोज जूझ रहा है। अपने समय में व्याप्त इन केन्द्रीय समस्याओं का सार्थक हस्तक्षेप श्समकालीनता है।

गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों में समकालीनता की अवधारणा के निम्नांकित बिन्दु की तलाश अपेक्षित है। ''देशकाल का बोध, राजनैतिक चेतना, बौद्धिकता, विवेकशीलता, संयम और संतुलन, गहरी मानवीय संवेदना, जीवनधर्मिता, अवैयक्तिकता, लोकोन्मुखता, प्रकृति और वस्तुजगत की स्वायत्तता और उनके साथ मनुष्य का गैर भावुक किन्तु मानवीय जनतांत्रिक रिश्ता।''[5]

गोविन्द मिश्र समकालीन कहानी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। सन् 1967 से वे लगातार सृजनशील हैं। उनकी प्रतिनिधि कहानियों 'जनतंत्र', 'आल्हखंड', 'शुरआत', 'कचकौंध', 'फॉस', 'खाक इतिहास', 'मुझे घर ले चलो', 'वरणांजलि', 'पगला बाबा', 'मायकल लोबो' इत्यादि कहानियों में सामाजिक व राजनैतिक यथार्थ देखने को मिलता है। गोविंद मिश्र जी की कहानियाँ विभिन्न जीवन संदर्भो में गहरी मानवीय पीड़ा को चित्रित करती हैं। वे पीड़ितों के माध्यम से समाज में व्याप्त संवेदनहीनता और अमानुषिकता को अपनी कहानियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। उनकी कहानियों में कहीं न कहीं प्रतिरोध की चेतना भी दृष्टिगत होती है। वे जीवनानुभवों की रोशनी में अपनी कथाओं की पृष्ठभूमि और पात्रों का सृजन करते हैं। उनके पात्रों में बनावटीपन नहीं है। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियाँ, असंतोष, स्वप्न, आशा निराशा इत्यदि त्रासदियों को रेखांकित करती है।

गोविन्द मिश्र ने अपनी रचना 'सुनंदो की खोली' में महानगरीय बोध के भाव को चित्रित किया है। बंबई के 'चाल' में जीवन व्यतीत करते लोगों के संघर्षो का उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से चित्रण किया है। महानगर बंबई में श्चालश का अपना अलग वैशिष्ट्य होता है। 'चाल' वहाँ उस इमारत को कहते हैं जिसकी कई मंजिलें और हर मंजिल पर कई कमरे होते हैं। एक-एक कमरे में एक-एक परिवार रहता है।

सुनंदो की यह खोली पचास साल पहले उसके पिता ने ली थी, जिसमें आज उनकी पाँच संतानें रहती हैं। बड़ा लड़का कमाता है और बाकी लोग उस पर आश्रित हैं। सभी भाई चालीस की उम्र पार कर चुके हैं और बहन तीस को छू रही है। चूंकि बड़े भाई का विवाह नहीं हुआ, इसलिए शेष भाई-बहनों के भी विवाह नहीं हुए। घर की व्यवस्था ऐसी थी कि बड़ा भाई पलंग पर सोता था और शेष जमीन पर।

एक भाई चित्रकार था, तो दूसरा दिन भर पूजा-पाठ में लीन रहता था; वहीं एक भाई उतना ही काम करता था जितना उसे बोला जाता था। वे न कमाने का प्रयास करते थे और न ही कभी घर के बाहर जाते थे। ''सभी में कोई न कोई विशेष बात है। फिर भी वे सब एक कोने में पुराने लत्तों से पड़े हैं.... सिर्फ इसलिए कि उन्होंने कमाना नहीं सीखा? क्या पैसा ही इष्ट है जीवन का? यह नहीं है तो तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा, आदमी होने की इज्जत भी नहीं?''[6]

फिर भी, उन पर इन बातों का कोई असर नहीं होता। वे

उम्र में बड़े तो हो गए, किंतु और भी ज्यादा आश्रित होते चले गए। ''अब वे निष्क्रियता पर आ पहुँचे हैं। बीमारी घर भर में फैलती जा रही है, बड़े ही हैं जो खटते हैं बाकी सब बैठे-बैठे खा रहे हैं। उन पर पिस्सुओं की तरह चिपके हैं।''[7] सुनंदो ने स्वयं से सवाल किया कि क्या जिंदगी का यही खाका है और क्या इसके अलावा कुछ नहीं किया जा सकता? किया तो जा सकता है पर कोई करे तब। स्वयं सुनंदो क्या करता है?

गोविंद मिश्र की कहानी 'सुनंदो की खोली' बंबई की 'चाल' में रहने वाले परिवारों के संघर्षमय जीवन और वहां की वस्तुस्थिति का अत्यंत बारीक चित्रण करती है। विकास की चकाचौंध के बीच यह संकुचित जीवन एक गंभीर प्रश्न खड़ा करता है, जहाँ अनियमितताओं के कारण अनगिनत युवा 'खोली' के कुंठापूर्ण वातावरण में तिल-तिल कर खत्म हो जाते हैं। ये प्रसंग न केवल समकालीन समय के कड़वे सच को उजागर करते हैं, बल्कि गोविंद मिश्र की उन चिंताओं को भी रेखांकित करते हैं जो शहरीकरण की विभीषिका में पिसती मनुष्यता को लेकर हैं।

इसी तरह, गोविंद जी की 'कचकौंध' महानगरीय बोध पर आधारित एक सफल और सशक्त कहानी है। इसके मुख्य पात्र पंडित जी, जब तीस वर्ष बाद दिल्ली आते हैं, तो महसूस करते हैं कि दिल्ली शहर में कितना परिवर्तन हो गया है। शहर की स्थिति पर वे गौर करते हैं कि - ''ज्यादातर सड़कों पर भीड़-भाड़ है। तिसके ऊपर आए दिन कोई-न-कोई जलूस कोई धरना। बसों में ऐसी झींकातानी है कि मजाल है, कोई निर्बल चढ़ जाए। एक-दो बार उन्होंने कोशिश की यह जरूर है कि जहाँ जाना है, अजरिन-फजरिन पहुँच गए, पर पाँव धरने की भी जब जगह मिले तब न? और कहाँ तक खाली बस की राह जोहते रहो। जो आती है ठसाठस भरी।''[8]

दिल्ली की भीड़ भरी जिंदगी और व्यस्तता के बीच वे अपनी ग्राम्य संस्कृति को याद करते हुए अपने लड़के से कहते हैं कि ''किसी को खाने-पीने की फुरसत ही नहीं है। भागते-दौड़ते जो भी सामने आया, दूँसा और दै भगे। और भाई, कहाँ के लिए इतनी जल्दी है। अगर ऐसा ही कुछ महत्त्व का करते होते, तो देश की यह गति होती?''[9]

निश्चित तौर पर, 'सुनंदो की खोली' और 'कचकौंध' जैसी कहानियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। जहाँ एक भौतिक दरिद्रता और संघर्ष की कहानी है, वहीं दूसरी मानसिक और सांस्कृतिक भटकाव की। दोनों ही महानगरीय यथार्थ को पूर्णता प्रदान करती हैं।

गोविंद मिश्र की कहानी 'पगला बाबा' कहानी में निरुद्देश्य काम करने वाले समाज सेवक का चित्रण है। पूरी कहानी एक ही केंद्रीय पात्र के इर्द-गिर्द घूमती है, जिसका नाम श्पगला बाबाश है। कहानीकार ने उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए लिखा है - ''छड़ी-सा शरीर, गेंदे के मोटे-मोटे फूलों से लदा, कमर से नीचे झूलता लाल रंग का गमछा, नीचे लंगोट रक्तिम चेहरे पर बिखरी खिचड़ी दाढ़ी, माथे पर भभूत और सिर पर दूल्हे वाला मोर। एक हाथ में घंटी और दूसरे में भिक्षापात्र।''[10]

उनका यह नामकरण स्थानीय लोगों ने किया है। उनके आगे-पीछे (परिवार में) कोई नहीं था। एक दिन उन्होंने घाट पर एक अज्ञात महिला का शव देखा, जहाँ अंधेरा होने तक कोई भी वारिस नहीं आया। उस लावारिस लाश का क्रिया-कर्म करने के लिए उन्होंने स्वयं लकड़ियाँ इकट्ठी कीं, आवश्यक कानूनी कार्रवाई पूरी की और विधि-विधान से दाह-संस्कार किया। यह सब उन्होंने किसी अनजान व्यक्ति का शव न मानकर, अपने ही किसी सगे-संबंधी का मानकर किया। उसी शाम उन्हें अपने जीवन का वास्तविक धर्म मिल गया - जिसका कोई नहीं, उसके वे सब कुछ बन गए।

उस घटना के बाद से, जब भी शहर में किसी लावारिस शव की सूचना मिलती है, वे तुरंत वहां पहुंच जाते हैं। वे पूरे सम्मान और विधि-विधान के साथ उसका अंतिम संस्कार करते हैं। इस सेवा के पीछे उनका कोई निजी लाभ या लालच नहीं है; वे इसे केवल मानवता के धरातल पर करते हैं। दिन में कई-कई बार यह कठिन कार्य करने के बावजूद ये कभी थकते नहीं हैं और निरंतर अपने सेवा-पथ पर अग्रसर रहते हैं। लोग उनके संदर्भ में कहते हैं - ''कर्म से डोम, फिर भी अस्पृश्य नहीं मानते लोग। कहते हैं पगला बाबा का कलेजा गजब का है। कोई कहता शिवाजी के गण हैं, कोई उन्हें काशी के कोतवाल बाबा भैरवबाबा का अवतार बताता है।''[11]

मंदिर गए उन्हें बरसों बीत चुके हैं, परंतु उन्हें अपना यह सेवा-कर्म ही प्रभु की सच्ची आराधना लगता है। वे स्वयं बीमार होने पर भी लावारिस प्रेतों की ही चिंता करते हैं। वस्तुत:, ऐसी नि:स्वार्थ समाज सेवा का उदाहरण समाज में विरल ही मिलता है।

गोविंद मिश्र की यह कहानी समकालीन समाज की उस विसंगति को उजागर करती हैं जहाँ विकास की अंधी दौड़ में

मनुष्य 'लावारिस' होता जा रहा है। वहाँ पगला बाबा का चरित्र केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि उस संस्थानिक रिक्तता को भरने वाली इकाई के रूप में उभरता है जिसे आधुनिक राज्य और समाज ने त्याग दिया है। उनके माध्यम से लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि समकालीनता का अर्थ केवल आधुनिक होना नहीं, बल्कि उस आदिम करुणा को बचाए रखना है जो मनुष्य को 'मनुष्य' बनाए रखती है। बाबा का कर्मकांडों से दूर रहकर शवदाह को ही 'प्रभु सेवा' मानना, वर्तमान दौर के धर्म के बाजारीकरण और प्रदर्शनवाद को चुनौती देता है, जिससे यह कहानी आज के समय में और भी प्रासंगिक हो जाती है।

'मायकल लोबो' आज के दौर के यथार्थ को उजागर करने वाली कहानी है। यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति के पतन और फिर सुधार की गाथा है, जो अपनी बुरी आदतों के कारण जीवन के सबसे निचले स्तर पर पहुँच गया था। मुख्य पात्र मायकल लोबो पेशे से एक सफल वकील है और उसके पास धन-संपत्ति की कोई कमी नहीं है, लेकिन वह शराब के व्यसन में पूरी तरह डूबा रहता है। नशे की इस लत ने न केवल उसके शरीर को जर्जर कर दिया, बल्कि समाज और परिवार के बीच उसकी गरिमा को भी धूल में मिला दिया। लेखक ने मायकल लोबो की शारीरिक दुर्दशा का वर्णन करते हुए लिखा है : "गोया कि पैंट-कमीज-कोट में कोई बाँस एक पतला टुकड़ा गलती से डाला गया और डालकर भूल गया। रंग धुर काला, सिगारेट पी-पीकर और भी काला। काले के ऊपर पीलेपन की गोट। दाँत.... अँधेरे में चमकती हुई कोई सफेद लहर नहीं बल्कि ढहती हुई इमारत की जहाँ-तहाँ से उखड़ती ईंटे। हाँथ-पैर लुंजपुंज।"[12]

इसके बाद लोबो के जीवन में एक बड़ा मोड़ तब आता है जब वह लोबो शराब के नशे में चूर होकर रास्ते में गिर जाता है। जब उसकी बेटी उसे उठाकर घर ला रही होती है, तब वह उससे कहती है, "पापा, मैं कब तक आपको इस तरह उठाती रहूँगी?" बेटी के इस कथन का लोबो पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वह शराब छोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लेता है। आगे चलकर उसने अपने जीवन का उद्देश्य बदल लिया और खुद के कड़वे अनुभवों से दूसरे शराबियों को शराब छोड़ने के लिए प्रेरित करना शुरू किया। उसकी यह कोशिश निस्वार्थ मानवीय सेवा का एक अनुपम उदाहरण बन गई।

इस कहानी का समकालीन बोध मुख्य रूप से व्यसन और पारिवारिक विघटन के अंतर्सबंधों को दर्शाता है। आज के भौतिकवादी युग में, जहाँ सफलता का पैमाना केवल धन और पद माना जाता है, यह कहानी याद दिलाती है कि नैतिक और शारीरिक पतन किसी भी उपलब्धि को शून्य कर सकता है। लेखक ने लोबो की शारीरिक दुर्दशा के माध्यम से उस खोखलेपन को दर्शाया है, जिसमें आधुनिकता की आड़ में पनप रही नशे की आदतें व्यक्ति के अस्तित्व को शून्य बना देती हैं।

गोविंद मिश्र की कहानी 'कचकौंध' समकालीन जीवन के विविध आयामों पर प्रकाश डालते हुए व्यक्ति और समाज के अंतर्सबंधों को गहराई से उजागर करती है। इस कहानी के संदर्भ में सुधीर चंद्र लिखते हैं "यह कहानी, शिल्प, शैली और कथ्य की दृष्टि से आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य की एक उपलब्धि है।"[13]

कहानीकार ने एक बुजुर्ग अध्यापक के पात्र के माध्यम से व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। यह यथार्थ त्रासद स्थितियों से भरा हुआ है, जिसका सीधा और नकारात्मक प्रभाव उस वृद्ध शिक्षक के जीवन पर पड़ता है। इस पात्र की त्रासदी का विस्तार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त है। बुनियादी सुविधाओं का अभाव इस कदर है कि स्कूलों की छत से पानी टपकता है, सड़कें नालों में तब्दील हो गई हैं और ट्रेनों व बसों में आम आदमी के लिए जगह नहीं है। एक ओर राजधानी में भव्य महलों का निर्माण हो रहा है, तो दूसरी ओर आम जनता के लिए दवाइयाँ तक बेअसर साबित हो रही हैं। सत्ता और प्रशासन की संवेदनहीनता का आलम यह है कि मंत्री सम्मेलनों में और अधिकारी बैठकों में व्यस्त व मदमस्त हैं। निजी स्वार्थ की होड़ ने देश की प्रगति को बाधित कर दिया है। आए दिन होने वाली हड़तालें, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अनुशासनहीनता व्यवस्था के खोखलेपन को दर्शाते हैं। इन तमाम विसंगतियों के बीच बूढ़ा अध्यापक स्वयं को बेहद असहाय और पीड़ित महसूस करता है। इस प्रकार, यह कहानी वर्तमान देश के राजनीतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत परिवेश का एक जीवंत एवं यथार्थवादी चित्रण पेश करती है।

निष्कर्ष

समकालीनता समय में उपस्थित रहने मात्र से नहीं बल्कि युग चेतना से संबद्ध होने से प्राप्त होती है। समकालीनता से तात्पर्य है किसी रचनाकार का अपने समय के प्रति जागरुक, सार्थक एवं सजग हस्तक्षेप। समकालीनता मूल्य सापेक्ष भी है।

मनुष्य की नियति से ज्यादा उसकी स्थिति की चिंता है। आज उसकी स्थिति क्या है? उसकी चिंता अधिक है। आज की चिंता, परिवार, समाज, देश-दुनिया और पर्यावरण को लेकर है। वर्तमान के इन्हीं संकटों की चिंता और उनको समझने की कोशिश समकालीनता है।

गोविंद मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उनके यहाँ 'समकालीनता' केवल एक कालखंड की गणना नहीं, बल्कि युग-बोध के साथ एक गहरा वैचारिक और संवेदनात्मक सरोकार है। 'सुनंदो की खोली' और 'कचकौंध' जैसी रचनाओं के माध्यम से वे भौतिक विकास की चकाचौंध के पीछे छिपी उस दरिद्रता और प्रशासनिक संवेदनहीनता को बेनकाब करते हैं, जहाँ आम आदमी केवल एक श्संख्याश बनकर रह गया है।

गोविन्द मिश्र की कहानियों में समकालीन बोध का निष्कर्ष यह है कि वे बदलते हुए भारतीय समाज के मानसिक और सामाजिक संक्रमण को बहुत गहराई से पकड़ते हैं। उनकी कहानियाँ केवल बाहरी घटनाओं का वर्णन नहीं करतीं, बल्कि आधुनिकता के दबाव में टूटते-बिखरते मध्यमवर्गीय मनुष्य के अंतर्द्वंद्व को उजागर करती हैं। वह अपनी कहानियों के माध्यम से यह दिखाते हैं कि समकालीन समय में व्यक्ति आर्थिक प्रगति और महानगरीय चकाचौंध के बीच किस तरह अपनी जड़ों से कटकर अकेलेपन और अलगाव का शिकार हो गया है। उनकी कथा-दृष्टि केवल समस्याओं के चित्रण तक सीमित नहीं है, बल्कि वे 'पगला बाबा' जैसे पात्रों के माध्यम से उस 'आदिम करुणा' की पुनर्स्थापना करते हैं, जो आज के बाजारीकरण के दौर में दुर्लभ होती जा रही है। इसी तरह 'मायकल लोबो' की कहानी नैतिक पतन से उबरने और आत्म-सुधार की उस जिजीविषा को रेखांकित करती है, जो समकालीन समाज के लिए एक अनिवार्य मूल्य है। अंततः, गोविंद मिश्र अपनी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के अंतर्द्वंद्वों, सामाजिक विद्रूपताओं और मानवीय गरिमा के संघर्ष को आधुनिक शिल्प के साथ प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल रहे हैं।

शोधार्थी, पीएच.डी (हिंदी)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : kumarravitoshpandey1819@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. The Oxford Mini Dictionary, Complied by Jayce M. Hawkins, page 103.
2. भ्रमर, रवींद्र, समकालीन कविता. पृष्ठ 09
3. सिंह, अशोक, समकालीन कविता एक विश्लेषण. पृ. सं. 09
4. रोहिताश्व, समकालीन कविता और सौंदर्य बोथ, पृष्ठ 16
5. कुमार, आशुतोष, समकालीन कविता और मार्क्सवाद, पृष्ठ 67
6. मिश्र, गोविन्द, निर्धारिणी भाग-2, पृष्ठ 283
7. वही, पृष्ठ 284
8. मिश्र, गोविंद, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 2021, पृष्ठ 11
9. वही, पृष्ठ 14
10. मिश्र, गोविंद, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 2021, पृष्ठ 104
11. मिश्र, गोविंद, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 2021, पृष्ठ 107
12. मिश्र, गोविंद, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 2021, पृष्ठ 109
13. बांदिवड़ेकर, चंद्रकांत - गोविंद मिश्र सृजन के विविध आयाम, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 297

शोध-पत्र

संत रविदास के काव्य में मानवीय मूल्य

शुभम मणि त्रिपाठी

शोध सार

संत रविदास की वैचारिकी तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक समस्याओं का समाधान देने में आज भी प्रासंगिक है। एक लोकतांत्रिक समाज के निर्माण में जिन जिन साधनों की जरूरत है उन सभी का संत रविदास ने समर्थन किया है। दूसरी ओर मानवीय मूल्यों के लिए घातक विचारों को त्यागने का भी वे बार-बार जनता से आग्रह करते हैं। जैसे वे जीवनभर वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विरोध करते हुए नजर आते हैं। समाज में फैले अंधविश्वास एवं कर्मकांडों के पक्षपाती नहीं रहे। वे पराधीनता को सबसे बड़ा पाप मानते हैं जिसके प्रति जनमानस को निरंतर सचेत करते हैं। मन की पवित्रता के प्रति विशेष आग्रह उनका रहा है। सत्य वचन का सदैव समर्थन किया है। यही वजह है कि सभी धर्मों में निहित बुराइयों को अस्वीकार करना उनकी प्राथमिकता रही। उन्होंने सदैव समाज में लोगों से अपील की कि मानव को जीवन भर अपने श्रम पर विश्वास करना चाहिए। रविदास के जीवन का मुख्य उद्देश्य शोषित पीड़ित जनता को मानसिक एवं शारीरिक गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराना रहा है। इसलिए उनका समस्त जीवन दर्शन मानवतावादी विचारधारा पर आधारित है। वे संपूर्ण समाज को सुखी एवं संपन्न बनाने में प्रतिपल संलग्न दिखाई देते हैं। यही उनके समस्त काव्य का जीता जागता उदाहरण है।

बीज शब्द

मानवीय मूल्य, जातिगत भेद, अंधविश्वास, धार्मिक कर्मकांड, श्रम, पवित्र मन, सत्य वचन, सम दृष्टि, अहिंसा, पराधीनता, मानव सेवा, कर्म का महत्व, स्वतंत्रता, बेगमपुरा।

मूल आलेख

हिंदी साहित्य में भक्ति काल की अपनी अलग पहचान है। भक्ति काल को दो भागों में बांटा गया है—एक भाग में सगुण संत कवि दूसरे में निर्गुण संत कवि। लेकिन अगर ध्यान से देखा जाए तो मानवीय एवं आत्म सम्मान की दृष्टि से निर्गुण काव्य सगुण काव्य पर भारी पड़ता है। निर्गुण संत कवियों ने अपनी वाणी के माध्यम से अलग तरह की सामाजिक क्रांति पैदा की। यह क्रांति पूरे भारत के कोने-कोने में फैल गई। भक्ति काल का समय ऐसा था जब आम जनमानस का मानसिक एवं शारीरिक शोषण चरम पर था। लगभग सभी निर्गुण कवियों ने इस प्रकार के शोषण से मुक्ति हेतु मानवीय मूल्यों की स्थापना पर विशेष जोर दिया। चाहे कबीर हो चाहे गुरु नानक, चाहे संत रविदास, चाहे संत गाडगे हो चाहे तेलुगु कवि वेमना ही क्यों ना रहे हो।

अब हम देखते हैं कि मानवीय मूल्य क्या है? जिनकी स्थापना के प्रति सभी का आग्रह बराबर बना रहता है। इसे साधारण तरीके से इस प्रकार समझ सकते हैं कि मानवीय मूल्य ही वह कड़ी है जो व्यक्तिगत अनुभव, निर्णय, उद्देश्य तथा कार्यों को जोड़ता है। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को समझने में मदद करते हैं। मानवीय मूल्य संपूर्ण मानव समाज को असत्य से सत्य की ओर लाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यदि हम एक नजर विश्व के उन महापुरुषों पर डालें जिन्होंने मानवीय मूल्यों की खातिर अपना संपूर्ण जीवन दांव पर लगा दिया जैसे- डॉ. भीमराव अंबेडकर, संत गाडगे, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, ई. वी. रामास्वामी, ललई सिंह यादव, मार्टिन लूथर किंग, नेल्सन मंडेला, अब्राहम लिंकन, आनसाग सुकी की, गौतम बुद्ध, कबीर, रैदास आदि लोगों की एक लंबी श्रृंखला है। इन सभी लोगों ने जिन मानवीय मूल्यों पर विशेष जोर दिया वे इस प्रकार हैं—स्वतंत्रता, समानता,

बंधुत्व, मानवता, न्याय, अहिंसा, परोपकार, नैतिकता, शांति, सत्यता, मानवीय प्रेम एवं दया आदि।

किसी सभ्य समाज की पहचान इन्हीं मानवीय मूल्यों के आधार पर की जा सकती है। जिस समाज में यह मानवीय मूल्य नहीं होते या इनका अनुसरण नहीं किया जाता तो वह समाज पशुओं से भी बदतर समाज कहा जाएगा। संत रविदास के समय में भी ऊंच-नीच, छुआछूत की भावना अपनी चरम सीमा पर थी। इसके मूल में सिर्फ एक ही कारण था हिंदू धर्म के पाखंड और अमानवीय कुरीतियां। वर्ण व्यवस्था ने जनमानस में इतनी दरारें पैदा कर दी जो 21वीं सदी में भी आज पूरी तरह से नहीं भरी गई हैं। आज पूरे विश्व में व्यक्ति की पहचान उसके गुणों से होती है लेकिन भारत ऐसा देश है जहां आज भी यहां लोगों की पहचान जाति और धर्म से सबसे पहले की जाती है। संत रविदास ने इन सभी रूढ़ियों का विरोध किया। इसके साथ ही लोगों को समझाया कि कोई भी व्यक्ति जन्म से नीच नहीं होता है, वह अपने कर्म के आधार पर नीच होता है

''रैदास जन्म के कारणे, होत न कोऊ नीच
नर कूँ नीच कर डारि है, ओछे करम की कीच।''[1]

कबीर ने भी जाति व्यवस्था का घोर विरोध किया। यह जाति व्यवस्था उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं है बल्कि उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैली है। तभी तो तेलुगु कवि वेमना भी भारतीय समाज में फैली ऊँच-नीच की भावना से आहत होते हैं, और इसे मिटाने का संकल्प लेते हैं। साथ ही समाज में समस्त जनमानस से आग्रह करते हैं कि इसे जल्दी से जल्दी मिटाया जाए। तभी तो वे कहते हैं—

''छूए नहात अछूत को क्यों
बने कर्म से अछूत है नर,
सभी जानते सत्य इससे क्यों
नहीं मानते मनुज जानवर!''[2]

कई बार हम अनुभव करते हैं कि कुछ विचारधाराएं परंपरा और रूढ़ियों का रूप ले लेती हैं। इनमें से परंपराएं तो समय के साथ-साथ परिवर्तित हो जाती हैं लेकिन रूढ़ियों में परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं रहती। यही धार्मिक रूढ़ियां और अंधविश्वास पूरे समाज को दीमक की तरह खोखला कर देते हैं। इन्हीं सामाजिक विषमताओं के बीच से जन्म होता है ऐसे संत महापुरुषों का जो इन्हें मिटाने के लिए रात-दिन बेचैन रहते हैं। उन्हीं में से एक नाम है संत रविदास। संत रविदास के समय भी समाज में जातिगत भेदभाव अपने चरम पर था। इसे समाप्त करने के लिए उन्होंने लोगों को अनेक तरह से समझाया। इतना ही नहीं उन्होंने सड़ी हुई परंपराओं और अंधविश्वास का जीवन भर विरोध किया—

''रविदास इकही बूंद सो सभ ही भयो विस्तार।
मूरख हैं जो करत हैं वर्ण-अवर्ण विचार॥''[3]
''रविदास इकही नूर ते जिमि उपज्यो संसार।
ऊंच-नीच किह विधि भयो, बामन और चमार॥''[4]

आजादी के पहले भी और आज भी जातिवाद ने भारतीय समाज के टुकड़े-टुकड़े करने का ही कार्य किया है। नफरत की आग इसी जातिवाद की देन है। यह एक ऐसी मानसिक बीमारी है जो दलित-सवर्ण को ही अलग नहीं करती बल्कि दलित-दलित व समस्त स्त्री-पुरुष को भी खंड-खंड करती है। तभी तो रविदास कहते हैं कि इस भारतीय समाज में तब तक प्रत्येक स्तर पर समरसता नहीं पैदा होगी जब तक इस देश से जातिवाद की मानसिक बीमारी खत्म नहीं होती—

''जाति-जाति में जात है, ज्यों केलन के पात।
रैदास न मानुष जुड़ सके, ज्यों लो जात न जात॥''[5]

भारतीय समाज में सबसे पहले वर्ण व्यवस्था की मानसिक बीमारी शुरू हुई। इसने भारतीय समाज को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। लेकिन इसके बाद भी धर्म और ईश्वर के नाम पर पाखंड करने वालों का इतनी से भी पेट न भरा। उन्होंने इसमें भी जातिगत विभाजन करके इसे और अधिक पुष्पित और पल्लवित किया। इसका एकमात्र कारण था कि इस व्यवस्था को बनाने वाले केवल अपने स्वार्थ के लिए लोगों को आपस में बांटते रहे और उनका मानसिक और शारीरिक शोषण करते रहे। इसका प्रभाव इतना गहरा हुआ कि आज 21वीं सदी में प्रतिदिन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। संत रविदास कहते हैं कि यह ऐसी बीमारी है जो प्रत्येक मानव को जिंदा लाश बना देती है। यह संपूर्ण मानवता के लिए लाइलाज बीमारी बन चुकी है। यदि इसको न रोका गया तो समाज एक दिन नफरत के जंगलों में बदल जाएगा।

''जात-पात के फेर महा उलझ रहे सभ लोगा।
मानुसता कूँ खात है रविदास जात का रोगा॥''[6]

भारतीय समाज की संरचना को यदि ध्यान से देखा जाए तो मंडल आयोग के अनुसार यहां लगभग 7000 जातियां पाई जाती हैं। इतना ही नहीं इनके अंदर हजारों उपजातियां कुकुरमुत्ते की तरह से उपजी हुई हैं। उनके अंदर भी ऊंच-नीच की

भावना की जड़ें बहुत गहरी हैं। तभी तो रैदास मानते हैं कि भारत में जाति व्यवस्था केले के पत्ते की परतों की तरह है। एक को हटाने पर दूसरी और दूसरी को हटाने पर तीसरी और तीसरी को हटाने पर चौथी। इसी प्रकार केले के अंत के साथ ही परतें समाप्त होती हैं। इसी वजह से केले में रीढ़ नहीं होती जिससे वह कमजोर होता है। क्योंकि वे परतें आपस में कभी मिल नहीं सकीं। यही उसकी ताकत की सबसे बड़ी कमजोरी है। ऐसे देश में समतामूलक समाज की कल्पना करना बेईमानी होगी। किस आधार पर आप बंधुत्व एवं एकता की बात कर सकते हैं? लेकिन दूसरा सत्य यह भी है कि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। प्रकृति के नियम को ध्यान में रखकर ही संत कवियों ने समाज में आशा की किरण दिखाई। अपने समय में सामाजिक परिवर्तन की बात को लोगों से साझा करते हैं। यह सामाजिक परिवर्तन की जो चिंगारी है वह गौतम बुद्ध, डॉ. भीमराव अंबेडकर, संत गाडगे, फुले आदि के द्वारा निरंतर आगे बढ़ रही थी। महाराष्ट्र के संत शिरोमणि संत गाडगे ने भी सहर्ष स्वीकार किया कि ''भारतीय समाज अनेक जातियों-उपजातियों का समाज है। हिंदू धर्म में प्रत्येक जाति दूसरी जाति से नफरत करती है। इसलिए इस खाई को पाटना बहुत मुश्किल है। इसलिए वे स्वास्थ्य, शिक्षा और मानव सेवा पर विशेष ध्यान देते थे।''[7]

धार्मिक पाखंडों एवं कर्मकांडों ने भारतीय समाज की बहुतसंख्यक आबादी को मानसिक गुलाम बना दिया है। वह लोग शिक्षा की जगह रात-दिन कर्मकांड में फंसे रहते हैं। काल्पनिक दुनिया को ही वास्तविक मान लेते हैं। हंसी की बात यह है कि भगवान के भक्त अपने माता-पिता को छोड़कर पत्थर का सम्मान करते हैं। मंदिर में पूजा करना, व्रत रखना, रोजा रखना, तिलक लगाना, मस्जिद में अजान, गंगा स्नान, माला फेरना, यज्ञ करना, सत्यनारायण की कथा, शुभमुहूर्त आदि रूढ़ियों ने जनमानस को मकड़ी के जाल की तरह आज भी जकड़े रखा है।

इससे स्पष्ट है कि यह बीमारी लगभग सभी धर्मों में है। एक मजदूर की हत्या होने पर कोई फर्क नहीं पड़ता लेकिन किसी भगवान या धर्म के बारे में एक शब्द भी बोल देते हैं तो शहर के शहर दंगों की भेंट चढ़ जाते हैं। यह मानसिक रोग नहीं तो क्या है? इसलिए संत रविदास भी कबीर की तरह हिन्दू-मुस्लिम सभी को बराबर लताड़ते नजर आते हैं–

''कहा भयो नाचे अरु गाये,
कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरण पखारे,
जौं लौ परम तत्व नहीं चीन्हे,
कहा भयो ये मुण्ड मुड़ाये,
बहु तीरथ व्रत कीन्हे।''[8]

निर्गुण संत किसी ऐसे धर्म का प्रचार नहीं करते जो मानव-मानव में भेद करे। यही वजह है कि वे हिंदू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों के पाखंड और रूढ़ियों का जमकर विरोध किया। संत सदा मानव मात्र का कल्याण चाहते रहे हैं। सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति चाहते हैं। जिससे एक समतामूलक समाज का निर्माण हो सके। सभी लोग सुख से रह सकें। मुस्लिम समुदाय को भी नहीं छोड़ा है। इन्हीं सब कारणों से पूरे भारतीय समाज को संत रविदास आगाह करते हैं कि व्यक्ति का सम्मान गुण के आधार पर करना चाहिए न कि जन्म के आधार पर

''रविदास बामन मत पूजिए जउ होवे गुणहीन।
पूजहि चरण चंडाल के जउ होवे गुण परवीन॥''[9]

इसके साथ-साथ उन्होंने मुस्लिम धर्म के पाखंड एवं रूढ़ियों का भी जमकर विरोध किया क्योंकि वह किसी धर्म के पक्षपाती ही नहीं थे। वे केवल मानव मात्र का कल्याण चाहते थे। जिससे एक समतामूलक समाज का निर्माण हो सके। सभी लोग सुख-चैन से जीवन व्यतीत कर सकें। मुसलमानों की रूढ़ियों एवं अंधविश्वास का भी विरोध करते हुए कहते हैं–

''देता रहे हजार बरस, मुल्ला चाहे अजान।
रविदास खुदा नहिं मिल सके॥''[10]

अर्थात् इसका सीधा सा अर्थ है कि यदि इंसान के व्यवहार में परिवर्तन नहीं होता है तो ऐसे पूजा-पाठ एवं अजान लगाने से क्या लाभ? ऐसे ढोंग-पाखंडों से समाज को कोई लाभ नहीं होगा और न ही भविष्य में समतामूलक समाज का निर्माण हो पाएगा। स्वतंत्रता की बात की जाए तो निर्गुण संत कवियों ने इसे कभी अपने चिंतन से अलग नहीं होने दिया। लेकिन निर्गुण संतों की स्वतंत्रता अन्य लोगों की स्वतंत्रता से बिल्कुल अलग है। संतों ने सर्वप्रथम प्रत्येक भारतीय को स्वतंत्र होने पर बल दिया। कोई किसी व्यक्ति का मानसिक एवं शारीरिक शोषण न कर सके। इसका सीधा सा अर्थ है कि निर्गुण संत सबसे पहले आंतरिक स्वतंत्रता के पक्षधर रहे। इसके बाद राष्ट्रीय स्वतंत्रता के। तभी तो वे समस्त शोषित-पीड़ित लोगों को संबोधित करते हुए कहते हैं–

''पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

रविदास दास पराधीन सो कौन करे है प्रीत॥''[11]

इससे एक बात तो साफ होती है कि गुलाम मानव का कोई मित्र नहीं होता, न कोई देश होता है, न कोई धर्म होता है, न कोई जाति, न कोई घर। वह ऐसे कैदखाने में रहता है जिसमें बाहर आने को तड़पता रहता है लेकिन ज्ञान के बिना बाहर नहीं आ सकता। अर्थात् वह अदृश्य बेड़ियों में बंधा रहता है। इसलिए बार-बार वे बेगमपुरा शहर की कल्पना करते दिखाई देते हैं, जिसमें कोई गम न हो बेगमपुरा शहर। हाँ, एक सवाल फिर उठता है कि निर्गुण संतों को अपने देश की बहुसंख्यक आबादी की दोहरी आजादी की चिंता क्यों हुई? इसका सीधा सा उत्तर होगा कि अधिकांश निर्गुण संत श्रमजीवी एवं शोषित-पीड़ित समुदाय से थे। उन्होंने जीवन भर गुलामी और अपमान का विष पिया था। इसलिए वे पीड़ित जनता का दुख-दर्द आसानी से महसूस कर सके। वे समझ गए थे कि यदि समाज इसी तरह से विभाजित होता रहा तो गोरे लोगों से मिली आजादी का रंग फीका ही रहेगा। डॉ. अंबेडकर, संत गाडगे, ज्योतिबा फुले महापुरुषों की शैक्षिक क्रांति ने पूरे देश में भूचाल ला दिया। इन्हीं लोगों के प्रयास से आज देश की बहुसंख्यक आबादी मानसिक गुलामी से धीरे-धीरे बाहर आ रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि जहां तिलक भारतीयों से कह रहे थे कि ''स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार'', इसका करारा जवाब देते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे तर्कशास्त्री ने कहा– ''आज तुम्हें इतने समय में अपनी आजादी गंवाकर यह एहसास हुआ, लेकिन क्या कभी यह भी सोचा है कि हजारों सालों की गुलामी से मुक्त होना दलितों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है।'' इसी प्रकार पेरियार जैसे अनेक तर्कशास्त्री अपने-अपने ढंग से भारतीय जनमानस को जागृत कर रहे थे। इसका प्रभाव कहीं न कहीं हिंदी साहित्य के आंदोलनों पर भी पड़ा। दक्षिण अफ्रीका के ब्लैक पैंथर के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप भारत में भी दलित पैंथर जैसे क्रांतिकारी संगठनों की स्थापना हुई, जो मानव मुक्ति का पक्षधर है।

संत रविदास ने जनता को सदैव अपने श्रम पर जीवित रहने का संदेश दिया। उसे कभी परजीवी बनने की सलाह नहीं दी। वे अपने जीवन में श्रम के महत्व को अच्छी तरह से जानते थे। तभी तो लोगों से बार-बार अपील करते थे कि जब तक मानव का वश चले तब तक अपनी मेहनत की कमाई से पेट भरना चाहिए। इससे आत्मा को सच्चा सुख मिलता है। कहने का भाव यह है कि सुख को कभी पैसे से खरीदना संभव नहीं है। यही विचार थे निर्गुण संतों के। वे समस्त जन-जन को सम्मान के साथ जीना सिखाते थे। कबीर दास, रविदास जैसे संतों ने सदैव मन की पवित्रता पर सबसे अधिक ध्यान दिया। क्योंकि व्यक्ति का मन पवित्र नहीं है तो उसके सारे धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलाप व्यर्थ हैं, धोखा हैं। यही वजह रही कि संत रविदास बार-बार कहते हैं

''सत ईमान न छोड़िए, जग जाए जो जाए।''

अर्थात् सत्य की खातिर संसार भी छोड़ना पड़े तो तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए। निर्गुण संतों की एक और विशेषता थी, वह है अहिंसा के प्रति आग्रह। वे प्रत्येक धर्म में ईश्वर के नाम पर होने वाली हिंसा का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा कौन सा भगवान या अल्लाह है जो जीव हत्या को पसंद करता है। अर्थात् कोई नहीं हो सकता। मानव ने केवल अपने स्वार्थ के लिए लोगों को अंधविश्वास में फंसाने के लिए, अपने धर्म के धंधे चलाने के लिए यह नियम, रीति और परंपराएं बना रखी हैं। वे किसी भी जीव की हत्या को सबसे नीच और बुरा काम मानते हैं। यही वजह है कि उनकी वाणी में कदम-कदम पर प्राणी वध का विरोध किया गया है ।

''प्राणी वध नहीं कीजिए, जीवहि ब्रह्म समान।
रविदास पाप नहीं छूटहि, करोर गऊन करि दान॥''[12]

अधिकांशतः तर्कशील विद्वानों का मत है कि जो विवेकशील मानव होगा वह कभी भी अंधविश्वास का समर्थन नहीं करेगा और न ही किसी दूसरे को ऐसा करने की सलाह देगा। इस प्रकार के विद्वानों की श्रृंखला की अगर बात की जाए तो यह बहुत लंबी है, लेकिन इसी श्रृंखला की एक कड़ी के रूप में संत रविदास का नाम लिया जाता है जिन्होंने जीवन पर्यन्त धार्मिक कर्मकांड और रूढ़ियों का प्रबल विरोध किया–

''कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीने।
कहा भयो जग चरण पखारे, जौलो परम तत्व नहीं चीने॥''[13]

इसी मानवीय लगाव के कारण रविदास लोगों से बार-बार आग्रह करते हैं कि मानव सेवा से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं। दीन-दुखी की सहायता से बड़ा कोई कर्म नहीं–

''दीन दुखी कर सेव मह लागी रहयो रविदासा।
निसि बासर की सेव सो प्रभु मिलन की आसा॥''[14]

निष्कर्ष : अतः हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि निर्गुण संतों का जीवन स्वयं अनेक मानसिक एवं शारीरिक कष्टों के साथ में पला है। इसलिए उन्होंने सदैव मानव धर्म

की स्थापना का प्रयास किया है, क्योंकि इसी में छिपे हैं मानवीय मूल्य। एक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना के लिए सर्वप्रथम अपने समाज की आंतरिक मानसिकता में परिवर्तन करना लाजमी है। तभी हम स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकते हैं और यह परिवर्तन सबसे पहले अपनी सोच में करना होगा। तभी आप समाज में परिवर्तन लाने की बात कर सकते हैं। इन्हीं मानवीय मूल्यों की रक्षा करने के लिए आज भी हम सैकड़ों और हजारों साल पहले पैदा हुए कम शिक्षित या अशिक्षित संतों की वाणी को आज भी पढ़ते और पढ़ाते हैं। लेकिन दुर्भाग्य है कि भारत जैसे देश का कि हम मानवतावादी महापुरुषों पर बोलते बहुत अच्छा हैं, लिखते बहुत अच्छा हैं, सोचते बहुत अच्छा हैं, लेकिन महापुरुषों के द्वारा बताई गई मानवीय बातों को अपने जीवन का हिस्सा नहीं बनाते। आजादी के लगभग 76 वर्ष बाद भी देश की मानसिकता में उतना परिवर्तन नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। आज चारों तरफ लूट, हत्या, बेईमानी, नफरत, स्वार्थ की आग अपनी चरम सीमा पर है। इतना होने के बावजूद भी सच्चे और ईमानदार लोगों का प्रयास निरंतर जारी है, जो लोकतांत्रिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए प्रतिदिन संकल्परत हैं। क्योंकि इसी से बनेगा संत रविदास के सपनों का समाज बेगमपुरा शहर, जहाँ खिले होंगे रंग-बिरंगे फूल, प्रेम की कलियाँ खिल रही होंगी और हम गर्व से कह सकेंगे कि हम भारतीय हैं, जिसका दूसरा नाम बेगमपुरा भी है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, श्री गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, 1973, साखी-51, पेज नं.-55।
2. सूर्य नारायण भानु, वेमना की वाणी, सम्पादक, अनुवादक, सुकवि, तेलुगु विश्वविद्यालय, कला भवन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, 1986, पेज नं.-37।
3. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, श्री गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, 1973, साखी-48, पृष्ठ संख्या 51।
4. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, श्री गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, 1973, साखी-49, पृष्ठ संख्या 55।
5. डॉ. एन. सिंह, रैदास ग्रंथावली, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, 2003, साखी-162, पेज नं.-153।
6. एस. के. पंकज, संत रविदास : जन रविदास, दिव्यांश प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ संख्या 180।
7. डॉ. विमल कीर्ति, संत गाडगेबाबा : सचित्र जीवन, सम्यक प्रकाशन, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली-63, पेज नं.-08।
8. योगेन्द्र सिंह, संत रविदास, पद-78, पेज नं.-154।
9. योगेन्द्र सिंह, संत रविदास, पद-79, पेज नं.-185।
10. योगेन्द्र सिंह, संत रविदास, पद संख्या-74, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998, पेज नं.-76।
11. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, साखी-192, पेज नं.-190।
12. योगेन्द्र सिंह, संत रविदास, पद संख्या-78, पृष्ठ संख्या 154।
13. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, साखी-181, पृष्ठ संख्या 174।
14. आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, रविदास दर्शन, साखी-175, पृष्ठ संख्या 183।

ओम प्रकाश

ब्लाइंड स्ट्रीट में दृष्टिबाधितों की अंधेरी दुनिया का सच

शोध सारांश

समय के बदलाव के साथ साहित्य में भी बदलाव स्वाभाविक है। बीते कुछ समय से हिंदी साहित्य में विकलांगों को केंद्र में रखकर साहित्यिक रचनाएं होने लगी हैं। इस कड़ी में प्रदीप सौरभ द्वारा लिखा गया उपन्यास 'ब्लाइंड स्ट्रीट' अपनी विषय वस्तु के लिहाज से दृष्टिबाधितों पर लिखा गया हिंदी भाषा में प्रथम उपन्यास है। इसमें दृष्टिबाधितों के जीवन के यथार्थ और अनुभवों को तल्लीनता से अभिव्यक्त किया गया है। समाज में होने वाले उनके तिरस्कार और उपेक्षा, जीवन के कठिन संघर्ष, अपना अधिकार, अस्तित्व और अस्मिता के लिए जद्दोजहद, पढ़ लिखकर जीवन में अपना एक मुकाम हासिल करने की कोशिश, ब्लाइंडों के नाम पर होने वाले गोरख धंधे, और उनके शारीरिक-मानसिक तथा यौन उत्पीड़न जैसे गंभीर मुद्दों और जीवन के अनेक पहलुओं को उपन्यास में जगह दी गई है।

बीज शब्द

दृष्टिबाधित, संवेदना, दिव्यांग, संघर्ष, तिरस्कार, उपेक्षा, मानसिक पीड़ा, विकलांगता विमर्श, इंद्रिय शक्तियां, समावेशी समाज आदि।

प्रत्येक रचना किस न किसी लिहाज से अन्य दूसरी रचनाओं से अलग एवं महत्वपूर्ण विषय को अपने भीतर समाहित किए हुए होती है। हर रचना का समाज के प्रतिबिंब का तरीका भिन्न होता है। रचनाएं अलग-अलग समस्याओं, समाधान, विचारधाराओं से समाज को अवगत और प्रेरित करती हैं। बीते कुछ वर्षों में साहित्य ने अपने भीतर नवीन विषयों को समाहित कर तेजी से अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान किए हैं। जिनमें से एक विषय विकलांगों के जीवन और उनकी मूलभूत समस्याओं के उद्घाटन के रूप में हमारे समक्ष आया है। हालांकि ऐसा नहीं है कि पहले विकलांगों अथवा विकलांग पत्रों को साहित्य में जगह न दी गई हो। परंतु बात यह है कि उन कृतियों में विकलांग पात्रों को मुख्य भूमिका में अथवा उन्हें आधार बनाकर साहित्य कम ही रचा गया। आज विकलांगता किसी विकलांग व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रह गई है अब तो यह विमर्श का रूप ले चुकी है। जिसे नव्य रूप में "विकलांगता या दिव्यांगता विमर्श" कहा जाने लगा है। जिसे विकलांग जनों को केंद्र में रखकर आज विचार-विमर्श के नए आयाम के रूप में देखा जा रहा है। जिसके अंतर्गत विकलांगों की समस्या, उनके जीवन के उतार-चढ़ाव, संघर्ष एवं उनके जीवन की सच्चाई पर विचार विमर्श किया जा रहा है। जिन वजहों से लंबे समय से उनका जीवन दूभर बना रहा। विकलांगता विमर्श का मुख्य उद्देश्य यह है कि "विकलांगों के प्रति हमारे समाज में विद्यमान नकारात्मक सोच को दूर कर उन्हें समाज की मुख्य धारा में जोड़ने के प्रयास के भाव को बल देना, उनमें आत्मसम्मान का भाव जगाकर अपनी नि:शक्तता पर किस तरह विजय पायी जा सके – अनुकूल वातावरण का निर्माण करना ही विकलांग विमर्श का प्रयोजन है।"[1]

प्रदीप सौरभ हिंदी साहित्य की दुनिया में अपनी तरह की अलग शख्सियत रखने वाले साहित्यकार हैं। उनका जीवन की सच्चाई को देखने का अपना अलग ही नजरिया है। शायद यह इसलिए भी है क्योंकि वह साहित्यकार के साथ-साथ पत्रकार भी है। उन्होंने अपनी रचनाओं में अलग-अलग विषयों को अपने लेखन का केंद्र बनाया है। उन्होंने अब तक पांच उपन्यास लिखे हैं जो सर्वथा एक दूसरे से बिल्कुल अलग विषय वस्तु को लेकर पाठक के समक्ष प्रस्तुत होते हैं और

समाज को हर विषय पर सोच विचार करने हेतु प्रेरित करते हैं। उनका उपन्यास 'और सिर्फ तितली' पब्लिक स्कूलों के पाखंड से जुड़ा हुआ है, 'तीसरी ताली' उपन्यास किन्नर विमर्श पर आधारित है, 'मुन्नी मोबाइल' में राजनीति से जुड़ा हुआ है 'देश भीतर देश' उपन्यास देश के अंदर बेटे अनेक देशों की समस्या को उद्घाटित करता है।

प्रदीप सौरभ का 2021 में प्रकाशित उपन्यास 'ब्लाइंड स्ट्रीट' दृष्टि बाधित विकलांगों की समस्या एवं संवेदना को वाणी देता है। ब्लाइंड स्ट्रीट उपन्यास दृष्टिबाधितों की समस्या की ओर हमारी दृष्टि ले जाता है। इसमें दृष्टिबाधितों की जिंदगी के यथार्थ चित्रण देखने को मिलते हैं। इसके संबंध में लेखक कहते हैं कि ''इनमें उन अनुभवों को साझा किया गया है जो वास्तविकता से ताल्लुक रखते हैं।''[2] इस उपन्यास में पत्रों की बहुलता है परंतु कोई भी मुख्य पात्र नहीं है। इस उपन्यास में सभी पात्रों की अपनी अपनी समस्या है, जीवन का कठिन संघर्ष है, अपने आप को समाज में बनाए रखने की दौड़ है, सबकी अपने अलग-अलग संवेदनाएं हैं, समाज में सम्मान हासिल करने और सकलांगों के समक्ष समान रूप से अपने आप को खड़ा रखने की जिद है। जिसके कारण इस उपन्यास के सभी पात्र अपनी-अपनी समस्याओं और संघर्षों के साथ गली के एक मुहाने पर खड़े नजर आते हैं। जिससे कृति का नाम 'ब्लाइंड स्ट्रीट' साकार नजर आता है। उपन्यास के संबंध में नरेश अरोड़ा का वक्तव्य है कि- ''यह उपन्यास किसी दृष्टिबाधित की जीवनी नहीं और न ही जीवनियों का समुच्चय है। यह नायक-नायिका वाला भी उपन्यास नहीं है। उपन्यास के परंपरागत ढांचे के विपरीत इसके सभी पात्र अलग-अलग पृष्ठभूमि, जीवन-संघर्षों और अपनी अलग-अलग मनो-सामाजिक स्थितियों के साथ अलग-अलग कहानी कहते हैं।''[3]

यह उपन्यास दृष्टिबाधितों के जीवन के उन अनछुए पहलुओं को उजागर करता है जिसे हिंदी साहित्य में अब तक प्रकाश में नहीं लाया गया। इसमें दृष्टि बाधितों के जीवन की उन तमाम सच्चाइयों को वाणी देने का प्रयास किया गया है जो उनके अंधकारमय जीवन में कभी आशा तो कभी निराश तो कभी सुख तो कभी दुख का कारण बनी है। साथ ही इसमें उनको लेकर समाज के दोहरे नजरिए को भी उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। आलोचक सुधीश पचौरी उपन्यास के संबंध में कहते हैं कि-''प्रदीप सौरभ का नया उपन्यास 'ब्लाइंड स्ट्रीट' हिंदी का शायद पहला उपन्यास है, जो बहुत सारे 'डिफरेंटली एबिल्ड' की अंधी दुनिया के उन अंधेरों-उजालों को परत-दर-परत उघाड़ता चला जाता है, जिनकी हिंदी के कथा साहित्य में प्रायः उपेक्षा ही की जाती रही है।''[4] यह उपन्यास कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं द्वारा दृष्टिबाधितों की अंधेरी दुनिया की सच्चाई से अवगत कराता है। जिसे इस प्रकार विस्तार से समझा जा सकता है-

उपन्यास में लेखक ने दृष्टिबाधितों के प्रति समाज के नजरिए को अभिव्यक्त किया है। प्रायः विकलांगों के प्रति सामाजिक अस्वीकारिता, नकारात्मकता ने लगातार उसे समाज से दूरी बनाने पर मजबूर किया है। आज इक्कीसवीं सदी में ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, वैश्वीकरण और औद्योगीकरण अपने चरम पर है पर लोगों में विकलांगों को लेकर समाज की सोच में अभी पूरी तरह बदलाव नहीं आया है। अनपढ़ तो अनपढ़ पढ़ा लिखा वर्ग भी इस दृष्टि से जाहिल ही नजर आता है। उनकी विकलांगता को समाज पूर्व जन्म के कर्मफल और पाप से जोड़कर देखता आया है। जिससे उन्हें समाज में उपेक्षा और तिरस्कार का शिकार होना पड़ता है। विशेषकर दृष्टिबाधित विकलांगों के लिए यह तो और भी मुश्किल भरा होता है कि जीवन के सफर में अपनी आंखों की वजह से अंधकार को तो उन्हें झेलना ही पड़ता है वहीं दूसरी ओर आंख होते हुए भी मानसिक रूप से अंधे व्यक्तियों की उपेक्षा को झेलते होते हुए जीवन में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ती है। वैसे भी जीवन संघर्ष, हर्ष-विषाद और उतार-चढ़ाव का नाम है परंतु दृष्टिबाधितों के लिए यह संघर्ष की प्रक्रिया सामाजिक अस्वीकारता और उपेक्षा के कारण और भी कठिन, और मानसिक एवं शारीरिक रूप से पीड़ा पहुंचाने वाली होती है। इस प्रकार की उपेक्षा और तिरस्कार को उपन्यास की एक दृष्टिबाधित पात्र पार्वती के सड़क पार करने के दौरान घटित होने वाले इस प्रकरण द्वारा समझा जा सकता है- ''यूनिवर्सिटी के मेन गेट पर काफी ट्रैफिक रहता है, तो अक्सर कोई-न-कोई ब्लाइंड को सड़क पार करा ही देता है। वह मेन गेट के बाहर आकर जमीन पर अपनी स्टिक (अंधों की लाइफ लाइन) पटक रही थी, ताकि कोई सड़क पार करने में उसकी मदद के लिए आ जाये। ब्लाइंड इस तरह लोगों का अपनी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। तभी उसे अहसास हुआ कि कोई व्यक्ति उसके पास खड़ा हुआ है। पार्वती ने उससे पूछा, ''सर, क्या रोड पार करा देंगे?''

''करा तो सकते हैं, लेकिन कराऊंगा नहीं।'' उस व्यक्ति

ने हिकारत के भाव से जवाब दिया, ''ईश्वर ने तुम्हारे पाप के कारण तुम्हें अंधा बनाया है। रोड पार कराकर तेरा पाप तो मैं अपने सिर पर लूंगा नहीं...''[5]

हमारे समाज में इस तिरस्कार और उपेक्षा की शुरुआत सबसे पहले बच्चे के पैदा होने के पश्चात उसके अंधेपन का पता चलने पर उसके परिवार से ही शुरू हो जाती है। जब इस बात का घर में खुलासा होता है तो परिवार का उस बच्चे के प्रति प्यार, दुलार, आत्मीयता और अपनापन पहले की तुलना में कम होने लगता है। वह बच्चा परिवार के लिए बोझ बनने लगता है। क्योंकि उस अंधे बच्चे को जीवन भर संभालेगा कौन? यह प्रश्न आ खड़ा होता है। बचपन की इस हिकारत, तिरस्कार और उपेक्षा को उपन्यास के पात्र महेश के जीवन के इस प्रकरण से समझा जा सकता है-''आंखों के डॉक्टर ने बताया कि उसका कार्निया जन्म से ही डैमेज है। उसे अब ठीक भी नहीं किया जा सकता है। बच्चे के अंधे होने की बात सुनकर पूरे परिवार को जैसे सांप सूंघ गया। इस जानकारी के बाद उसका लाड़-प्यार सब कम होने लगा था। बात जब उसके नाम रखने की आई थी तो उसके पिता ने बेरुखी से कहा था कि इसका नाम सूरदास रख दो। इस बात का उसकी मौसी ने विरोध किया था। उनके विरोध का नतीजा ही था कि अंतत: उसका नाम महेश तय कर दिया गया। महेश तनेजा।''[6] कई बार ऐसे बच्चों के मां-बाप उन्हें मंदिर की सीढ़ियों पर, किसी अनाथालय के सामने, कचरे के डब्बे में, रेलवे स्टेशन पर छोड़ जाते हैं या उन्हें अपनाने से इनकार कर देते हैं। यह हमारे समाज की कैसी विडंबना है कि जब तक बच्चा पैदा नहीं होता माता-पिता कितना जतन करते हैं, ईश्वर से कितनी ही मनौतिया मांगते हैं, दर-दर माथा टेकते हैं, आने वाले उसके भविष्य की कितनी योजनाएं बना लेते हैं परंतु जब बच्चा अंधा पैदा हो जाए तो उसे भविष्य में अकेले ठोकरे खाने के लिए छोड़ देते हैं। दृष्टिबाधितों के जीवन के इस सच को लेखक ने उपन्यास में उद्घाटित किया है।

उपन्यास में दृष्टिबाधितों की शादी की समस्या की ओर संकेत किया गया है। जीवन में हर किसी को ऐसे हमसफर की तलाश होती है। जो उसके जीवन के लंबे सफर में और हर परिस्थिति में उसके साथ अंत तक खड़ा रहे। यह बात दृष्टिबाधितों के लिए और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। क्योंकि जीवन में आंखों की कमी के कारण उन्हें हर मोड़ पर किसी ऐसे जीवनसाथी की जरूरत होती है जो उनके दुख दर्द को बांट सके और उनकी संवेदनाओं को समझ सके। जिससे भावी जीवन में समस्याएं कम होती जाएं। उपन्यास में यह दिखाया गया है अक्सर नेत्रहीनों से साइटेट व्यक्ति शादी नहीं करना चाहते हैं यदि शादी हो भी जाती है तो जीवन में खटास और तनाव बना रहता है। जिससे अंत में रिश्ता खराब होने की संभावना बनी रहती है। इसे उपन्यास के दृष्टिबाधित पात्र सोनी गिल और महेश तनेजा के वैवाहिक संबंधों से समझा जा सकता है। शादी के पश्चात सोनी गिल और उसके पति के रिश्ते में तनाव आने लगता है जिसका नतीजा यह होता है कि गर्भवती होने के पश्चात सोनी गिल अपने पति से अलग हो जाती है और बाद में तलाक ले लेती है वहीं दूसरी ओर महेश तनेजा अपने रिश्तों से परेशान होकर अच्छी नौकरी होने के बावजूद भी घर छोड़कर कहीं चला जाता है।

दृष्टिबाधितों के लिए चलने वाली सरकारी योजना और स्वयंसेवी संस्थाओं के अपने गोरख धंधे हैं जो कुछ खास लोगों का हित साधते हैं। इस तथ्य पर उपन्यास में रोशनी डाली गई है। दृष्टिबाधितों की सहायता, सुविधा के नाम पर देशभर में चलने वाले एनजीओ, ब्लाइंड स्कूल, कॉलेज, हॉस्टल लूट-पाट के केंद्र बन गए हैं। नेत्रहीनों के नाम पर चलने वाली इन तमाम संस्थाओं के भ्रष्टाचार को उपन्यास में गंभीरता से उठाया गया है। लेखक कहते हैं- ''अंधापन इतनी बड़ी समस्या नहीं है, सबसे बड़ी समस्या है उनको इंसान मानने की। दान दक्षिणा से चलते ब्लाइंड स्कूल। ब्लाइंड के नाम पर चलने वाले संगठन रोजगार कार्यालय में तब्दील हो गए।''[7] इसके साथ ही हॉस्टल में होने वाले नेत्रहीन लड़कियों के शारीरिक शोषण के मुद्दे को लेखक ने उपन्यास द्वारा उठाने प्रयास किया है। जो हमारी एक व्यवस्था का बदरंग और शर्मनाक चेहरा है। जिस देश में स्त्री को देवी का दर्जा दिया जाता है वही उनकी मजबूरी और असहाय स्थितियों का फायदा उठाने वाले लोग भी पीछे नहीं हैं। एक और उदाहरण से समाज की बदरंग तस्वीर सामने आती है-अच्छी नियत से सोनी गिल द्वारा तलाकशुदा आंधी महिलाओं के लिए हॉस्टल शुरू किया जाता है परंतु वहां का मैनेजर उसे चकलाघर में तब्दील कर देता है। अंत में पुलिस की कार्यवाही होने के बाद हॉस्टल पर ताला लग जाता है।

जीवन में कितनी ही मुसीबतें, तकलीफ क्यों न आएं पर जीवन निरंतर संघर्षरत रहता है और आगे बढ़ता जाता है। उपन्यास का हर पात्र पार्वती, मनीष, प्रताप, नितिन, शिवतेज,

सोनी गिल, मुकेश सक्सेना, पल्लवी, महेश तनेजा, सुरेश सरीन, बाबुल, कोयल, विवेक आदि पात्र जीवन की इस दौड़ में निरंतर आगे बढ़ाने के प्रयास में संघर्षरत दिखते हैं। सभी की कहानी एक दूसरे से अलग है, सभी के जीवन परिस्थितियां भिन्न है परंतु इनमें जीवन को जीने की ललक नजर आती है। लाख मुश्किलों के बावजूद इन सभी में जीवन में आगे बढ़ाने की भूख दिखती है। उपन्यास के दृष्टिबाधित पात्र अपनी आंखों के अंधकार के बावजूद जीवन में पढ़-लिख कर आगे बढ़ाने की कामना रखते हैं। समाज में बराबरी, स्वाभिमान और सम्मान के साथ आत्मनिर्भर बनकर अपने आप को साबित करने के लिए जद्दोजहद करते नजर आते हैं। कोई मुश्किल भी आ जाए पर उसका सामना सामने से आकर करते नजर आते हैं। जीवन में कितनी ही बार हमारे किए कराए और मनसूबों पर पानी फिर जाता है और हमें हार का मुंह देखना पड़ता है पर जिंदगी रुकती नहीं है। उपन्यास की यह पंक्तियां प्रेरणादायक है, ''एक हार से जिंदगी हारती नहीं है।''[8] तमाम मुश्किलों, तिरस्कार, उपेक्षा, उतार-चढ़ाव, सुख-दुख, सामाजिक अस्वीकारिता के बावजूद दृष्टिबाधितों का जीवन हमें आगे बढ़ाने और उनके लिए अपने दृष्टिकोण में बदलाव की मांग करता है।

दुनिया नाना प्रकार के रंगों जीवन और प्रकृति के अद्‌भुत नजारों से ओतप्रोत है, उसकी खूबसूरती के नजारे आंखों को चमत्कृत कर देते हैं प्रकृति में बिखरे रंग उसकी खूबसूरती को बढ़ते नजर आते हैं। जिसे आम आदमी अपनी खुली आंखों से देखकर आनंद से भर जाता है। परंतु ऐसा नहीं है कि दृष्टिबाधित व्यक्ति इन्हें महसूस नहीं कर सकते हैं वह अपनी स्पर्श, ध्वनि, गंध, श्रवण, स्वादादि इंद्रिय शक्तियों से इस कमी को पूरा कर लेते हैं। लेखक ने उपन्यास में इन पत्रों द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि दृष्टिबाधित भी सामान्य मनुष्य की तरह हाड़ मांस के बने हुए हैं। ''दृष्टि बाधितों के अन्दर भी हमारी तरह ही एक दिल धड़कता है। उसमें भी भावनाएं होती हैं। उसमें भी संवेदनाएं पनपती हैं। हमारी ही तरह उनकी भी शारीरीक जरूरतें होती हैं। वो भी प्यार करना और प्यार पाना चाहते हैं। उनके अन्दर भी यौन इच्छाएँ होती हैं। उनमें भी धूर्तता, मक्कारी, ईर्ष्या, द्वेष, जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ होती हैं।''[9] वह ''इसी समाज में पले, बड़े हुए और इसी समाज में रहते हुए अस्मिता और अस्तित्व के लिए जद्दोजहद करते हैं। उनके हर्ष-विषाद, महत्वाकांक्षाएं, कुठाएं, पीड़ाएं और हर तरह के व्यवहार सामाजिक संपर्कों से ही बनते हैं।''[10]

निष्कर्षतः दुनिया विभिन्नताओं से सराबोर है। प्रकृति अपने अनेक रंगों, दृश्यों, रूपों में अपने भीतर सौंदर्य को समाहित किए हुए हैं। उसका हर एक दृश्य, हर एक नजारा सौंदर्य की एक नायाब तस्वीर पेश करता है। उसी प्रकार मनुष्यों में दृष्टि बाधित व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समकक्ष अपनी अलग पहचान रखता है। तो समाज में इनका तिरस्कार, अपेक्षा, अपमान और अस्वीकार क्यों? यह भी सामान्य मनुष्य की तरह इच्छाएं रखते हैं। समाज के बीच रहकर जीवन जीने के लिए, अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कठिन संघर्ष करते हैं। इनमें भी काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या जैसी आम जन सामान्य भावनाएं होती हैं। 'ब्लाइंड स्ट्रीट' उपन्यास दृष्टिबाधितों सामान्य मनुष्य के रूप में देखने की मांग करता है। साथ ही अपने पूर्वाग्रह से बाहर आकर इनका सम्मान, सामाजिक स्वीकार, प्यार और अपनेपन के व्यवहार का पक्षधर है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह एक ऐसे समावेशी समाज की मांग करता है। जो विकलांगों को आत्मनिर्भर बनने में मदद करें और जिससे वह सकलांगों के साथ कदम से कदम मिलाकर अपना विकास कर सके।

उपन्यास में दृष्टिबाधितों के प्रति उपेक्षा, तिरस्कार के भाव के साथ उनकी जीवन जीने और जीवन में कुछ कर गुजरने के ललक, उनके विवाह की समस्या, ब्लाइंडों के नाम पर चलने वाली संस्थाओं, स्कूल, हॉस्टल, एनजीओ के भ्रष्टाचार, दृष्टिबाधितों के शारीरिक और यौन उत्पीड़न जैसे गंभीर मुद्दों पर प्रकाश डालकर उनके जीवन के यथार्थ पहलुओं को लेखक ने बड़ी ही बारीकी से उजागर किया है। जिससे दृष्टिबाधितों के जीवन की असल सच्चाई का पता चलता है।

शोधार्थी, पीएचडी हिंदी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- opindian10@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. विकलांग विमर्श का वितान- संपादक डॉ. शैलजा माहेश्वरी, मित्तल एंड संस प्रकाशन, संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या 26
2. साहित्य अकादमी, कथासंधि कार्यक्रम, प्रदीप सौरभ द्वारा ब्लाइंड स्ट्रीट का पाठ, नवभारत टाइम्स, दिल्ली, 21

जुलाई 2022
3. किताबें : चाहिए पूर्वाग्रह से पर एक दृष्टि- नरेश अरोड़ा, इंडिया टुडे पत्रिका, अंक-24 मार्च 2021, पृष्ठ संख्या 48
4. ब्लाइंड स्ट्रीट- प्रदीप सौरभ, पुस्तक के विषय में आलोचक सुधीश पचौरी के विचार, पुस्तक के फ्लैप से, नयी किताब प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2021
5. ब्लाइंड स्ट्रीट- प्रदीप सौरभ, नयी किताब प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 20-21
6. वही, पृष्ठ संख्या 9-10
7. वही, पृष्ठ संख्या
8. वही, पृष्ठ संख्या 80
9. पुस्तक समीक्षा, दृष्टिबाधितों के अंधेरों पर रोशनी डालता उपन्यास-ब्लाइंड स्ट्रीट-डॉ. हेमंत कुमार, क्रिएटिव कोना, ऑनलाइन लिंक (creativekona.blogspot.com/2021/06/blog-post.html)
10. किताबें : चाहिए पूर्वाग्रह से पर एक दृष्टि- नरेश अरोड़ा, इंडिया टुडे पत्रिका, अंक-24 मार्च 2021, पृष्ठ संख्या 48

शोध-पत्र

रेशमी कुमारी

पर्यावरणीय संकट और समकालीन कविता

भूमिका

आज का युग पर्यावरणीय संकट से जूझ रहा है, जिसमें प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का विनाश, वनों की कटाई, और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन शामिल है। इस संकट ने साहित्य और विशेष रूप से समकालीन कविता व नवगीत में गहरी छाप छोड़ी है। समकालीन कवि पर्यावरणीय समस्याओं को केवल विषय के रूप में नहीं, बल्कि एक गंभीर सामाजिक चेतना के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। वे प्रकृति की पीड़ा, पारिस्थितिक असंतुलन, और मानव जीवन पर इसके प्रभाव को शब्दों में उकेरते हैं। समकालीन कविता में पर्यावरणीय चिंताओं की अभिव्यक्ति कहीं प्रतिरोध के रूप में तो कहीं आत्मचिंतन के रूप में उभरती है। साहित्य, विशेष रूप से कविता और नवगीत, समाज के संवेदनशील पक्ष को उभारने का माध्यम होते हैं। समकालीन कविताओ में पर्यावरणीय संकट के प्रति गहरी चिंता व्यक्त की गई है। इस शोध पत्र में पर्यावरणीय संकट और समकालीन कविता के अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया गया है।

पर्यावरणीय संकट की पृष्ठभूमि

औद्योगीकरण, शहरीकरण और उपभोक्तावाद ने पर्यावरण पर गंभीर प्रभाव डाला है। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक क्रांति और तकनीकी विकास ने प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन किया। इसके परिणामस्वरूप, ग्लोबल वार्मिंग, जल संकट, प्रदूषण, और प्राकृतिक आपदाओं की संख्या में वृद्धि हुई। पर्यावरणीय संकट केवल वैज्ञानिक या राजनीतिक मुद्दा नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्श का भी महत्वपूर्ण विषय बन चुका है। समकालीन कविता में प्रकृति केवल एक सौंदर्य बिंब नहीं रह गई है, बल्कि एक संवेदनशील विषय बन चुकी है। आधुनिक कवि पेड़ों की कटाई, नदियों की मृतप्राय स्थिति, पक्षियों और जीव-जंतुओं की विलुप्ति तथा शहरों में बढ़ते प्रदूषण को केंद्र में रखते हुए अपनी रचनाओं में इस संकट का मार्मिक चित्रण कर रहे हैं। ये कविताएँ केवल पर्यावरणीय स्थिति का वर्णन नहीं करतीं, बल्कि मानवीय लालसा, उपभोक्तावाद और औद्योगिक विकास के अंधाधुंध प्रभावों की आलोचना भी करती हैं।

कविताओं में प्रकृति के प्रति प्रेम, उसकी सुंदरता और उसके संरक्षण की आवश्यकता को भावनात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। कुछ कवि प्रतिरोध की मुद्रा अपनाते हैं, जहाँ वे पूंजीवाद, शहरीकरण और वैज्ञानिक तकनीकों के दुरुपयोग को पर्यावरण विनाश के मूल कारणों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अन्य कविताएँ आत्मचिंतन और जागरूकता को केंद्र में रखती हैं, जहाँ मनुष्य को अपने आचरण पर विचार करने की प्रेरणा दी जाती है।

समकालीन कविता में पर्यावरणीय संकट

समकालीन कविता में पर्यावरणीय संकट एक प्रमुख विषय के रूप में उभरा है। कवि अपने शब्दों के माध्यम से पर्यावरणीय विनाश, प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण, और मानव की स्वार्थपरता को उजागर करते हैं। कुछ प्रमुख समकालीन कवियों की रचनाओं में यह चिंता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है

1. प्रकृति और मानवीय लालच

कवि प्रकृति के साथ मानवीय हस्तक्षेप और उसकी परिणति को दर्शाते हैं। जैसे–

"कौन सुनेगा वृक्षों की भाषा,
काट रहे हैं उन्हें दिन-रात।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

धुआं-धुआं है नभ का आँचल,
जल रहे हैं हरे-भरे घाट।''

इस तरह की कविताएं मानवीय स्वार्थ और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की ओर संकेत करती हैं।

''पेड़ कटे, पंछी रोए,
नीड़ उजड़े, सावन खोए।
नदियाँ सूखी, धूल उड़ी,
धरती की कोख आज जल उठी।''

यह कविता हमें प्रकृति के विनाश की ओर इंगित करती है। पेड़ों की कटाई से पक्षियों का बसेरा उजड़ गया है, नदियाँ सूख रही हैं, और हमारी धरती गर्मी से झुलस रही है। यह केवल एक चेतावनी नहीं, बल्कि एक दुखद सच्चाई है कि मानव अपने ही जीवन के आधार को समाप्त कर रहा है।

''मैं पेड़ हूँ, मुझे मत काटो,
मैं नदी हूँ, मुझे मत रोको।
मैं मिट्टी हूँ, मुझे मत रौंदो,
मैं जीवन हूँ, मुझे मत तोड़ो।''

यह कविता प्रकृति की मार्मिक पुकार को दर्शाती है। पेड़, नदियाँ, मिट्टी और जीवन सब हमसे विनती कर रहे हैं कि हम उन्हें नष्ट न करें। यह कविता हमें याद दिलाती है कि पर्यावरण को बचाना, केवल हमारी जिम्मेदारी ही नहीं, बल्कि हमारे अस्तित्व की अनिवार्यता भी है।

2. जल संकट और पृथ्वी का करुण क्रंदन

जल संकट पर लिखी गई कविताओं में सूखे, जल-प्रदूषण और जल संरक्षण की अनिवार्यता को रेखांकित किया जाता है।

''बूँद-बूँद को तरस रही, अब तो प्यासी धरती,
छीन रहे जलस्रोत सभी, इंसानी होश गँवा बैठे।''

इस प्रकार की कविताएं पर्यावरणीय चेतना को जागरूक करने का कार्य करती हैं।

''हवा में जहर घुला,
नीला आकाश भी धूसर हुआ।
पेड़ों की जगह कंक्रीट उगे,
हरियाली का गीत भी रुका।''

यह कविता प्रदूषण और शहरीकरण के कारण बिगड़ते पर्यावरण की बात करती है। जहरीली हवा, धुंए से भरा आकाश और कंक्रीट के जंगल हमारी हरियाली को निगल रहे हैं। यह कविता इस बात की चेतावनी देती है कि यदि हम नहीं जागे, तो प्राकृतिक सौंदर्य सदा के लिए खो जाएगा।

''चलो, कुछ बीज रोप आते हैं,
सूखी धरती को हरियाते हैं।
चलो, नदियों का आँचल भरते हैं,
फिर से पेड़ों की छाँव संवारते हैं।''

यह कविता न केवल संकट का चित्रण करती है, बल्कि समाधान की ओर भी प्रेरित करती है। यदि हम आज ही पेड़ लगाने, जल संरक्षण करने और प्रदूषण को कम करने का संकल्प लें, तो हम अपने पर्यावरण को पुन: समृद्ध बना सकते हैं। यह कविता हमें आशा और जागरूकता की ओर ले जाती है।

3. पर्यावरण और भविष्य की चिंता

पर्यावरणीय संकट के चलते आने वाली पीढ़ियों के लिए अंधकारमय भविष्य की कल्पना की गई है—

''बच्चों की हंसी नहीं होगी,
पेड़ों के झूले सूने होंगे,
अगर आज भी नहीं चेते,
तो आने वाले कल रूठे होंगे।''

इस तरह की कविताएं भविष्य के खतरों से आगाह करती हैं।

''हरियाली सिसकी, नदियाँ रूठीं,
आकाश में अब बदली भी टूटी।
काट दिए जो वृक्ष हमारे,
अब बरसातें भी हैं बेगानी।''

इस कविता में प्रकृति के विनाश पर धरती के दुख को दर्शाया गया है। पेड़ों की कटाई और जलवायु परिवर्तन के कारण नदियाँ सूख रही हैं और बारिश भी कम हो गई है।

''जहाँ गूँजते थे गीत पंछियों के,
अब वहाँ बस सन्नाटा है।
जहाँ फूलों की महक थी फैली,
अब वहाँ बस काँटों का रास्ता है।''

यह कविता जैव विविधता के नुकसान को दर्शाती है। विकास और शहरीकरण के कारण पक्षियों और जीवों का प्राकृतिक आवास नष्ट हो रहा है, जिससे वे विलुप्त हो रहे हैं।

''अब भी समय है, जागो सभी,
आओ हरियाली को फिर से रचें।
धरती का आँचल हरा करें,
फिर से बगिया महक उठे।''

यह कविता हमें पर्यावरण बचाने के लिए प्रेरित करती है। यदि हम अभी भी सचेत होकर प्रयास करें, तो हम फिर से अपनी धरती को हरा-भरा बना सकते हैं।

समकालीन कविता और पर्यावरणीय चेतना का प्रभाव

पर्यावरणीय संकट आज वैश्विक स्तर पर एक गंभीर समस्या बन चुका है। जलवायु परिवर्तन, वन्य जीवों की घटती संख्या, जल और वायु प्रदूषण, तथा पारिस्थितिक असंतुलन जैसी समस्याओं ने मानव जीवन को सीधा प्रभावित किया है। इस संकट के प्रति जागरूकता फैलाने में साहित्य, विशेष रूप से समकालीन कविता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साहित्य, समाज का दर्पण होता है और समकालीन कविताओं में पर्यावरणीय मुद्दों को केंद्र में रखकर समाज को सचेत करने का कार्य किया गया है। ये रचनाएँ न केवल चेतावनी देती हैं, बल्कि लोगों को प्रकृति से जोड़ने और उसके संरक्षण के प्रति संवेदनशील बनाने में मदद करती हैं। समकालीन कविताओ में पर्यावरणीय संकट की पीड़ा, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का विरोध, और भविष्य की पीढ़ियों के लिए सतत विकास की आवश्यकता को प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया गया है।

कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार अंधाधुंध औद्योगीकरण और शहरीकरण ने प्रकृति का विनाश किया है। समकालीन कविताओं में जंगलों की कटाई, नदियों के सूखने, हवा में जहर घुलने और जलवायु परिवर्तन की विभीषिका को अत्यंत मार्मिक तरीके से उकेरा गया है। इन कविताओं का प्रभाव यह है कि वे पाठकों में एक भावनात्मक जुड़ाव उत्पन्न करती हैं और उन्हें सोचने पर मजबूर करती हैं कि यदि पर्यावरण का संरक्षण नहीं किया गया तो भविष्य कितना भयावह हो सकता है। उदाहरण के लिए, कई समकालीन कविताएँ यह दर्शाती हैं कि कैसे एक हरे-भरे गाँव की जगह अब कंक्रीट के जंगल उग आए हैं और लोग सांस लेने के लिए शुद्ध हवा तक को तरस रहे हैं। इस प्रकार की कविताएँ समाज को यह एहसास कराती हैं कि पर्यावरणीय संकट केवल एक वैज्ञानिक या राजनीतिक समस्या नहीं है, बल्कि यह मानवीय अस्तित्व से भी गहराई से जुड़ा हुआ है।

समकालीन कविताओ का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह भी है कि वे पर्यावरणीय संकट के खिलाफ विरोध का एक सशक्त माध्यम बन चुके हैं। साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से पर्यावरणीय असंतुलन के मूल कारणों की ओर संकेत करते हैं और यह दर्शाते हैं कि किस प्रकार पूंजीवाद, औद्योगीकरण और लालच ने प्रकृति का शोषण किया है। ये कविताएँ एक प्रकार की चेतावनी भी होती हैं, जो समाज को बताती हैं कि यदि समय रहते हम नहीं संभले, तो हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए यह दुनिया रहने लायक नहीं बचेगी। इस संदर्भ में कई कवियों ने प्रकृति के क्षरण को एक करुण विलाप के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें नदियाँ रोती हैं, वृक्ष चीखते हैं, और पक्षी अपने खोए हुए घरों को खोजते फिरते हैं।

इसके अतिरिक्त, समकालीन कविता का एक और प्रभावशाली पहलू यह है कि वे न केवल समस्या को उजागर करते हैं, बल्कि समाधान की ओर भी इशारा करते हैं। कई कविताएँ पर्यावरणीय संरक्षण के उपायों पर बल देती हैं, जैसे वृक्षारोपण, जल संरक्षण, जैविक खेती, और प्राकृतिक संसाधनों के संतुलित उपयोग की आवश्यकता। इस प्रकार की कविताएँ न केवल एक भावनात्मक अपील करती हैं, बल्कि पाठकों को सक्रिय रूप से पर्यावरण की रक्षा के लिए प्रेरित भी करती हैं। इन रचनाओं में यह संदेश दिया जाता है कि यदि हम सभी मिलकर छोटे-छोटे प्रयास करें, तो हम इस संकट को टाल सकते हैं और एक बेहतर भविष्य की ओर कदम बढ़ा सकते हैं।

⋆ **पर्यावरणीय संकट का चित्रण** – समकालीन कविताएँ वनों की कटाई, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण और जैव विविधता के ह्रास को केंद्र में रखते हुए रचनात्मक रूप से समस्या को उजागर करती हैं। यह संकट कई रूपों में प्रकट हो रहा है, जिसमें जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, जैव विविधता की हानि, जल और वायु प्रदूषण, भूमि क्षरण, ग्लेशियरों का पिघलना और प्राकृतिक आपदाओं की तीव्रता में वृद्धि प्रमुख हैं। औद्योगीकरण, शहरीकरण और अत्यधिक उपभोक्तावाद ने प्रकृति का इतना दोहन कर लिया है कि अब पृथ्वी की पारिस्थितिकी तंत्र असंतुलित हो गया है। पृथ्वी का तापमान लगातार बढ़ रहा है, जिससे ग्रीनहाउस गैसों की मात्रा में वृद्धि हो रही है और इससे जलवायु परिवर्तन की गति तीव्र होती जा रही है। जंगलों की कटाई और अनियंत्रित औद्योगिक विकास के कारण वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ गई है, जिससे ओजोन परत को नुकसान पहुंचा है और पृथ्वी पर गर्मी बढ़ने लगी है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि ग्रीष्मकाल अधिक तीव्र और दीर्घकालिक होने लगे हैं, वहीं ठंड के

मौसम में भी असमानता आ रही है।

ग्लोबल वार्मिंग के कारण समुद्रों का जलस्तर बढ़ रहा है, जिससे तटीय क्षेत्रों में बाढ़ और तूफानों की घटनाएँ अधिक हो रही हैं। ग्रीनलैंड और अंटार्कटिका के ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं, जिससे भविष्य में समुद्र के जलस्तर में और अधिक वृद्धि होने की आशंका है। इस संकट का सबसे अधिक प्रभाव उन देशों और समुदायों पर पड़ रहा है जो सीधे तौर पर प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं, जैसे किसान, मछुआरे और वनवासी समुदाय। लगातार बदलते मौसम चक्र के कारण कृषि उत्पादन प्रभावित हुआ है, जिससे खाद्य संकट की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

पर्यावरणीय संकट का सबसे दुखद पहलू यह है कि इसे उत्पन्न करने वाले कारक मानव निर्मित हैं। औद्योगिक क्रांति से लेकर आधुनिक विकासवादी नीतियों तक, हर कदम पर प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन हुआ है, और यह प्रक्रिया अब भी जारी है। विकास की अंधी दौड़ में हम यह भूल चुके हैं कि यदि प्राकृतिक संसाधन समाप्त हो गए, तो कोई भी प्रगति हमारे जीवन को सुरक्षित नहीं रख पाएगी। हालांकि, कुछ प्रयास इस संकट को कम करने के लिए किए जा रहे हैं, जैसे वृक्षारोपण, स्वच्छ ऊर्जा स्रोतों का विकास, जल संरक्षण योजनाएँ और जैविक खेती को बढ़ावा देना, लेकिन जब तक जनमानस में व्यापक स्तर पर पर्यावरणीय चेतना विकसित नहीं होगी, तब तक यह संकट बना रहेगा। इस स्थिति में साहित्य, विशेष रूप से समकालीन कविता और नवगीत, लोगों को पर्यावरणीय जागरूकता प्रदान करने में एक सशक्त माध्यम बन सकते हैं। साहित्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह समाज को जागरूक करे, उसे प्रकृति के प्रति संवेदनशील बनाए और एक ऐसा माहौल तैयार करे जहाँ विकास और प्रकृति के बीच संतुलन बना रहे।

⋆ **प्रकृति प्रेम और संवेदनशीलता** – कविताओं में प्रकृति के प्रति प्रेम और उसके संरक्षण की भावना देखने को मिलती है। प्रकृति प्रेम और संवेदनशीलता मनुष्य के अस्तित्व और उसके मानसिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक विकास से गहरे जुड़े हुए हैं। प्रकृति केवल एक भौतिक सत्ता नहीं है, बल्कि यह जीवनदायिनी शक्ति है, जो हमें न केवल शारीरिक रूप से पोषण प्रदान करती है, बल्कि मानसिक और आत्मिक शांति भी देती है। जब मनुष्य प्रकृति के सान्निध्य में होता है, तो वह स्वयं को अधिक मुक्त, संतुलित और प्रसन्न अनुभव करता है। प्रकृति की सुंदरता नीले आसमान, लहलहाते खेत, बहती नदियाँ, पर्वतों की ऊँचाई, पक्षियों का मधुर संगीत, और हवा की शीतलता मनुष्य के मन को सुकून प्रदान करती है। प्रकृति के प्रति प्रेम और संवेदनशीलता का अर्थ केवल उसकी सुंदरता का आनंद लेना ही नहीं है, बल्कि उसकी रक्षा करना, उसे सहेजना और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना भी है।

समकालीन समय में जब पर्यावरणीय संकट बढ़ता जा रहा है, तब प्रकृति प्रेम और संवेदनशीलता की भावना और भी अधिक आवश्यक हो गई है। आधुनिक जीवनशैली, शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के कारण मनुष्य प्रकृति से दूर होता जा रहा है। पहले जहाँ बच्चे खुले मैदानों में खेलते थे, पेड़ों की छाँव में समय बिताते थे, और पक्षियों की चहचहाहट सुनते थे, वहीं आज वे कंक्रीट के जंगलों में कैद हो चुके हैं। प्रकृति से दूरी ने न केवल हमारी मानसिक शांति को प्रभावित किया है, बल्कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को भी कमजोर किया है। जब हम प्रकृति के साथ संवेदनशीलता से पेश नहीं आते, तो इसका प्रभाव हमारे पूरे जीवन पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, जंगलों की कटाई से जलवायु परिवर्तन बढ़ता है, जल स्रोत सूखने लगते हैं, और पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है।

साहित्य, विशेष रूप से समकालीन कविता, इस भावना को प्रकट करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनी हैं। कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के सौंदर्य को केवल एक दृश्यात्मक अनुभव के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि इसे मानवीय चेतना का अभिन्न अंग बनाया है। आज के समय में हमें यह समझने की जरूरत है कि प्रकृति की रक्षा करना केवल पर्यावरणविदों या सरकारों का दायित्व नहीं है, बल्कि यह हर व्यक्ति की जिम्मेदारी है। यदि हम सच में प्रकृति से प्रेम करते हैं, तो हमें अपने दैनिक जीवन में छोटे–छोटे प्रयास करने होंगे, जैसे प्लास्टिक का कम उपयोग, जल और ऊर्जा की बचत, अधिक से अधिक वृक्षारोपण और जैव विविधता का संरक्षण। जब हम प्रकृति के प्रति संवेदनशील होंगे, तभी हम उसे सहेज पाएँगे और अपने आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सुरक्षित और सुंदर पर्यावरण छोड़ पाएँगे।

⋆ **मानव-प्रकृति संबंध** – मानव और प्रकृति के बीच संबंध अत्यंत प्राचीन, गहरा और पारस्परिक है। यह संबंध केवल भौतिक संसाधनों के दोहन तक सीमित नहीं है, बल्कि

इसमें भावनात्मक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आयाम भी जुड़े हुए हैं। प्रकृति मनुष्य का पालक और संरक्षक रही है, जो उसे जीवन के लिए आवश्यक हर तत्व प्रदान करती है वायु, जल, भोजन, औषधियाँ और आश्रय। बदले में, मनुष्य को प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व का भाव रखना चाहिए। किंतु आधुनिक समय में यह संतुलन धीरे-धीरे बिगड़ता जा रहा है, जिससे पर्यावरणीय संकट गहराता जा रहा है। औद्योगिकीकरण, शहरीकरण और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों ने मानव-प्रकृति संबंध को अत्यधिक प्रभावित किया है। नवगीतों में यह संबंध अधिक मार्मिक और आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, जहाँ मनुष्य की भोगवादी प्रवृत्तियों पर प्रश्न उठाए जाते हैं।

समय के साथ जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, मानव-प्रकृति संबंध में भी परिवर्तन आया। कृषि क्रांति के बाद मनुष्य ने प्रकृति का उपयोग अधिक संगठित रूप से करना शुरू किया, जिससे पर्यावरण पर कुछ हद तक दबाव बढ़ा। किंतु फिर भी इस दौर में मनुष्य ने प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखा और उसके दोहन की एक सीमा निर्धारित की। समस्या तब उत्पन्न हुई जब औद्योगिक क्रांति के बाद मानव की लालसा और बढ़ गई और उसने प्रकृति का अत्यधिक शोषण शुरू कर दिया। वनों की कटाई, जल स्रोतों का अति दोहन, कोयला और पेट्रोलियम जैसे ऊर्जा स्रोतों का अत्यधिक उपयोग, और उद्योगों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों ने मानव-प्रकृति संतुलन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। यह वह दौर था जब मनुष्य ने प्रकृति को केवल एक वस्तु के रूप में देखना शुरू कर दिया, जिसे वह अपने स्वार्थ के लिए उपयोग कर सकता था। वर्तमान में, मानव-प्रकृति संबंध अत्यधिक जटिल हो गया है। एक ओर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने जीवन को अधिक सुविधाजनक बना दिया है, तो दूसरी ओर इसने पर्यावरण को गंभीर क्षति भी पहुँचाई है। औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण नदियाँ प्रदूषित हो रही हैं, जंगल खत्म हो रहे हैं, जीव-जंतुओं की अनेक प्रजातियाँ विलुप्ति के कगार पर हैं, और जलवायु परिवर्तन ने संपूर्ण पृथ्वी पर संकट खड़ा कर दिया है।

आज अधिकतर लोग बंद घरों, ऊँची इमारतों और प्रदूषित शहरों में जीवन बिता रहे हैं, जहाँ उन्हें प्रकृति का सान्निध्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रभाव न केवल पर्यावरण पर पड़ रहा है, बल्कि स्वयं मानव जीवन पर भी देखा जा सकता है। मानसिक तनाव, अवसाद, और शारीरिक बीमारियों की बढ़ती संख्या इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति से कटने का प्रभाव मनुष्य पर कितना गंभीर हो सकता है। अतः, यह स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति संबंध केवल भौतिक संसाधनों के उपयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक गहरा भावनात्मक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संबंध भी है। यदि मनुष्य अपने स्वार्थ को नियंत्रित करके प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करता है, तो न केवल पर्यावरण सुरक्षित रहेगा, बल्कि स्वयं उसका जीवन भी अधिक संतुलित और सुखद होगा। यह समय की माँग है कि हम अपने पूर्वजों की तरह प्रकृति को सम्मान दें, उसे संरक्षित करें और उसे केवल उपभोग की वस्तु के रूप में न देखें। जब तक यह संबंध संतुलित रहेगा, तब तक पृथ्वी पर जीवन संभव रहेगा। यदि हमने इसे नजरअंदाज किया, तो आने वाली पीढ़ियों के लिए एक भयावह भविष्य तैयार होगा। इसलिए, मानव-प्रकृति संबंध को पुनः संतुलित करने की दिशा में अब हमें गंभीर प्रयास करने होंगे, ताकि यह धरती सदैव हरी-भरी और जीवनदायिनी बनी रहे।

⋆ **सामाजिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य** - पर्यावरणीय मुद्दों को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर कवि लोकगीतों और पारंपरिक काव्य शैलियों में भी अभिव्यक्त कर रहे हैं। समकालीन कविता और नवगीत केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे समाज और संस्कृति का दर्पण भी हैं। ये विधाएँ सामाजिक यथार्थ, मानवीय संवेदनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिबिंबित करने का सशक्त माध्यम रही हैं। पर्यावरणीय चेतना जब समकालीन कविता और नवगीतों में प्रवेश करती है, तो यह केवल प्रकृति के सौंदर्य की चर्चा तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन जाती है।

आज जब पूरी दुनिया जलवायु परिवर्तन, औद्योगिक प्रदूषण, वनों की कटाई और जल संकट जैसी समस्याओं से जूझ रही है, तब साहित्यकारों की जिम्मेदारी है कि वे इन मुद्दों को अपनी रचनाओं में स्थान दें। समकालीन कविता इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। ये रचनाएँ न केवल पर्यावरण के क्षरण को दिखाती हैं, बल्कि इसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों पर भी प्रकाश डालती हैं। आज के औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण पर्यावरणीय असंतुलन बढ़ रहा है। जंगलों की कटाई और औद्योगिक प्रदूषण के कारण गरीब और हाशिए पर खड़े समुदायों को सबसे अधिक

नुकसान उठाना पड़ता है। समकालीन कविता इस दर्द को शब्द देती है।

"कहाँ गए वे पेड़ घनेरे, छाँव थी जिनकी सुखद घनी,
कटे वनों संग सपने कटे, छूट गए बिछड़े माटी-मनी।"

यह कविता केवल पर्यावरणीय नुकसान को नहीं दर्शाती, बल्कि यह उन गरीब किसानों, मजदूरों और आदिवासियों के दर्द को भी प्रकट करती है, जिनकी आजीविका सीधे जंगलों, नदियों और भूमि से जुड़ी हुई थी।

शहरीकरण और आधुनिक जीवनशैली के कारण प्रकृति का दोहन लगातार हो रहा है। फैक्ट्रियों से निकलने वाले धुएँ, रसायनों से प्रदूषित जल और प्लास्टिक कचरे ने पर्यावरण को गंभीर संकट में डाल दिया है। यह समस्या केवल प्राकृतिक नहीं, बल्कि सामाजिक भी है, क्योंकि इससे आम आदमी का स्वास्थ्य प्रभावित होता है।

"धुआँ-धुआँ है अब हवाएँ, साँस तक घुटने लगी,
नदी का जल भी विष भरा है, मछलियाँ मरने लगीं।"

समकालीन कविता इस संकट को केवल वर्णन तक सीमित नहीं रखती, बल्कि यह समाज को चेताने और जागरूक करने का भी कार्य करती है।

⋆ **आंदोलन और प्रतिरोध** - कुछ कविताएँ पर्यावरणीय आंदोलनों से प्रभावित हैं, जो जनचेतना और क्रांतिकारी विचारधारा को बल देती हैं। आधुनिक युग में जब जंगलों की कटाई, नदियों के प्रदूषण, औद्योगीकरण और खनन परियोजनाओं के कारण जनजीवन प्रभावित हो रहा है, तब समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा प्रतिरोध और आंदोलन किए जा रहे हैं। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, जंगल बचाओ आंदोलन और जल संरक्षण अभियानों ने जनता को पर्यावरणीय चेतना से जोड़ने का काम किया है। समकालीन कविता और नवगीत इन आंदोलनों की भावनाओं को अपनी रचनाओं में उकेरते हुए न केवल पर्यावरणीय चेतना को जाग्रत कर रहे हैं, बल्कि जनसंघर्षों को भी साहित्यिक दस्तावेज के रूप में दर्ज कर रहे हैं। पर्यावरणीय संकट केवल प्राकृतिक संसाधनों की हानि का विषय नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असंतुलन का भी कारक बन चुका है। विकास के नाम पर प्रकृति का दोहन, जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का ह्रास और प्रदूषण जैसी समस्याएँ केवल वैज्ञानिक और राजनीतिक विमर्श तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि साहित्य ने भी इन पर अपनी सशक्त प्रतिक्रिया दी है। समकालीन कविता और नवगीत ने पर्यावरणीय संकट के खिलाफ आवाज उठाने वाले आंदोलनों और प्रतिरोध को अपनी अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया है।

(1) चिपको आंदोलन और कविता का स्वर

चिपको आंदोलन (1973) भारत का पहला बड़ा पर्यावरणीय जनांदोलन था, जिसमें उत्तराखंड (तत्कालीन उत्तर प्रदेश) के ग्रामीणों, विशेष रूप से महिलाओं ने, पेड़ों को बचाने के लिए उन्हें गले लगाकर अपना विरोध प्रकट किया था। इस आंदोलन ने पूरे देश को पर्यावरणीय चेतना से जोड़ा। समकालीन कविताओं में इस आंदोलन की भावना को जीवंत रूप से अभिव्यक्त किया गया है।

"पेड़ कटे तो साँसें घटेंगी,
धरती माँ फिर सूनी होगी,
गले लगाकर रख लें इसको,
कल की पीढ़ी हरी भरी होगी।"

यह कविता न केवल चिपको आंदोलन के संघर्ष को दर्शाती है, बल्कि पर्यावरण संरक्षण के लिए जनभागीदारी की आवश्यकता को भी रेखांकित करती है।

(2) नर्मदा बचाओ आंदोलन और कविता की भूमिका

नर्मदा बचाओ आंदोलन (1985) ने बड़े बांधों के कारण विस्थापित होने वाले हजारों किसानों, आदिवासियों और ग्रामीणों के अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष किया। इस आंदोलन ने जल, जंगल और जमीन से जुड़े लोगों के अधिकारों को रेखांकित किया। समकालीन कविता इस संघर्ष की गूँज को शब्दों में ढालकर व्यापक संवेदना जगाने का कार्य कर रही है।

"नर्मदा की धार थमी है,
गाँव भी डूबे, खेत गए,
हम किसके सपनों में आए,
जो अपने ही घर से बेघर हुए?"

इस कविता में विस्थापन की पीड़ा और प्रकृति के दोहन के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर स्पष्ट रूप से झलकता है।

निष्कर्ष

पर्यावरणीय संकट पर आधारित समकालीन कविता न केवल कलात्मक अभिव्यक्ति हैं, बल्कि वे समाज को जागरूक करने का एक सशक्त माध्यम भी हैं। वे पर्यावरण संरक्षण का संदेश देते हुए पाठकों को संवेदनशील बनाते हैं और उन्हें अपनी जिम्मेदारियों का अहसास कराते हैं। साहित्य के इस रूप ने पर्यावरणीय चेतना को नई दिशा दी है, जो भविष्य में

और भी प्रभावी हो सकती है। पर्यावरणीय संकट पर आधारित समकालीन कविता केवल कलात्मक सौंदर्य तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे समाज में जागरूकता लाने और चेतना उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। ये रचनाएँ पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता को बढ़ाने और प्रकृति के संरक्षण के लिए प्रेरित करने का कार्य कर रही हैं। आज जब जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण जैसे मुद्दे गंभीर होते जा रहे हैं, तो साहित्य की यह भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। समकालीन कवितायें पर्यावरणीय चेतना का एक प्रभावी माध्यम बन चुकी हैं, जो आने वाले समय में भी समाज को जागरूक करने और प्रकृति के संरक्षण की दिशा में प्रेरित करने में सहायक होंगी।

साहित्य और समाज का गहरा संबंध होता है, और समकालीन कविता में यह झलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कवि केवल भावनात्मक स्तर पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों में भी पर्यावरणीय संकट को उभार रहे हैं। पर्यावरणीय आंदोलनों, जनचेतना अभियानों और स्थानीय संघर्षों से प्रेरित कविताएँ साहित्य को एक नई दिशा दे रही हैं। इनमें संवेदनशीलता के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना भी है, जो साहित्य को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित न रखकर इसे सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बना रही है।

अंततः, यह स्पष्ट है कि समकालीन कविता और नवगीतों ने पर्यावरणीय चेतना को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये रचनाएँ केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं हैं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरक शक्ति भी हैं। जब कोई कविता जंगलों की कटाई का दर्द बयां करती है, यह साहित्य का प्रभाव ही है कि आज पर्यावरणीय मुद्दे केवल वैज्ञानिक चर्चा का विषय नहीं रहे, बल्कि वे आम जनमानस के विचारों और चर्चाओं का भी हिस्सा बन चुके हैं। समकालीन कविता समाज को न केवल संवेदनशील बनाती हैं, बल्कि उसे जागरूक और सक्रिय भी करती हैं। यही कारण है कि पर्यावरणीय चेतना को बढ़ाने और संरक्षण की दिशा में सार्थक बदलाव लाने के लिए साहित्यकारों की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

पर्यावरणीय संकट केवल वैज्ञानिक या राजनीतिक मुद्दा नहीं है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्श का भी हिस्सा बन चुका है। समकालीन कविताओ ने इस संकट की गंभीरता को उजागर करते हुए जनमानस को जागरूक करने का कार्य किया है। इन रचनाओं में न केवल पर्यावरणीय ह्रास का चित्रण किया गया है, बल्कि भविष्य के लिए चेतावनी भी दी गई है। साहित्य का यह पक्ष न केवल भावनात्मक रूप से बल्कि सामाजिक और राजनीतिक रूप से भी परिवर्तन लाने में सक्षम है। अतः साहित्यकारों, पाठकों और समाज को मिलकर इस दिशा में ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है।

"प्रकृति बचेगी, तभी बचेगा जीवन!"

अतः, प्रकृति प्रेम और संवेदनशीलता केवल एक व्यक्तिगत अनुभव नहीं है, बल्कि यह संपूर्ण मानवता के कल्याण से जुड़ा हुआ विषय है। जब हम प्रकृति के सौंदर्य का अनुभव करते हैं, उसकी रक्षा करने का संकल्प लेते हैं, और उसके साथ समरसता स्थापित करते हैं, तब हमारा जीवन अधिक संतुलित और सुखद बनता है। प्रकृति केवल बाहरी संसार का हिस्सा नहीं है, बल्कि यह हमारी आत्मा का भी प्रतिबिंब है। यदि हम प्रकृति के प्रति संवेदनशील रहेंगे, तो यह न केवल हमारे पर्यावरण को सुरक्षित रखेगा, बल्कि हमें भी मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध बनाएगा।

समकालीन कविता केवल पर्यावरणीय संकट का चित्रण करने तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे इस संकट के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को भी उजागर करती हैं। पर्यावरणीय असंतुलन केवल पेड़ों और नदियों की समस्या नहीं है, बल्कि यह समाज की विषमता, गरीबों के विस्थापन, किसानों की दुर्दशा और सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण का भी कारण बन रहा है। समकालीन साहित्यकारों की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे अपनी कविताओं के माध्यम से पर्यावरणीय चेतना को जागृत करें। जब साहित्य लोगों को प्रकृति से जोड़ने में सफल होगा, तब समाज भी अपनी जिम्मेदारी को समझेगा। यदि साहित्य, समाज और संस्कृति मिलकर पर्यावरण संरक्षण का कार्य करें, तो एक संतुलित और हरित भविष्य की कल्पना साकार हो सकती है। इसलिए, समकालीन कविता को केवल काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के साधन के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : reshamijhahindi@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. निराला, सुमित्रानंदन। प्रकृति और काव्य। वाणी प्रकाशन, 1955।
2. शास्त्री, त्रिलोचन। हिंदी कविता और पर्यावरण। राजकमल प्रकाशन, 1980।
3. शर्मा, रामविलास। भारतीय काव्यधारा में प्रकृति और पर्यावरण। लोकभारती प्रकाशन, 2001।
4. दुबे, विनय। नवगीत और समाज। भारतीय साहित्य मंदिर, 2015।
5. मुक्तिबोध, गजानन माधव। चेतना का पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य। साहित्य अकादमी, 1973।
6. सिंह, नामवर। आधुनिक कविता का यथार्थ। राजकमल प्रकाशन, 2007।
7. शर्मा, सुनीता। ''पर्यावरणीय चेतना और समकालीन हिंदी कविता।" हिंदी अध्ययन जर्नल, खंड 42, अंक 3, 2020, पृ. 78–92।
8. गुप्ता, अजय। ''नवगीतों में सामाजिक और पर्यावरणीय मुद्दे।'' भारतीय भाषा परिषद पत्रिका, खंड 55, अंक 2, 2018, पृ. 33–47।
9. सक्सेना, अनिता। ''हिंदी साहित्य में नदियों का स्वरूप और उनकी व्यथा।" साहित्य विमर्श पत्रिका, खंड 21, अंक 1, 2016, पृ. 12–29।
10. शर्मा, रेखा। ''समकालीन हिंदी कविता में पर्यावरण विमर्श''. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस इन्वेंशन, खंड 7, अंक 10, 2018, पृ. 68–73।
11. तिवारी, आलोक। ''पर्यावरण और हिंदी कविता का अंतर्संबंध।'' हिंदी साहित्य विमर्श, 5 मई 2021।
12. मिश्रा, राकेश। ''समकालीन हिंदी कविता में पर्यावरणीय चेतना.'' इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस इन्वेंशन, खंड 7, अंक 10, 2018, पृ. 68–73।
13. वर्मा, संजय। ''नवगीतों में पर्यावरणीय चेतना।" कविता कोश, 10 जुलाई 2019।
14. मियाँ, रहीम। ''समकालीन हिंदी कहानी में पर्यावरण विमर्श.'' अपनी माटी, 25 सितम्बर 2022।

Research Paper

Himanshi

Determinants of Women's Labour Force Participation in India: Evidence from NFHS-6

Abstract

The active involvement of women in the workforce serves as a critical barometer for both a nation's macroeconomic trajectory and its progress toward true gender parity. Paradoxically, while India has witnessed substantial, verifiable strides in women's educational attainment and overall health outcomes over the past few decades, the country's female labor force participation (FLFP) rate continues to lag significantly behind that of peer emerging economies. To investigate this persistent discrepancy, this paper empirically examines the major socio-economic determinants influencing women's participation in the Indian labor market, drawing on the latest unit-level data from the **National Family Health Survey-6 (NFHS-6)**.

By leveraging this comprehensive national dataset, the study systematically unpacks a complex web of micro-level determinants. It pays close attention to the intersectional impacts of educational attainment, marital transitions, household wealth quintiles, and fertility indicators on female employment probabilities. Furthermore, the research utilizes the robust demographic scope of the NFHS-6 to highlight the deep-rooted cultural expectations and the stark geographic disparities between rural and urban labor markets that frequently constrain women's professional opportunities. The paper concludes that broad-based economic growth alone is insufficient to bridge the gender employment gap. Instead, targeted, context-specific policy interventions—informed by contemporary household-level data—are urgently required to dismantle structural barriers, improve women's economic participation, and ultimately contribute to a trajectory of inclusive national growth.

Keywords

Women, Labour Force Participation, Employment, Gender, India.

Introduction

The integration of women into the formal workforce is universally recognized as a foundational pillar for comprehensive national development. When women are empowered to engage actively in economic activities, the benefits extend far beyond individual financial independence; it serves as a powerful catalyst for large-scale poverty eradication, elevated household living standards, and accelerated societal progress. A robust and diverse female workforce significantly amplifies a nation's overall productivity and strengthens its macroeconomic resilience.

However, the trajectory of the Indian economy presents a striking and widely studied paradox. Even as the nation has experienced periods of rapid macroeconomic expansion and significant structural transformations, India continues to grapple with persistently low and structurally stagnant rates of female labor force participation. This discrepancy stands in stark contrast to the country's impressive GDP growth and the notable improvements in female human capital. To untangle this complex dynamic, an examination of contemporary, large-scale demographic data is imperative. Drawing upon the

rich, multidimensional metrics provided by the **National Family Health Survey-6 (NFHS-6)**, this paper investigates the nuanced realities of women's economic engagement.

The NFHS-6 dataset offers an unprecedented, granular view into household-level dynamics across the Indian subcontinent. It allows for a rigorous empirical analysis that moves beyond broad macroeconomic aggregates, enabling researchers to explore exactly how individual and household characteristics—such as specific educational milestones, marital status, reproductive health metrics, and household asset ownership—directly shape female employment outcomes. Insights derived from this latest wave of survey data consistently underscore a concerning reality: despite rising educational parity, a vast majority of working-age Indian women remain conspicuously absent from the paid labor market.

This systemic economic exclusion is not the result of a single variable, but rather the consequence of a highly complex web of socio-economic and culturally entrenched barriers. Deep-seated patriarchal norms frequently assign women the primary burden of unpaid domestic and caregiving responsibilities, severely restricting their capacity to pursue formal employment. Furthermore, these cultural expectations are compounded by structural economic challenges, including persistent occupational segregation, significant gender wage gaps, and a broader scarcity of suitable employment opportunities that offer dignity and flexibility.

Addressing this chronic underrepresentation has evolved from a social justice issue into an urgent economic imperative. For India to fully harness its demographic dividend and transition toward a model of truly sustainable and inclusive growth, unlocking the economic potential of its female population is non-negotiable. Consequently, utilizing the robust empirical foundation of the NFHS-6 to cultivate a deep, data-driven understanding of the factors that dictate women's employment decisions is absolutely vital for policymakers and researchers tasked with designing effective, gender-responsive labor frameworks.

Objectives of the Study

1. To examine the factors affecting women's labour force participation in India.
2. To analyze the role of education and socio-economic characteristics.
3. To identify challenges faced by women in entering the labour market.
4. To suggest policy measures for improving female employment.

Dterminants of Women's Labour Force Participation

Education: The Gateway to Better Opportunities

Education fundamentally changes the kind of work a woman can access. When a woman achieves higher educational qualifications—such as a university degree or specialized vocational training—her path to the formal workforce opens up significantly. She becomes eligible for skilled, salaried positions that offer not just better pay, but also job security, benefits, and a safe working environment. Education doesn't just make a woman more employable; it boosts her confidence, increases her productivity, and gives her a stronger voice in household financial decisions. However, as noted earlier, education must be paired with the *right kind* of job creation, or else moderately educated women end up sitting on the sidelines because the available jobs don't match their skills or expectations.

Digital Inclusion: Bringing the Economy to the Smartphone

One of the most exciting and transformative findings from the NFHS-6 is the massive leap in digital access, with over 60% of women nationally now using the internet. In plain terms, the smartphone is acting as a great equalizer. Digital literacy removes traditional physical barriers that have historically kept women at home. With an internet connection, a woman doesn't necessarily have to navigate unsafe commutes or rigid office hours. She can access freelance gig work, run a home-based e-commerce business, or learn new marketable skills through online courses. Furthermore, digital inclusion means direct access to mobile banking and digital credit, empowering women to manage their own money and invest in entrepreneurial ventures straight from their living rooms.

Marital Status and the Weight of Family Responsibilities

In many ways, the biggest competitor to a

woman's professional career is her unpaid work at home. Marriage and the arrival of children drastically alter a woman's relationship with the labor market. Society still overwhelmingly views childcare, cooking, cleaning, and eldercare as a woman's primary responsibility. Because these tasks take up hours of the day and require constant attention, many women are forced to drop out of paid employment once they get married or have a baby. Unless workplaces offer extreme flexibility, remote work options, or affordable childcare solutions, the sheer exhaustion of trying to manage a full-time job alongside full-time household duties forces millions of capable women to leave the workforce entirely.

The Household Income Paradox

You might assume that as families get wealthier, more women would work, but the reality in India often shows the exact opposite. For women in lower-income households, working is a matter of basic survival. They often take on strenuous, informal labor—like construction work, domestic help, or street vending—simply to ensure their families can eat.

However, as a household's income rises and the family reaches the middle class, women frequently withdraw from the labor market. This happens because the family no longer *needs* her income to survive. In many communities, a family's ability to live comfortably on a single (usually male) income is seen as a badge of honor and a symbol of high social status. Unless the woman can secure a highly prestigious, well-paying job, the social pressure dictates that she should stay home and manage the household rather than work for an average wage.

The Rural-Urban Divide: Two Different Worlds of Work

Where a woman lives dictates the type of work available to her. In **rural areas**, female labor force participation often looks higher, but this is largely because women are deeply involved in agriculture. The family farm or local livestock rearing provides work that is right outside their door. It is culturally acceptable and flexible enough to weave between household chores, even though this work is frequently underpaid or completely unpaid.

In **urban areas**, the labor market is entirely different. The city offers formal, salaried employment, but these jobs require specific educational credentials, strict 9-to-5 schedules, and daily commutes. For an urban woman, taking a job means calculating the cost of safe transportation, the cost of daycare for her children, and navigating workplaces that may not be flexible. If the math doesn't add up, or if the commute is deemed unsafe, urban women are highly likely to opt out of the workforce, leading to surprisingly low female participation rates in India's booming cities.

Systemic Challenges and Barriers to Entry

- **Gender Wage Disparities:** The persistent gender pay gap leaves women underpaid compared to men for the same work, heavily reducing their economic incentive to seek employment.
- **Unpaid Care Work:** Deep-seated social expectations burden women with the overwhelming majority of cooking, cleaning, and eldercare, creating severe "time poverty."
- **Workplace Discrimination:** Implicit employer bias—including a hesitation to hire women due to potential maternity leave—actively stalls female hiring and career advancement.
- **Limited Childcare Facilities:** A severe shortage of affordable, reliable, and safe daycare options forces many working mothers to drop out of the workforce during their peak career years.
- **Skill Mismatch:** A disconnect exists between traditional educational qualifications held by many women and the highly technical, specialized skills demanded by the modern job market.
- **Safety and Mobility Concerns:** The pervasive fear of harassment on public transit and poorly lit streets restricts the physical radius within which a woman can safely travel for work.

Strategic Policy Interventions for Inclusive Growth

- **Leverage the Internet Boom for Remote Work:** Capitalize on the massive jump in female internet usage (now 64.3% according to NFHS-6) by aggressively promoting home-based gig-economy platforms and online vocational training.
- **Transform Bank Accounts into Business Capital:** Utilize the high rate of female bank

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

account ownership (89% in NFHS-6) to automatically offer collateral-free microloans and direct benefit transfers for women-led startups.

- **Build Mobile-First Entrepreneurship Ecosystems:** Take advantage of rising female mobile phone ownership (63.6%) by developing state-sponsored, app-based marketplaces that allow women to manage small businesses without needing physical storefronts.
- **Link Institutional Healthcare to Childcare Infrastructure:** Build upon India's successful push for institutional deliveries and maternal health by integrating affordable, state-subsidized crèches near major public health and community centers to support new mothers returning to work.
- **Realign Education with Market Demand:** Address the paradox where rising educational attainment is not translating into jobs by shifting the curriculum from general degrees toward technical, private-sector-aligned skills for adolescent girls.
- **Target the "Time Poverty" from Reproductive Care:** Further expand access to modern family planning and early childhood nutrition programs to reduce the heavy burden of unpaid reproductive and domestic care, freeing up women's time for paid employment.

Conclusion

The active inclusion of women in the labor force is not merely a metric of social equity; it is an indispensable engine for India's pursuit of sustainable, inclusive, and accelerated macroeconomic growth. The latest empirical evidence drawn from the National Family Health Survey-6 (NFHS-6) paints a landscape of immense, untapped potential, characterized by unprecedented milestones in female human capital. With surging rates of digital literacy, expanded mobile phone ownership, and notable advancements in overall health and educational attainment, the foundational prerequisites for women's robust economic integration have never been stronger. These developmental triumphs have theoretically positioned millions of Indian women to transition from the domestic sphere into the core of the modern economy.

Nevertheless, the realization of this demographic dividend remains severely obstructed by deeply entrenched structural and cultural barriers. As the analysis demonstrates, favorable individual metrics—such as holding a degree or owning a smartphone—are frequently neutralized by systemic institutional failures and rigid patriarchal norms. The disproportionate and uncompensated burden of unpaid domestic care work, restrictive social expectations regarding female mobility, and persistent labor market inequalities continue to force a vast majority of capable women to remain outside the paid workforce. Furthermore, the pervasive mismatch between traditional educational qualifications and the specific demands of the contemporary job market, coupled with unsafe commuting environments, exacerbates this crisis of economic underutilization.

Ultimately, bridging the profound chasm between women's growing capabilities and their actual labor market participation demands a radical, multi-dimensional policy paradigm. Incremental or isolated interventions are insufficient; the state, private sector, and civil society must collaborate to implement a comprehensive, structural framework. This entails aggressively realigning educational curricula with market-driven skill development, leveraging new digital access to create tangible, flexible employment opportunities, and institutionalizing affordable childcare to relieve the crippling burden of domestic labor. By actively dismantling these systemic barriers and fostering genuinely supportive, safe, and equitable work environments, India can fully unlock the latent economic power of its female citizens, thereby securing a definitive trajectory toward true national prosperity and gender parity.

Research Scholar
University of Delhi

References

1. National Family Health Survey-6, Ministry of Health and Family Welfare.
2. International Labour Organization (ILO), Women and Employment Reports.
3. World Bank, Gender and Development Reports.
4. OECD Studies on Female Labour Force Participation.
5. Periodic Labour Force Survey (PLFS),

Research Paper

Bhupendra*

Paritosh**

Governance of Urban Food Security in India: State Capacity and Welfare Outcomes

Abstract

Food security in urban areas in India is becoming a fragile aspect of the Indian welfare system. The National Food Security Act (NFSA), 2013 provides for extending statutory coverage to 50% of the urban population, but the institutional design of food security governance remains largely rural based and has limited capability to respond to urban vulnerabilities, with the urban local bodies (ULBs) having limited statutory responsibilities, fiscal capacity and administrative resources. This paper explores urban food security governance from the perspective of state capacity – defined as the administration, financial, infrastructural and coordination resources of government institutions to effectively implement welfare policy. The paper utilizes a secondary analysis of government reports, parliamentary proceedings, and peer-reviewed literature to examine the institutional structures linking the central Public Distribution System (PDS), state-level agencies, and municipal governments and how differences in state capacity impact differences in welfare outcomes. The analysis shows that decentralised reforms in Chhattisgarh and universalised coverage model in TN are associated with better performance compared to other states where reforms or coverage have been less successful, such as UP, highlighting that the state's administrative capacity and political will is a better determinant of outcomes than financial resources. The paper also explores the One Nation One Ration Card (ONORC) scheme which is a technology-based coordination reform to tackle migrant food insecurity and also highlights the lack of digital infrastructure and empowerment of the ULBs. It summarizes that in order to enhance urban food security, the focus needs to shift from the state to the governance institutions of cities, such as fiscal devolution to municipal governments, better beneficiary targeting and better coordination between the different levels of government.

Keywords

urban food security, state capacity, Public Distribution System, National Food Security Act, urban governance, welfare outcomes, India

Introduction

The geography of food insecurity has changed in India with the rapid urbanisation of the country. With the bulk of population in the countryside at the time of independence, food security policy has traditionally been heavily rural-centric, but the proportion of urban residents living in informal settlements, with no secure shelter, regular work or access to formal welfare benefits has been on the rise (Understanding Urban Food Insecurity in India, 2021). According to the World Food Programme, the number of food insecure people in India rose to 224 million in 2021-2022 (Right to Food and the Struggle with the PDS, 2025) and India's food security situation was classified as 'serious' to 105th position in the Global Hunger Index 2024 (Food Security in India, 2025). These national statistics camouflage a very urban aspect of insecurity which is not related to the productivity of agriculture,

but rather to governance failures such as insecure 'ration' registration for migrants, limited powers of municipal governments over the delivery of welfare services and administrative complexity in providing services to a transient urban poor population.

The food security system in India is hinged on the Public Distribution System (PDS), a mechanism that involves the central government primarily through the Food Corporation of India (FCI), acquiring grain from states and then allocating it to the beneficiaries; states determine the beneficiaries, provide ration cards and are responsible for the distribution at the last mile through Fair Price Shops (Right to Food and the Struggle with the PDS, 2025). It puts a great delivery burden on sub-national governments with widely diverging capacities. The NFSA, 2013, turned this welfare system into a right, benefiting up to 75% of the rural population and 50% of the urban population, which is approximately 81.35 crore by the 2011 Census data (The Food Security Act and PDS, n.d.). However, the low urban ceiling and the kinds of administrative policies made for relatively stable rural populations have resulted in a chronic urban deficit.

The third tier of government under the 74th Constitutional Amendment Act, 1992, the Urban Local Bodies (ULBs), have a marginal statutory role in food security and this has been confined to the state level (Urban Local Bodies, 2026). This results in a governance mismatch: institutions near the people at the local food level lack the authority and capacity to act while institutions that have a formal mandate operate at a scale beyond the hyper-local space. This paper examines this mismatch using the lens of state capacity: What is the impact of differences in administrative, fiscal and coordination capacities of state and municipal institutions on the welfare of the urban poor in India? It summarizes literature on the subject, establishes a state capacity framework, outlines the institutional structure of urban food security governance, compares the capacity and outcomes across states, evaluates the national welfare indicators, and summarizes policy recommendations.

Conceptual Framework: State Capacity and Welfare Outcomes

In this paper, state capacity is defined as being made up of four interrelated elements relating to welfare governance: administrative capacity (the capacity to identify those who are eligible for welfare and to monitor their delivery with little leakage or exclusion error); fiscal capacity (the financial resources available relative to the responsibilities given to the state); infrastructural capacity (the physical and digital systems through which the transfer of welfare is made, such as Fair Price Shops and beneficiary databases); and coordination capacity (the capacity for central, state, and local governments to coordinate without omissions or duplication).

The structural feature that emerges is the inverse relationship between the level of capacity within each of the four dimensions and the level of government that is closest to the food-insecure population of cities—municipal government. Applying this framework to urban food security brings up another structural feature: the tier of government which is closest to the food-insecure populations in urban areas is least capable in all four dimensions, while the tier of government that has the highest capacity often lacks localized information to respond to specific urban vulnerabilities like informal settlements or migrant labor colonies. This alignment of capacity mismatch is one of the key explanatory factors of delivery gaps in urban areas, irrespective of the level of welfare spending, and indicates that states with more capacity and greater decentralization, digitization, monitoring and oversight should experience better performance, even if they do not increase their budgets proportionately, and that states with the same capacity and weaker oversight should continue to experience higher leakage. This is reflected in the evidence of the case below.

Research Objectives

This paper aims at three things:

(1) Mapping the institutional architecture in formulation and implementation of urban food security policy at the central, state and urban level

(2) Assess the impact that variation in state capacity has on urban welfare outcomes using comparative state level evidence

(3) Identify potential governance reforms that could further strengthen the urban dimension to India's

food security architecture, focusing on ULBs and migrant inclusive mechanisms, like ONORC.

Methodology

The present paper is a qualitative study, relying on government reports and press releases from the Ministry of Consumer Affairs Food and Public Distribution, year end reviews of the Department, peer-reviewed journal articles and policy analysis by the research institutions. The state comparisons presented here – Chhattisgarh, Tamil Nadu and Uttar Pradesh – are illustrative cases that are well captured in secondary literature as being different governance experiences under a shared national policy framework, while keeping the formal legal architecture the same. This is in line with comparative case study approaches employed by subnational governance studies, which offer natural variation in the quality of implementation of a common national policy in federal systems. No primary data is used in the paper which is a recognized weakness mentioned in the conclusion.

Institutional Architecture of Urban Food Security Governance

Food security governance is a multi-level, federal system in India. Under NFSA, the central government purchases grain at minimum support prices, keeps buffer stocks and dispatches grain quotas to the states through the FCI (Year-End Review of Department of Food and Public Distribution, 2024). The Cabinet Committee on Economic Affairs extended the free distribution of food grains under the Pradhan Mantri Garib Kalyan Anna Yojana (PMGKAY) by five years, from January 2024, with an estimated cost of Rs. 11.80 lakh crore, which will benefit 78.90 crore beneficiaries by October 2025 (Securing Every Plate, n.d.).

State governments are at the core, determining who is eligible, issuing ration cards, making intra-state decisions regarding allocation, and supervising Fair Price Shops (SARTHAK-PDS Scheme, n.d.). This leaves room for considerable discretion for states: the same national entitlement can be carried out with a varying level of rigor and monitoring intensity that is dependent upon the capacity and political will of the states, as discussed further below.

Although physically close to urban food insecure population, ULBs remain on the margins. The 74th Amendment added urban planning, public health and slum improvement powers to the Twelfth Schedule of the Constitution, but did not give municipalities a role in the food security delivery itself, which was to be undertaken by state civil supplies departments (Urban Local Bodies, 2026). This creates a structural disconnect; those institutions with the best information on where urban food insecurity is concentrated are not given the mandate, resources or personnel to act on that knowledge in the food security system.

A second layer is ONORC, which facilitates beneficiaries to access ration cards from any FPS across the country, and by 2024, over 95% of FPS outlets will be integrated under ONORC (India's Elusive Safety Net for Migrant Labourers, 2025). The scheme has successfully undertaken over 158.8 crore portability transactions since its launch in 2019 and thus facilitated the distribution of more than 315.8 lakh metric tonnes of grain to the mobile beneficiaries (One Nation One Ration Card, 2026). ONORC is not a restructuring of institutional powers but just a technological layer over the existing PDS implemented by the state and does not eliminate the coverage gap between urban and rural areas in the NFSA.

Comparative State Capacity and Welfare Outcomes

Administrative Capacity and Decentralization

The example of the reform of PDS in Chhattisgarh shows that it is not just fiscal resources that matter but also administrative capacity. It decentralized administrative control to the local communities and adopted technology to track the movement of grain from procurement to distribution resulting in a leakage of only about 9%, which is among the lowest in the country, and almost universal coverage, with a poverty reduction of 39% (Food Security Initiatives in India, n.d.). With respect to Tamil Nadu, they had followed another path having the political commitment for universal coverage, not selective coverage. This decrease in leakage has been correlated with a 61% poverty reduction (Food Security Initiatives in India, n.d.) and has been reduced to approximately 12%. Both mechanisms – decentralization and sustained universalization – are intentional investments in administrative capacity and monitoring, not just a

greater allocation of grain.

The contrasting case is Uttar Pradesh, which has high leakage of PDS despite having one of the highest absolute grain quotas in comparison to population of the state, among other states. This is attributed to the lack of accountability and administrative capacity at the state and district level, not to lack of central allocation (Food Security Initiatives in India, n.d.). This shows that resource size is not always a good indicator of outcomes; the quality of the administrative machinery at the state level seems to be at least as important.

Fiscal Capacity at the Municipal Level

Even if there were local political will to address urban food security, the weak position of the ULB in a municipal context limits the ability to really make a difference. The share of municipal revenues as a percentage of GDP in India decreased from 1.08% in 2007-08 to 0.72% in 2019-20, whereas in South Africa the proportion is 6%, Brazil 7.4%, United Kingdom 13.9% and Norway 14.2% (as of 2010) (The Role of the Central Government in Strengthening Urban Local Self-Governance, 2024). ULBs are also subject to inconsistent transfers from the States and have limited control over the property tax rates and user charges which are often determined by States, and lack the capacity to plan as evidenced in the assessments of national renewal missions (Full Article: Urban Governance in India, n.d.). From here, the development of food entitlements through informational channels must be linked to ULBs, but remains absent.

The ONORC Case is a coordination capacity drill. The ONORC Case is a coordination capacity exercise.

ONORC exemplifies the capacity of coordination as a solution to the food insecurity of migrants and its potential and its limits. It has facilitated portability across jurisdictions, thereby solving a coordination problem which, in the past, left migrants working outside their home jurisdiction outside the system, and with over 158.8 crore transactions since 2019, has shown that there is significant latent demand (One Nation One Ration Card, 2026). But researchers find that there remains an unfinished agenda: the incomplete digitalization, differences between states of how to reconcile allocation data, and the failure to register in complementary systems like the e-Shram portal, which registered just 280 million workers by mid-2024, given the much larger population of workers to be covered. The absence of administrative capacity for the identification and registration of the urban poor, especially its mobile and informally employed population cannot be completely offset by technological coordination.

Welfare Outcomes: Evidence from National Indicators

There are some aggregate indicators which give context, but most are not disaggregated by urban governance quality specifically. India has moved up one position to 105th rank out of 127 countries in 2024 GHI, and is categorized under the 'serious' tier in comparison with 111th rank in 2023 (Food Security in India, 2025). Despite the scale of the programs, the nutritional situation of vulnerable groups is a serious concern, as the 2023 index showed 18.7% child wasting, which is the highest percentage recorded globally, while 16.6% national undernourishment and 58.1% anemia among women aged 15-24 were registered (Food Security in India, 2025).

Meanwhile, coverage data indicate significant coverage as 78.90 crore beneficiaries were provided free grain under the NFSA till October 2025 (Securing Every Plate, n.d.) and the PDS has historically covered around 800 million people with grain provided at ₹ 1 to ₹ 3 per kg (Food Security in India, 2025). The broader coverage alongside the persistent poor hunger status indicates that the problem is moving towards poor quality and reliability of delivery, not the amount of central commitment, which is already very high. This helps to validate the framework's assertion that results are more closely aligned with governance quality than overall allocation. This has been confirmed by the continued technology-enabled reform in PDS, which the government recently approved, and is expected to be implemented with an outlay of ₹ 25,530 crore for 2026-31 with the aim of digitizing PDS operations and building on previous reforms such as point-of-sale and Aadhaar seeding (SARTHAK-PDS Scheme, n.d.). This was because

the government had already confirmed that capacity — administrative and infrastructural — remains the primary constraint on outcomes of the NFSA and is not grain volumes.

Persistent Challenges in Urban Food Security Governance

The Urban-Rural Coverage Asymmetry

The NFSA perpetrates an asymmetry where it covers 75% of rural population and 50% of urban population (The Food Security Act and PDS, n.d.). This ceiling, based on the 2013 poverty estimates, leaves doubt about its adequacy in the light of the growth of urban informal employment and the increase in urban population since the 2013 poverty estimates were created, especially when poverty in urban informal settlements and among migrants is often underestimated using traditional poverty-line definitions.

Informal Settlements, Migrant Mobility, and ULB Capacity Deficits

The phenomenon of urban food insecurity is focused in informal settlements, and the documentation of a stable address for registration of ration cards, a structural exclusion risk, is not usually available for these communities, unlike the situation in rural areas where documentation of a stable address is more likely to exist within longer-established structures of community and revenue. Migrant communities are particularly vulnerable to this exclusion due to weak governance and inadequate resource allocation in urban areas, and informal settlements are frequently the direct result of a lack of capacity in urban planning (Understanding Urban Food Insecurity in India, 2021). While there are complementary identification systems in place that capture an estimated 450-500 million internal migrants, the majority of these are only partially accounted for, due to the incomplete rollout of e-Shram and persisting inter-state bureaucratic tensions, with circular and seasonal migrants in construction, domestic work and informal trades most likely to be left without proper identification (One Nation One Ration Card, 2026; India's Elusive Safety Net for Migrant Labourers, 2025).

This is based on underlying capacity gap in the ULBs themselves that have less fiscal autonomy in comparison to their already nominal responsibilities like slum improvement. Pre-conditions for any more effective role of municipalities in addressing food insecurity have been called for by analysts, including improvements in vulnerable population monitoring and migrant movements in real time, and better accountability of civic functionaries. (Fixing the Foundations, 2025) The second challenge is institutional fragmentation, where parastatal urban development authorities often work in parallel with elected municipal governments and have overlapping jurisdictions, such that there is no clear jurisdiction over food security outcomes (Urban Local Bodies, 2026). In the absence of such capacity-building and consolidation, ULBs are unlikely to be central to a system that is managed at the state level from a scale that is not well matched with the scale of need at the neighborhood level.

Policy Recommendations

On the basis of the foregoing analysis, the paper recommends five ways to improve the capacity of the state in the governance of food security in cities.

First, the statutory role of the ULB should be more clearly defined with regard to identification of vulnerable urban populations, including the residents of informal settlements and migrant workers, by including ULB in the urban beneficiary identification process, where the identification of vulnerable groups is currently left to state civil supplies departments which do not have much presence in the neighbourhoods.

Second, fiscal devolution to municipalities should be enhanced and made more predictable, in line with the documented reduction of municipal revenue share in GDP, and expand the scope of municipal authority in shaping property tax rates and user charges to support the administrative capacity needed by an expanded welfare role of municipalities (The Role of the Central Government in Strengthening Urban Local Self-Governance, 2024).

Third, the urban coverage ceiling for NFSA must be revisited in view of the urbanization experienced since 2013 and the fact that the current urban food insecurity and poverty data are likely to be an

undercount.

Fourth, the identification systems for migrants, including e-Shram, should be broadened and better connected to the portability system of ONORC so that migration of migrants into one system is more likely to result in their being registered in the other, thereby narrowing the divide between the high number of ONORC transactions and the significant population of migrants not yet formally registered in the system.

Fifth, the administrative reform that has been demonstrated in other states should be systematically documented and provided to states where leakage rates have remained high despite political commitment to coverage and oversight, and technology to borrow and track grain. Institutionalization of such practices at national level can therefore be facilitated through the SARTHAK-PDS modernization scheme which can be accompanied by political commitment by the states to monitor and supervise the scheme (SARTHAK-PDS Scheme, n.d.).

Conclusion

In this paper, urban food security governance in India has been explored using a prism of state capacity, by arguing that the difference between a high degree of programmatic commitment to food security and still low performance on hunger indices is not just a function of scale of central allocation, but also articulation of its administrative, fiscal and coordination capacities at various government levels. The institutional architecture embeds the highest formal power in the state governments and leaves ULB as a marginal actor with little fiscal and administrative power, even though the latter is constitutionally recognized and has a closer relationship with urban vulnerability. Comparative state evidence from the high leakage rates in UP and the low rates in Chhattisgarh and TN suggests that the link between good governance and political commitment to good governance and welfare outcomes is more reliable than that between fiscal allocation and welfare outcomes, alone. Overall, ONORC demonstrates how technology can be used to complement targeted coordination reforms to meaningfully assist specific vulnerable groups like migrants, while also providing a glimpse of the administrative capacity building needed for urban food security governance in the long-term.

The current analysis has certain limitations which need to be addressed in future research. It is based solely on secondary sources, and does not use primary field work, household surveys, or interviews with the municipal officials and the beneficiaries that would allow for a more detailed understanding of the link between state capacity and the lived experience on the neighbourhood level. The comparative state cases are well documented, but are chosen illustratively and not systematically compared across all 50 states and so findings should be interpreted as suggestive and not definitive. National hunger and nutrition scores, furthermore, do not disaggregate in a way that separates the effect of urban governance quality from other determinants of outcomes. These arguments are strengthened by future research which would use primary data from a larger, more systematically sampled set of Indian cities coupled with quantitative indicators of municipal administrative capacity. Despite these constraints, the analysis indicates the need for future reforms to focus on the centrality of ULB empowerment and a migrant-inclusive identification systems as integral, not peripheral, components of the urban food security policy in India.

***Research Scholar**
Department of Political Science and Public Administration
Banasthali Vidyapith, Rajasthan
Email: bhupendraprajapat0001@gmail.com
****Research Scholar**
Department of Continuing Education & Extension, Faculty of Social Sciences, University of Delhi
Email: 8paritosh@gmail.com

References:

1. Department of Food and Public Distribution. (2024). *Year-end review 2024: Department of Food and Public Distribution*. Government of India. https://dfpd.gov.in
2. Department of Food and Public Distribution.

(2025). *Securing every plate: Strengthening India's food security system*. Government of India. https://dfpd.gov.in
3. Government of India. (2013). *The National Food Security Act, 2013* (Act No. 20 of 2013). https://www.indiacode.nic.in
4. Government of India. (2024). *One Nation One Ration Card (ONORC): Progress report*. https://dfpd.gov.in
5. Government of India. (2025). *SARTHAK-PDS Scheme: Modernisation of the Public Distribution System*. Government of India. https://dfpd.gov.in
6. Government of India. (2024). *The role of the central government in strengthening urban local self-governance*. https://mohua.gov.in
7. Government of India. (2026). *Urban Local Bodies in India: Institutional framework and governance*. https://mohua.gov.in
8. Food and Agriculture Organization of the United Nations. (2023). *The State of Food Security and Nutrition in the World 2023*. FAO. https://www.fao.org
9. Global Hunger Index. (2024). *Global Hunger Index 2024*. https://www.globalhungerindex.org
10. National Sample Survey Office. (2023). *Household Consumption Expenditure Survey*. Ministry of Statistics and Programme Implementation. https://mospi.gov.in
11. NITI Aayog. (2023). *National Multidimensional Poverty Index: A progress review*. https://www.niti.gov.in
12. Reserve Bank of India. (2024). *Report on municipal finances*. https://rbi.org.in
13. World Food Programme. (2022). *Global Report on Food Crises 2022*. https://www.wfp.org
14. Dreze, J., & Khera, R. (2015). Understanding leakages in the Public Distribution System. *Economic and Political Weekly, 50*(7), 39–42.
15. Dreze, J., & Khera, R. (2017). Recent social security initiatives in India. *World Development, 98*, 555–572.
16. Khera, R. (2011). India's Public Distribution System: Utilisation and impact. *Journal of Development Studies, 47*(7), 1038–1060.
17. Khera, R. (2020). One Nation One Ration Card: An assessment of portability and food security. *Economic and Political Weekly, 55*(43), 14–18.
18. Mohanty, P. K. (2024). Urban governance and municipal finance in India. *Indian Journal of Public Administration, 70*(2), 205–224.
19. Nanda, P. (2025). Fixing the foundations: Strengthening municipal governance in India. *Observer Research Foundation Issue Brief*.
20. Singh, S., & Bhan, G. (2021). Understanding urban food insecurity in India. *Centre for Policy Research Working Paper*.
21. Swaminathan, M. (2002). *Weakening welfare: The Public Distribution of Food in India*. LeftWord Books.
22. Swaminathan, M., & Misra, N. (2021). Right to food and the Public Distribution System in India. *Indian Journal of Human Development, 15*(2), 187–204.
23. United Nations Human Settlements Programme. (2022). *World Cities Report 2022: Envisaging the future of cities*. UN-Habitat. https://unhabitat.org

अशोक के फूल के आधार पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि

मोहम्मद आजम

प्रस्तावना

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी निर्विवाद रूप से छायावादोत्तर निबंधकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। द्विवेदी जी के निबंधों की आधार भूमि भारतीय संस्कृति है। किसी भी पुष्प, पौधे, पशु या पक्षी को माध्यम बनाकर एक मनोरम भाव भूमि की सृष्टि करते हुए भारत के अतीत और वर्तमान सांस्कृतिक जीवन की सरलता को छू लेना द्विवेदी जी के लिए एक सहज व्यापार है। आपकी दृष्टि में साहित्य एवं जीवन की हर समस्या का एक सांस्कृतिक पहलू है जिसकी जानकारी समस्या के उचित समाधान के लिए आवश्यक है। दिवेदी जी के श्रेष्ठ निबंधों में आत्म-व्यंजना का तत्व प्रधान है, इसलिए विषय माध्यम के रूप में सामने रहता है और आपका व्यक्तित्व धीरे-धीरे उभर कर पाठक के मन पर छा जाता है।

निबंधकार हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के सांस्कृतिक एवं ललित निबंधकार के रूप में माने जाते हैं। वे हिंदी के महान गद्य लेखकों में से एक हैं। उनका अध्ययन क्षेत्र व्यापक एवं विशद था। द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबंध संग्रह इस प्रकार हैं— अशोक के फूल (1948), कल्पलता (1951), मध्यकालीन धर्मसाधना (1952), विचार और वितर्क (1957), विचार प्रवाह (1959), कुटज (1964), साहित्य सहचर (1965) तथा आलोक पर्व (1972) प्रसिद्ध निबंध संग्रह हैं। द्विवेदी जी के सम्पूर्ण रचनाओं का संग्रह ''हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली'' शीर्षक से 11 खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। इनमें आठवें और नवें खण्डों में द्विवेदी जी के समस्त निबन्ध संकलित हैं। द्विवेदी जी के निबंधों में विचारात्मकता, भावात्मक, आत्म-व्यंजक, कथात्मक, वर्णनात्मक, आदि सभी शैली तत्व मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त भाषण शैली की प्रवाहमयता, उद्धरण-बहुलता, अंत:स्तरीयता एवं सजीवता भी द्विवेदी जी के निबन्धों की रमणीयता के प्रमुख कारण हैं। द्विवेदी जी के चिंतन का केंद्रीय विषय 'मनुष्य' है। मनुष्य की जययात्रा पर द्विवेदी जी का अखण्ड विश्वास है। द्विवेदी जी साहित्य में मनुष्य को स्थान देते हुए कहते हैं कि-''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दु:ख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'' मनुष्य की जययात्रा पर द्विवेदी जी का अखंड विश्वास है संस्कृति, धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा समस्त कला साधनाएं मनुष्य की जययात्रा के विजय उदघोष हैं। अपरिमेय जिजीविषा से प्रेरित मनुष्य निरंतर आगे बढ़ रहा है जड़ता के अनेक स्तरों को तोड़कर वह चिन्मय तत्व की उपलब्धि के लिए अग्रसर है। द्विवेदी जी ने इसी मनुष्य उसके पूरे सांस्कृतिक-ऐतिहासिक परिवेश में मूर्त करने का प्रयत्न किया है। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' के बाद हिंदी निबंध को नवीन मोड़ देकर आचार्य द्विवेदी ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। ललित और आत्म-व्यंजना की दृष्टि से आपका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। अशोक के फूल, नाखून क्यों बढ़ते हैं, देवदारु, कुटज, बसंत आ गया है, वर्षा धनपति से धनश्याम तक, मेरी जन्मभूमि, घर जोड़ने की माया आदि निबंध हिंदी साहित्य में क्लासिक बन गए हैं।

संस्कृति से तात्पर्य

संस्कृति मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों, आचार-विचार और कार्य अनुष्ठानों की समष्टि का

नाम है। हिंदी भाषा के विद्वान प्रोफेसर हरिमोहन के अनुसार–''संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का स्वनानुवाद है। कल्चर शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में प्राय: कृषि एवं पशुपालन के लिए हुआ है। संस्कृत शब्द की उत्पति सम उपसर्ग पूर्वक धातु से क्तनि प्रत्यय लगाकर हुई है। अत: संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है 'उत्तम प्रकार से किया गया कार्य'। सामान्यता समाज में रहने वाले शिक्षित मनुष्य के सभी साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक विचारों और कार्यकलापों को संस्कृति के अंतर्गत गिना जाता है। संस्कृति को लेकर हिंदी विद्वानों के विचार इस प्रकार है।

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति के संबंध में रामधारी सिंह दिनकर अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि–''संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और इसकी नैतिक उन्नति है, एक दूसरे के साथ सब व्यवहार है और दूसरों को समझने की शक्ति है।'' (संस्कृति के चार अध्याय–) दिनकर के अन्य शब्दों में–''संस्कृति हमारे जीवन में छाया हुआ एक आत्मिक गुण जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है जिस तरह फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं अपितु युग युगांतर में होता है।''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आचार्य द्विवेदी अपने निबंध 'अशोक के फूल' में लिखते हैं कि–''संस्कृति की विविध साधना की सर्वोत्तम परिणति है।'' (अशोक के फूल)

कवि सुमित्रानंदन पंत के अनुसार–हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद के 4 स्तम्भों में से एक महत्वपूर्ण स्तम्भ सुमित्रानंदन पंत संस्कृति के विषय में लिखते हैं कि ''संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ। जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म स्थल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे उच्च चेतना–शिखर का प्रकाश और सामाजिक जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुम्फित है। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि, रीति तथा व्यवहारों को सौंदर्य भी एक अंतर–सामंजस्य ग्रहण कर लेता है। संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुचिर कहना चाहिए।

हिंदी साहित्य कोश में संस्कृति को कहा गया है कि–''विभिन्न शास्त्रों, दर्शनों आदि में होने वाले चिंतन साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परिष्कृत साधन आदि बौद्धिक आदर्शों तथा व्यापार को संस्कृति कहा जाता है।''

इस प्रकार हमने संस्कृति का तात्पर्य जाना कि संस्कृति क्या है। अब हमें हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि को समझने में सहायता मिलेगी।

अशोक के फूल के आधार पर द्विवेदी जी की सांस्कृतिक दृष्टि

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध अशोक के फूल एक महत्वपूर्ण निबंध है जो 1948 में प्रकाशित हुआ था। द्विवेदी जी ने अशोक के फूल में भारतीय संस्कृति पर विस्तार से चर्चा की है। वह जो लोग भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं उनके बारे में भी विचार करते हैं। डॉ. नामवर सिंह अशोक के फूल का महत्व प्रतिपादित करते हुए अपने निबंध संस्कृति और सौंदर्य में लिखते हैं कि–''अशोक के फूल केवल एक फूल की कहानी नहीं, भारतीय संस्कृति का एक अध्याय है और इस अध्याय का आत्मलेख पढ़ने वाले हिंदी में पहले व्यक्ति हैं हजारी प्रसाद द्विवेदी। पहली बार उन्हें यह अनुभव हुआ कि एक–एक फूल, एक–एक पशु, एक–एक पक्षी ना जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। अशोक की भी अपनी स्मृति परम्परा है। आम की भी, बबूल की भी, चंपे की भी'' (संस्कृति और सौंदर्य, नामवर सिंह)।

ललित निबंध लिखने वाले कई लेखक निकल आए हैं लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'अशोक के फूल' आज भी अपनी जगह पर है। भारत को महामानव सागर कहने वाले रवींद्रनाथ ठाकुर एक अरसे से यह बताते आ रहे थे कि जिसे हम हिंदू रीतिनीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येत्तर उपादानों का मिश्रण है, किन्तु यही संदेश अशोक के फूल के माध्यम से सामने आया तो उसकी चोट कुछ और ही थी। क्या इसलिए कि वह मनोजन्मा कन्दर्प के धनुष से छूटे है? फूल की मार कितनी गहरी हो सकती है इसका एहसास कराने के लिए अशोक के फूल की ये लाइनें इस प्रकार है–''देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है सब कुछ में मिलावट है सब कुछ अभी शुद्ध है'' (अशोक के फूल)। इन्हीं पंक्तियों के महत्व को आधार बनाकर नामवर सिंह अपने निबंध संस्कृति और सौंदर्य में लिखते हैं कि–''सच कहा जाए तो आर्य संस्कृति की शुद्धता के अहंकार पर चोट करने के लिए अशोक के फूल लिखा गया, प्रकृति वर्णन करने के लिए नहीं। यह निबंध द्विवेदी जी के शुद्ध पुष्प–प्रेम का प्रमाण नहीं

बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि का अनूठा दस्तावेज है।'' (संस्कृति और सौंदर्य -नामवर सिंह)।

अज्ञेय जहाँ संस्कृति की केवल संग्राहता की हिमायत करते हैं वहाँ द्विवेदी जी त्याग का जिक्र करना नहीं भूलते। अशोक के फूल में भी उसी अनुच्छेद के अंतर्गत एक हट्टा की तरह मानव जाति की दुर्गम निर्गम धारा के हजारों वर्ष का का रूप देखते हुए कहते हैं कि ''मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मिम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचार्यों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह धारा यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे समाज का आज जो रूप है न जाने कितनी ग्रहण और त्याग का रूप है।'' (अशोक के फूल)। इसलिए द्विवेदी जी के सामने योजनाबद्ध रूप से एक मिश्र संस्कृति तैयार करने की समस्या नहीं है, समस्या यह है कि आज हमारे भीतर जो मोह है संस्कृति और कला के नाम पर जो आशक्ति है, धर्माचार और सत्यानिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है उसे किस प्रकार ध्वस्त किया जाए?

भारत एक विविध संस्कृतियों वाला देश है। प्राचीन काल से अब तक भारत पर विविध आक्रमण हुए और कुछ में हम विजयी भी हुए और पराजित भी, लेकिन हमारा सांस्कृतिक गौरव बचा रहा और बढ़ता रहा। द्विवेदी जी रविंद्र नाथ का नाम लेते हुए कहते हैं कि ''रवींद्रनाथ ने इस भारतवर्ष को महामानवसमुद्र कहा है। विचित्र देश है यह, असुर आये, आर्य आये, शक आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये, ना जाने कितनी मानव-जातियां यहां आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गई। जिसे हम हिंदू रीतिनीति कहते हैं वे अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है।'' इस तरह हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतवर्ष को बनाने में अनेक जातियों का योगदान बताते हैं। द्विवेदी जी अशोक को भारतीय संस्कृति का प्रतीक मानते हैं और कहते हैं कि- ''लोग अशोक के फूल का महत्व भूल गए हैं।'' द्विवेदी जी इस प्रसंग को लिखते हैं कि ''अशोक के स्तवकों में वह मादकता आज भी है। पर पूछता कौन है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी है? भारतवर्ष का स्वर्ण युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में ठहरा रहा है।''

आचार्य द्विवेदी भारतीय संस्कृति को भुलाए जाने को लेकर चिंतित रहते हैं और इसके कारण को वह लोगों के स्वार्थ से जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि ''दुनिया बड़ी भुलक्कड़ केवल उतना ही याद रखती है, जितने में उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंक कर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक में उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती, सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।'' (अशोक के फूल)

इस प्रकार जो लोग अशोक के फूल का महत्व भूले हैं, उनके बारे में हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वार्थ शब्द का प्रयोग करते हैं। द्विवेदी जी आज की संस्कृति की भी चिंता करते हैं कि आज जो हमारी संस्कृति है, वह क्या बाद में ऐसी ही रहेगी? इस प्रश्न को द्विवेदी जी इस प्रकार कहते हैं कि ''आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं वह क्या ऐसे ही बनी रहेगी? सम्राटों-सामंतों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया है वह लुप्त हो गई है, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महान समझा था वह लुप्त हो गया है, मध्य युग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रसश्री उमड़ी थीं वह वाष्प की भांति उड़ गई, क्या यह मध्य युग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा'' (अशोक के फूल)। जो अशोक के महत्व को भूल गए हैं, उन्होंने अशोक के फूल का कुछ नहीं बिगाड़ा, वह तो मस्ती में झूल रहा है। इस प्रसंग को द्विवेदी जी इस तरह लिखते हैं कि-''अशोक आज भी उसी मौज में है जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं तो कुछ नहीं बिगड़ा है। कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति।'' (अशोक के फूल)

द्विवेदी जी संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति मानते हैं और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - ''धर्म के सम्मान में भी अविरोधी वस्तु है। स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के लिए सत्य, धर्म, या संस्कृति का मूल भाव अविरोध है। अविरोध की साधना ही संस्कृति की साधना है। दरअसल विरोध भेद-बुद्धि से पैदा होता है और अविरोध अभेदानुभूति से। यदि सभी साधना प्रणालियों की मूल प्रेरणा एक है तो भिन्नता का स्वीकार होते हुए भी विरोध नहीं हो सकता क्योंकि अविरोध के बिना अंतर के आनंद की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। द्विवेदी जी का मानना है कि-''मनुष्य ने इस अविरोध के भाव को इस विश्वजनीन अभेदमूलक सत्य को अभी तक संपूर्ण रूप से पाया नहीं है, पर उसे पाने के लिए व्यग्रभाव से उद्योग कर रहा है। यह मार-काट, नोच-खसोट और झगड़ा-टंटा भी उसी प्रयत्न के अंग हैं। क्योंकि रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना या चुंधुला पड़ना, इस बात के सबूत

नहीं है रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है।'' (अशोक के फूल)

दरअसल द्विवेदी जी एक अदम्य आस्थावादी हैं और संस्कृति की साधना को मनुष्य की जययात्रा के रूप में देखते हैं। जीवन की विकास-प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए वह सवाल उठाते हैं कि क्या मनुष्य इस सृष्टि की अंतिम परिणति हैं? द्विवेदी जी की किसी बात की प्रशंसा इसलिए नहीं करते कि वह भारतीय हिंदू है। उसे जो अच्छा दिखाई पड़ता है, उसी को भारतीयता का लक्षण मानते हैं और लिखते हैं कि-''कोई भी सुसंस्कृत आदमी अगर वह सचमुच सुसंस्कृत है किसी असत्य अर्थरहित सिद्धांत का इसलिए समर्थन नहीं कर सकता कि उसे उसके पूर्वजों ने मान लिया था'' इसलिए वह सवाल उठाते हैं कि-''क्या भारतीय होने से ही कोई चीज ऊंची और अभारतीय होने से ही नीची हो जाती है।'' (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली) द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति के प्रतिप्रश्न का भाव रखते हैं तो वहीं जहाँ वह संस्कृति के लक्षण अविरोध को देख पाते हैं। वे कहते हैं कि ''मैं जब भारतीय विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की बात ही करता हूँ।'' (वही)

इस प्रकार द्विवेदी जी अपने निबंध अशोक के फूल में भारतीय संस्कृति की गौरव गाथा का उल्लेख करते हैं साथ ही गौरव संस्कृति को अशोक के फूल के माध्यम से करते बयान भी करते हैं।

निष्कर्ष

उपयुक्त व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि वाकई में द्विवेदी जी निबंधों में भारतीय संस्कृति और उसके गौरव को लेकर विस्तार से बात की गई है। अशोक के फूल भी उनमें से एक निबंध है। उपयुक्त विवेचन के आधार पर हम निसंकोच कह सकते हैं कि द्विवेदी जी के निबंधों में उनका पांडित्य साफ झलकता है। इतिहास, पुराण, साहित्य से गंभीर तथ्य उठाकर उन्हें समसामायिकता से जोड़ देना उनके निबंधों की विशेषता है। द्विवेदी जी के भाषण सुसंस्कृतनिष्ठ हिंदी में है। द्विवेदी जी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार माने जा सकते हैं।

पीएचडी शोधार्थी,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ajamsiddiqui4103@gmail.com

सहायक ग्रंथ

* संस्कृति और सौंदर्य - नामवर सिंह
* संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर
* अशोक के फूल - हजारीप्रसाद द्विवेदी
* हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी
* इंद्रनाथ भारती पत्रिका - जनवरी मार्च अंक 2007
* हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली

शोध-पत्र

1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा का राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

कृष्ण कुमार जून

शोध सार

1857 की क्रांति भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसने ब्रिटिश शासन की नीतियों तथा प्रशासनिक व्यवस्था को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हरियाणा के विभिन्न क्षेत्रों ने इस क्रांति में सक्रिय भागीदारी निभाई, जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने यहाँ की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संरचना में अनेक परिवर्तन किए। क्रांति के दमन के पश्चात् स्थानीय रियासतों एवं पारम्परिक सत्ता केन्द्रों को कमजोर किया गया तथा प्रशासन को अधिक केंद्रीकृत स्वरूप प्रदान किया गया। राजस्व, पुलिस तथा न्यायिक व्यवस्थाओं के पुनर्गठन के माध्यम से औपनिवेशिक नियंत्रण को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया। इन परिवर्तनों ने तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने के साथ-साथ हरियाणा में राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना के विकास की पृष्ठभूमि भी तैयार की। प्रस्तुत शोध-पत्र में 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में हुए राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन तथा उसके दीर्घकालीन प्रभावों का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द

1857 की क्रांति, हरियाणा, ब्रिटिश शासन, राजनीतिक पुनर्गठन, प्रशासनिक परिवर्तन, औपनिवेशिक नीति।

प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत के विशाल भूभाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। कम्पनी की आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक नीतियों ने भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों में असंतोष की भावना को जन्म दिया। किसानों पर बढ़ता हुआ कर-भार, पारम्परिक शासकों के अधिकारों का ह्रास, सैनिकों में व्याप्त असंतोष तथा सामाजिक-धार्मिक मामलों में औपनिवेशिक हस्तक्षेप ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं, जिनके परिणामस्वरूप 1857 की क्रांति का सूत्रपात हुआ।[1] 1857 की क्रांति केवल सैनिक विद्रोह नहीं थी, बल्कि यह विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों की औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संयुक्त प्रतिक्रिया थी। उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों की भाँति वर्तमान हरियाणा क्षेत्र भी इस आंदोलन से व्यापक रूप से प्रभावित हुआ। दिल्ली के समीप स्थित होने के कारण यहाँ क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है।[2]

क्रांति के समय हरियाणा कोई पृथक प्रशासनिक इकाई नहीं था, अपितु उसका अधिकांश भाग तत्कालीन पंजाब और दिल्ली प्रशासन से सम्बद्ध था। रेवाड़ी, रोहतक, हिसार, झज्जर, बल्लभगढ़ और गुड़गाँव जैसे क्षेत्रों में स्थानीय नेतृत्व ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रतिरोध का नेतृत्व किया। राव तुलाराम, राजा नाहर सिंह तथा झज्जर के नवाब अब्दुर्रहमान खाँ जैसे नेताओं ने क्रांति को संगठित स्वरूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[3]

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने अंततः इस विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त कर ली, तथापि इस घटना ने औपनिवेशिक प्रशासन को अपनी नीतियों के पुनर्मूल्यांकन के लिए बाध्य किया। क्रांति के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने प्रशासनिक पुनर्गठन, राजनीतिक नियंत्रण और राजस्व व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों का उद्देश्य एक ओर शासन को अधिक

प्रभावी बनाना था, तो दूसरी ओर भविष्य में किसी भी प्रकार के विद्रोह की संभावना को न्यूनतम करना भी था।[4] हरियाणा में क्रांति के बाद किए गए राजनीतिक एवं प्रशासनिक परिवर्तन केवल शासन-व्यवस्था तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने सामाजिक संरचना, ग्रामीण नेतृत्व तथा जनचेतना को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि 1857 के उपरान्त का काल हरियाणा के आधुनिक राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[5] प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में हुए राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन का ऐतिहासिक विश्लेषण करना तथा उसके दीर्घकालीन प्रभावों का अध्ययन करना है।

1857 की क्रांति में हरियाणा की भूमिका : 1857 की क्रांति के प्रसार में हरियाणा क्षेत्र की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। यद्यपि तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था में हरियाणा एक पृथक प्रान्त के रूप में अस्तित्व में नहीं था, तथापि दिल्ली के समीप स्थित होने तथा सैनिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह क्षेत्र क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन गया। मेरठ में 10 मई 1857 को विद्रोह प्रारम्भ होने के पश्चात् उसका प्रभाव शीघ्र ही दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में फैल गया। दिल्ली में बहादुरशाह जफर को विद्रोह का प्रतीकात्मक नेतृत्व प्राप्त होने के साथ ही हरियाणा के अनेक भागों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध असंतोष खुलकर सामने आने लगा।[6]

हरियाणा में विद्रोह के स्वरूप को समझने के लिए यह ध्यान देना आवश्यक है कि यहाँ केवल सैनिक वर्ग ही नहीं, बल्कि स्थानीय शासक, जमींदार, कृषक समुदाय और सामान्य जनता भी विभिन्न स्तरों पर इस आंदोलन से जुड़ी हुई थी। इस कारण हरियाणा का विद्रोह केवल सैन्य विद्रोह न होकर व्यापक जन-असंतोष की अभिव्यक्ति भी था।[7]

रेवाड़ी के शासक राव तुलाराम 1857 की क्रांति के प्रमुख नेताओं में से थे। उन्होंने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध का नेतृत्व किया तथा क्रांतिकारी सेनाओं को आर्थिक और सैन्य सहायता प्रदान की। राव तुलाराम ने न केवल स्थानीय स्तर पर संघर्ष का संचालन किया, बल्कि क्रांति की असफलता के पश्चात् भी विदेशी सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से अफगानिस्तान और ईरान तक प्रयास किए। इस दृष्टि से उनका योगदान हरियाणा ही नहीं, सम्पूर्ण उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[8]

बल्लभगढ़ के शासक राजा नाहर सिंह ने भी विद्रोह के दौरान बहादुरशाह जफर का समर्थन किया। उन्होंने दिल्ली के क्रांतिकारियों के साथ सहयोग स्थापित किया तथा अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में सक्रिय भाग लिया। विद्रोह के दमन के बाद अंग्रेजी सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर मृत्युदण्ड दिया। राजा नाहर सिंह का बलिदान हरियाणा के स्वतंत्रता-संघर्ष के इतिहास में विशेष स्थान रखता है।[9]

झज्जर के नवाब अब्दुर्रहमान खाँ ने भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोहियों का समर्थन किया। झज्जर, फर्रुखनगर और आसपास के क्षेत्रों में स्थानीय नेतृत्व ने अंग्रेजी प्रशासन को चुनौती दी। विद्रोह की असफलता के पश्चात् नवाब को भी कठोर दण्ड दिया गया तथा उनकी रियासत को ब्रिटिश प्रशासन के अधीन कर लिया गया।[10] रोहतक, हिसार, हांसी तथा गुड़गाँव क्षेत्रों में भी विद्रोह की व्यापक गतिविधियाँ देखने को मिलीं। अनेक स्थानों पर सरकारी कार्यालयों, कोषागारों तथा संचार व्यवस्थाओं को लक्ष्य बनाया गया। ग्रामीण जनता ने विद्रोहियों को रसद, आश्रय तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान की। इससे स्पष्ट होता है कि हरियाणा में क्रांति का आधार केवल कुछ स्थानीय नेताओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसे व्यापक जनसमर्थन प्राप्त था।[11] हांसी क्षेत्र में लाला हुकुमचन्द जैन और मिर्जा मुनीर बेग जैसे व्यक्तियों ने भी विद्रोही गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाई। अंग्रेजी शासन ने इन्हें विद्रोह का दोषी मानते हुए मृत्युदण्ड दिया। इससे स्पष्ट होता है कि हरियाणा में विभिन्न सामाजिक और धार्मिक समुदायों के लोग समान रूप से औपनिवेशिक शासन के विरोध में खड़े थे।[12]

यद्यपि ब्रिटिश सैन्य शक्ति के समक्ष विद्रोहियों को अन्ततः पराजय का सामना करना पड़ा, तथापि हरियाणा में हुए प्रतिरोध ने अंग्रेजी प्रशासन को गम्भीर रूप से चिंतित कर दिया। विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने इस क्षेत्र को विशेष रूप से संवेदनशील मानते हुए यहाँ की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए। वस्तुतः 1857 की क्रांति में हरियाणा की सक्रिय भागीदारी ही उस राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन की पृष्ठभूमि बनी, जिसे ब्रिटिश शासन ने आगामी वर्षों में लागू किया।[13]

क्रांति के उपरान्त हरियाणा का राजनीतिक पुनर्गठन : 1857 की क्रांति के दमन के पश्चात् ब्रिटिश शासन ने उत्तर भारत के उन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया, जहाँ विद्रोह का

प्रभाव अधिक व्यापक था। हरियाणा भी ऐसे ही क्षेत्रों में सम्मिलित था। रेवाड़ी, झज्जर, बल्लभगढ़, रोहतक और हिसार जैसे क्षेत्रों में स्थानीय नेतृत्व तथा जनता की सक्रिय भागीदारी ने ब्रिटिश प्रशासन को यह अनुभव करा दिया था कि यदि राजनीतिक नियंत्रण को पुन: सुदृढ़ नहीं या गया तो भविष्य में पुन: विद्रोह की संभावना बनी रह सकती है। परिणामस्वरूप क्रांति के बाद हरियाणा में व्यापक राजनीतिक पुनर्गठन की प्रक्रिया आरम्भ हुई।[14]

राजनीतिक पुनर्गठन का प्रथम चरण उन स्थानीय शासकों और रियासतों के विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही के रूप में सामने आया जिन्होंने विद्रोह में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था। बल्लभगढ़ के राजा नाहर सिंह, झज्जर के नवाब अब्दुर्रहमान खाँ तथा फर्रुखनगर के नवाब अहमद अली खाँ को अंग्रेजों ने विद्रोह का दोषी मानते हुए कठोर दण्ड दिया। कई स्थानीय रियासतों को समाप्त कर उनके क्षेत्रों को सीधे ब्रिटिश प्रशासन के अधीन कर दिया गया। इस प्रकार पारम्परिक सत्ता केन्द्रों का प्रभाव क्रमश: कम होने लगा।[15]

ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य केवल विद्रोहियों को दण्डित करना नहीं था, बल्कि उस राजनीतिक संरचना को भी समाप्त करना था जो भविष्य में औपनिवेशिक शासन के लिए चुनौती बन सकती थी। इसी कारण स्थानीय शासकों के अधिकार सीमित कर दिए गए तथा प्रशासनिक निर्णयों में उनकी भूमिका नगण्य कर दी गई। परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का केन्द्र स्थानीय अभिजात वर्ग से हटकर औपनिवेशिक अधिकारियों के हाथों में केन्द्रित होने लगा।[16]

क्रांति के पश्चात् 1858 के भारत शासन अधिनियम (Government of India Act, 1858) के माध्यम से ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त कर भारत का प्रशासन सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन कर दिया गया। इस परिवर्तन का प्रभाव हरियाणा पर भी पड़ा। प्रशासनिक और राजनीतिक निर्णय अब अधिक संगठित तथा केंद्रीकृत ढंग से लिए जाने लगे। गवर्नर जनरल के स्थान पर वायसराय की संस्था की स्थापना तथा भारत सचिव के नियंत्रण ने औपनिवेशिक शासन को अधिक सुदृढ़ बनाया।[17]

हरियाणा क्षेत्र में राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों ने स्थानीय स्तर पर नए प्रशासनिक ढाँचे विकसित किए। जिला प्रशासन को अधिक शक्तिशाली बनाया गया तथा उपायुक्त (Deputy Commissioner) को प्रशासनिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकार प्रदान किए गए। इससे स्थानीय मामलों में ब्रिटिश अधिकारियों का हस्तक्षेप बढ़ गया और पारम्परिक नेतृत्व की भूमिका सीमित हो गई।[18]

क्रांति के बाद ब्रिटिश शासन ने अपनी 'पुरस्कार और दण्ड' (Reward and Punishment) की नीति को भी अपनाया। जिन व्यक्तियों अथवा समूहों ने अंग्रेजों का समर्थन किया था, उन्हें भूमि, उपाधियाँ और अन्य सुविधाएँ प्रदान की गईं; जबकि विद्रोहियों तथा उनके समर्थकों की संपत्तियाँ जब्त कर ली गईं। इस नीति के माध्यम से ब्रिटिश शासन ने अपने प्रति निष्ठावान एक नए अभिजात वर्ग का निर्माण किया, जिसने आगे चलकर औपनिवेशिक प्रशासन को स्थिरता प्रदान की।[19]

राजनीतिक पुनर्गठन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि ब्रिटिश शासन ने स्थानीय समाज में व्याप्त विभिन्न सामाजिक समूहों के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। प्रशासनिक पदों पर नियुक्तियों, भूमि-अधिकारों तथा स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व के माध्यम से ऐसे वर्गों को प्रोत्साहित किया गया जो औपनिवेशिक शासन के प्रति अपेक्षाकृत अनुकूल थे। इससे राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति में भी परिवर्तन आया।[20] यद्यपि ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए ये परिवर्तन औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के उद्देश्य से किए गए थे, तथापि इनके कुछ अप्रत्याशित परिणाम भी सामने आए। स्थानीय शासकों के प्रभाव में कमी तथा प्रशासनिक केंद्रीकरण के कारण जनता का प्रत्यक्ष सम्पर्क औपनिवेशिक शासन से बढ़ा। इससे लोगों में शासन-व्यवस्था के प्रति नई राजनीतिक चेतना का विकास हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षा, संचार और प्रशासनिक परिवर्तनों के प्रभाव से हरियाणा में भी राजनीतिक जागरूकता धीरे-धीरे विकसित होने लगी, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन के लिए आधार तैयार किया।[21]

इस प्रकार 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में हुआ राजनीतिक पुनर्गठन केवल सत्ता परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं था, बल्कि यह औपनिवेशिक शासन द्वारा राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने की एक व्यापक रणनीति का अंग था। यद्यपि यह पुनर्गठन औपनिवेशिक शासन को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से किया गया था, तथापि इसके परिणामस्वरूप पारम्परिक राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन आया और हरियाणा में राजनीतिक चेतना के क्रमिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

प्रशासनिक पुनर्गठन एवं औपनिवेशिक नीतियाँ : 1857 की क्रांति के उपरान्त ब्रिटिश शासन ने यह अनुभव किया कि केवल सैन्य शक्ति के आधार पर भारत में स्थायी शासन स्थापित नहीं किया जा सकता। अत: विद्रोह के कारणों का विश्लेषण करते हुए प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए गए। हरियाणा, जो विद्रोह से प्रभावित प्रमुख क्षेत्रों में से एक था, इन परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना। प्रशासनिक पुनर्गठन का उद्देश्य शासन को अधिक संगठित, प्रभावी तथा औपनिवेशिक हितों के अनुकूल बनाना था।[22]

क्रांति के बाद हरियाणा के प्रशासनिक ढाँचे में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इसका पंजाब प्रशासन से घनिष्ठ रूप से जुड़ना था। ब्रिटिश अधिकारियों का मत था कि पंजाब में स्थापित प्रशासनिक प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ और नियंत्रित थी। इसलिए हरियाणा क्षेत्र के प्रशासन को भी उसी मॉडल के अनुरूप पुनर्गठित किया गया। इससे प्रशासनिक नियंत्रण को अधिक प्रभावी बनाने में सहायता मिली तथा स्थानीय स्तर पर शासन की पहुँच बढ़ी।[23]

ब्रिटिश शासन ने जिला प्रशासन को प्रशासनिक व्यवस्था की आधारभूत इकाई के रूप में विकसित किया। प्रत्येक जिले में उपायुक्त को राजस्व, न्याय तथा कानून-व्यवस्था सम्बन्धी व्यापक अधिकार प्रदान किए गए। परिणामस्वरूप प्रशासनिक निर्णयों का केन्द्र स्थानीय संस्थाओं के स्थान पर औपनिवेशिक अधिकारियों के हाथों में केन्द्रित हो गया। यह व्यवस्था शासन के केंद्रीकरण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम थी।[24]

राजस्व प्रशासन में भी उल्लेखनीय परिवर्तन किए गए। ब्रिटिश सरकार ने भूमि से प्राप्त होने वाली आय को अपने शासन का प्रमुख आर्थिक आधार माना। इसलिए भूमि अभिलेखों को व्यवस्थित करने, भू-सर्वेक्षण कराने तथा कर-वसूली को नियमित बनाने के प्रयास किए गए। राजस्व व्यवस्था के पुनर्गठन से प्रशासनिक नियंत्रण तो सुदृढ़ हुआ, किन्तु अनेक स्थानों पर किसानों पर आर्थिक दबाव भी बढ़ा।[25]

प्रशासनिक पुनर्गठन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पुलिस व्यवस्था का विस्तार था। 1857 की घटनाओं ने ब्रिटिश शासन को यह स्पष्ट संकेत दिया था कि स्थानीय स्तर पर सूचना-संग्रह और सुरक्षा व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाना आवश्यक है। परिणामस्वरूप पुलिस तंत्र को पुनर्गठित किया गया तथा थानों और चौकियों की संख्या में वृद्धि की गई। इसके साथ ही गुप्तचर व्यवस्था को भी सुदृढ़ किया गया ताकि किसी संभावित असंतोष या विद्रोह की सूचना समय रहते प्राप्त की जा सके।[26]

न्यायिक व्यवस्था में भी परिवर्तन किए गए। ब्रिटिश शासन ने न्यायिक संस्थाओं को अधिक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। विभिन्न स्तरों की अदालतों की स्थापना की गई तथा न्यायिक प्रक्रियाओं को विधिक नियमों के आधार पर संचालित किया जाने लगा। यद्यपि यह व्यवस्था आधुनिक न्यायिक ढाँचे की दिशा में एक कदम थी, तथापि इसका मूल उद्देश्य प्रशासनिक नियंत्रण को अधिक प्रभावी बनाना था।[27]

संचार और परिवहन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय विकास हुआ। सड़कों के निर्माण, डाक सेवाओं के विस्तार तथा टेलीग्राफ प्रणाली के विकास ने प्रशासनिक दक्षता में वृद्धि की। इन साधनों के माध्यम से सरकार को दूरस्थ क्षेत्रों से शीघ्र संपर्क स्थापित करने तथा प्रशासनिक निर्देशों को प्रभावी ढंग से लागू करने में सुविधा प्राप्त हुई। साथ ही, इन परिवर्तनों ने क्षेत्रीय स्तर पर आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया।[28]

ब्रिटिश शासन की प्रशासनिक नीतियों का एक अन्य उद्देश्य स्थानीय समाज में औपनिवेशिक शासन के प्रति निष्ठावान वर्ग का निर्माण करना था। भूमि-अधिकारों, सरकारी सेवाओं तथा प्रशासनिक अवसरों के वितरण में ऐसे व्यक्तियों और समूहों को प्राथमिकता दी गई, जिन्होंने संकट के समय ब्रिटिश शासन का समर्थन किया था। इससे प्रशासन को स्थानीय स्तर पर सहयोग प्राप्त हुआ और शासन की स्थिरता में वृद्धि हुई।[29]

स्पष्ट है कि 1857 की क्रांति के बाद हरियाणा में किए गए प्रशासनिक परिवर्तन केवल शासन-सुधार तक सीमित नहीं थे। इनका मूल उद्देश्य औपनिवेशिक सत्ता को अधिक सुरक्षित और प्रभावी बनाना था। तथापि इन परिवर्तनों ने प्रशासनिक संरचना, आर्थिक जीवन तथा सामाजिक संबंधों को भी प्रभावित किया। आगे चलकर इन्हीं परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हरियाणा में नई राजनीतिक और सामाजिक चेतना के विकास की परिस्थितियाँ निर्मित हुईं।

सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव : 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में किए गए राजनीतिक एवं प्रशासनिक परिवर्तनों का प्रभाव केवल शासन-व्यवस्था तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने क्षेत्र की सामाजिक संरचना, आर्थिक संबंधों तथा राजनीतिक चेतना को भी प्रभावित किया। औपनिवेशिक शासन द्वारा अपनाई गई नीतियों ने एक ओर पारम्परिक

शक्ति-संतुलन को परिवर्तित किया, तो दूसरी ओर ऐसे सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया, जिन्होंने आधुनिक राजनीतिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार की।[30] क्रांति के बाद स्थानीय रियासतों तथा पारम्परिक नेतृत्व की शक्ति में उल्लेखनीय कमी आई। जिन शासकों और जमींदारों ने विद्रोह का समर्थन किया था, उन्हें दण्डित किया गया तथा उनकी राजनीतिक स्थिति कमजोर कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में नेतृत्व की पारम्परिक संरचना प्रभावित हुई। अब स्थानीय प्रशासन और जनता के बीच औपनिवेशिक अधिकारियों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई।[31]

भूमि-राजस्व व्यवस्था में किए गए परिवर्तनों का प्रभाव कृषक समुदाय पर विशेष रूप से पड़ा। भूमि अभिलेखों के व्यवस्थितकरण तथा नियमित कर-वसूली की नीति ने प्रशासनिक नियंत्रण को मजबूत किया, किन्तु कई बार किसानों पर आर्थिक दबाव भी बढ़ाया। ग्रामीण समाज में भूमि-अधिकारों और राजस्व संबंधी प्रश्नों का महत्त्व बढ़ने लगा, जिससे सामाजिक संबंधों की प्रकृति में भी परिवर्तन आया।[32] प्रशासनिक संस्थाओं के विस्तार ने लोगों को शासन की नई व्यवस्थाओं से परिचित कराया। न्यायालयों, राजस्व कार्यालयों तथा पुलिस तंत्र के माध्यम से सामान्य जनता का प्रत्यक्ष संपर्क औपनिवेशिक प्रशासन से बढ़ा। इससे प्रशासनिक प्रक्रियाओं के प्रति जागरूकता विकसित हुई और समाज में अधिकार तथा कर्तव्य संबंधी नई अवधारणाओं का प्रसार हुआ।[33]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षा के प्रसार और संचार साधनों के विकास ने भी सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान की। सड़क, डाक और टेलीग्राफ जैसी व्यवस्थाओं ने विभिन्न क्षेत्रों के बीच संपर्क को बढ़ाया। इसके परिणामस्वरूप लोगों को स्थानीय घटनाओं के साथ-साथ व्यापक राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी मिलने लगी। इस प्रक्रिया ने क्षेत्रीय चेतना को व्यापक राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[34]

हरियाणा में राजनीतिक जागरूकता का विकास भी इसी काल की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। यद्यपि 1857 की क्रांति तत्कालीन उद्देश्य की दृष्टि से सफल नहीं हो सकी, तथापि उसने औपनिवेशिक शासन के प्रति असंतोष की भावना को जीवित रखा। बाद के दशकों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, स्वदेशी आंदोलन तथा अन्य राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रति हरियाणा के लोगों की बढ़ती रुचि को इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।[35]

सामाजिक स्तर पर यह काल परम्परा और परिवर्तन के मध्य अंत:क्रिया का काल था। एक ओर औपनिवेशिक शासन अपनी प्रशासनिक पकड़ को मजबूत कर रहा था, वहीं दूसरी ओर शिक्षा, संचार और नई राजनीतिक धारणाओं के प्रभाव से समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाएँ भी सक्रिय थीं। इन प्रक्रियाओं ने धीरे-धीरे ऐसे सामाजिक वातावरण का निर्माण किया, जिसमें राष्ट्रीयता, राजनीतिक अधिकार और सार्वजनिक सहभागिता जैसे विचारों को स्वीकार्यता प्राप्त होने लगी।[36]

अत: यह कहा जा सकता है कि 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में हुए राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन के प्रभाव बहुआयामी थे। इन परिवर्तनों ने तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक संरचना को प्रभावित करने के साथ-साथ भविष्य के राजनीतिक विकास की आधारभूमि भी तैयार की। हरियाणा में राष्ट्रीय चेतना के क्रमिक विकास तथा स्वतंत्रता आंदोलन में उसकी सक्रिय भागीदारी को इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।[37]

निष्कर्ष

1857 की क्रांति भारतीय इतिहास की एक निर्णायक घटना थी, जिसके प्रभाव तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों तक सीमित न रहकर दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में भी परिलक्षित हुए। हरियाणा, जो उस समय उत्तर भारत के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में से एक था, इस क्रांति से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ। राव तुलाराम, राजा नाहर सिंह तथा झज्जर के नवाब अब्दुर्रहमान खाँ जैसे नेताओं के नेतृत्व में हरियाणा के विभिन्न भागों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध प्रतिरोध का परिचय दिया। यद्यपि यह प्रयास सैन्य दृष्टि से सफल नहीं हो सका, तथापि इसने ब्रिटिश शासन को अपनी प्रशासनिक और राजनीतिक नीतियों के पुनर्गठन के लिए बाध्य किया।

क्रांति के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने हरियाणा में राजनीतिक नियंत्रण को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से व्यापक परिवर्तन किए। विद्रोह में सम्मिलित स्थानीय शासकों और रियासतों की शक्ति को समाप्त अथवा सीमित कर दिया गया तथा प्रशासनिक व्यवस्था को अधिक केंद्रीकृत स्वरूप प्रदान किया गया। जिला प्रशासन, राजस्व व्यवस्था, पुलिस तंत्र और न्यायिक संस्थाओं के पुनर्गठन के माध्यम से औपनिवेशिक शासन ने अपनी पकड़ को अधिक मजबूत बनाया।

इन परिवर्तनों का प्रभाव केवल प्रशासनिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आए। पारम्परिक सत्ता-संरचनाओं के कमजोर होने से ग्रामीण नेतृत्व की प्रकृति में परिवर्तन हुआ तथा प्रशासन और जनता के मध्य संबंधों का नया स्वरूप विकसित हुआ। शिक्षा, संचार तथा प्रशासनिक संस्थाओं के विस्तार ने लोगों में व्यापक राजनीतिक जागरूकता के विकास में योगदान दिया।

यद्यपि ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए ये परिवर्तन औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए थे, तथापि उनके परिणामस्वरूप हरियाणा में आधुनिक राजनीतिक चेतना के विकास की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। यही चेतना आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन में जनसहभागिता का आधार बनी। इस प्रकार 1857 की क्रांति के उपरान्त हरियाणा में हुआ राजनीतिक एवं प्रशासनिक पुनर्गठन केवल औपनिवेशिक शासन की सुदृढ़ीकरण प्रक्रिया नहीं था, बल्कि उसने क्षेत्र के भावी सामाजिक और राजनीतिक विकास की दिशा को भी प्रभावित किया। अत: हरियाणा के आधुनिक इतिहास को समझने के लिए 1857 के बाद की इस पुनर्गठन प्रक्रिया का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

गेस्ट फैकल्टी

krishanjoon.hpyc@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष (नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2005), पृ. 32
2. के. सी. यादव, हरियाणा का इतिहास (नई दिल्ली : मंथन पब्लिकेशन्स, 2008), पृ. 141
3. एस. बी. चौधरी, 1857 का नागरिक विद्रोह (नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2007), पृ. 186-188
4. आर. सी. मजूमदार, The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 (कलकत्ता : Firma KLM, 1963), पृ. 312
5. बी. एस. ढिल्लों, History and Culture of Haryana (नई दिल्ली : अटलांटिक पब्लिशर्स, 1998), पृ. 210
6. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष (नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2005), पृ. 35
7. एस. एन. सेन, Eighteen Fifty-Seven (नई दिल्ली : Publications Division, 1957), पृ. 112
8. के. सी. यादव, History of Haryana (New Delhi: Manohar Publishers, 2002), pp. 148-151.
9. बी. एस. ढिल्लों, History and Culture of Haryana (New Delhi: Atlantic Publishers, 1998), p. 205.
10. एस. बी. चौधरी, Civil Rebellion in the Indian Mutinies 1857–59 (Calcutta: World Press, 1957), pp. 191-193.
11. के. सी. यादव, हरियाणा का इतिहास (नई दिल्ली : मंथन पब्लिकेशन्स, 2008), पृ. 152-154
12. एम. एल. भार्गव, Haryana Through the Ages (Kurukshetra: University Publication, 1975), p. 221.
13. आर. सी. मजूमदार, The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 (Calcutta: Firma KLM, 1963), p. 327.
14. K.C. Yadav, History of Haryana (New Delhi: Manohar Publishers, 2002), p. 158.
15. B.S. Dhillon, History and Culture of Haryana (New Delhi: Atlantic Publishers, 1998), pp. 210–212.
16. S.B. Chaudhuri, Civil Rebellion in the Indian Mutinies 1857–59 (Calcutta: World Press, 1957), p. 245.
17. Bipan Chandra et al., India's Struggle for Independence (New Delhi: Penguin Books, 1989), p. 42.
18. Percival Spear, A History of India, Vol. II (New Delhi: Penguin Books, 1990), p. 178.
19. R.C. Majumdar, The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 (Calcutta: Firma KLM, 1963), p. 338.
20. K.C. Yadav, Modern Haryana: History and Culture (Kurukshetra: Haryana Academy of History and Culture, 1994), pp. 34–36.
21. Bipan Chandra, Modern India (New Delhi: NCERT, 1990), p. 97.
22. Bipan Chandra et al., India's Struggle for Independence (New Delhi: Penguin Books, 1989), p. 43.

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

23. K.C. Yadav, History of Haryana (New Delhi: Manohar Publishers, 2002), pp. 161–163.
24. Percival Spear, A History of India, Vol. II (New Delhi: Penguin Books, 1990), p. 181.
25. B.S. Dhillon, History and Culture of Haryana (New Delhi: Atlantic Publishers, 1998), pp. 214–216.
26. S.N. Sen, Eighteen Fifty-Seven (New Delhi: Publications Division, 1957), p. 234.
27. R.C. Majumdar, The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 (Calcutta: Firma KLM, 1963), p. 341.
28. K.C. Yadav, Modern Haryana: History and Culture (Kurukshetra: Haryana Academy of History and Culture, 1994), pp. 38–40.
29. Bipan Chandra, Modern India (New Delhi: NCERT, 1990), p. 101.
30. K.C. Yadav, History of Haryana (New Delhi: Manohar Publishers, 2002), p. 167.
31. B.S. Dhillon, History and Culture of Haryana (New Delhi: Atlantic Publishers, 1998), pp. 217–218.
32. K.C. Yadav, Modern Haryana: History and Culture (Kurukshetra: Haryana Academy of History and Culture, 1994), p. 42.
33. Percival Spear, A History of India, Vol. II (New Delhi: Penguin Books, 1990), p. 184.
34. Bipan Chandra, Modern India (New Delhi: NCERT, 1990), p. 105.
35. Bipan Chandra et al., India's Struggle for Independence (New Delhi: Penguin Books, 1989), pp. 58–60.
36. S.N. Sen, Eighteen Fifty-Seven (New Delhi: Publications Division, 1957), p. 241.
37. R.C. Majumdar. The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 (Calcutta: Firma KLM, 1963), p. 348.

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Bhargava, M. L. Haryana Through the Ages. Kurukshetra: University Publication Bureau, 1975.
- Bipan Chandra. Modern India. New Delhi: NCERT, 1990.
- Bipan Chandra, Mridula Mukherjee, Aditya Mukherjee, K. N. Panikkar and Sucheta Mahajan. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books, 1989.
- Chaudhuri, S. B. Civil Rebellion in the Indian Mutinies 1857–59. Calcutta: World Press, 1957.
- Dhillon, B. S. History and Culture of Haryana. New Delhi: Atlantic Publishers, 1998.
- Haryana District Gazetteers (Various District Volumes).
- Imperial Gazetteer of India. Oxford: Clarendon Press, Various Editions.
- Majumdar, R. C. The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857. Calcutta: Firma KLM, 1963.
- National Archives of India. Records Relating to the Revolt of 1857 and Post-Revolt Administration. New Delhi.
- Punjab Administration Reports (1858–1900).
- Sen, S. N. Eighteen Fifty-Seven. New Delhi: Publications Division, 1957.
- Spear, Percival. A History of India, Vol. II. New Delhi: Penguin Books, 1990.
- यादव, के. सी. History of Haryana. New Delhi: Manohar Publishers, 2002.
- यादव, के. सी. Modern Haryana: History and Culture. Kurukshetra: Haryana Academy of History and Culture, 1994.
- यादव, के. सी. हरियाणा का इतिहास, नई दिल्ली : मंथन पब्लिकेशन्स, 2008
- चन्द्र, बिपिन। आधुनिक भारत, नई दिल्ली : एनसीईआरटी, 1990
- चन्द्र, बिपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पनिक्कर एवं सुचेता महाजन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष। नई दिल्ली : पेंगुइन बुक्स, 1989

लोकप्रिय साहित्य में मीडिया विमर्श : स्त्री-छवि का एक आलोचनात्मक अध्ययन

अनिता कुमारी

सारांश

हिंदी पत्रकारिता के विकासक्रम में महिला पत्रिकाएँ का स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के निर्माण में विशेष सहायक रही हैं। स्टुअर्ट हॉल के 'प्रतिनिधित्व के सिद्धांत' की कसौटी पर कसे तो गृहशोभा, गृहलक्ष्मी और वनिता जैसी पत्रिकाएँ केवल सूचना-प्रसारण का माध्यम नहीं, बल्कि ऐसी प्रयोगशाला हैं जहाँ स्त्री की छवि को लगातार बनाया और मिटाया जाता है। यह शोध-लेख यह रेखांकित करता है कि जहाँ एक ओर 'वनिता पत्रिका' की कहानियाँ पितृसत्तात्मक संरचनाओं के विरुद्ध एक मुखर और 'बोल्ड' विद्रोह का स्वर बुलंद करती हैं, वहीं 'गृहशोभा पत्रिका' की नायिकाएँ आधुनिकता और परंपरा के बीच एक 'मध्यम मार्ग' चुनकर समझौतावादी रुख अपनाती हैं। और इन दोनों के विपरीत, 'गृहलक्ष्मी पत्रिका' की 'सेलिब्रिटी कहानियाँ' भले ही स्त्री की सशक्त छवि को स्थान स्थान देती है, किंतु व्यापक स्तर पर ये कहानियाँ अभी भी रूढ़िवादी छवियों को ही पुनरुत्पादित करती नजर आती हैं। यह लेख इन पत्रिकाओं की भिन्न संपादकीय दृष्टियों और उनकी कहानियों में चित्रित स्त्री की विरोधाभासी छवियों का विश्लेषण करते हुए, समकालीन हिंदी मीडिया में स्त्री की यथार्थ स्थिति और उसके 'मीडिया-निर्मित प्रतिबिंब' के मध्य व्याप्त द्वंद्व को उद्घाटित करने का एक अकादमिक प्रयास है।

बीज शब्द

पत्रकारिता, साहित्य, महिला पत्रिकाएँ, मीडिया विमर्श, स्त्री-विमर्श, लोकप्रियता का सिद्धांत, उपभोक्तावादी संस्कृति, सांस्कृतिक वर्चस्व।

प्रस्तावना

पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन में यह देखा गया है कि 'पत्रकारिता' और 'साहित्य' के अंतर्संबंधों को प्रायः उनके स्वरूप, उद्देश्य और पाठक-वर्ग के आधार पर कई श्रेणियों में विभाजित करके विश्लेषण किया जाता है। जैसे- सांस्थानिक, विशुद्ध साहित्यिक, अकादमिक और व्यावसायिक या लोकप्रिय पत्रिकाएँ। हिंदी साहित्य के मुख्यधारा के विमर्शों में यह एक गहरी विडंबना रही है कि 'लोकप्रिय साहित्य' विशेषकर व्यावसायिक महिला पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं को वह अकादमिक गंभीरता और महत्व नहीं दिया जाता, जो स्थापित साहित्यिक पत्रिकाओं को प्राप्त है। अभिजात्य आलोचकों और पारंपरिक साहित्यिक मानदंडों द्वारा इन पत्रिकाओं के साहित्य को महज 'मनोरंजन का साधन', 'हल्का-फुल्का पाठ' या 'व्यावसायिक उत्पाद' मानकर प्रायः गंभीर 'साहित्य' की परिधि से ही बाहर रखा जाता है। जैसा ही पाश्चात्य साहित्यकार कहते हैं कि 'किसी पाठ की सिर्फ एक व्याख्या नहीं हो सकती, बल्कि इसके विपरीत, उस बहुलता को भी देखा जाना चाहिए जिससे वह निर्मित हुआ है... जो कोड पाठ सक्रिय करता है, वे उतनी दूर तक फैले होते हैं जितनी दूर तक नजर जा सकती है, वे अनिर्धारणीय होते हैं।'[1] हम इन कोड को अनदेखा नहीं कर सकते हैं। पत्रिकाओं के साहित्य का स्त्रीवादी विश्लेष्ण यह स्पष्ट करता है कि कैसे ये पत्रिकाएँ पितृसत्तात्मक यथास्थितिवाद और आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति के मध्य संतुलन साधते हुए स्त्री के छवि-निर्माण में एक जटिल और बहुस्तरीय विमर्श निर्मिति कर रही हैं।

इन पत्रिकाओं लोकप्रियता और इसमें प्रकाशित साहित्य

की व्यापकता का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि ये पत्रिकाएँ केवल हिंदी भाषी क्षेत्र तक सीमित नहीं हैं, बल्कि मराठी, मलयालम, बंगाली सहित भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित होकर एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक नेटवर्क का निर्माण करती हैं। क्योंकि भाषा की अपनी सीमाएं हैं इसलिए यह शोध लेख इन पत्रिकाओं के 'हिंदी संस्करणों' को ही आधार बनाते हुए उनमें प्रकाशित कहानियों का स्त्री विमर्श की दृष्टि से विश्लेषण करता है। ये कहानियाँ पत्रिकाओं की विचारधारा और भिन्न संपादकीय नीतियों के कारण समकालीन हिंदी मीडिया में स्त्री की यथार्थ स्थिति और मीडिया के द्वारा निर्मित छवि के मध्य व्याप्त द्वंद्व को उद्घाटित करती है। यह लेख 'एंतोनियो ग्राम्शी' के 'सांस्कृतिक वर्चस्व' के सिद्धांत को आधार बनाकर यह विवेचना करता है कि किस तरह पत्रिकाएँ अपनी संपादकीय रणनीतियों के माध्यम से पितृसत्तात्मक मूल्यों को 'सामान्य ज्ञान' के रूप में प्रतिस्थापित करती हैं।

लोकप्रियता की अवधारणा

मीडिया विमर्श 'लोकप्रियता की अवधारणा' को समझे बिना पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि यह किसी वस्तु या विचार मात्र का जनमानस में व्याप्त होने का परिणाम नहीं है, अपितु यह संस्कृति, सत्ता और विचारधारा के बीच चलने वाले निरंतर संवाद को परिभाषित करती है। सामान्य अर्थों में, लोकप्रियता का तात्पर्य उन सांस्कृतिक उत्पादों, प्रतीकों और विमर्शों से लगाया जाता है जिन्हें एक बड़ा वर्ग समाज न केवल स्वीकार करता है, बल्कि उनके यह उनके दैनिक जीवन और पहचान का हिस्सा होता है।

एस. हॉल का सिद्धांत 'लोकप्रियता' को महज एक सांख्यिकीय स्वीकार्यता के रूप में देखने के स्थान पर, उसे सांस्कृतिक उत्पादन के एक जटिल तंत्र के रूप में विश्लेषित करता है। उनके अनुसार लोकप्रिय संस्कृति का आधार लोकसंस्कृति की जड़ों से जुड़ा होता है, जबकि 'मास आर्ट' या जन-कला का स्वरूप प्रायः उससे भिन्न होता है; वे स्पष्ट करते हैं कि ''लोकप्रिय कला का उदय लोकसंस्कृति से होता है, जबकि 'मास आर्ट' का जन्म 'पॉपुलर आर्ट' के भ्रष्टीकरण के गर्भ से हुआ है''[2] हॉल का यह सिद्धांत हमें यह समझने में मदद करता है कि लोकप्रिय संस्कृति का विकास और प्रसार समाज के आंतरिक ताने-बाने से ही संभव है, और इसे दर्शकों की सक्रिय भूमिका तथा 'इनकोडिंग-डिकोडिंग' की प्रक्रिया के बिना नहीं समझा जा सकता। लोकप्रिय संस्कृति उन प्रभावशाली विचारधाराओं पर केंद्रित है जो मीडिया के माध्यम से जनता तक पहुँचती हैं और जिन्हें दर्शक अपनी सामाजिक स्थितियों के आधार पर 'डिकोड' करते हैं।

समकालीन साहित्यिक विमर्श और लोकप्रिय पत्रिकाएँ

लोकप्रिय महिला-केंद्रित पत्रिकाएँ वनिता, गृहशोभा और गृहलक्ष्मी के समकालीन विमर्श भारतीय समाज में सूचना प्रौद्योगिकी की सर्वसुलभता और उपभोग प्रतिमानों के आमूलचूल परिवर्तन का एक निर्णायक संधि-बिंदु है। डिजिटल संक्रमण के इस दौर ने पारंपरिक मुद्रित माध्यमों के समक्ष न केवल अस्तित्व का संकट उत्पन्न किया, अपितु पाठकीय उपभोग के व्यवहार में भी द्वंद्व को जन्म दिया। मोबाइल डेटा की सुलभता ने सूचना लोकतंत्रीकरण किया है, खासकर स्त्री पाठक का मार्ग प्रशस्त किया है। इन पत्रिकाओं ने डिजिटल चुनौती के प्रत्युत्तर में स्वयं को 'केवल पारंपरिक घरेलू नुस्खों' से विमुक्त कर एक 'वैचारिक, प्रगतिशील और स्त्री-केंद्रित विमर्श' के वाहक के रूप में पुनर्गठित किया है। ये कहानियाँ एक ओर जहाँ स्त्री-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं, वहीं दूसरी ओर बाजार और पाठक-वर्ग के व्यावसायिक दबाव में पितृसत्ता को बनाए रखने को भी विवश नजर आती है, जिसका प्रमुख कारण इन पत्रिकाओं का प्रकाशन व्यवसायिक घरानों के द्वारा होना भी है, साथ ही यहाँ बाजार की भी अपनी एक अंतर्निहित 'पितृसत्ता' दिखाई देती है। मीडिया आलोचक जगदीश्वर चतुर्वेदी कहते हैं-

''माध्यमों में स्त्री की इमेज को पढ़ने का मतलब है उसके सामाजिक रूप, शोषण और उत्पीड़न को पढ़ना। सामाजिक तौर पर मां, पत्नी, बहन आदि रूपों में पुरुष द्वारा किस तरह शोषण किया जाता है उसी तरह कामगार महिला के तौर पर उसका किस तरह शोषण होता है''[3]

इस परिप्रेक्ष्य में 'वनिता', 'गृहशोभा' और 'गृहलक्ष्मी' जैसी लोकप्रिय पत्रिकाएँ एक सांस्कृतिक उत्पादन के महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में उभरती हैं, जो बाजार, पितृसत्तात्मक यथास्थितिवाद और आधुनिकतावादी आकांक्षाओं के मध्य निरंतर संवाद करती हैं। इन पत्रिकाओं में चित्रित स्त्री अब मूक समर्पण के स्थान पर 'मूक प्रतिरोध', 'आर्थिक स्वायत्तता' और 'यौनिक संप्रभुता' के नए प्रतिमान गढ़ रही है। साथ ही ये पत्रिकाएँ 'आदर्श बहू' या 'त्यागमयी माँ' जैसे प्रतीकों का

महिमामंडन करके पितृसत्तात्मक ढांचे को भी तोड़ने से बचती हैं।

गृहशोभा : व्यक्तिगत एजेंसी और वैवाहिक सामंजस्य का संघर्ष

गृहशोभा पत्रिका की कहानियाँ समकालीन भारतीय समाज में स्त्री की अस्मिता, उसके पारिवारिक-सामाजिक संघर्षों और पितृसत्तात्मक अनुकूलन के बीच चल रहे 'वैचारिक विमर्श' का जीवंत दस्तावेज हैं। इन कहानियों का साहित्यिक रुख स्थिर नहीं है, बल्कि यह समय की मांग और स्त्री-स्वायत्तता के बढ़ते आंदोलनों के बीच निरंतर संघर्षरत है। पत्रिका एक ओर पितृसत्तात्मक मर्यादाओं को बचाने के लिए विवश नजर आती है, वहीं दूसरी ओर वह आधुनिक स्त्री की बढ़ती महत्वाकांक्षाओं और उसकी 'स्वयं-निर्णय क्षमता' को स्वीकार कर अपना विरोध भी दर्ज करती है। इन कहानियों में स्त्री आधुनिक है किन्तु विद्रोह की जगह समझौतावादी रुख अपनाने को ज्यादा बेहतर समझती हैं। 'हैप्पी न्यू ईयर' जैसी कहानियाँ स्त्री को घरेलू श्रम के विभाजन के प्रति मुखर होने और अपनी निर्णय-क्षमता को स्थापित करने के लिए प्रेरित करती हैं, जहाँ नायिका 'निया' कहती है-

''पतिपत्नी दोनों कामकाजी हों तो घरबाहर दोनों के काम दोनों मिल कर ही संभालते हैं।''[4]

वहीं दूसरी ओर, 'मदर्स डे' विशेषांकों में छपी 'अकेले हम अकेले तुम'[5] जैसी कहानियाँ स्त्री को 'घरेलू कर्तव्य' और 'अपराध-बोध' के सांचे में ढालकर पारंपरिक बनाए रखने का प्रयास भी करती है। पत्रिका ने विवाह के टूटने के कारणों और स्त्री की यौनिक असंतुष्टि जैसे वर्जित विषयों को भी कहानियों में जगह दी है। 'आहत'[6] कहानी की 'शालिनी' छवि गढ़ती है जो सैक्स सुख न दे पाने के कारण विवाह विच्छेद कर लेती है किन्तु पत्रिका का नैरेटिव इसे नकारात्मक सांचे में ढाल देता है।

गृहशोभा पत्रिका का कथा-साहित्य आधुनिकता और परंपरा के बीच एक बारीक संतुलन तलाशता नजर आता है। 'वेडिंग स्पेशल' अंक में रितु वर्मा की कहानी 'मेरे ख्वाबों में जो आए' विवाह-बाजार की क्रूरता और 'एज-शेमिंग' को खारिज करते हुए स्त्री की 'एकांत संप्रभुता' का उद्घोष करती है। कहानी का अंतिम वक्तव्य स्त्री की आत्मनिर्भर चेतना को स्पष्ट करता है-अनुपा हंसते हुए बोली, ''दीदी, मेरे ख्वाबों में कोई राजकुमार नहीं आता है। मेरे ख्वाबों में बस मैं ही मैं हूँ, जो हर दिन से कुछ नया सीख कर एक साहसी महिला के रूप में खुद को पहचान रही है।''[7]

गृहशोभा की कहानियों में स्त्री की कोई एक स्थिर छवि एक नहीं है, बल्कि यह निरंतर विकसित और परिवर्तित होती 'सांस्कृतिक निर्मिति' है। इस पत्रिका के कथा-साहित्य का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि समकालीन हिंदी मीडिया में स्त्री-अस्मिता का निर्माण एक गहरे द्वंद्व के बीच हो रहा है। जहाँ एक ओर पत्रिका कामकाजी स्त्री की आत्मनिर्भरता, निर्णय-क्षमता और अपनी देह पर अधिकार जैसे आधुनिक सरोकारों को मंच प्रदान करती है, वहीं दूसरी ओर वह पितृसत्तात्मक मर्यादाओं के प्रति एक प्रकार की 'संरचनात्मक निष्ठा' बनाए रखने के लिए भी प्रतिबद्ध है।

वनिता की 'विद्रोही और प्रतिरोधी स्त्रियाँ'

वनिता का विमर्श तीनों पत्रिकाओं में सबसे मुखर और क्रांतिकारी स्त्री-छवि को प्रस्तुत करता है। कहानियों की स्त्री 'मौन समर्पण' को सिरे से खारिज करती है, और न केवल पारंपरिक प्रतीकों (जैसे—घोड़े पर बारात ले जाना, मंगलसूत्र का अस्वीकार) को चुनौती देती हैं, बल्कि वे राज्य-व्यवस्था के उपकरणों (पुलिस, कानून) का चतुर उपयोग करना भी जानती हैं। पत्रिका की कहानियों में मौजद स्त्री विवाह की वर्जनाओं और और अपनी यौनिक एजेंसी को लेकर मुखर है। 'ख्वाहिशों के सिलसिले' कहानी की नायिका 'बरखा' इस विचार को खारिज करती है कि 'पति की इच्छा सर्वोपरि' है। वह स्पष्ट कहती है-

''मेरा जीवन का नब्बे प्रतिशत हिस्सा मेरी शादीशुदा जिंदगी, पति, ऑफिस आदि में जाता है... शेष दस प्रतिशत पर केवल मेरा अधिकार है। उसे मैं जैसे चाहूं, बिताने का हक मुझे मिलना चाहिए।''[8]

यह उद्धरण स्त्री की अपनी देह और समय पर संप्रभुता के अधिकार को स्थापित करता है। ये कहानियाँ उन प्रतीकों पर प्रहार करती हैं जो स्त्री को 'वस्तु' बनाते हैं। 'दारोगा जी की दुलहनिया' (सितंबर 2018) में रजनी द्वारा घोड़े पर चढ़कर बारात ले जाना विवाह संस्था के पुरुष-प्रधान प्रभुत्व को चुनौती देने का एक सशक्त प्रतीकात्मक कृत्य है। इसी प्रकार, ''मौन क्रंदन'' कहानी में ससुर की तस्वीर को कचरे के हवाले करना पितृसत्तात्मक कुप्रथाओं के प्रति न्याय का प्रतीक है। कहानी का अंतिम संवाद है-

''सुबह दाह-संस्कार से पहले दादा जी की फूल चढ़ी

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

तसवीर को कचरे के हवाले कर दिया। यही हमारी मां को सच्ची श्रद्धांजलि थी।''[9]

पत्रिका की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें स्त्री अपनी आर्थिक स्वतंत्रता ही स्त्री-मुक्ति को पहली सीढ़ी की तरह चुनती है। 'गृह प्रवेश' में नताशा का अपनी करियर की उन्नति के लिए विदेश जाना और पति के हिंसक व्यवहार के सामने न झुकना, स्त्री की संप्रभु इकाई के रूप में स्थापना करता है। नताशा का यह कथन-

''मुझे पता था तुम ऐसा ही कुछ बोलोगे, ठीक है लौट कर नहीं आऊंगी, लेकिन ऑस्ट्रेलिया अवश्य जाऊंगी।''[10]

''तुमने पुकारा होता''[11] की नायिका वैष्णवी मंगलसूत्र और सोने के कंगन जैसे पितृसत्तात्मक सुरक्षा के प्रतीकों को अस्वीकार करना यह सिद्ध करता है कि स्त्री का यह रूप तरस के आधार पर नहीं, बल्कि स्वाभिमान के साथ जीना चाहती है।

वनिता पत्रिका की कहानियों में स्त्री की छवि केवल पारंपरिक 'आदर्श बहू' तक सीमित नहीं है। यह एक ऐसी नायिका है जो पितृसत्ता की 'लक्ष्मण रेखा' को लांघकर अपने लिए समान अधिकार और सम्मान की मांग कर रही है। यह पत्रिका स्त्री को धोखे या दमन के सामने आत्महत्या के बजाय तर्क और विद्रोह का मार्ग चुनने के लिए प्रेरित करती है। वनिता पत्रिका का विमर्श स्त्री को पूर्ण इकाई के रूप में स्थापित करने का निरंतर और सफल प्रयास कर रही है।

गृहलक्ष्मी की परिवर्तनशील किन्तु नियंत्रित स्त्री

गृहलक्ष्मी पत्रिका में स्त्री की छवि 'परंपरा' और 'आधुनिकता' के बीच एक संघर्षरत इकाई के रूप में नजर आता है। यहाँ कहानियों में स्त्री की छवि अक्सर एक 'त्यागमयी माँ' अथवा 'सुपरवूमन' के रूप में दिखाया जाता है जो अपनी शारीरिक और मानसिक थकान को भूलकर केवल परिवार के लिए समर्पित रहती है। यह छवि पितृसत्ता द्वारा थोपे गए 'मदरहुड गिल्ट' का हिस्सा है, जहाँ स्त्री के लिए स्वयं के प्रति जागरूक होना एक प्रकार का अपराध माना जाता है।

''यह दुर्लभ महामोही क्षण और अंदर पैठती ऊब। अनिच्छा और थकान। क्या सिर्फ भूख की वजह से? वह घबरा उठी, अपने अंदर पसरती जाती इस सपाट बेरुखी से।''[12]

पत्रिका में स्त्री की छवि को केवल बाह्य सौंदर्य से नहीं, बल्कि उसके 'चरित्र' से भी जोड़कर पेश किया जाता है। यहाँ स्त्री की छवि एक 'प्रदर्शन-वस्तु' जैसी है, जिसे सुंदर दिखने के साथ-साथ 'नम्र', 'सेवाभावी' और 'मूक' होना अनिवार्य है। यह सौंदर्य प्रसाधनों को स्त्री-दमन के एक वैचारिक औजार के रूप में उपयोग करता है, जहाँ स्त्री की सुंदरता को उसके 'संस्कारों' से मापा जाता है-

''सुंदर त्वचा के टॉनिक हेतु आप 'कृपा' व 'भलाई' को बराबर मात्रा में लेकर 'प्रेम' की अग्नि में खूब पकाएं... अब 'दान' व 'सेवा' के मेवे से सजाकर 'नम्रता' की चाशनी में आवश्यकतानुसार उसे डुबोयें।''[13]

गृहलक्ष्मी की कुछ कहानियों में स्त्री की एक नई और मुखर छवि दिखाई देती है, जो विवाह संस्था के भीतर अपनी जगह बनाने के लिए आर्थिक सत्ता का उपयोग करती है। यहाँ स्त्री की छवि 'अबला' के बजाय एक 'व्यावहारिक' और 'सशक्त' इकाई की है। यह छवि पितृसत्तात्मक नैतिकता के ढोंग को उजागर करती है, जहाँ पुरुष के असफल होने पर उसे 'पुरुषार्थ' और स्त्री के असफल होने पर उसे 'चरित्रहीन' माना जाता है। कुछ कहानियों में स्त्री की छवि एक 'अनुत्पादक बोझ' के रूप में गढ़ी गई है, यह परिवार संस्था के भीतर वृद्ध स्त्री की असुरक्षा को दर्शाता है, जहाँ उसकी 'मातृ-महिमा' केवल एक प्रतीकात्मक छलावा है।

निष्कर्ष

वनिता पत्रिका का विमर्श स्त्री को 'पूर्ण इकाई' के रूप में स्थापित करने का सफल प्रयास करता है, वहीं गृहशोभा की स्त्री-छवि को 'समझौतावादी आधुनिकता' कहा जा सकता है और इन दोनों से इतर गृहलक्ष्मी पत्रिका में स्त्री की छवि 'परिवर्तनशील किंतु नियंत्रित' है। यह शोध-लेख स्पष्ट करता है कि समकालीन हिंदी मीडिया में स्त्री-अस्मिता का निर्माण एक गहरे द्वंद्व का परिणाम है। ये पत्रिकाएँ जहाँ एक ओर स्त्री को जागरूक और आत्मनिर्भर बनने का मंच देती हैं, वहीं दूसरी ओर बाजार और पितृसत्तात्मक दबावों के कारण रूढ़िवादी छवियों को पुनरुत्पादित करने के लिए विवश भी दिखाई देती हैं। संक्षेप में, यह लेख यह सिद्ध करता है कि लोकप्रिय महिला पत्रिकाएँ स्त्री की यथार्थ स्थिति और मीडिया द्वारा गढ़ी गई उसकी 'मीडिया-निर्मित प्रतिबिंब' के मध्य व्याप्त अंतर्विरोधों का प्रमुख केंद्र हैं।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : anitajaiswal544@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. "To interpret a text is not to give it a... meaning, but on the contrary to appreciate what plurality constitutes it... the codes it mobilizes extend as far as the eye can reach, they are indeterminable." Page-107, Smith, P., & Riley, A. (2009). Cultural Theory: An Introduction (2nd ed.). Blackwell Publishing.
2. चतुर्वेदी, जगदीश्वर, और सुधा सिंह. जनमाध्यम सैद्धांतिकी मॉडल और विचारधारा. एकेडमिक पब्लिकेशन, 2021, पृ.सं.–102.
3. जगदीश्वर चतुर्वेदी, माध्यम सम्राज्यवाद, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, संस्करण–2002, पृष्ठ–94–95.
4. अहमद, पूनम. 'हैप्पी न्यू ईयर', गृहशोभा, जनवरी (द्वितीय) 2018, पृ. 41–42.
5. गृहशोभा, मई (प्रथम), 2019, पृ. 70.
6. गृहशोभा, अप्रैल (द्वितीय), 2020, पृ. 91.
7. गृहशोभा, दिसंबर (प्रथम), 2022, पृ. 48.
8. वनिता, जुलाई 2020, पृ. 34.
9. वनिता, सितंबर 2018, पृ. 87.
10. वनिता, अक्टूबर 2018, पृ. 62.
11. वनिता, नवंबर 2022, पृ. 42.
12. गृहलक्ष्मी, मार्च 2019, पृ. 26.
13. गृहलक्ष्मी, अप्रैल 2020, पृ. 24.

कनक गौर

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर : लोकतंत्र, जाति-संघर्ष, धार्मिक सुधार और सामाजिक न्याय का तुलनात्मक अध्ययन नवयान बौद्ध धर्म के विशेष संदर्भ में

सारांश

यह शोध पत्र आधुनिक भारतीय राजनीति और समाज के विचारों में दो बेहद महत्वपूर्ण, लेकिन एक-दूसरे के विपरीत ध्रुवों—डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर के दार्शनिक विचारों का गहराई से अध्ययन करता है। इसमें खास तौर पर राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, जातिवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक सुधार जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर उनके विचारों का बारीकी से विश्लेषण किया गया है। हालांकि दोनों ही विचारक हिंदू समाज में जातिवाद, अंधविश्वास और अस्पृश्यता के खिलाफ थे, लेकिन इस शोध में यह स्पष्ट होता है कि उनके विरोध के उद्देश्य और दार्शनिक आधार एकदम अलग थे। सावरकर का जाति सुधार और राष्ट्रवाद असल में एक 'व्यवहारिक और उपयोगितावादी' दृष्टिकोण था, जिसका मुख्य मकसद हिंदू समाज में मौजूद दरारों को भरकर उसे एकजुट करना था, ताकि एक मजबूत 'हिंदू राष्ट्र' का गठन हो सके। इसके विपरीत, डॉ. अम्बेडकर का पूरा दर्शन मानवीय अधिकारों, व्यक्ति के सम्मान और 'जाति के समूल विनाश' पर आधारित था। उन्होंने सावरकर के बहुसंख्यकवादी राष्ट्रवाद को खारिज करते हुए 'संवैधानिक नैतिकता' और 'सामाजिक लोकतंत्र' को एक सच्चे राष्ट्र के लिए अनिवार्य माना। इसके अलावा, इस शोध पत्र में धार्मिक सुधार के मुद्दे पर सावरकर के हिंदू धर्म के भीतर 'एकीकरण' के प्रति समर्थन और डॉ. अम्बेडकर के हिंदू धर्मग्रंथों के खिलाफ 'पूर्ण विच्छेद' के विचार का भी विस्तार से मूल्यांकन किया गया है। अंतत:, यह अध्ययन 'नवयान बौद्ध धर्म' के संदर्भ में दोनों विचारकों के दृष्टिकोणों के टकराव को उजागर करता है। सावरकर ने बौद्ध धर्म की अहिंसा और शांतिवाद को भारत के सैन्य पतन का मुख्य कारण बताया, जबकि डॉ. अम्बेडकर ने नवयान बौद्ध धर्म को प्रज्ञा, करुणा और समानता पर आधारित एक जीवंत सामाजिक नैतिकता के रूप में स्थापित किया, जो शोषित मानवता के लिए सामाजिक और आध्यात्मिक मुक्ति के लिए सर्वोत्तम विकल्प है। अंतत:, यह शोध पत्र यह साबित करता है कि सावरकर का दर्शन राष्ट्र की भौतिक और सैन्य शक्ति पर आधारित है, जबकि अम्बेडकर का दर्शन उस राष्ट्र को एक सच्ची मानवीय, न्यायपूर्ण और समानता की आत्मा प्रदान करता है।

बीज शब्द

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, विनायक दामोदर सावरकर, नवयान बौद्ध धर्म, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, हिंदुत्व, सामाजिक न्याय, जाति का उन्मूलन, संवैधानिक नैतिकता, सामाजिक लोकतंत्र, धार्मिक विच्छेद, उपयोगितावादी सुधार, सामाजिक अंत:सरण।

प्रस्तावना

बीसवीं सदी में भारत का राजनीतिक और सामाजिक हालात एक बेहद जटिल और महत्वपूर्ण बदलाव से गुजर रहा था। जहाँ एक ओर ब्रिटिश उपनिवेशी शासन से राजनीतिक आजादी पाने की कड़ी लड़ाई थी, वहीं दूसरी ओर समाज में जमी हुई सामाजिक असमानताएँ, सांस्कृतिक रूढ़िवाद और वर्गीय संरचनाओं को तोड़ने की भी गहरी सोच चल रही थी।[1] इस ऐतिहासिक दौर में आधुनिक भारत के निर्माण के लिए कई विचारधाराएँ सामने आईं, जिनमें डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर के विचार सबसे अधिक प्रभावशाली और एक-दूसरे के विपरीत नजर आते हैं।[2] दोनों ही महान विचारकों की जड़ें महाराष्ट्र में हैं, जहाँ समाज सुधार

आंदोलनों का एक लंबा इतिहास रहा है। दोनों ने हिंदू समाज में व्याप्त छुआछूत और अंधविश्वासों के खिलाफ आवाज उठाई और आधुनिकता, विज्ञान और तर्कशीलता को बढ़ावा दिया। हालांकि, राष्ट्र, लोकतंत्र, धर्म और व्यक्ति के अधिकारों के उनके विचार एकदम भिन्न थे। सावरकर का पूरा राजनीतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीय शक्ति' के इर्द-गिर्द घूमता है, जिसमें उन्होंने 'हिंदुत्व' की एक संस्कृति और भौगोलिक अवधारणा प्रस्तुत की। इसका मुख्य उद्देश्य हिंदू समाज को राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से एकजुट कर एक मजबूत 'हिंदू राष्ट्र' बनाना था। उनके लिए जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता का विरोध किसी सार्वभौमिक मानवाधिकार से प्रेरित नहीं था, बल्कि यह हिंदू समाज को मजबूत बनाने की रणनीति थी।[3] सावरकर का मानना था कि प्राचीन जाति व्यवस्था भले ही उपयोगी रही हो, लेकिन आधुनिकता में यह हिंदू राष्ट्र की शक्ति को कमजोर कर रही है। लोकतंत्र के वास्तविक अर्थ को वे बहुसंख्यक संस्कृति और राजनीतिक इच्छा के सम्मान के रूप में देखते थे। इसके मुकाबले, डॉ. अम्बेडकर का पूरा दर्शन व्यक्ति और उसकी सामाजिक गरिमा पर केंद्रित था। उन्होंने किसी भी तरह के संकीर्ण राष्ट्रवाद की परिभाषा को खारिज किया जो सांस्कृतिक वर्चस्व पर आधारित हो। अम्बेडकर के अनुसार, कोई भी राष्ट्र केवल एक भूमि नहीं होती, बल्कि यह नागरिकों के बीच सहानुभूति और बंधुत्व का प्रतीक है।[4] उन्होंने लोकतंत्र को केवल शासन प्रणाली नहीं, बल्कि एक सहजीवन की प्रक्रिया माना। उनका मानना था कि जब तक समाज में एक मजबूत सामाजिक लोकतंत्र नहीं होगा, तब तक राजनीतिक लोकतंत्र व्यर्थ होगा। यह शोध पत्र इन जटिल विचारधाराओं का एक गहरा और आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है कि कैसे एक ही काल और समाज में जन्मे इन दो विचारकों ने भारतीय इतिहास को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया और भविष्य के लिए भिन्न दृष्टिकोण दिए। अंत में, यह शोध पत्र सावरकर के हिंदुत्व मॉडल और अम्बेडकर के नवयान मॉडल के बीच के टकराव का बारीकी से विश्लेषण करता है, और इन दोनों विचारों की भारतीय राजनीति, सामाजिक विमर्श और समतामूलक समाज के निर्माण में प्रासंगिकता को भी समझने की कोशिश करता है।[5]

राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की परिकल्पना

आधुनिक भारतीय राजनीति के विचारों के विकास में, राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की सैद्धांतिक और व्यावहारिक परिकल्पना बेहद जटिल, संवेदनशील, और गहन चर्चाओं का विषय रही है। जब भारत ने बीसवीं सदी के पहले हिस्से में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता पाने के लिए संघर्ष किया, तो यह सवाल तेजी से उभरा कि आखिर वो स्वतंत्र राष्ट्र कैसे बनेगा, और उसमें लोकतंत्र का असली स्वरूप क्या होगा। इस ऐतिहासिक और वैचारिक मंथन में विनायक दामोदर सावरकर और डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के विचार दो बिलकुल भिन्न दिशाओं में जाते हैं। इन दोनों नेताओं ने राष्ट्र और लोकतंत्र के जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किए, वे न केवल उस समय की राजनीतिक जरूरतों से प्रेरित थे, बल्कि उनके अलग-अलग दार्शनिक आधारों को भी प्रदर्शित करते हैं।[6] सावरकर का पूरा राजनीतिक दृष्टिकोण एक अखंड, सांस्कृतिक रूप से एकजुट और सैन्य दृष्टि से अत्यंत शक्तिशाली राष्ट्र के इर्द-गिर्द केंद्रित था। उन्होंने 'हिंदुत्व' के माध्यम से एक मजबूत अवधारणा पेश की, जिसने राष्ट्रवाद को सिर्फ एक राजनीतिक समझौते या भौगोलिक सीमाओं तक सीमित न रखते हुए, इसे रक्त, साझा संस्कृति, और ऐतिहासिक निरंतरता की गहरी जैविक और आध्यात्मिक एकता में बदल दिया। सावरकर के अनुसार, सच्चा राष्ट्रवादी वही है जो इस विशाल मातृभूमि जिसकी सीमाएँ सिंधु नदी से लेकर हिंद महासागर तक फैली हैं को केवल अपनी जन्मभूमि या 'पितृभूमि' नहीं मानता, बल्कि उसे अपनी 'पुण्यभूमि' भी स्वीकार करता है। इसी तरह से, राष्ट्रवाद की सावरकर की यह खास परिभाषा भारतीय राष्ट्र-राज्य को सीधे सांस्कृतिक और धार्मिक बहुसंख्यकवाद से जोड़ देती है।[7] सावरकर के राष्ट्रवादी ढाँचे में लोकतंत्र का विचार भी उसी बहुसंख्यकवादी ढांचे में ढला हुआ है। उनके लिए लोकतंत्र का मतलब मुख्यतः बहुसंख्यक समाज की सांस्कृतिक पहचान, ऐतिहासिक गौरव, और राजनीतिक इच्छाओं का निर्बाध शासन था। सावरकर के विचारों में, लोकतंत्र एक ऐसा संस्थागत और राजनीतिक साधन था, जिसका मुख्य उद्देश्य बहुसंख्यक हिंदू समाज की जनसांख्यिकीय शक्ति को राजनीतिक वर्चस्व में बदलना और राष्ट्र को बाहरी तथा आंतरिक सांस्कृतिक आक्रमणों से सुरक्षित रखना था। इसके बिल्कुल विपरीत, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने राष्ट्रवाद की उन परिभाषाओं को बहुत संकीर्ण और अलोकतांत्रिक माना, जो सिर्फ भौगोलिक सीमाओं की पूजा या बहुसंख्यक समुदाय के सांस्कृतिक वर्चस्व पर आधारित हैं। एक कुशाग्र समाजशास्त्री के तौर पर, अम्बेडकर ने भारतीय समाज की कठोर वास्तविकता का बारीक विश्लेषण

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

करते हुए यह स्पष्ट किया कि राष्ट्र सिर्फ एक निर्जीव संरचना या राजनीतिक क्षेत्र नहीं है। बल्कि, ये नागरिकों के बीच पनपने वाली गहरी 'सहानुभूतिपूर्ण सामाजिक भावना' का प्रतीक है। उनका मानना था कि एक ऐसा समाज जो हजारों जातियों और उपजातियों में विभाजित है, जहां इंटरकास्ट मैरिज और सामूहिक भोज पर कड़े धार्मिक प्रतिबंध हैं, और जहां एक वर्ग दूसरे वर्ग को जन्म से ही अछूत मानता है, उसे किसी भी वैचारिक या नैतिक मापदंड पर राष्ट्र नहीं कहा जा सकता।[8] अम्बेडकर का ऐतिहासिक निष्कर्ष था कि जातियों का अस्तित्व असल में राष्ट्र के खिलाफ है, क्योंकि ये सामाजिक अलगाव लाती हैं और भ्रातृत्व की भावना के विकास में बाधा बनती हैं। जहां सावरकर राष्ट्र को पहले से एक सच्चाई मानकर उसकी सुरक्षा पर ध्यान दे रहे थे, वहीं अम्बेडकर का यथार्थवादी दृष्टिकोण यह था कि भारत एक 'राष्ट्र बनने की प्रक्रिया' में है। लोकतंत्र के मुद्दे पर भी अम्बेडकर की नजर सावरकर के संख्या-बल और बहुसंख्यकवाद के सिद्धांत से बहुत दूर थी। उन्होंने लोकतंत्र को सिर्फ मतदान करने, सरकार चुनने या बहुसंख्यकों द्वारा शासन करने के एक यांत्रिक तंत्र के रूप में नहीं देखा। उनके लिए लोकतंत्र मूलतः 'सहचर्यपूर्ण जीवन की एक विधा' है और अपने साथी मनुष्यों के प्रति असीम सम्मान और श्रद्धा का भाव है। अम्बेडकर के लिए लोकतंत्र का सबसे बड़ा खतरा कोई बाहरी सैन्य आक्रमण नहीं, बल्कि समाज के भीतर बढ़ता हुआ बहुसंख्यकवादी अत्याचार था, जो अपने संख्या-बल के घमंड में अल्पसंख्यकों और शोषित वर्गों के मानवाधिकारों को बेरहमी से कुचल सकता था।[9] इस ऐतिहासिक डर को मिटाने और एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए, अम्बेडकर ने 'संवैधानिक नैतिकता' की बात की, जिसे उन्होंने लोकतंत्र की सबसे मजबूत धुरी माना।

जाति-संघर्ष और सामाजिक न्याय

आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक सोच का इतिहास जाति-संघर्ष और सामाजिक न्याय पर आधारित एक जटिल और गहरा मुद्दा है, जिसने बीसवीं शताब्दी में विचारों का Landscape पूरी तरह से बदलकर रख दिया। यह एक ऐसा भव्य वैचारिक युद्धक्षेत्र रहा है जहां डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर के विचार दो अलग-अलग दार्शनिक, समाजशास्त्रीय और राजनीतिक पहलुओं से निकलते हैं। हालाँकि, दोनों ने भारतीय समाज की सबसे बड़ी बुराई, जाति प्रथा और अस्पृश्यता के खिलाफ अपने-अपने तरीके से दृढ़ता से आवाज उठाई, उनके पीछे के अंतिम उद्देश्य और सामाजिक न्याय की परिकल्पनाएं एक-दूसरे से बिल्कुल अलग थीं। उनके विचारों का तुलनात्मक अध्ययन यह दिखाता है कि जहाँ एक के लिए जाति का अंत राष्ट्र की राजनीतिक ताकत के लिए जरूरी था, वहीं दूसरे के लिए यह मानवता की गरिमा और स्वतंत्रता का आधार था।[10] विनायक दामोदर सावरकर, जो एक मजबूत राष्ट्रवादी, उपयोगितावादी और विज्ञान-आधारित विचारक थे, ने जाति व्यवस्था का विरोध इसलिए किया क्योंकि उन्होंने इसे हिंदू समाज की एकता और राजनीतिक वर्चस्व में सबसे बड़ी बाधा माना। उनका यह स्पष्ट और कठोर तर्क था कि जन्म के आधार पर भेदभाव की यह प्रथा हिंदू समाज को अंदर से खा रही है और इसे बाहरी दुश्मनों और धर्मांतरण की चुनौतियों के सामने कमजोर बना रही है।

रत्नागिरि में अपनी नजरबंदी के दौरान, सावरकर ने हिंदू समाज को जकड़ने वाले 'सात बेड़ियों' (सप्त-श्रृंखला) का गहरा और तार्किक विश्लेषण किया।[11] उन्होंने कहा कि छुआछूत, सहभोज पर रोक, अंतर-जातीय विवाह पर रोक और जन्म के आधार पर पेशे का निर्धारण जैसे रिवाज राष्ट्र की ताकत को कमजोर करने वाले हैं। उन्होंने वर्ण व्यवस्था को एक मृत और क्षयग्रस्त संस्था माना जो वर्तमान हिंदू समाज की रक्षा के लिए त्यागी जानी चाहिए। उनके लिए सामाजिक न्याय का मतलब था हिंदू समाज की शक्ति को बढ़ाना, न कि उसकी सांस्कृतिक अस्मिता को खत्म करना।[12] इसके विपरीत, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने जाति-संघर्ष को एक बहुसंख्यक राष्ट्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता के रूप में नहीं देखा, बल्कि यह मानवीय गरिमा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और एक सच्चे समतामूलक समाज की स्थापना का प्रश्न था। अम्बेडकर ने सावरकर और अन्य हिंदू सुधारकों के इस दृष्टिकोण को सिरे से खारिज कर दिया कि केवल सहभोज, अंतर-जातीय विवाह या मंदिर में प्रवेश की अनुमति देने से जाति प्रथा समाप्त हो जाएगी। उन्होंने भारतीय समाज की गहन रूप से जांच करते हुए साबित किया कि जाति सिर्फ 'श्रम का विभाजन' नहीं है, इसे 'श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन' माना जाना चाहिए, जो समाज में असमानता को जन्म देता है। इस असमानता की सबसे कड़ी विशेषता यह है कि हर जाति अपने से नीचे की जाति का शोषण करती है और अपने से ऊपर की जाति से ईर्ष्या करती है, जिससे शोषित वर्गों के बीच

कोई साझा चेतना या एकजुटता नहीं बन पाती।[13] अम्बेडकर का विश्वास था कि जाति कोई भौतिक दीवार नहीं है, जिसे प्रतीकात्मक तरीके से तोड़ा जा सके। उनके अनुसार, जाति असल में एक गहरी 'मानसिक ग्रंथि' है, जो एक तरह की रुग्ण मनोवैज्ञानिक स्थिति है, जिसे हिंदू धर्मग्रंथों से — खासकर श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों—से दिव्य और वैधानिक मान्यता मिली हुई है। अम्बेडकर के लिए सामाजिक न्याय का मतलब सिर्फ शोषित वर्गों के प्रति दया दिखाना या उन्हें हिंदू समाज में शामिल करना नहीं था। उनका असली लक्ष्य उस संपूर्ण ब्राह्मणवादी ढांचे को समाप्त करना था, जो जन्म के आधार पर एक इंसान को दूसरे से बेहतर या inferior मानता है।[14] इस तरह, जाति और सामाजिक न्याय के मुद्दे पर सावरकर एक 'राष्ट्रीय सुधारक' के रूप में उभरे, जबकि डॉ. अम्बेडकर एक 'सार्वभौमिक मानवाधिकारवादी क्रांतिकारी' के तौर पर इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं।[15]

धार्मिक सुधार : एकीकरण बनाम पूर्ण विच्छेद

आधुनिक भारतीय विचारधारा के इतिहास में धार्मिक सुधार का मुद्दा वो महत्वपूर्ण और जटिल मोड़ है जहां डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर के विचार हमेशा के लिए एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। यह एक दिलचस्प ऐतिहासिक तथ्य है कि दोनों ही दार्शनिक अपने-अपने तरीके से तर्कशील, विज्ञान-आधारित और आधुनिकता के पक्षधर थे, और अंधविश्वास के खिलाफ थे। लेकिन जब बात धर्म की सामाजिक उपयोगिता, उसके भीतर के स्वरूप, और भविष्य को लेकर आई, तो उनके दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न और विवादास्पद थे। सावरकर के लिए धार्मिक सुधार का असली लक्ष्य 'हिंदू समाज का जनसांख्यिकीय, राजनीतिक और सांस्कृतिक एकीकरण' था। वे हिंदू धर्म को केवल एक पूजा-पद्धति या आध्यात्मिक कर्मकांडों का समूह नहीं मानते थे। उनके लिए शहिंदुत्वश एक विशाल सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचान थी जिससे वे विभाजित समाज को एक मजबूत और अभेद्य शक्ति में ढालना चाहते थे। सावरकर ने खुलकर हिंदू समाज में फैले अंधविश्वास, कर्मकांडों और गाय को माता मानने जैसे परंपरागत विचारों का विरोध किया।[16] उनका तर्क था कि गाय सिर्फ एक उपयोगी पशु है, और हमें उसे पूजा करने के बजाय विज्ञान, तकनीक और औजारों की पूजा करनी चाहिए ताकि राष्ट्र पश्चिमी साम्राज्यवाद और बाहरी आक्रमणों के खिलाफ मजबूत बन सके। सावरकर का यह धार्मिक सुधार शुद्ध रूप से उपयोगितावादी और राष्ट्रीय सुरक्षा से प्रेरित था। उनका उद्देश्य था हिंदू धर्म की उन पुरानी, रूढ़िवादी और विभाजनकारी मान्यताओं को हटाना, जो राष्ट्र को कमजोर बनाती हैं। वे हिंदू समाज को एक आधुनिक, तर्कशील और संगठित हिंदू राष्ट्र में बदलना चाहते थे। वे अपने धर्म को छोड़ना नहीं चाहते थे, बल्कि उसकी जीर्ण-शीर्ण दीवारों को मरम्मत कर, छुआछूत जैसी दरारों को भरकर उसे मजबूत बनाना चाहते थे ताकि वह किसी भी बाहरी हमले का सामना कर सके। उनके लिए धर्मशास्त्रों की मान्यता तभी तक थी जब तक कि वे राष्ट्र की शक्ति में सहायक हों; अगर कोई शास्त्र राष्ट्र की एकता को तोड़ता है, तो उसे तुरंत हटा दिया जाना चाहिए।[17] डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लिए धार्मिक सुधार की यात्रा एक दुखद सामाजिक वास्तविकता और कठिन अनुभवों से भरी थी, जिसका अंत 'पूर्ण विच्छेद' के रूप में हुआ। अपने सार्वजनिक जीवन के शुरुआती दौर में, उन्होंने महाड़ के चवदार तालाब सत्याग्रह और नासिक के कालाराम मंदिर प्रवेश आंदोलन जैसे आंदोलनों के जरिए हिंदू धर्म के भीतर सुधार की कोशिश की। उनका मुख्य उद्देश्य सवर्ण हिंदू समाज की गहरी नींद में सोई अंतरात्मा को जगाना और अछूतों के लिए न्यूनतम मानवाधिकार और सामाजिक गरिमा हासिल करना था। लेकिन जब शांतिपूर्ण और न्यायपूर्ण आंदोलनों का जवाब सवर्ण समाज ने हिंसा, कट्टरता, और सामाजिक बहिष्कार से दिया, तो अम्बेडकर को यह कड़वा सच स्वीकार करना पड़ा कि हिंदू धर्म में सुधार की कोई संभावना नहीं है।[18] उनका समाजशास्त्रीय निष्कर्ष था कि हिंदू धर्म असल में धर्म की परिभाषा में नहीं आता; यह केवल आदेशों और निषेधों का एक कठोर कानूनी ढांचा है, जिसमें जन्म पर आधारित असमानता जड़ी हुई है। उन्होंने बताया कि हिंदू धर्म ऐसा नहीं है जिसे हम बस कुछ मरम्मत करके ठीक कर सकें; इसकी नींव में जातिवाद और छुआछूत का जहर है, इसलिए शोषित वर्गों के अधिकारों की रक्षा के लिए इसे पूरी तरह से तोड़ना या हमेशा के लिए छोड़ना ही एकमात्र विकल्प है।[19] जब सावरकर धर्मग्रंथों की आलोचना करते हुए भी हिंदू पहचान को बचाए रखना चाहते थे, तो अम्बेडकर ने कह दिया कि वेदों और पुराणों की ईश्वरीय सत्ता को नकारे बिना दलितों को कभी भी मानवीय गरिमा नहीं मिल सकती। जहां सावरकर का सुधार बहुसंख्यक समाज को संगठित करके एक राजनीतिक शक्ति बनाने का माध्यम था, वहीं डॉ. अम्बेडकर का पूर्ण विच्छेद एक शोषित

समुदाय को सदियों की दासता से मुक्त कर एक नई, स्वतंत्र और गरिमापूर्ण पहचान दिलाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था, जिसने उन्हें अंततः नवयान बौद्ध धर्म की समानता में पहुंचा दिया।[20]

नवयान बौद्ध धर्म : एक सामाजिक-आध्यात्मिक विकल्प

आधुनिक भारतीय राजनीति, दर्शन और समाज पर विमर्श के लंबे इतिहास में 'नवयान बौद्ध धर्म' की शुरुआत एक महत्वपूर्ण मोड़ है, जहाँ डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और विनायक दामोदर सावरकर के विचारों के बीच का विवाद अपने चरम पर पहुंचता है। दोनों ने भारत के अतीत, राष्ट्र निर्माण के जटिल मुद्दों, और धर्म की भूमिका को समझने के लिए बौद्ध धर्म का गहराई से अध्ययन किया, लेकिन उनके निष्कर्ष एक-दूसरे के विपरीत थे। यह ऐसा विचारों का संघर्ष है जिसमें एक ओर धर्म को राष्ट्रीय शक्ति का साधन माना गया, वहीं दूसरी ओर इसे शोषित मानवता की गरिमा और सामाजिक मुक्ति का अंतिम सहारा माना गया।[21] विनायक दामोदर सावरकर, जिनका पूरा विचार एक मजबूत, अनुशासित और सैन्य दृष्टि से अजेय हिंदू राष्ट्र के निर्माण के इर्द-गिर्द घूमता है, ने गौतम बुद्ध को एक महान दार्शनिक की तरह मान्यता तो दी, लेकिन उन्होंने बौद्ध धर्म की राजनीतिक और सामाजिक प्रभावों की कड़ी समीक्षा की। सावरकर का कहना था कि बौद्ध धर्म की 'अहिंसा' और शांतिवादी दृष्टिकोण ने भारतीय समाज की सुरक्षा को कमजोर कर दिया। उनका विश्वास था कि बौद्ध धर्म का अत्यधिक वैराग्य और शांति की ओर झुकाव ने हिंदू राष्ट्र की रक्षा की भावना को खत्म कर दिया, जिससे भारत हूणों और बाद में इस्लामी आक्रांताओं का सरल शिकार बन गया। सावरकर के लिए धर्म का मुख्य कार्य राष्ट्र को शक्ति और आक्रामकता प्रदान करना था। इस दृष्टि से, बौद्ध धर्म के शांतिवादी सिद्धांत राष्ट्रीय पतन का एक बड़ा कारण थे।[22] इसके विपरीत, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने भारतीय इतिहास को एक नया और मौलिक रूप दिया। उन्होंने इसे बौद्ध धर्म की समानतावादी 'क्रांति' और ब्राह्मणवाद की हिंसक 'प्रतिक्रांति' के बीच चलने वाले संघर्ष के रूप में देखा। उनके विचार में, बौद्ध धर्म भारत के पतन का कारण नहीं था, बल्कि यह मानवता का एक महान स्तंभ था, जिसे ब्राह्मणवादी शक्तियों ने नष्ट करने की कोशिश की। जब हिंदू धर्म में सुधार की सभी संभावनाएं खत्म हो गईं, तब अम्बेडकर ने इस्लाम या ईसाई धर्म के बजाय बौद्ध धर्म को अपनाया, क्योंकि यह भारतीय मूल का था, आधुनिक विज्ञान और तर्क के अनुरूप था, और सबसे अहम बात यह थी कि इसके केंद्र में मानव की गरिमा थी।[23] लेकिन 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर की दीक्षाभूमि पर, डॉ. अंबेडकर ने लाखों दलित अनुयायियों के साथ जो बौद्ध धर्म अपनाया, वह पारंपरिक हीनयान (थेरवाद) या महायान नहीं था। यह एक बिल्कुल नया, परिष्कृत और क्रांतिकारी दार्शनिक ढांचा था, जिसे अकादमिक और दार्शनिक दुनिया में 'नवयान' (नया मार्ग) के नाम से जाना जाता है। नवयान बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी दार्शनिक और बौद्धिक क्रांति यह थी कि अंबेडकर ने इसमें से उन सभी पारलौकिक, रहस्यवादी और कर्मकांडीय तत्वों को कठोरता से हटा दिया जो सदियों से इसमें जुड़ गए थे। नवयान के माध्यम से डॉ. अंबेडकर ने यह साबित कर दिया कि असली धर्म वही है, जो किसी अदृश्य ईश्वर को प्रसन्न करने के बजाय समाज के अंतिम, उपेक्षित और शोषित व्यक्ति को एक पूर्ण मनुष्य होने का गौरव और अधिकार दे। यही दार्शनिक बिंदु सावरकर के आक्रामक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और अंबेडकर के मानवीय लोकतांत्रिक अध्यात्मवाद के बीच की सबसे गहरी और निर्णायक विभाजन रेखा है।[24]

निष्कर्ष

इस शोध पत्र में गहराई से विश्लेषण करने पर यह साबित होता है कि सावरकर और अम्बेडकर दोनों ने भारतीय समाज की आंतरिक कमजोरियों, विशेष रूप से जाति व्यवस्था और छुआछूत की कुरीतियों का विरोध किया। दोनों ने राष्ट्र को आधुनिकता, विज्ञान और तर्कशीलता की ओर लाने की कोशिश की, लेकिन उनके सुधार के उद्देश्यों और वैचारिक पद्धतियों में जमीन-आसमान का फर्क था। सावरकर का राजनीतिक दर्शन और हिंदुत्व का मॉडल 'राष्ट्रीय एकीकरण', 'सांस्कृतिक समानता' और 'सैन्य शक्ति' के उपयोगितावादी सिद्धांत पर आधारित था। उनके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अल्पसंख्यकों के अधिकार और सामाजिक न्याय का प्रश्न राष्ट्र की शक्ति और बहुसंख्यक समाज की सांस्कृतिक पहचान के अधीन था। सावरकर ने जाति व्यवस्था का विरोध इसीलिए किया क्योंकि वह हिंदू समाज को राजनीतिक और जनसांख्यिकीय तौर पर कमजोर कर रही थी, न कि इसके मानवाधिकारों के उल्लंघन की वजह से। दूसरी ओर, डॉ. अम्बेडकर का मानवाधिकार और लोकतंत्र का दृष्टिकोण 'व्यक्ति की गरिमा', 'स्वतंत्रता', 'समानता' और 'बंधुत्व' के सिद्धांत पर आधारित

था। उन्होंने राष्ट्रवाद की किसी भी संकीर्ण परिभाषा को नकार दिया, जो समाज के शोषित वर्गों को उनके मूल अधिकारों से वंचित करती है। उनके लिए लोकतंत्र सिर्फ एक बहुसंख्यकवादी शासन ढांचा नहीं था, बल्कि यह सामाजिक एकता और सहयोग का एक ऐसा उच्चतम रूप था, जिसे संवैधानिक नैतिकता के कठोर नियमों से सुरक्षित किया जाना चाहिए। जब हम धार्मिक सुधार और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक संदर्भ में इन दोनों महान व्यक्तियों का मूल्यांकन करते हैं, तो यह वैचारिक विभाजन और भी गहरा हो जाता है। सावरकर ने भारत के ऐतिहासिक पतन और सैन्य हार के लिए बौद्ध धर्म की अहिंसा और शांति के सिद्धांत को जिम्मेदार ठहराया, जबकि अम्बेडकर ने इसे भारत की सांस्कृतिक और नैतिक ऊंचाई का प्रतीक माना। सावरकर हिंदू समाज को एक सशक्त सैन्य ढांचे में ढालने के लिए धर्मशास्त्रों का चयनात्मक उपयोग करना चाहते थे। जबकि अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि जन्म के आधार पर असमानता को बढ़ावा देने वाले हिंदू धर्मग्रंथों में सुधार का कोई मार्ग नहीं है और इसलिए उनका पूर्ण विच्छेदन ही एकमात्र समाधान है। नवयान बौद्ध धर्म के माध्यम से, डॉ. अम्बेडकर ने धर्म को कर्मकांडी रिवाजों की बेड़ियों से मुक्त कर उसे एक जीवंत सामाजिक नैतिकता में तब्दील किया, जिसका मुख्य उद्देश्य समाज के शोषित वर्ग को उनका खोया हुआ सम्मान लौटाना था। अंत में, ये कहा जा सकता है कि सावरकर का दर्शन बताता है कि एक राष्ट्र को बाहरी दुश्मनों से बचाने के लिए भौगोलिक और सांस्कृतिक रूप से कैसे एकजुट किया जाए, लेकिन वह समाज में व्याप्त आंतरिक अन्याय, बहुसंख्यकवादी जुल्म और संरचनात्मक हिंसा के लिए कोई मानवीय समाधान पेश नहीं करता। इसके विपरीत, डॉ. अम्बेडकर का दर्शन यह स्थापित करता है कि बिना सामाजिक लोकतंत्र के कोई भी राजनीतिक ढांचा या राष्ट्रवाद अंततः ध्वस्त हो जाएगा। आज की इस समय में, समकालीन भारतीय राजनीति और समाजशास्त्र के संदर्भ में सावरकर और डॉ. अम्बेडकर जैसे विचारकों की प्रासंगिकता का पुनर्मूल्यांकन करना एक जरूरी बौद्धिक आवश्यकता बन गया है। इस तुलना का सबसे महत्वपूर्ण सार यह है कि सावरकर का दर्शन एक राष्ट्र की भौतिक और सैन्य संरचना तैयार कर सकता है, लेकिन डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण उस राष्ट्र में एक मानवीय, समानता और लोकतंत्र की आत्मा का संचार कर सकता है। जब तक भारतीय समाज अपनी जातिगत श्रेष्ठता की मानसिकता को नहीं छोड़ता और नवयान के उस मानवीय करुणा और समानता के मार्ग को पूरी तरह अपनाता नहीं है, तब तक डॉ. अम्बेडकर का सपना एक वास्तव में न्यायपूर्ण, अखंड और लोकतांत्रिक भारत का अधूरा रहेगा।

शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सन्दर्भ सूची

1. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान, 45–52.
2. अम्बेडकर, बी. आर. (1957). द बुद्धा एंड हिज धम्मा. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी, 112–120.
3. ओमवेट, जी. (2004). अम्बेडकर : टुवर्ड्स एन एनलाइटेंड इंडिया. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स, 88–95.
4. कीर, डी. (1966). वीर सावरकर. मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन, 134–142.
5. सावरकर, वी. डी. (1923). हिंदुत्व : हिंदू कौन है?. नई दिल्ली : हिंदी साहित्य सदन, 55–63.
6. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान, 45–52.
7. अम्बेडकर, बी. आर. (1940). पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन. बंबई : ठाकर एंड कंपनी, 34–41.
8. गोरे, एम. एस. (1993). डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की सामाजिक विचारधारा. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 88–96.
9. सावरकर, वी. डी. (1923). हिंदुत्व : हिंदू कौन है?. नई दिल्ली : हिंदी साहित्य सदन, 55–63.
10. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान, 78–92.
11. ओमवेट, जी. (2004). अम्बेडकर : टुवर्ड्स एन एनलाइटेंड इंडिया. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स, 112–124.
12. कीर, डी. (1966). वीर सावरकर. मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन, 160–175.
13. क्रिस्टोफ, ज. (2005). डॉ. अम्बेडकर और अछूत : हाशिए के लोगों का राजनीतिकरण (अनुदित). नई

दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 180–195.
14. जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 230–245.
15. थोरट, एस., एवं कुमार, एन. (सं.). (2008). बी. आर. अम्बेडकर : पर्सपेक्टिव्स ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्लूसिव पॉलिसीज. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 145–160.
16. सावरकर, वी. डी. (1931). जात्युच्छेदक निबंध. मुंबई : वीर सावरकर प्रकाशन, 45–60.
17. अम्बेडकर, बी. आर. (1935). येवला उद्घोषणा और धर्मांतरण का दर्शन. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी, 12–18.
18. अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान, 102–115.
19. जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 260–275.
20. सावरकर, वी. डी. (1923). हिंदुत्व : हिंदू कौन है?. नई दिल्ली : हिंदी साहित्य सदन, 75–82.
21. अम्बेडकर, बी. आर. (1957). द बुद्धा एंड हिज धम्मा. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी, 140–155.
22. कीर, डी. (1966). वीर सावरकर. मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन, 210–218.
23. जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 280–295.
24. ओमवेट, जी. (2004). अम्बेडकर : टुवर्ड्स एन एनलाइटेंड इंडिया. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स, 160–175.

संदर्भ ग्रंथ सूची

- अम्बेडकर, बी. आर. (1935). येवला उद्घोषणा और धर्मांतरण का दर्शन. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी.
- अम्बेडकर, बी. आर. (1936). जाति का विनाश (आर. सिंह, अनु.). लखनऊ : बहुजन साहित्य संस्थान.
- अम्बेडकर, बी. आर. (1940). पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन. बंबई : ठाकर एंड कंपनी.
- अम्बेडकर, बी. आर. (1948). प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति. नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन.
- अम्बेडकर, बी. आर. (1957). द बुद्धा एंड हिज धम्मा. बंबई : पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी.
- ओमवेट, जी. (2004). अम्बेडकर : टुवर्ड्स एन एनलाइटेंड इंडिया. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स.
- कीर, डी. (1966). वीर सावरकर. मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन.
- क्रिस्टोफ, ज. (2005). डॉ. अम्बेडकर और अछूत : हाशिए के लोगों का राजनीतिकरण (अनुदित). नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- गोरे, एम. एस. (1993). डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की सामाजिक विचारधारा. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.
- जेलियट, ई. (2013). अम्बेडकर की दुनिया : बाबासाहेब और दलित आंदोलन का निर्माण. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.
- थोरट, एस., एवं कुमार, एन. (सं.). (2008). बी. आर. अम्बेडकर : पर्सपेक्टिव्स ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्लूसिव पॉलिसीज. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- फिट्जगेराल्ड, टी. (1999). डॉ. अम्बेडकर का नवयान बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म की आलोचना. जर्नल ऑफ बुद्धिस्ट एथिक्स, 6(2), 112–128.
- रॉड्रिक्स, वी. (सं.). (2002). द एसेंशियल राइटिंग्स ऑफ बी. आर. अम्बेडकर. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सावरकर, वी. डी. (1923). हिंदुत्व : हिंदू कौन है?. नई दिल्ली : हिंदी साहित्य सदन.
- सावरकर, वी. डी. (1931). जात्युच्छेदक निबंध. मुंबई : वीर सावरकर प्रकाशन.
- सावरकर, वी. डी. (1935). विज्ञाननिष्ठ निबंध. मुंबई : वीर सावरकर प्रकाशन.
- सावरकर, वी. डी. (1949). हिंदू राष्ट्र दर्शन. मुंबई : वीर सावरकर प्रकाशन.
- सावरकर, वी. डी. (1971). भारतीय इतिहास के छह स्वर्णिम पृष्ठ. नई दिल्ली : राजधानी ग्रंथागार.

बौद्ध राजनीतिक चिंतन और पारिस्थितिक न्याय : एक समकालीन विश्लेषण

रूपल

सारांश

आज का विश्व एक अभूतपूर्व पर्यावरणीय संकट और जलवायु परिवर्तन के दहाने पर खड़ा है। आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियां, जो मुख्यत: मानव-केंद्रित और उपभोक्तावादी नजरिए पर आधारित हैं, इस संकट से निपटने में काफी हद तक असफल रही हैं। ऐसे हालात में, पारंपरिक पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांतों से परे जाकर वैकल्पिक ज्ञान-मीमांसाओं की तलाश करना बेहद जरूरी हो गया है। यह शोधपत्र 'बौद्ध राजनीतिक चिंतन' और 'पारिस्थितिक न्याय' के बीच के रिश्तों का विस्तार से समकालीन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांतों जैसे प्रतीत्यसमुत्पाद, अहिंसा, करुणा और तृष्णा के शमन के जरिए, यह पत्र तर्क करता है कि यह एक गैर-मानवकेंद्रित राजनीतिक और नैतिक ढांचा प्रदान करता है, जो आज के पारिस्थितिक संकटों को हल करने में बेहद प्रासंगिक है।

बीज शब्द

बौद्ध राजनीतिक चिंतन, पारिस्थितिक न्याय, प्रतीत्य-समुत्पाद, जलवायु परिवर्तन।

प्रस्तावना

आज की मानव सभ्यता 21वीं सदी में एक बेहद नाजुक और अनोखे ऐतिहासिक मोड़ पर खड़ी है। जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का तेजी से नष्ट होना, महासागरों का अम्लीकरण और प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब दोहन, अब सिर्फ वैज्ञानिक, तकनीकी, या कूटनीतिक मुद्दे नहीं रह गए हैं; बल्कि ये गहरे नैतिक, दार्शनिक और राजनीतिक संकट का रूप ले चुके हैं। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों ने प्रकृति को सिर्फ एक 'निर्जीव संसाधन' या 'संपत्ति' के रूप में देखा है, जिसका उद्देश्य मानव की अनंत इच्छाओं और निरंतर आर्थिक विकास की पूर्ति करना है। इस उपयोगितावादी और शोषक दृष्टिकोण ने आधुनिक पर्यावरणीय संकट की नींव रखी है। इस वैचारिक शून्यता और पारिस्थितिक संकट की पृष्ठभूमि में, 'पारिस्थितिक न्याय' की नई और क्रांतिकारी मांग ने जन्म लिया है। पारिस्थितिक न्याय केवल मनुष्यों के बीच संसाधनों की समान भागीदारी पर नहीं, बल्कि इसमें मनुष्यों और गैर-मानव दुनिया जैसे जीव, वन, नदियां और पूरी पृथ्वी के बीच एक नैतिक और न्यायपूर्ण संबंध स्थापित करने का दृष्टिकोण शामिल है। ये सिद्धांत कहता है कि प्रकृति के भी अपने अधिकार हैं और मानव जाति पृथ्वी की मालिक नहीं है, बल्कि इसके विराट जीवन-जाल का एक हिस्सा है। 'बौद्ध राजनीतिक और नैतिक सोच' एक शक्तिशाली, गैर-मानवकेंद्रित दृष्टिकोण में सामने आती है। हालांकि अक्सर बौद्ध धर्म को व्यक्तिगत मुक्ति के मार्ग के रूप में देखा जाता है, लेकिन इसके दर्शन में राज्य, शासन, अर्थव्यवस्था, और प्रकृति के साथ मनुष्य के संबंधों का एक गहरा और सुव्यवस्थित राजनीतिक ढांचा मौजूद है जो आज की वैश्विक समस्याओं का सामना करता है। बौद्ध पारिस्थितिक दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक आधार 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धांत है। ये सिद्धांत कहता है कि ब्रह्मांड में कोई भी इकाई अकेली या अलग-थलग नहीं है; सब कुछ एक-दूसरे पर निर्भर और आपस में जुड़ा हुआ है।[1] जबकि आधुनिक विकास नीतियां वनों को नष्ट करती हैं या नदियों को प्रदूषित करती हैं, वे इस गलत धारणा के आधार पर काम करती हैं कि मानव सभ्यता प्रकृति से अलग है। बौद्ध दर्शन इसके विपरीत यह सिखाता है कि प्रकृति का विनाश अंतत: मानव अस्तित्व का विनाश है, क्योंकि हम भी

उसी पारिस्थितिक तंत्र का एक हिस्सा हैं। आधुनिक नव-उदारवादी उपभोक्तावाद और एक ऐसी वैश्विक अर्थव्यवस्था जो निरंतर उपभोग और आर्थिक विकास की दौड़ पर आधारित है। बौद्ध विचार 'मध्यम मार्ग' और अहिंसा पर आधारित एक ऐसी व्यवस्था की मांग करता है जहां सिर्फ मनुष्यों का ही नहीं, बल्कि सभी संवेदनशील प्राणियों का कल्याण सुनिश्चित हो।[2] यह शोध पत्र इस महत्वपूर्ण बौद्धिक शून्य को भरने का एक विस्तृत प्रयास है। इस अध्ययन का उद्देश्य बौद्ध राजनीतिक चिंतन के मूल सिद्धांतों—जैसे अहिंसा, सार्वभौमिक करुणा, मध्यम मार्ग और प्रतीत्यसमुत्पाद का पारिस्थितिक न्याय के समकालीन विमर्श के साथ गहराई से संबंध स्थापित करना है। ये पेपर न केवल बौद्ध दर्शन के सैद्धांतिक और सत्तामीमांसीय पहलुओं की जांच करेगा। यह शोध पत्र ये तर्क पेश करता है कि पारिस्थितिक संकट के इस युग में, बौद्ध चिंतन केवल एक प्राचीन धर्म नहीं है, बल्कि ये एक अत्यंत प्रगतिशील, वैज्ञानिक और आवश्यक राजनीतिक-पारिस्थितिक दृष्टिकोण है जो मानवता को आत्म-विनाश से बचा सकता है।[3]

बौद्ध चिंतन के मूल सिद्धांत और पारिस्थितिक सत्तामीमांसा

किसी भी राजनीतिक या सामाजिक सिद्धांत की नींव उसकी सत्तामीमांसा होती है। ये सत्तामीमांसा यह निर्धारित करती है कि हम अपनी वास्तविकता, जीवन और अपने अस्तित्व को किस रूप में देखते हैं। पाश्चात्य दर्शन, खासकर देकार्त के युग से, एक द्वैतवादी सत्तामीमांसा पर आधारित है, जिसने मानव मन और प्राकृतिक पदार्थ के बीच गहरी खाई खींच दी है। इस सोच ने ऐसी संस्कृति को जन्म दिया जहां मनुष्य को 'ज्ञाता' या 'स्वामी' और प्रकृति को केवल एक 'जड़ वस्तु' या संसाधन समझा गया। इसके विपरीत, बौद्ध दर्शन की सत्तामीमांसा गैर-द्वैतवादी, गतिशील और संबंधपरक है।[4] यह विश्व को अलग-थलग वस्तुओं के संग्रह की तरह नहीं, बल्कि निरंतर बदलते और एक-दूसरे पर निर्भर प्रक्रियाओं के जाल के रूप में देखती है। पारिस्थितिक न्याय की स्थापना के लिए बौद्ध चिंतन के निम्नलिखित सिद्धांत एक मजबूत वैचारिक आधार प्रदान करते हैं।

2.1 प्रतीत्यसमुत्पाद (आश्रित उत्पत्ति) और जीवन का जाल : बौद्ध दर्शन और उसकी पारिस्थितिक दृष्टि का सबसे केंद्रीय तत्व 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धांत है। इसका सरल अर्थ यह है कि किसी भी चीज या घटना का अस्तित्व स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं है; हर वस्तु कुछ अन्य कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। भगवान बुद्ध ने इसे बहुत सरलता से कहा था : "जब यह होता है, तो वह होता है; इसके उत्पन्न होने से, वह उत्पन्न होता है।" आधुनिक पारिस्थितिकी विज्ञान का आधार भी यही है। एक जंगल केवल पेड़ों का समूह नहीं है; यह मिट्टी, सूक्ष्मजीवों, जल चक्र, कीटों और जलवायु के बीच एक जटिल और आपसी निर्भरता का संबंध है। जब औद्योगिक नीतियाँ किसी एक क्षेत्र में हस्तक्षेप करती हैं जैसे वनों की कटाई या खनन तो वे यह मानती हैं कि इसका प्रभाव केवल स्थानीय होगा। लेकिन प्रतीत्यसमुत्पाद हमें यह याद दिलाता है कि इस ब्रह्मांडीय जाल के किसी एक धागे को खींचने या तोड़ने से पूरे जाल पर असर पड़ता है। जलवायु परिवर्तन इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है, जहां एक गोलार्ध में कार्बन उत्सर्जन दूसरे गोलार्ध में समुद्र के जल-स्तर को प्रभावित कर रहा है। यह समझ हमें उस अहंकार से दूर करती है कि हम प्रकृति से ऊपर या उससे अलग रहकर अपना विकास कर सकते हैं।[5]

2.2 अनात्म (अहंकार शून्यता) और मानव-केंद्रीकरण का खंडन : पारिस्थितिक विनाश के पीछे एक बड़ा मनोवैज्ञानिक कारण 'स्व' या 'अहंकार' की भ्रमित धारणा है। बौद्ध धर्म का 'अनात्म' सिद्धांत यह कहता है कि मनुष्य के भीतर कोई स्थायी, अपरिवर्तनीय और स्वतंत्र 'आत्मा' या 'अहंकार' नहीं है जिसे शेष ब्रह्मांड से अलग करके देखा जा सके। आधुनिक उपभोक्तावादी राजनीति इसी अहंकार को बढ़ावा देती है। यह हमें यह विश्वास दिलाती है कि हमारी एक अलग पहचान है जिसे अधिक से अधिक वस्तुओं के उपभोग से संतुष्ट किया जा सकता है। जब हम खुद को प्रकृति से अलग एक 'विशिष्ट इकाई' मानते हैं, तब प्रकृति हमारे लिए केवल एक 'अन्य' बन जाती है, जिसका शोषण करना ठीक समझा जाता है। अनात्म का सिद्धांत इस अलगाव को मिटा देता है। जब मनुष्य जान पाता है कि उसका शरीर, उसकी श्वास और उसका जीवन पूरी तरह से पेड़ों से मिली ऑक्सीजन, नदियों के जल, और धरती के अन्न पर निर्भर हैं, तो वह समझता है कि प्रकृति का संरक्षण एक उपकार नहीं, बल्कि आत्म-संरक्षण है। वियतनामी बौद्ध भिक्षु थिच नहत हान ने इस गहरी अंतर्संबंधता को 'अंतर्भाव' कहा है, जो यह दर्शाता है कि हम प्रकृति में हैं और प्रकृति हमारे अंदर है।[6]

2.3 सार्वभौमिक करुणा (मैत्री) और अहिंसा का विस्तार :

बौद्ध राजनीतिक और नैतिक चिंतन में 'अहिंसा' केवल एक नकारात्मक नियम नहीं है, बल्कि यह एक सक्रिय और सकारात्मक ऊर्जा है, जिसे 'करुणा' और 'मैत्री' कहा जाता है। पारंपरिक राजनीतिक सिद्धांतों में न्याय और अधिकारों की चर्चा केवल मनुष्यों तक सीमित रही है। लेकिन बौद्ध धर्म का नैतिक दायरा सार्वभौमिक है। करणीय मेत्त सुत्त जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में कहा गया है कि एक साधक की करुणा का भाव केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि सभी प्राणियों चाहे वे बड़े हों या छोटे, दृश्य हों या अदृश्य, करीब हों या दूर के प्रति समान रूप से होना चाहिए। समकालीन पारिस्थितिक न्याय की सबसे बड़ी मांग यही है कि जानवरों, जंगलों और नदियों को कानूनी और नैतिक 'अधिकार' दिए जाएं। फैक्ट्रियों में जानवरों का क्रूरतापूर्वक पालन, कीटनाशकों से सूक्ष्मजीवों का नाश, और नदियों में औद्योगिक कचरा प्रवाहित करना ये सभी बौद्ध दृष्टिकोण से गंभीर संरचनात्मक हिंसा के रूप हैं। एक बौद्ध-प्रेरित राजनीतिक व्यवस्था वो होगी जो नीतियों में न सिर्फ मानवों के आर्थिक हितों को, बल्कि पारिस्थितिक तंत्र के सभी गूंगे प्राणियों की पीड़ा को ध्यान में रखेगी।

2.4 पञ्चशील और समकालीन पारिस्थितिक नैतिकता : बौद्ध धर्म के व्यावहारिक आचरण का आधार 'पञ्चशील' (पांच नैतिक व्रत) है। आज के समय में इन शीलों की पारिस्थितिक व्याख्या बेहद प्रासंगिक है। पहला शील किसी भी प्राणी के प्राण न लेना आज केवल व्यक्तिगत हत्या तक सीमित नहीं, बल्कि इसमें प्रजातियों के विलुप्तीकरण और जंगलों के विनाश का विरोध भी शामिल है। दूसरा शील जो नहीं दिया गया है उसे न लेना आधुनिक संसाधनों के अति-दोहन की स्पष्ट आलोचना है। जब बहुराष्ट्रीय कंपनियां भावी पीढ़ियों के हिस्से का स्वच्छ जल और वायु आज ही मुनाफे के लिए नष्ट कर रही हैं, तो बौद्ध दृष्टिकोण से यह प्रकृति और आने वाली पीढ़ियों की चोरी है। इस तरह, बौद्ध धर्म की सत्तामीमांसा और उसके नैतिक सिद्धांत एक ऐसा ढांचा प्रस्तुत करते हैं जहां पर्यावरण संरक्षण कोई अलग से थोपे गए कानून नहीं है, बल्कि अस्तित्व की वास्तविक प्रकृति (प्रतीत्यसमुत्पाद) की गहरी समझ से निकली स्वाभाविक नैतिक जिम्मेदारी है। ये विचार समकालीन राजनीतिक विमर्श को केवल संसाधनों के प्रबंधन तक सीमित नहीं रखते, बल्कि एक गहरे आध्यात्मिक और पारिस्थितिक उत्तरदायित्व की ओर ले जाते हैं।[7]

उपभोक्तावाद, तृष्णा और जलवायु संकट की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

आधुनिक पर्यावरणीय पतन केवल तकनीकी विफलताओं या प्रशासनिक नीतियों की कमी का नतीजा नहीं है, बल्कि यह एक गहरी राजनीतिक-आर्थिक संरचना का परिणाम है। वर्तमान वैश्विक अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से नव-उदारवादी पूंजीवाद के उस मॉडल पर निर्भर है, जो निरंतर और असीमित आर्थिक विकास को ही मानव प्रगति का एकमात्र मानक मानता है। इस व्यवस्था का गहराई से विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट होता है कि इसका आधार मानव की असीमित इच्छाओं को भड़काना और उन्हें भुनाना है। बौद्ध राजनीतिक और नैतिक चिंतन इस व्यवस्था की एक सटीक और गहरी आलोचना करता है, जो जलवायु संकट के मुख्य कारणों तक जाती है।[8] बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्यों में से दूसरा यह कहता है कि मानव जीवन के सभी दुखों और असंतोष का मूल कारण 'तृष्णा' है। आम तौर पर इसे सिर्फ एक व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक दोष या आध्यात्मिक बाधा माना जाता रहा है। लेकिन समकालीन राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, तृष्णा ने एक विशाल और शक्तिशाली संस्थागत रूप ले लिया है।[9]

आधुनिक उपभोक्तावादी व्यवस्था इसी तृष्णा को व्यवस्थित उद्योग के रूप में चला रही है। आज का विज्ञापन उद्योग, विपणन रणनीतियाँ और 'नियोजित अप्रचलन' सीधे तौर पर मानव मन की इसी तृष्णा और असंतोष को लक्षित करते हैं। उपभोक्तावाद यह गुमराह करने वाली धारणा पेश करता है कि भौतिक वस्तुओं के अनंत संचय से स्थायी खुशी मिल सकती है। एक राजनीतिक-आर्थिक प्रणाली के रूप में, आधुनिक पूंजीवाद इस तृष्णा के बिना एक दिन भी नहीं रह सकता। अगर लोग सिर्फ अपनी जरूरतों के अनुसार उपभोग करने लगें, तो इस असीमित विकास पर टिकी वैश्विक अर्थव्यवस्था ढह जाएगी।[10] बौद्ध दर्शन यह स्पष्ट करता है कि जब किसी समाज की राजनीतिक अर्थव्यवस्था अज्ञानता और लालच पर आधारित हो जाती है, तो इसका अंत पृथ्वी के पारिस्थितिक तंत्र का विनाश होता है। आधुनिक अर्थशास्त्र और पारिस्थितिकी के बीच के इस टकराव का बेहतरीन विश्लेषण 'बौद्ध अर्थशास्त्र' की धारणा में मिलता है। मुख्यधारा का अर्थशास्त्र इस पर आधारित है कि मानव कल्याण को खपत को अधिकतम करके बढ़ाया जा सकता है, जिसके लिए उत्पादन के साधनों और प्राकृतिक संसाधनों का अति-दोहन आवश्यक

माना जाता है। यह दृष्टिकोण एक खतरनाक भ्रम पर आधारित है—यह मानता है कि सीमित संसाधनों वाले ग्रह पर असीमित आर्थिक विकास संभव है। बौद्ध अर्थशास्त्र इसका विपरीत प्रतिमान पेश करता है। इसके अनुसार, आर्थिक गतिविधियों का उद्देश्य मानव कष्टों को कम करना और गरिमापूर्ण जीवन सुनिश्चित करना है, न कि इच्छाओं को भड़काना। यह इष्टतम खपत पर जोर देता है, और मानता है कि सच्चा कल्याण कम से कम संसाधनों का उपयोग करके अधिक से अधिक मानव सुख और आध्यात्मिक शांति पाने में है। ऐसे समाज में जहां कपड़े, गैजेट्स या वाहनों का उपयोग केवल उनकी उपयोगिता के लिए किया जाता है न कि सामाजिक प्रतिष्ठा या अहंकार के लिए वहां उत्पादन का दबाव और कार्बन उत्सर्जन स्वाभाविक रूप से कम हो जाएगा। बौद्ध अर्थशास्त्र श्रम और प्रकृति को वस्तुओं के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की पवित्र अभिव्यक्ति के रूप में देखता है।[11]

पारिस्थितिक संकट का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक आयाम 'जलवायु अन्याय' है। कड़वा सच यह है कि दुनिया के कुछ धनी राष्ट्रों और निगमों की उपभोक्तावादी जीवनशैली से उत्पन्न कार्बन उत्सर्जन का सबसे भारी बोझ दुनिया के सबसे गरीब और हाशिए के समुदायों को उठाना पड़ रहा है, जिन्होंने इस संकट में बहुत कम योगदान दिया है। बाढ़, सूखा, और समुद्र के जल-स्तर में वृद्धि से सबसे अधिक प्रभावित वे लोग हो रहे हैं जो जीवन की न्यूनतम जरूरतों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। बौद्ध विचार का 'मध्यम मार्ग' इस असमानता को दूर करने के लिए एक मजबूत दार्शनिक आधार देता है। मध्यम मार्ग केवल ध्यान की एक तकनीक नहीं है, बल्कि यह एक राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांत भी है जो चरम सीमाओं को खारिज करता है। यह एक ओर अत्यधिक विलासिता, संसाधनों के अंधाधुंध संचय और फिजूलखर्ची का विरोध करता है, वहीं दूसरी ओर अत्यधिक गरीबी और अभाव को भी मानव गरिमा और आध्यात्मिक विकास में बाधा मानता है।

एक बौद्ध-प्रेरित राजनीतिक व्यवस्था सुनिश्चित करेगी कि वैश्विक संसाधनों का वितरण इस प्रकार हो कि पृथ्वी का कोई भी प्राणी मूलभूत जरूरतों से वंचित न रहे और कोई भी वर्ग अपने लालच के लिए और संसाधनों का उपयोग न करे जिससे दूसरों का अस्तित्व खतरे में पड़े।[12] इस तरह, जलवायु संकट का समाधान केवल तकनीकी उपायों जैसे सौर ऊर्जा या इलेक्ट्रिक वाहनों में नहीं है, बल्कि यह इस बात में है कि हम एक समाज के रूप में 'क्या आवश्यक है' और 'क्या तृष्णा है' के बीच का अंतर समझें और अपनी नीतियों को उसी अनुसार ढालें।

बौद्ध राजनीतिक आदर्श : राज्य और प्रकृति का संबंध

आधुनिक राजनीति के अध्ययन में 'राज्य' की शुरुआत और इसके कर्तव्यों को मुख्यतः सामाजिक समझौते की अवधारणा के माध्यम से समझाया जाता है। थॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, और ज्यां-जाक रूसो जैसे विचारकों के विचारों के अनुसार, राज्य का निर्माण मानवों द्वारा उनके हितों, जीवन, स्वतंत्रता, और संपत्ति की सुरक्षा के लिए किया गया है। इस राजनीतिक ढांचे में, प्रकृति बस एक पृष्ठभूमि या संसाधनों का भंडार होती है, जिस पर राज्य का अधिकार होता है। लेकिन बौद्ध राजनीतिक चिंतन इसके विपरीत है; यह राज्य और प्रकृति के बीच एक गहन, नैतिक, और गैर-मानवकेंद्रित संबंध की बात करता है।[13] बौद्ध दृष्टिकोण में, राज्य सिर्फ शक्ति का साधन नहीं है, बल्कि यह पूरे जीवमंडल में धम्म (सार्वभौमिक नैतिक नियम) को लागू करने और सभी प्राणियों की रक्षा का एक संस्थागत माध्यम है। बौद्ध राजनीतिक सोच में एक आदर्श शासक को 'चक्कवत्ति' के रूप में जाना जाता है। यह शासक सेना या हथियारों से नहीं, बल्कि सत्य, न्याय और नैतिकता (धम्म) के आधार पर शासन करता है। दीघ निकाय (Digha Nikaya) के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त' में आदर्श राज्य और शासक के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है।[14] इस सुत्त की सबसे क्रांतिकारी बात यह है कि शासक का कर्तव्य केवल मानव नागरिकों की सुरक्षा तक सीमित नहीं है। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि राजा को धम्म के अनुसार अपने साम्राज्य में सभी वर्गों के साथ-साथ 'मृग-पक्खिसु' (जानवरों और पक्षियों) की भी देखभाल करनी चाहिए। विश्व के राजनीतिक विचारों के इतिहास में शायद पहली बार जानवरों और वन्यजीवों की सुरक्षा को राज्य के मूल कर्तव्यों और सुशासन (Good Governance) के मुख्य मानकों में शामिल किया गया।

आज कुछ प्रगतिशील देश जैसे कि नदियों, पहाड़ों, और जंगलों को 'जीवित इकाई' का कानूनी दर्जा देने की कोशिश कर रहे हैं और 'प्रकृति के अधिकार' को अपने संविधान में शामिल कर रहे हैं। वे अनजाने में इसी प्राचीन बौद्ध राजनीतिक आदर्श को दोहरा रहे हैं। एक बौद्ध राज्य में, प्रकृति राज्य की संपत्ति नहीं है, बल्कि इसे संरक्षण की आवश्यकता है। बौद्ध

राजनीतिक सिद्धांत केवल थ्योरी तक सीमित नहीं है; इसका ऐतिहासिक रूप से व्यावहारिक उदाहरण भी मिला है। कलिंग युद्ध के विनाशकारी परिणामों के बाद बौद्ध धर्म अपनाने वाले मौर्य सम्राट अशोक का शासनकाल (तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व) बौद्ध राजनीतिक आदर्शों का एक प्रमुख उदाहरण है। अशोक ने अपनी 'धम्म' नीति के जरिए न केवल समाज में नैतिक मूल्य स्थापित किए, बल्कि राज्य द्वारा पारिस्थितिक संरक्षण के पहले कानून भी बनाए।

अशोक के शिलालेख और स्तंभ लेख सीधे तौर पर राज्य की पारिस्थितिक नीतियों का दस्तावेज हैं। उनके पांचवें स्तंभ लेख (Pillar Edict V) में कई प्रकार के पक्षियों, मछलियों, और जानवरों की एक लंबी सूची है, जिनका शिकार राज्य द्वारा पूरी तरह से प्रतिबंधित कर दिया गया था। अशोक ने मानव और पशु चिकित्सालयों का निर्माण कराया और सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगाए, जो लोगों और पशुओं दोनों के लिए थे। ये नीतियां दिखाती हैं कि बौद्ध राजनीतिक ढांचे में पारिस्थितिक न्याय कोई गौण मुद्दा नहीं था, बल्कि यह राज्य की मुख्यधारा की नीति का एक अनिवार्य हिस्सा था।

आधुनिक राज्य, खासकर जब वे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ मिलते हैं, अक्सर प्रकृति के सबसे बड़े शोषक बन जाते हैं। विकासशील और विकसित दोनों देशों में, राज्य बड़े निगमों को खनन, वनों की कटाई, और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की अनुमति देते हैं। इस तरह, वे जनता और प्रकृति के रक्षक के रूप में नहीं, बल्कि पूंजीवादी विस्तार के एक एजेंट के रूप में काम करते हैं। राज्य केवल वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों, साथ ही सभी गैर-मानव प्राणियों की ओर से प्रकृति का एक 'ट्रस्टी' या संरक्षक है।[15] राजा या सरकार का कार्य इस पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना है ताकि जीवन का चक्र बिना किसी बाधा के चलता रहे। यह दृष्टिकोण आज के राजनीतिक नेताओं और नीति-निर्माताओं को याद दिलाता है कि आर्थिक विकास के नाम पर जंगलों को काटना और जैव विविधता को नष्ट करना केवल पर्यावरणीय भूल नहीं है, बल्कि यह राज्य के मूल राजनीतिक और नैतिक अनुबंध का उल्लंघन है। इस प्रकार, बौद्ध राजनीतिक चिंतन राज्य की भूमिका को संकीर्ण मानव-केंद्रीकरण से मुक्त कर एक व्यापक ब्रह्मांडीय और पारिस्थितिक जिम्मेदारी सौंपता है, जो आज के जलवायु संकट में सरकारों के लिए एक आवश्यक मार्गदर्शक सिद्धांत बन सकता है।[16]

आलोचनात्मक मूल्यांकन और सीमाएं

बौद्ध धर्म के पारिस्थितिक अनुप्रयोग पर एक प्रमुख आलोचना इसके पारंपरिक और वास्तविक स्वरूप को लेकर की जाती है। कुछ आलोचकों का कहना है कि पारंपरिक बौद्ध दर्शन मूलतः 'संसार' (सांसारिक जीवन और उसके जन्म-मरण के चक्र) से पूर्ण मुक्ति यानी 'निर्वाण' की प्राप्ति पर जोर देता है।[17] इस दृष्टिकोण के अनुसार, भौतिक संसार नश्वर, अस्थायी और दुखों से भरा है, इसलिए इसके प्रति अत्यधिक आसक्ति या उसके 'सुधारने' का प्रयास आध्यात्मिक पथ से भटकाव हो सकता है। आलोचकों का मानना है कि यह वैराग्यवादी दृष्टिकोण सामाजिक और पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति एक प्रकार की दार्शनिक निष्क्रियता या नियतिवाद पैदा कर सकता है। अगर सब कुछ अनित्य है और कर्म के नियम के अधीन है, तो कोई व्यक्ति जंगलों को बचाने या प्रदूषित नदियों को साफ करने के लिए संघर्ष क्यों करें? हालाँकि, आधुनिक 'एंगेज्ड बुद्धिज्म' ने इस आलोचना का प्रभावी उत्तर दिया है, फिर भी यह सही है कि कई पारंपरिक मठवासी संरचनाएं आज भी सक्रिय राजनीतिक या पारिस्थितिक आंदोलनों से दूरी बनाए रखने की प्रवृत्ति रखती हैं।[18]

बौद्ध राजनीतिक और नैतिक चिंतन की दूसरी महत्वपूर्ण सीमा यह है कि यह मुख्य रूप से 'चित्त शुद्धि' यानी व्यक्तिगत चेतना, आंतरिक परिवर्तन और आत्म-अनुशासन पर अत्यधिक जोर देता है। बौद्ध दृष्टिकोण में माना जाता है कि अगर समाज के लोग अपने भीतर के लालच, अज्ञान और घृणा से मुक्त हो जाएं, तो समाज और व्यवस्था अपने आप ही न्यायपूर्ण हो जाएगी। लेकिन आधुनिक पारिस्थितिक संकट का स्वरूप केवल व्यक्तिगत लालच तक सीमित नहीं है; यह अत्यंत विशाल, जटिल और संरचनात्मक है। वैश्विक बहुराष्ट्रीय निगमों का एकाधिकार, जीवाश्म ईंधन उद्योग की लॉबिंग, और जटिल भू-राजनीतिक व्यापारिक संधियां केवल व्यक्तियों के ध्यान करने या साधारण जीवन जीने से हल नहीं हो सकतीं। इन बड़े वैश्विक समस्याओं का समाधान करने के लिए बाध्यकारी अंतरराष्ट्रीय कानून, कठोर संस्थागत संरचनाएं, आर्थिक दंड और कभी-कभी बल प्रयोग की आवश्यकता होती है।[19] बौद्ध दर्शन व्यक्तिगत उपभोग को कम करने का एक अच्छा रास्ता दिखाता है, लेकिन जब शक्तिशाली कॉरपोरेट संस्थाएं जानबूझकर पारिस्थितिकी तंत्र को नष्ट कर रही हों, तो उनके खिलाफ संस्थागत और कानूनी लड़ाई लड़ने के

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

लिए पारंपरिक बौद्ध ढांचे में पर्याप्त राजनीतिक साधन नहीं होते। पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन चाहे वह मार्क्सवाद हो या उदारवादी लोकतंत्र राज्य के संचालन, न्यायपालिका, अधिकारों के वितरण और शक्ति के पृथक्करण का एक स्पष्ट और सुव्यवस्थित ढांचा पेश करता है। इसके विपरीत, बौद्ध दर्शन में आधुनिक राष्ट्र-राज्य, जटिल अंतरराष्ट्रीय संबंधों या वैश्विक पर्यावरणीय प्रशासन के लिए कोई ठोस प्रशासनिक या कानूनी ब्लूप्रिंट नहीं मिलता। आज की पर्यावरणीय राजनीति को मजबूत संधियों, पर्यावरण न्यायालयों और कार्बन टैक्स जैसी जटिल प्रशासनिक नीतियों की आवश्यकता होती है, जिनका सीधा उत्तर प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में खोजना शायद ही उपयुक्त है। इन सीमाओं और आलोचनाओं के बावजूद, यह कहना जल्दबाजी होगी कि बौद्ध धर्म समकालीन पारिस्थितिक राजनीति के लिए अप्रासंगिक है।

निष्कर्ष

आधुनिक पर्यावरणीय चुनौतियां केवल कार्बन उत्सर्जन या तकनीकी विफलताओं का परिणाम नहीं हैं, बल्कि ये एक गहरी दार्शनिक, राजनीतिक और नैतिक दरिद्रता का नतीजा हैं। बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत उस भ्रामक द्वैतवाद को समाप्त कर देता है जो मनुष्य को प्रकृति से अलग मानता है। यह स्पष्ट करता है कि ब्रह्मांड की हर इकाई एक-दूसरे पर निर्भर है। यह सत्य है कि प्राचीन बौद्ध दर्शन के पास आधुनिक वैश्विक संधियों, जलवायु करों या जटिल अंतरराष्ट्रीय प्रशासनिक संरचनाओं का कोई तैयार ब्लूप्रिंट नहीं है, फिर भी इसकी उपयोगिता और प्रासंगिकता संदेह के परे है। संस्थागत और कानूनी उपाय तभी तक प्रभावी हो सकते हैं जब उनके पीछे समाज की चेतना और नैतिक इच्छाशक्ति का समर्थन हो। इस शोधपत्र का समग्र निष्कर्ष यह है कि पारिस्थितिक न्याय की वास्तविक स्थापना संभव नहीं है जब तक कि राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों के साथ-साथ मानवीय चेतना में भी एक गहरा प्रतिमान-बदलाव न आए। अनियंत्रित लालच और असीमित उपभोग पर आधारित कोई भी सभ्यता लंबे समय तक पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकती। बौद्ध राजनीतिक और पारिस्थितिक चिंतन को अपनाना मानव जाति और इस ग्रह के अस्तित्व को बचाने की सबसे अनिवार्य और व्यावहारिक आवश्यकता बन चुकी है।

अतिथि संकाय
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : rrupal807@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. बोस, पी. (2015). पर्यावरण, राजनीति और न्याय : समकालीन विमर्श. राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ 45-62.
2. चक्रवर्ती, डी. (2009). द क्लाइमेट ऑफ हिस्ट्री : फोर थीसिस. क्रिटिकल इन्क्वायरी, 35(2), पृष्ठ 197-222.
3. मैसी, जे. (1991). म्यूचुअल कैजुअलिटी इन बुद्धिज्म एंड जनरल सिस्टम थ्योरी : द धर्म ऑफ नेचुरल सिस्टम्स. स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस. पृष्ठ 110-128.
4. वही, पृष्ठ 110-128.
5. हार्वे, पी. (2000). एन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एथिक्स : फाउंडेशंस, वैल्यूज एंड इश्यूज. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 150-165.
6. बैचेलर, एम., और ब्राउन, के. (1992). बुद्धिज्म एंड इकोलॉजी. कैसल पब्लिशिंग. पृष्ठ 22-38.
7. सहगल, बी. आर. (2005). बौद्ध दर्शन और आधुनिक विज्ञान. मोतीलाल बनारसीदास. पृष्ठ 85-102.
8. लोय, डी. (2003). द ग्रेट अवेकनिंग : ए बुद्धिस्ट सोशल थ्योरी. विजडम पब्लिकेशन्स. पृष्ठ 40-55.
9. शूमाकर, ई. एफ. (1973). स्मॉल इज ब्यूटीफुल : अर्थशास्त्र जिसमें लोग मायने रखते हैं. ब्लोंड एंड ब्रिग्स. पृष्ठ 52-68.
10. डेनियल्स, पी. एल. (2010). क्लाइमेट चेंज, इकोनॉमिक्स एंड बुद्धिज्म. जर्नल ऑफ बुद्धिस्ट एथिक्स. पृष्ठ 242-260.
11. जिसेक, एस. (2010). लिविंग इन द एंड टाइम्स. वर्सो बुक्स. पृष्ठ 320-335.
12. पेमा, सी. (2012). बौद्ध दर्शन में सामाजिक और आर्थिक न्याय. सम्यक प्रकाशन. पृष्ठ 112-128.
13. थापर, आर. (1997). अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 85-92.
14. गोम्ब्रिच, आर. (1988). थेरवाद बुद्धिज्म : ए सोशल हिस्ट्री फ्रॉम एंशिएंट बनारस टू मॉडर्न कोलंबो. रूटलेज. पृष्ठ 110-125.
15. टकर्स, एम. ई., और विलियम्स, डी. आर. (1997). बुद्धिज्म एंड इकोलॉजी : द इंटरकनेक्शन ऑफ धर्म एंड डीड्स. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ वर्ल्ड रिलिजन.

पृष्ठ 215-230.
16. हैरिस, आई. (1999). बुद्धिज्म एंड पॉलिटिक्स इन ट्वेंटीथ सेंचुरी एशिया. कॉन्टिनम. पृष्ठ 45-60.
17. हैरिस, आई. (1991). हाउ एनवायर्नमेंटलिस्ट इज बुद्धिज्म ?. रिलिजन, 21(2), पृष्ठ 101-114.
18. स्वियरर, डी. के. (2006). एन असेसमेंट ऑफ बुद्धिस्ट इको-फिलॉसफी. हार्वर्ड थियोलॉजिकल रिव्यू, 99(2), पृष्ठ 123-137.
19. किंग, एस. बी. (2009). सोशली एंगेज्ड बुद्धिज्म. यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस. पृष्ठ 85-98.

विस्तृत संदर्भ सूची

* उपाध्याय, बी. एस. (1979). पालि साहित्य का इतिहास. हिंदी साहित्य सम्मेलन. पृष्ठ 88-104.
* उरा, के., अल्कयर, एस., जांगमो, टी., और वांगडी, के. (2012). ए शॉर्ट गाइड टू ग्रॉस नेशनल हैप्पीनेस इंडेक्स. सेंटर फॉर भूटान स्टडीज. पृष्ठ 14-32.
* किंग, एस. बी. (2009). सोशली एंगेज्ड बुद्धिज्म. यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस. पृष्ठ 85-98.
* गोम्ब्रिच, आर. (1988). थेरवाद बुद्धिज्म : ए सोशल हिस्ट्री फ्रॉम एंशिएंट बनारस टू मॉडर्न कोलंबो. रूटलेज. पृष्ठ 110-125.
* चक्रवर्ती, डी. (2009). द क्लाइमेट ऑफ हिस्ट्री : फोर थीसिस. क्रिटिकल इन्क्वायरी, 35(2), पृष्ठ 197-222.
* जेम्स, एस. पी. (2004). जेन बुद्धिज्म एंड एनवायर्नमेंटल एथिक्स. एशगेट पब्लिशिंग. पृष्ठ 60-75.
* जिसेक, एस. (2010). लिविंग इन द एंड टाइम्स. वर्सो बुक्स. पृष्ठ 320-335.
* टकर्स, एम. ई., और विलियम्स, डी. आर. (1997). बुद्धिज्म एंड इकोलॉजी : द इंटरकनेक्शन ऑफ धर्म एंड डीड्स. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ वर्ल्ड रिलिजन. पृष्ठ 215-230.
* डार्लिगटन, एस. एम. (1998). द ऑर्डिनेशन ऑफ ए ट्रीरू द बुद्धिस्ट इकोलॉजी मूवमेंट इन थाईलैंड. एथ्नोलॉजी, 37(1), पृष्ठ 1-15.
* डेनियल्स, पी. एल. (2010). क्लाइमेट चेंज, इकोनॉमिक्स एंड बुद्धिज्म. जर्नल ऑफ बुद्धिस्ट एथिक्स, पृष्ठ 242-260.
* थापर, आर. (1997). अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृष्ठ 85-92.
* थिच नहत हान. (1998). द हार्ट ऑफ द बुद्धाज टीचिंग : ट्रांसफॉर्मिंग सफरिंग इनटू पीस, जॉय, एंड लिबरेशन. पैरालैक्स प्रेस. पृष्ठ 221-255.
* दलाई लामा. (1992). यूनिवर्सल रिस्पॉन्सिबिलिटी एंड द गुड हार्ट. लाइब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइव्स. पृष्ठ 45-60.
* पेमा, सी. (2012). बौद्ध दर्शन में सामाजिक और आर्थिक न्याय. सम्यक प्रकाशन. पृष्ठ 112-128.
* बैचेलर, एम., और ब्राउन, के. (1992). बुद्धिज्म एंड इकोलॉजी. कैसल पब्लिशिंग. पृष्ठ 22-38.
* बोस, पी. (2015). पर्यावरण, राजनीति और न्याय : समकालीन विमर्श. राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ 45-62, 110-120.
* मैसी, जे. (1991). म्यूचुअल कैजुअलिटी इन बुद्धिज्म एंड जनरल सिस्टम थ्योरी : द धर्म ऑफ नेचुरल सिस्टम्स. स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस. पृष्ठ 110-165.
* मैसी, जे., और ब्राउन, एम. (1998). कमिंग बैक टू लाइफ : प्रैक्टिसेज टू रिकनेक्ट आवर लाइव्स, आवर वर्ल्ड. न्यू सोसाइटी पब्लिशर्स. पृष्ठ 88-105.
* लोय, डी. (2003). द ग्रेट अवेकनिंग : ए बुद्धिस्ट सोशल थ्योरी. विजडम पब्लिकेशन्स. पृष्ठ 40-55.
* वर्मा, वी. पी. (1993). प्रारंभिक बौद्ध राजनीतिक चिंतन : एक दार्शनिक और ऐतिहासिक विश्लेषण. मोतीलाल बनारसीदास. पृष्ठ 134-195.
* शूमाकर, ई. एफ. (1973). स्मॉल इज ब्यूटीफुल : अर्थशास्त्र जिसमें लोग मायने रखते हैं. ब्लोंड एंड ब्रिग्स. पृष्ठ 52-68.
* स्वियरर, डी. के. (2006). एन असेसमेंट ऑफ बुद्धिस्ट इको-फिलॉसफी. हार्वर्ड थियोलॉजिकल रिव्यू, 99(2), पृष्ठ 123-137.
* सहगल, बी. आर. (2005). बौद्ध दर्शन और आधुनिक विज्ञान. मोतीलाल बनारसीदास. पृष्ठ 85-102.
* हैरिस, आई. (1991). हाउ एनवायर्नमेंटलिस्ट इज बुद्धिज्म ?. रिलिजन, 21(2), पृष्ठ 101-114.
* हैरिस, आई. (1999). बुद्धिज्म एंड पॉलिटिक्स इन ट्वेंटीथ सेंचुरी एशिया. कॉन्टिनम. पृष्ठ 45-215.
* हार्वे, पी. (2000). एन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एथिक्स : फाउंडेशंस, वैल्यूज एंड इश्यूज. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी

Research Paper

A Critical Study of Causation in Nyāya–Vaiśeṣika Philosophy

Dr. Vedanidhi

Abstract

This research paper presents a detailed and critical study of the theory of causation in the Nyāya–Vaiśeṣika school of Indian philosophy. The problem of causation has always held an important place in philosophy because it deals with the origin, change, and continuity of reality. The study examines the Nyāya–Vaiśeṣika theory of causation through its classical texts, logical arguments, metaphysical ideas, and comparative importance within Indian philosophy. The paper explains the doctrine of Asatkāryavāda, according to which the effect does not exist in the cause before its production but comes into existence as a completely new entity through proper causal conditions. In contrast to the Sāṃkhya doctrine of Satkāryavāda, Nyāya–Vaiśeṣika accepts a clear distinction between cause and effect and emphasizes that causal relations are understood through experience and logical reasoning.

The paper further discusses the threefold classification of causes Samavāyi-kāraṇa (material cause), Asamavāyi-kāraṇa (non-inherent cause), and Nimitta-kāraṇa (efficient cause) along with the important concept of Samavāya (inherence), which explains the inseparable relation between parts and wholes. Special attention is given to the philosophical debate between Satkāryavāda and Asatkāryavāda, especially the objections raised by Nyāya philosophers against the theory that the effect already exists in the cause before production. The study also critically examines the strengths and limitations of the Nyāya–Vaiśeṣika theory, particularly regarding the newness of the effect, the nature of inherence, and the continuity between cause and effect. By combining evidence from Sanskrit texts with the interpretations of modern scholars, the paper shows that the Nyāya–Vaiśeṣika theory provides a systematic and realistic explanation of causation that continues to remain philosophically important in the wider fields of metaphysics and epistemology.

Keywords

Nyāya–Vaiśeṣika, Causation, Asatkāryavāda, Satkāryavāda, Samavāya, Kārya–Kāraṇa-bhāva, Indian Philosophy, Metaphysics

Introduction

Among the many important and complex problems discussed in philosophy, the problem of cause and effect occupies a very significant place. Both Indian and Western philosophers have seriously reflected upon, debated, and criticized different views on this issue, which shows its deep philosophical importance. Human beings are naturally interested in discovering causes because knowledge of causation helps them understand the world and deal successfully with life. In science, the relation between cause and effect is especially important, since the discovery of causal laws has enabled humanity to understand nature and gain control over many natural processes. In philosophy, particularly in philosophy of religion, ideas such as Brahman, God, Prakṛti, and atoms are explained through different theories of

causation. In fact, many differences among Indian philosophical systems arise mainly because of their different interpretations of causality, and the criticism of one school by another is often based upon disagreement regarding causal theory. Since the search for ultimate reality is essentially the search for the first cause, causation remains a central issue in both metaphysics and epistemology. In Indian philosophy, the theory of causation (kārya–kāraṇa-bhāva) provides the basis for understanding how objects originate, transform, and continue to exist. At the ordinary level of experience, causation is understood as a process of change in which one state produces another. The earlier state is called the cause (kāraṇa), while the later state is called the effect (kārya). For example, threads become cloth, milk changes into curd, and a seed develops into a sprout. These examples show that causation essentially involves transformation, where one form gives rise to another form.

From ancient times, the problem of causation has been a subject of reflection in the Indian intellectual tradition. A study of the earliest Vedic literature clearly shows that the seers of the Vedas deeply contemplated this issue. In the Nāsadīya Sūkta of the Ṛgveda, "it is explicitly mentioned that in the beginning of creation, there was neither existence (sat) nor was there non-existence."[1] Similarly, in the Hiraṇyagarbha Sūkta[2] and the Puruṣa Sūkta[3] Hiraṇyagarbha (the golden embryo) and Puruṣa (the cosmic being) are respectively accepted as the original cause of creation. In the Atharvaveda, Time (kāla) is regarded as the primary cause[4]. In the Śvetāśvatara Upaniṣad, it is stated that one should reflect upon whether Time, inherent nature (svabhāva), destiny (niyati), chance (yadṛcchā), or Puruṣa is the original cause of creation[5]. From this statement of the Śvetāśvatara Upaniṣad, it is clear that at that time various views regarding the ultimate cause of the universe were prevalent among scholars.

The Nyāya system, rooted in realism and pluralism, supports and maintains that substances, qualities, and actions possess independent reality. In opposition to the Sāṃkhya view that the effect exists in an unmanifest state within the cause, Nyāya–Vaiśeṣika argues that the effect is a genuinely new entity brought into existence through appropriate causal conditions. Its theory of causation is based on logical analysis and common experience rather than abstract speculation. Thus, just as a pot does not pre-exist in clay but comes into being only through the activity of the potter, every effect is regarded as a new creation.

This paper aims to present a detailed and critical study of the Nyāya theory of causation by examining its basic texts, logical arguments, metaphysical ideas, and comparative philosophical importance. It also combines evidence from Sanskrit sources with the views of modern scholars in order to provide a clear and comprehensive understanding of the Nyāya concept of causation.

The Nyāya–Vaiśeṣika theory of causation tries to explain how things come into existence in a clear, logical, and experience-based way. Instead of relying on abstract speculation, it begins from ordinary experience–how we see things happen in the world–and then carefully analyzes it[6].

Effect is a New Creation

A central idea of this system is that the effect (kārya) does not already exist before it is produced. *Kāryaṃ prāgabhāva pratiyogi.*[7]

This is called asatkāryavāda. For example, a pot does not already exist in the clay before it is made. It comes into existence only after the potter works on the clay. So, according to Nyāya–Vaiśeṣika, the effect is something new, not just a transformation of something already present.

Definition of Cause

A cause is defined as something that is always present before the effect and is necessary for its production. However, not everything that comes before an effect is a cause. Only those conditions that are invariably and unconditionally connected with the effect are considered real causes.[8] for instance, threads and the loom are considered the causes of cloth.

- *Kāryaniyatapūrvavṛtti kāraṇam.*[9]
- *Yasya kāryāt pūrvabhāvo niyato'nyathāsiddhaśva tat kāraṇam.*[10]
- *Anyathāsiddhiśknyasya niyatā pūrvavartitā*

kāraṇatvam.[11]

Types of Causes:

Nyāya–Vaiśeṣika divides causes into three main types:

• Material Cause (Samavāyi-kāraṇa):

• Non-inherent Cause (Asamavāyi-kāraṇa):

• Efficient Cause (Nimitta-kāraṇa):

Kāraṇaṃ trividham samavāyyasamavāyinimittabhedāt[12]

Material Cause (Samavāyi-kāraṇa)

Yat samavetaṃ kāryaṃ utpadyate tatsamavāyikraṇaṃ yathā tantavaḥ paṭasya paṭaśca svagata rūpādeḥ.[13]

The material cause is that where an effect is produced by the relationship of inherence. For example the threads are the material cause of cloth and cloth is the material cause of this colour. The inherent cause is usually the material out of which the effect is produced and corresponds to the उपादानकारण of the Vedantins. Here a new relation inherence (समवाय) has been introduced.

Inherence (समवाय) is a unique and fundamental relationship in certain Indian philosophical schools, particularly Nyaya-Vaisheshika, where it functions as a material cause. Unlike mere conjunction (संयोग), inherence describes an intimate, inseparable bond between two entities where one subsists on the other until the latterļs destruction.

This relationship is specifically applicable to five categories of ''inseparables'' (अयुतसिद्ध):

- **Parts and Whole :** The whole inheres in its parts (e.g., cloth in threads). The destruction of the parts leads to the destruction of the whole.
- **Quality and Substance:** A quality inheres in its substance (e.g., color in cloth). While a quality can change, its substratum (the substance) persists.
- **Motion and Moving Object:** Motion inheres in the object that moves.
- **Generality and Individual:** A generality (जाति or सामान्य), representing a shared essence, inheres in individual instances (e.g., ''cowness'' in a cow).
- **Speciality and Eternal Substances:** Speciality (विशेष) inheres in eternal substances, differentiating them at a subtle level, and is thus indestructible.

Nanu tantusambandha iva turyādisambandho'pi paṭasya vidyate. Tatkathaṃ tantuṣveva samavetaḥ paṭo jāyate, na turyādiṣu? Satyam . Dvividhaḥ sambandhaḥ saṃyogaḥ samavāyaśca. Tatrāyutasiddhayoḥ sambandhaḥ samavāyaḥ, anyayostu saṃyoga eva[14]

Tāvevāyutasiddhau dvau vijñātavyau yayordvayoḥ. ''Anaśyadekamaparāśritamevāvatiṣṭhate'' Yathā avayavāvayavinau, guṇaguṇinau, kriyākriyāvantau, jātivyaktī, viśeṣanityadravye ceti . Avayavāydayo hi yathākramamavayavādyāśritā jātivyaktī, viśeṣanityadravye ceti . Avayavyādayo hi yathākramamavayavādyāśritā evāvatiṣṭhante'vinaśyantaḥ . Vinaśyadavasthāstvanāśritā evāvatiṣṭhante'vayavyādayaḥ . Yathā tantunāśe sati pamaḥ. Yathā vā'śrayanāśe sati guṇaḥ . Vinaśyattā tu nāśakāraṇasāmagrīsānniyadhyam.[15]

The concept of inherence is crucial for understanding how effects are produced from their material causes. For instance, the threads are the material cause of the cloth because the cloth inheres in the threads. Inherence highlights a dependency where the inhering entity cannot exist without its substratum under typical circumstances. This differentiates it from conjunction (संयोग), which describes a more casual, separable contact between entities (e.g., a book on a table).

Inherence, along with generality and speciality, forms part of the six (or seven, including non-existence) fundamental categories (पदार्थs) recognized by the Vaisheshika system and adopted by Nyaya, providing a framework for understanding the nature of reality and causality.

Non-inherent Cause (Asamavāyi-kāraṇa)

The non-material cause is that which exists in a locus of either the effect or the cause, e.g. the contact of the threads is the non-material cause of the cloth and the colour of the thread is the non-material cause of the colour of the cloth.

Asamavāyikāraṇaṃ taducyate yatsamavāyi-kāraṇapratyāsannamava-dhṛtasāmarthyam. Yathā tantusaṃyogaḥ paṭasyā'samavāyikāraṇam. Evaṃ tanturūpaṃ paṭagatarūpasyā'samavāyikāraṇam.[16]

Kāryeṇa kāraṇena vā sahaikasminnarthe samavetatve sati yatkāraṇaṃ tadasamavāyi-kāraṇaṃ yathā tantusaṃyogaḥ paṭasya, tanturūpaṃ paṭarūpasya.[17]

Now, the asamavāyi-kāraṇa occupies an intermediate ontological position. It is not the locus of the effect, yet it is not merely external either. Rather, it inheres in the same substratum as either the effect or its samavāyi cause, and through this shared locus (sāmānādhikaraṇya), it causally conditions the effect.

Consider first the production of cloth. The threads are the samavāyi cause, but threads alone-taken in isolation–do not produce cloth. What is crucial is their conjunction (saṃyoga). This conjunction inheres in the threads, not in the cloth itself. Yet it is causally necessary for the emergence of cloth. Therefore, conjunction is the asamavāyi-kāraṇa of cloth. It is ''non-inherent'' because it does not inhere in the effect, but it is still causally intimate because it inheres in the effectḷs material cause.

A more subtle case arises with qualities (guṇa). The colour of the cloth (paṭarūpa) inheres in the cloth, making the cloth its samavāyi cause. However, the specific colour of the cloth–say, whiteness–is explained by the colour of the threads (tanturūpa). This thread-colour does not inhere in the cloth; it inheres in the threads. Yet, through the threads (which are the samavāyi cause of cloth), it determines the clothḷs colour. This mediated relation is termed svasamavāyi-samavetatva–being connected to the effect via inherence in its inherent cause. Thus, the thread-colour is the asamavāyi cause of cloth-colour.

A key principle emerges: the asamavāyi cause must share a common substratum either with the effect or with its samavāyi cause. This is why one cannot arbitrarily assign any ''nearby'' property as an asamavāyi cause. The relation is not spatial or phenomenological but strictly ontological. If one were to treat a property of the cloth itself as its asamavāyi cause, the distinction between cause and effect would collapse.

Thus, as formalized in Nyāya: That which, while being a cause, inheres in the same substratum as the effect or its inherent cause is the asamavāyi-kāraṇa.

Philosophically, this category performs crucial work. It prevents causation from reducing either to identity (as in monism) or to mere external contact. It allows Nyāya to explain how properties of wholes depend on properties and relations of parts, without conflating them. In modern terms, it resembles a structured account of dependent emergence: the effect is new, yet lawfully grounded in the configuration and qualities of its constituents.

In short, asamavāyi-kāraṇa is the ontological bridge that connects what inheres in the cause to what appears in the effect, without collapsing their distinction.

Efficient Cause (Nimitta-kāraṇa)

Nimittakāraṇaṃ taducyate yanna samavāyikāraṇaṃ, nāpyasama-vāyikāraṇaṃ, atha ca kāraṇam. Yathā vemādikaṃ paṭasya.[18]

Tadubhayabhinna kāraṇaṃ nimittakāraṇam. Yathā turīvemādikaṃ paṭasya.[19]

A cause that is neither inherent (material) nor non-inherent, yet still contributes to the production of an effect, is termed a general or occasioning causeṃfor example, tools like the loom or shuttle in the making of cloth. An efficient cause, on the other hand, is distinct from both inherent and non-inherent causes; it refers to the active means or agents involved in producing the effect, such as the weaverḷs instruments in cloth production. Among these three types of causes, whatever plays a distinctive and specific role in bringing about the effect is referred to as the instrument.

Causation is understood as a regular and dependable relation between cause and effect. Whenever the cause is present under the right conditions, the effect follows. This relation is known through repeated observation–when we consistently see that one thing leads to another.[20]

It is not based on pure reasoning alone (a priori), but on experience. For example, we know fire produces smoke because we have repeatedly

observed this connection.

Nyāya emphasizes that causes must be:

• Immediate (directly connected to the effect),

• Relevant (actually contributing to the result),

• Indispensable (cannot be removed without affecting the outcome).

Any factor that is unnecessary or indirect is excluded from being called a cause.[21]

Relation Between Parts and Whole

The Nyāya–Vaiśeṣika account of causation is closely tied to its theory of parts *(avayava)* and wholes *(avayavin).* The effect is often conceived as a whole that arises from the combination of parts. For example, cloth emerges when threads are arranged in a particular way. Prior to this arrangement, the cloth does not exist.[22]

The whole is not merely a collection of parts but a new entity with distinct properties. Threads individually do not possess the characteristics of cloth, such as its capacity to cover or its specific texture. These properties belong to the whole, which arises through the conjunction *(Saṃyoga)* of parts.[23]

To explain the relation between parts and whole, the system introduces the concept of *samavāya* (inherence). This is a unique relation that binds the effect to its material cause in an inseparable manner. Through inherence, the whole exists in its parts without being reducible to them.

This doctrine allows Nyāya–Vaiśeṣika to maintain both the novelty of the effect and its dependence on the cause. The effect is a new entity, yet it is grounded in its material basis through inherence.[24]

Asatkāryavda

All philosophical systems acknowledge that every effect must arise from a cause and that the cause necessarily precedes the effect in existence. However, they differ on the crucial question of whether the effect exists in the cause prior to its production. Those schools which deny the prior existence of the effect uphold the doctrine of Asatkāryavāda[25], while those that affirm its pre-existence advocate Satkāryavāda.

The Sāṃkhya school advances the doctrine of *Satkāryavāda*, which holds that the effect pre-exists in the cause in a latent or unmanifest form. According to this view, causation is not the creation of something new but the manifestation (*Āvirbhāva*) of what already exists. This is often described as *Pariṇāma-vāda*, or real transformation.

In this framework, the effect is ontologically identical with the cause. Cloth is nothing but threads arranged in a particular way; curd is a transformed state of milk. The effect does not introduce any new reality but merely expresses an existing potential. Production, therefore, is understood as the transition from the unmanifest to the manifest.

This theory is grounded in the principle that something cannot arise from nothing. If the effect did not already exist in some form, its emergence would be inexplicable. Thus, Sāṃkhya emphasizes continuity and conservation: reality persists through change, and transformation does not involve ontological novelty.[26]

In contrast the Nyāya-Vaiśeṣika school of Indian philosophy advocates the doctrine of **Asatkāryavāda**, the theory that the effect does not pre-exist in the cause. According to this doctrine, the non-existent effect arises from an existent cause. The Nyāya-Vaiśeṣika philosophers regard the cause and the effect as two entirely distinct entities because the cause is considered the producer of the effect. Hence, they define causality as: *"kāryotpādakatvaṃ kāraṇatvam"* – "that which produces an effect is called a cause.

For example, a pot is produced from clay. Here clay is the cause and the pot is the effect. The existence of clay and pot is different because one is the cause while the other is the effect. According to this school, before production the effect does not exist in the cause; rather, the effect is a completely new beginning or fresh creation. When the effect is produced, its prior non-existence (*prāgabhāva*) is destroyed.

The supporters of Asatkāryavāda strongly oppose the Sāṃkhya doctrine of **Satkāryavāda**, according to which the effect pre-exists in the cause. They argue that if the effect already exists in the cause, then the very notion of production becomes meaningless. If cloth already exists in the threads, then the statement "the cloth has been

produced'' becomes unnecessary and without significance.[27]

Similarly, if the effect already exists in the cause before production, then the necessity of an efficient cause *(nimitta-kāraṇa)* disappears. Ordinarily, an effect is produced through the operation of an efficient cause. But if oil is already fully present in sesame seeds, then the role of the oilman becomes meaningless.[28] Thus, the acceptance of Satkāryavāda destroys the practical necessity of causal activity.

The Nyāya-Vaiśeṣika philosophers further argue that if cause and effect are identical, then no effort would be necessary for the production of the effect. In support of their position, they present several arguments:

1. If the effect already exists in the cause, why is it not perceived?
2. If cause and effect are not different, then why can the function of a pot not be performed by clay itself?
3. If the pot already exists in the clay, what need is there for a potter to make the pot?[29]

They also maintain that if the effect exists in the cause prior to production, then distinguishing between cause and effect becomes impossible. If the pot already exists in the clay, then separating the pot from the clay becomes difficult. Thus, Satkāryavāda destroys the distinction between cause and effect.

According to Satkāryavāda, cause and effect are essentially identical. If this identity is accepted, then different names for cause and effect become meaningless. If clay and pot are fundamentally one, then there should be only one designation for both.

The doctrine of Satkāryavāda is also criticized as self-contradictory. The form of the effect is evidently different from the form of the cause. The shape and structure of a pot are different from those of clay. This indicates that the form of the effect is a new creation. If the form is newly produced, then it could not have already existed in the cause. Therefore, by admitting a newly manifested form, Satkāryavāda indirectly accepts the emergence of something previously non-existent.

Another objection concerns utility and function. If cause and effect are truly identical, then both should perform the same function. However, this is not the case in practical life. A pot can hold water, whereas clay by itself cannot perform this function. Thus, the functional distinction between cause and effect proves that they are different entities.

Similarly, if the effect already exists in the cause before production, then it would be more logical to say that the effect is produced from itself rather than from the cause. If the pot is already inherent in clay, then after production one should say, ''the pot has come out of the pot.'' This conclusion appears absurd and therefore weakens the doctrine of Satkāryavāda.[30]

On the basis of these arguments, the Nyāya-Vaiśeṣika philosophers conclude that the effect is completely distinct from the cause and comes into being as a genuinely new manifestation. They maintain that entities such as dyads (*dvyaṇuka*) and other composite objects arise as entirely new creations from atoms, where they were previously non-existent.

According to Asatkāryavāda, the effect does not exist in the cause in any form prior to its production. Before production, the effect exists only in the form of prior non-existence (*prāgabhāva*) in the cause, and after destruction it enters into posterior non-existence (*dhvaṃsābhāva*).

At the same time, the Nyāya-Vaiśeṣika philosophers accept that the effect is eternally related to its inherent or material cause through the relation of *samavāya* (inherence). The relation of inherence is eternal. Therefore, whenever an effect is produced, it arises only in its inherent cause (*samavāyi kāraṇa*) and nowhere else. A pot, for example, is always produced in clay and never in some unrelated substance. This inseparable relation between cause and effect is regarded as their natural relation. Thus, although Nyāya-Vaiśeṣika accepts an eternal relation of inherence between effect and material cause, it nevertheless maintains that the effect itself is entirely distinct from the cause.

Critical Evaluation

Despite its strengths, the Nyāya–Vaiśeṣika theory faces significant philosophical challenges.

One major issue concerns the origin of the effectḷs essence. If the effect is entirely new and distinct from the cause, then its essence cannot be derived from the cause. This raises the question of whether the theory implicitly allows for creation from nothing.

The concept of *samavāya* also presents difficulties. While it is intended to explain the relation between cause and effect, it introduces a somewhat obscure and unique category that lacks independent justification. The claim that the effect inheres in the cause without deriving its essence from it appears problematic.

Furthermore, the distinction between material and efficient causes becomes blurred. If the material cause does not contribute its essence to the effect, it seems to function similarly to an external condition. This weakens the explanatory role of the material cause and raises doubts about the coherence of the system.

Another tension arises from the insistence on the complete distinctness of cause and effect. While this preserves the idea of novelty, it risks undermining the continuity necessary for intelligible causation. The theory attempts to balance these opposing demands, but the equilibrium is difficult to maintain.

Conclusion

The Nyāya–Vaiśeṣika theory of causation represents a sophisticated and rigorous attempt to account for the reality of change and production. By rejecting the pre-existence of the effect, it affirms the genuine emergence of new entities and aligns itself with common-sense intuitions about causation. Its emphasis on causal operations, the relation between parts and wholes, and the concept of inherence provides a detailed framework for understanding how effects arise.

At the same time, the theory faces internal tensions that challenge its coherence. The problem of the origin of the effectḷs essence, the ambiguity of inherence, and the delicate balance between difference and dependence all point to unresolved issues. These difficulties highlight the complexity of the problem of causation and the limits of any single theoretical approach.

In the broader context of Indian philosophy, the debate between *satkāryavāda* and *asatkāryavāda* reflects deeper questions about the nature of reality, continuity, and change. The Nyāya–Vaiśeṣika position, with its commitment to realism and production, offers a compelling but ultimately contested account of these issues. Its enduring significance lies not only in its answers but in the questions it raises, which continue to inspire philosophical inquiry.

Associate Professor
Dept of Sanskrit Studies
University of Hyderabad
drvedanidhi@gmail.com

References:

1. Nāsadāsīnnō sadsīd. Ṛgveda saṁhitā 10.129.1
2 ''Hiraṇyagarbhaḥ samavartatāgre bhūtasya jātaḥ patireka āsīt'', Ṛgveda saṁhitā 10.121.1
3. Puruṣa evedaṃ sarvaṃ . Ṛgveda saṁhitā 10.90.2
4. Atharvaveda saṁhitā 10.54
5. śvetāśvatara upaniṣad 1.2: ''Kālaḥ svabhāvo niyatiryadṛcchā...''
6. A history of Indian Philosophy, Vol. I by SN DAS GUPTA- page 319-323
7. Annambhamma, *Tarkasaṁgraha*, trans. V.N. Jha page-45
8. A History of Indian Philosophy, Vol. I by SN DAS GUPTA- page 319-323
9. Annambhamma, *Tarkasaṁgraha*, trans. V.N. Jha page-45
10. Keśava Miśra, *Tarkabhāṣā*, trans. S.R. Iyer page-9
11. Viśvanātha, Nyāyasiddhāntamuktāvalī, ed. Dharmendranath Shastri page 67
12. Annambhamma, Tarkasaṁgraha, trans. V.N. Jha page-45
13. Ibid, page-45
14. Keśava Miśra, *Tarkabhāṣā*, trans. S.R. Iyer page-12
15. Ibid, page-13
16. Ibid, page-23

17. Annambhamma, *Tarkasaṁgraha*, trans. V.N. Jha page-45
18. Keśava Miśra, *Tarkabhāṣā*, trans S.R. Iyer page-26
19. Annambhamma, Tarkasaṁgraha, trans. V.N. Jha page-45
20. A History of Indian Philosophy, Vol. I by SN DAS GUPTA- page 319-323
21. Ibid
22. Critique of Indian Realism by D.N. Shastri- page 240-242
23. Ibid
24. Ibid
25. Sharma, C.D., *A Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 151.
26. Critique of Indian Realism by D.N. Shastri- page 240-242
27. H. P. Sinha, *Bharatiya Darshan ki Rooprekha*, pp. 234-235.
28. H. P. Sinha, *Bharatiya Darshan ki Rooprekha*, pp. 234-235.
29. Narendra Kumar Sharma, Tarkasaṁgraha, p. 97.
30. H. P. Sinha, *Bharatiya Darshan ki Rooprekha*, pp. 234-235.

References (Books)

1. Annambhaṭṭa. *Tarkasaṁgraha.* Translated by V. N. Jha. Ernakulam: Chinmaya International Foundation Zodha Sansthn, 2016.
2. Bhaduri, Sadananda. *Nyāya-Vaiśeṣika Metaphysics.* Delhi: Motilal Banarsidass, 1975.
3. Chatterjee, Satischandra, and Dhirendramohan Datta. *An Introduction to Indian Philosophy.* New Delhi: Rupa Publications, 2012.
4. Dasgupta, Surendranath. *A History of Indian Philosophy.* Vol. I. Delhi: Motilal Banarsidass, 1975.
5. Gautama. *Nyāyasūtra with Vātsyāyana Bhāṣya.* Edited by ṇanganatha Jha. Delhi: Motilal Banarsidass, reprint edition.
6. Hiriyanna, M. *Outlines of Indian Philosophy.* New Delhi: Motilal Banarsidass, 1993.
7. Hiriyanna, M. *The Essentials of Indian Philosophy.* Delhi: Motilal Banarsidass, 1995.
8. Kaṇāda. *Vaiśeṣikasktra.* Edited and translated by Nandalal Sinha. New Delhi: Munshiram Manoharlal, reprint edition.
9. Keśava Miśra. *Tarkabhāṣā.* Translated by S. R. Iyer. Delhi: Chaukhamba Orientalia, 2022.
10. Matilal, Bimal Krishna. *Navya-Nyāya Doctrine of Negation: The Semantics and Ontology of Negative Statements in Navya-Nyāya Philosophy.* Cambridge, MA: Harvard University Press, 1968.
11. Matilal, Bimal Krishna. *Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge.* Oxford: Clarendon Press, 1986.
12. Matilal, Bimal Krishna. *The Character of Logic in India.* Albany: State University of New York Press, 1998.
13. Mohanty, J. N. *Classical Indian Philosophy.* Lanham, MD: Rowman & Littlefield, 2000.
14. Potter, Karl H., ed. *Encyclopedia of Indian Philosophies.* Vol. II: *Indian Metaphysics and Epistemology: The Tradition of Nyāya-Vaiśeṣika up to Gaṅgeśa.* Delhi: Motilal Banarsidass, 1977.
15. Praśastapāda. *Padārthadharmasaṅgraha (Praśastapāda Bhāṣya).* Translated by ṇanganatha Jha. Delhi: Motilal Banarsidass, reprint edition.
16. Radhakrishnan, Sarvepalli. *Indian Philosophy.* Vols. I-II. New Delhi: Oxford University Press, 2008.
17. Sharma, Chandradhar. *A Critical Survey of Indian Philosophy.* Delhi: Motilal Banarsidass, 2016.
18. Shastri, D. N. *Critique of Indian Realism.* Delhi: Bharatiya Vidya Prakashan, 1964.
19. Viśvanātha Nyāyapañcānana. *Nyāyasiddhāntamuktāvalī.* Translated by M. R. Bodas and V. N. Paranjape. Delhi: Motilal Banarsidass, reprint edition.

Research Paper

Ms. Madhu Tripathi

Unveiling Potential and Fostering Inclusion: The Role of Women in Africa's Digital Economy

Abstract

The paper examines the role of women in growth of digital economy in the region of Africa. Currently, the participation of women in Africa's digital industry is low, even though there is tremendous possibility for growth in the tech sector. If more women are to find employment in the digital economy, skills in science, technology, engineering, and mathematics (STEM) need to be nurtured from a young age in girls. The tech sector is growing faster in Africa than any other region based on volume and year-on – year expansion. While the rise of the digital economy in Africa should be celebrated and its success should be fostered, inclusive participation remains a challenge. African women continue to face barriers to participating fully in the digital economy as creators and consumers of technology.

The paper evaluate the strong need for women 's potential and full inclusion in the industrial sector, and especially in the advancing digital economy and new technological environment captured by the Artificial Intelligence (AI) to unlock Africa's full potential in the digital economy. It draws attention to employment opportunities for women in manufacturing and digitally intensive sectors, and empowering girls and women in digitalization are among the most promising opportunities for lifting millions out of poverty and spurring economic growth and structural change in low- and middle- income countries.

The conclusion highlights that we can't have a digitally inclusive society that promises a better future for all if we are leaving women behind. To reap the benefits of digital transformation, we need to give women equal access to the opportunities, skills and tools afforded by modern technology.

Keywords:

Africa, Women, Digital Economy, Potential, Inclusion

Introduction

The digital economy, encompassing a wide range of activities from e-commerce and fintech to online services and digital media, has become a cornerstone of economic development globally. In Africa, this sector is experiencing rapid growth due to increasing internet penetration, widespread use of mobile phones, and innovation in digital services ((International Telecommunication Union [ITU], 2019). However, the participation of women in Africa's digital economy remains relatively low compared to men, presenting both a challenge and an opportunity for inclusive growth (world Bank, 2020). Africa's digital economy is on an upward trajectory, driven by the proliferation of mobile technology and internet connectivity. Digital revolution offers a unique opportunity to address long-standing issues of poverty, unemployment, and gender inequality by fostering inclusive economic participation (United Nations Economic Commission for Africa (UNECA, 2020).However, despite these advancements, women's participation in the digital economy is significantly lower than that of men. This

disparity is largely due to socio-cultural norms, limited access to education and technology, and insufficient policy support (Gilwald et.al, 2019)

Understanding the critical role of women in the digital economy is essential for several reasons. Firstly, inclusive economic growth requires leveraging the talents and skills of all citizens, including women, who make up nearly half of Africa's population (Women).Secondly, empowering women in the digital economy can lead to broader societal benefits, such as improved family health and education outcomes, as women often reinvest their earnings in their families and communities((Mackinsey Global Institute, 2016).Addressing gender disparities in the digital economy can drive innovation and competitiveness, as diverse teams are known to be more innovative and effective (Credit Suisse , 2016) his research paper will employ a multi-faceted approach, drawing on a variety of data sources including academic studies, policy reports, and case studies. The analysis will cover different regions within Africa to account for the continent's diverse economic, social, and cultural contexts. It will also consider the roles of various stakeholders, including governments, non-governmental organizations (NGOs), and the private sector, in promoting gender inclusion in the digital economy. The participation of women in Africa's digital economy is not just a matter of equity but a crucial factor for sustainable economic development. By unveiling the potential of women and fostering inclusive policies and practices, Africa can harness the full benefits of its digital transformation. The subsequent sections of this paper will delve deeper into the current state of the digital economy, the opportunities and barriers for women, and strategies for fostering inclusion.

In this paper, we comprehensively explore and highlight the role of women in Africa's digital economy, examining both the potential they hold and the barriers they face. By doing so, this paper aims to, analyze the current state of women's involvement in the digital economy across various African countries, identify the primary barriers hindering greater participation of women, discuss opportunities and strategies to foster inclusion and enhance women's participation and provide policy recommendations that could support and empower women in the digital sector.

Brief Overview of Africa's Digital Economy

Africa's digital economy is rapidly transforming, driven by significant advancements in technology and increasing internet penetration. The proliferation of mobile phones has been a key enabler of this transformation, with over one billion mobile subscriptions recorded across the continent by 2021 (GSMA , 2021)Mobile technology has facilitated access to the internet, leading to a surge in digital services such as mobile banking, e-commerce, and digital entertainment. Internet usage has also expanded, with approximately 520 million Africans online as of 2021, up from just 114 million in 2010 (International Telecommunication Union [ITU], 2019)Key sectors within Africa's digital economy include fintech, e-commerce, and digital media. Fintech, in particular, has seen remarkable growth, with mobile money services like M-Pesa revolutionizing financial inclusion in countries like Kenya and Tanzania. E-commerce platforms such as Jumia and Konga have enabled consumers to purchase goods and services online, expanding market access for small and medium-sized enterprises (SMEs) (McKinsey & Company, 2019)The digital economy is also fostering innovation, with numerous tech hubs and incubators emerging across the continent, providing support to startups and entrepreneurs (UNCTAD, 2020)

The Current State of Africa's Digital Economy

The digital transformation in Africa has been characterized by rapid growth in internet penetration and the widespread adoption of mobile technology. This transformation has significant implications for various sectors, including e-commerce, fintech, and health tech, among others. Growth of Internet Penetration and Mobile Technology: The digital landscape in Africa has experienced substantial growth over the past decade, primarily driven by increased internet penetration and mobile technology adoption. Mobile technology has been a critical driver of this growth. The continent has more than one billion mobile subscriptions, with mobile broadband connections accounting for a large proportion of internet access (GSMA, 2021). Mobile phones have become the primary means for many Africans to

access the internet, enabling a range of digital services that were previously unavailable or difficult to obtain. This shift has been facilitated by the decreasing cost of mobile devices and data services, making them more accessible to a broader segment of the population.

Moreover, the growth of mobile technology has spurred the development of innovative services tailored to the needs of African users. Mobile money services, such as M-Pesa in Kenya, have revolutionized financial transactions by providing a secure and convenient platform for transferring money, paying bills, and accessing credit (Mbiti & Weil, 2016)These services have significantly enhanced financial inclusion, particularly for unbanked and underbanked populations.

The Significance of Women's Participation in the Digital Economy of Africa

Women's participation in the digital economy is crucial for several reasons. Firstly, it promotes inclusive economic growth. Women make up nearly half of Africa's population, and their economic involvement is essential for achieving sustainable development. When women participate in the digital economy, they can contribute to increased household incomes, poverty reduction, and economic diversification (UN Women, 2020)Research indicates that empowering women economically can lead to broader societal benefits, such as improved health and education outcomes for families and communities, as women typically reinvest their earnings locally (McKinsey Global Institute, 2015)

Moreover, women's involvement in the digital economy can drive innovation and competitiveness. Diverse teams, including those with gender diversity, are known to be more creative and effective in problem-solving (Credit Suisse, 2016). Women bring unique perspectives and ideas that can lead to the development of new products and services, catering to a broader range of consumers. Additionally, women-led businesses tend to be more inclusive, promoting further gender equality in the workplace (World Bank, 2020).

However, despite the potential benefits, women in Africa face significant barriers to participating in the digital economy. These include socio-cultural norms, limited access to education and digital skills, and insufficient policy support. Addressing these barriers is essential to unlock the full potential of Africa's digital economy and ensure that women can contribute meaningfully to its growth.

By focusing on women's participation, policymakers, educators, and the private sector can implement strategies that foster an inclusive digital economy. This includes creating policies that support women entrepreneurs, providing education and training programs that enhance digital literacy, and ensuring affordable access to digital tools and the internet. Through such measures, Africa can harness the full potential of its digital transformation and promote sustainable economic development.

Case Studies of Successful Women-Led Digital Initiatives

Despite these challenges, there are notable examples of successful women-led digital initiatives that demonstrate the potential of women in Africa's digital economy:

1: Funke Opeke – MainOne (An Equinox Company)

Funke Opeke, a Nigerian engineer, founded MainOne, a leading provider of innovative telecom services and network solutions in West Africa. MainOne's subsea cable has significantly improved internet connectivity in Nigeria and neighboring countries, facilitating better digital access and economic opportunities. Under Opeke's leadership, MainOne has become a major player in the region's digital infrastructure, demonstrating the impact of women's leadership in the tech industry (MainOne, 2021)

2: Rebecca Enonchong - AppsTech

Rebecca Enonchong is a prominent Cameroonian entrepreneur and founder of AppsTech, a global provider of enterprise application solutions. Enonchong is also an advocate for technology entrepreneurship in Africa, actively supporting tech startups through her work with organizations such as the African Business Angels Network (ABAN). Her success with AppsTech and her contributions to the tech ecosystem highlight the vital role women can play in driving digital innovation and entrepreneurship in Africa (Enonchong, 2021)

3: Juliana Rotich - Ushahidi

Juliana Rotich, a Kenyan technologist, co-founded Ushahidi, an open-source software platform for crowd-sourced data collection and interactive mapping. Ushahidi gained international recognition for its use during crises, such as monitoring electoral violence in Kenya and coordinating disaster response efforts globally. Rotich's work with Ushahidi has had a profound impact on how technology can be leveraged for social good, showcasing the significant contributions of women in the tech space (Ushahidi, 2021)

4: Hilda Moraa - Pezesha

Hilda Moraa, a Kenyan entrepreneur, founded Pezesha, a fintech platform that provides access to affordable financial services for underserved populations, particularly SMEs. Pezesha's innovative approach to financial inclusion has enabled numerous small businesses to thrive by providing them with necessary capital and financial education. Moraa's leadership in the fintech sector underscores the potential of women-led initiatives to address critical economic challenges in Africa (Pezesha, 2021)

These case studies highlight the successes of women in Africa's digital economy and serve as inspiration for increasing women's participation across the continent. By supporting and scaling such initiatives, Africa can leverage the full potential of its female population in driving digital innovation and economic growth.

Opportunities for Women in the Digital Economy in Africa

Emerging Sectors and Niches: Analysis of Sectors with High Growth Potential for Women Entrepreneurs: The digital economy presents numerous opportunities for women entrepreneurs in Africa, particularly in emerging sectors and niches that are experiencing rapid growth. These sectors include e-commerce, fintech, agritech, and health tech, each offering unique opportunities for women to innovate and lead.

E-commerce: The e-commerce sector has been expanding rapidly in Africa, driven by increasing internet penetration and the growing use of mobile devices. Women entrepreneurs can leverage this growth by establishing online businesses that cater to local and international markets. For instance, platforms like Jumia and Konga have created opportunities for women to sell goods and services online, reaching a wider customer base (UNCTAD, 2020).

Fintech : The fintech sector is another area with high growth potential. Mobile money services like M-Pesa have revolutionized financial transactions, and there is still ample room for innovation. Women can create fintech solutions that address the unique financial needs of underbanked populations, particularly women and small businesses. Initiatives such as Pezesha, founded by Hilda Moraa, exemplify the potential for women to lead in this sector by providing affordable financial services to SMEs (Pezesha, 2021).

Agritech: Agriculture remains a crucial part of Africa's economy, and digital technologies are transforming this sector. Women entrepreneurs can develop agritech solutions that enhance productivity, improve supply chain management, and provide access to markets for smallholder farmers. Digital platforms that offer agricultural advice, weather forecasts, and market prices can empower women farmers and entrepreneurs (TechnoServe, 2020).

Health Tech: The health tech sector is growing as digital solutions become more integral to healthcare delivery. Women can innovate in telemedicine, health information systems, and mobile health applications to improve healthcare access and outcomes. Juliana Rotich's work with Ushahidi, which uses technology for crisis response and health information dissemination, is a notable example (Ushahidi, 2021)

Availability and Impact of Digital Literacy Programs: Digital literacy programs are essential for equipping women with the skills needed to participate effectively in the digital economy. These programs provide training in basic digital skills, coding, and advanced technological competencies. Initiatives such as SheCodes and the African Girls Can Code Initiative offer targeted training to women and girls, enhancing their employability and entrepreneurial potential (UN Women, 2020).

The impact of digital literacy programs is significant. Women who participate in these programs gain the confidence and skills needed to start their

own businesses, pursue careers in technology, and contribute to the digital economy. For example, the African Girls Can Code Initiative, supported by UN Women and the International Telecommunication Union, has trained thousands of girls across Africa, fostering a new generation of female tech leaders (ITU, 2020).

Role of Higher Education and Vocational Training in Preparing Women for Digital Careers

Higher education and vocational training play critical roles in preparing women for careers in the digital economy. Universities and technical institutes across Africa are increasingly offering programs in STEM (Science, Technology, Engineering, and Mathematics) fields, which are crucial for digital careers. Scholarships and mentorship programs aimed at women help to bridge the gender gap in these fields (World Bank, 2020).

Vocational training programs are also vital, providing practical skills that are directly applicable to the workforce. These programs often collaborate with industry partners to ensure that the training is relevant to current market needs. For instance, coding bootcamps and tech hubs like Andela offer intensive training and connect women with job opportunities in the tech industry (Andela, 2021)By expanding access to education and vocational training, Africa can empower more women to participate in and benefit from the digital economy. This will not only enhance gender equality but also drive economic growth and innovation across the continent.

Barriers to Women's Participation

Socio-Cultural Barriers

Gender Norms and Stereotypes Limiting Women's Roles in Technology:

Gender norms and stereotypes significantly impede women's participation in Africa's digital economy. These societal expectations often dictate that technology and digital careers are predominantly male domains, discouraging women from pursuing education and careers in STEM fields. Research by the World Bank (2020) highlights that cultural attitudes and stereotypes contribute to the underrepresentation of women in the tech industry, reinforcing the perception that technology is unsuitable for women. These stereotypes are perpetuated through media, education systems, and even within families, leading to a lack of confidence among women and girls in their ability to succeed in digital roles (UNESCO, 2019).

Family Responsibilities and Societal Expectations: Family responsibilities and societal expectations also play a crucial role in limiting women's participation in the digital economy. Women often bear the brunt of unpaid domestic labor and caregiving responsibilities, which restricts their time and ability to engage in educational and professional opportunities. The International Labour Organization (ILO, 2018)reports that women globally spend, on average, four hours and 25 minutes per day on unpaid care work, compared to one hour and 23 minutes for men. This disproportionate burden reduces the time women can allocate to developing digital skills or participating in the digital workforce, further entrenching gender disparities in the digital economy.

Economic Barriers

Access to Funding and Financial Services: Economic barriers such as limited access to funding and financial services also hinder women's participation in the digital economy. Women entrepreneurs often face significant challenges in securing capital for their ventures. (The African Development Bank , 2019)notes that women in Africa receive only 3% of venture capital funding, despite constituting over half of the continent's population. This lack of financial support restricts the growth potential of women-led businesses and limits their ability to scale and innovate within the digital economy.

Wage Gaps and Employment Disparities: Wage gaps and employment disparities further exacerbate economic barriers for women. Women in Africa generally earn less than men for similar work and are less likely to be employed in high-paying sectors such as technology. According to a report by the World Economic Forum (2020), the gender pay gap in sub-Saharan Africa stands at around 23%, with women earning significantly less than men across various industries. These economic disparities limit women's financial independence and reduce their ability to invest in digital tools and training, thereby restricting their participation in the digital economy.

Technological Barriers

Access to Digital Tools and Internet Connectivity: Access to digital tools and internet connectivity is another critical barrier for women. Many women in Africa lack access to essential digital devices such as smartphones, tablets, and computers. The GSMA (2020) reports that women in sub-Saharan Africa are 15% less likely to own a smartphone compared to men. Additionally, high costs of internet connectivity and digital devices make them unaffordable for many women, particularly in rural areas. This digital divide prevents women from fully engaging with digital platforms and services, limiting their opportunities in the digital economy.

Gaps in Technical Skills and Education: There are also significant gaps in technical skills and education that hinder women's participation. Women are less likely to receive education and training in digital skills, which are essential for participating in the digital economy. (UNESCO , 2019)notes that women and girls in Africa are underrepresented in STEM education, leading to lower digital literacy levels. Without access to quality education and technical training, women cannot compete effectively in the digital job market or pursue entrepreneurial opportunities.

Policy and Regulatory Barriers

Analysis of Existing Policies Impacting Women's Digital Participation: Existing policies often fail to address the unique challenges faced by women in the digital economy. Many policy frameworks do not consider the gender-specific barriers that women encounter, leading to ineffective interventions. For example, policies aimed at increasing digital literacy may not account for the additional support women need, such as flexible training schedules that accommodate their family responsibilities (ITU, 2019).

Need for Gender-Sensitive Policy Frameworks: There is a pressing need for gender-sensitive policy frameworks that actively promote women's participation in the digital economy. Such policies should include measures to reduce the cost of digital access, provide financial incentives for women entrepreneurs, and ensure equal opportunities in education and employment. The African Union's Digital Transformation Strategy for Africa (2020-2030) highlights the importance of integrating gender perspectives into digital policies to create an inclusive digital ecosystem (African Union, 2020)By adopting gender-sensitive policies, governments can help bridge the digital gender divide and foster a more inclusive digital economy.

Fostering Inclusion: Strategies and Initiatives: To foster inclusion in Africa's digital economy, it is essential to develop and implement inclusive digital policies. These policies should address the specific barriers that women face and promote their active participation in the digital economy. Frameworks for inclusive digital policies include promoting gender equality in digital education, ensuring equal access to digital tools and internet connectivity, and supporting women entrepreneurs through targeted financial incentives. For example, the African Union's Digital Transformation Strategy for Africa (2020-2030) outlines a comprehensive approach to building a digital economy that is inclusive and accessible to all, with a strong emphasis on gender equality (African Union, 2020)This strategy advocates for integrating gender perspectives into digital policies, promoting digital literacy among women, and ensuring that women have equal opportunities to benefit from digital technologies.

Examples of Successful Policy Interventions in Other Regions: Examining successful policy interventions from other regions can provide valuable insights for Africa. In Europe, the Digital Skills and Jobs Coalition initiative has been successful in bridging the digital gender gap by promoting digital skills and literacy among women. This initiative brings together various stakeholders, including governments, companies, and NGOs, to develop programs that enhance digital skills and create employment opportunities for women (European Commission, 2019)In India, the Digital India program includes specific measures to increase women's participation in the digital economy. The program promotes digital literacy among women through initiatives such as the Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA), which aims to make six crore rural households digitally literate, with a particular focus on women (Government of India, 2019)These

examples demonstrate the potential impact of well-designed, inclusive digital policies.

Educational and Training Programs

Importance of STEM Education for Girls: STEM education is critical for preparing girls and women for careers in the digital economy. By encouraging girls to pursue studies in science, technology, engineering, and mathematics, we can equip them with the skills needed to thrive in digital roles. UNESCO (2019) emphasizes that closing the gender gap in STEM education is essential for achieving gender equality in the digital economy.

Initiatives by Governments and NGOs to Boost Digital Skills Among Women: Various initiatives by governments and NGOs aim to boost digital skills among women. For instance, the African Girls Can Code Initiative, supported by UN Women and the International Telecommunication Union, provides coding and digital literacy training to girls across Africa. This initiative not only enhances technical skills but also inspires confidence and interest in technology careers (UN Women, 2020).

Additionally, Tech Needs Girls, a Ghana-based NGO, offers mentorship and training programs to young girls, teaching them coding and other digital skills. These programs help to create a pipeline of skilled female professionals ready to enter the digital workforce (Tech Needs Girls, 2021).

Supporting Women Entrepreneurs

Role of Incubators, Accelerators, and Mentorship Programs: Incubators, accelerators, and mentorship programs play a crucial role in supporting women entrepreneurs. These programs provide the resources, training, and networks necessary for women to start and grow their businesses. For example, She Leads Africa is an organization that offers training, mentorship, and funding opportunities specifically for African women entrepreneurs, helping them to scale their ventures and succeed in the digital economy (She Leads Africa, 2021)

Access to Funding and Investment for Women-Led Businesses: Access to funding is a significant challenge for women entrepreneurs. To address this, various initiatives have been launched to provide financial support to women-led businesses. The Women Entrepreneurs Finance Initiative (We-Fi) is a collaborative partnership among governments, multilateral development banks, and other stakeholders that aims to provide financing and support for women entrepreneurs in developing countries, including those in Africa (We-Fi, 2021)

Promoting Digital Literacy and Access

Community-Based Digital Literacy Programs: Community-based digital literacy programs are essential for reaching women who may not have access to formal education or training. These programs provide hands-on training and support within local communities, making digital literacy more accessible. For example, the Learn My Way program offers free digital skills courses through community centers and libraries, empowering women with the skills needed to navigate the digital world (Good Things Foundation, 2021)

Affordable Access to Digital Devices and Internet: Ensuring affordable access to digital devices and internet connectivity is critical for fostering inclusion in the digital economy. Programs that subsidize the cost of smartphones, tablets, and internet services can help bridge the digital divide. The Alliance for Affordable Internet (A4AI) advocates for policy and regulatory reforms to reduce the cost of internet access and ensure that everyone, including women, can afford to connect to the internet (A4AI, 2020)

By implementing these strategies and initiatives, Africa can create a more inclusive digital economy that harnesses the potential of all its citizens, particularly women.

Conclusion

In this research paper, we have explored the role of women in Africa's digital economy, focusing on their potential, challenges, and opportunities for inclusion. Key points discussed include the significance of women's participation in driving economic growth and innovation in the digital age. Throughout the paper, I have identified key findings and insights, including: Women's participation in the digital economy is essential for driving economic growth, reducing gender disparities, and fostering innovation. Despite progress, women in Africa face numerous barriers to participation in the digital economy, including socio-cultural norms, limited access to resources, and

discriminatory policies. There are need for investment in education, skills development, and support for women entrepreneurs are critical for fostering inclusion and unlocking the full potential of women in the digital economy. Collaboration between governments, international organizations, civil society, and the private sector is essential for advancing gender equality and inclusive growth in the digital age. As I move forward, it is imperative to take action to address the challenges and opportunities identified in this paper. We call on policymakers, educators, and the private sector to implement gender-responsive policies and initiatives that promote women's participation and leadership in the digital economy. There is need to invest in education and skills development programs that equip women with the digital skills needed for the future workforce. Huge support for women entrepreneurs through access to finance, mentorship, and networking opportunities. Foster collaboration and partnerships between stakeholders to drive collective action towards gender equality and inclusive growth. Policymakers should enact and enforce gender-responsive policies that promote women's access to digital resources, financial services, and employment opportunities. Educators should integrate digital literacy and STEM education into school curricula to prepare girls and women for digital careers. The private sector should prioritize diversity and inclusion initiatives, including mentorship programs and support for women-led startups.

In conclusion, fostering inclusion in Africa's digital economy requires collective efforts from all stakeholders. By working together to address barriers, promote opportunities, and empower women, we can build a more equitable and prosperous digital future for all.

Masters in Political Science
Department of Political Science
University of Delhi, DU
Email : madhutripathi1871999@gmail.com

References:

- A4AI. (2020). The Affordability Report 2020. Alliance for Affordable Internet.
- African Development Bank. (2019). Investing in Gender Equality for Africa's Transformation. AfDB.
- African Union. (2020). Digital Transformation Strategy for Africa (2020-2030). African Union.
- Alliance for Affordable Internet. (2020). The Affordability Report 2020. A4AI.
- Andela. (2021). About Us. Retrieved from https://andela.com/about
- Credit Suisse. (2016). The CS Gender 3000: The Reward for Change. Retrieved from https://www.credit-suisse.com
- Enonchong, R. (2021). About Rebecca Enonchong. Retrieved from https://www.rebeccaenonchong.com
- European Commission. (2019). Digital Skills and Jobs Coalition. European Commission.
- Flutterwave. (2021). About Us. Retrieved from https://www.flutterwave.com
- Gillwald, A., Milek, A., & Stork, C. (2018). Towards Evidence-based ICT Policy and Regulation: Gender Assessment of ICT Access and Usage in Africa. Research ICT Africa.
- Good Things Foundation. (2021). Learn My Way. Retrieved from https://www.learnmyway.com
- Government of India. (2019). Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA). Retrieved from https://www.pmgdisha.in
- GSMA. (2020). The Mobile Gender Gap Report 2020. GSMA.
- GSMA. (2021). The Mobile Economy: Sub-Saharan Africa 2021. GSMA.
- International Labour Organization. (2018). Care Work and Care Jobs for the Future of Decent Work. ILO.
- International Telecommunication Union. (2019). Measuring Digital Development: Facts and Figures 2019. ITU.
- International Telecommunication Union. (2020). African Girls Can Code Initiative. ITU.
- LifeBank. (2021). Our Story. Retrieved from https://www.lifebank.ng
- MainOne. (2021). Our Story. Retrieved from https://www.mainone.net
- Mbiti, I., & Weil, D. N. (2016). Mobile Banking:

The Impact of M-Pesa in Kenya. In NBER Chapters. National Bureau of Economic Research, Inc.

- McKinsey & Company. (2019). Lions Go Digital: The Internet's Transformative Potential in Africa. McKinsey & Company.
- McKinsey Global Institute. (2015). The power of parity: How advancing women's equality can add $12 trillion to global growth. McKinsey & Company.
- Pezesha. (2021). About Us. Retrieved from https://www.pezesha.com
- She Leads Africa. (2021). About Us. Retrieved from https://sheleadsafrica.org
- Tech Needs Girls. (2021). About Us. Retrieved from https://techneedsgirls.org
- TechnoServe. (2020). Digital Technologies in Agriculture. TechnoServe.
- The Current State of Africa's Digital Economy
- UN Women. (2020). African Girls Can Code Initiative. UN Women.
- UN Women. (2020). Progress of the World's Women 2019-2020: Families in a Changing World. UN Women.
- UNCTAD. (2020). Technology and Innovation Report 2020: Harnessing Frontier Technologies for Sustainable Development. United Nations Conference on Trade and Development.
- UNESCO. (2019). Cracking the Code: Girls' and Women's Education in STEM. UNESCO.
- United Nations Conference on Trade and Development. (2020). COVID-19 and E-Commerce: A Global Review. UNCTAD.
- United Nations Economic Commission for Africa. (2020). COVID-19 in Africa: Protecting Lives and Economies. UNECA.
- United Nations Economic Commission for Africa. (2020). Economic Report on Africa 2020: Innovative Finance for Private Sector Development in Africa. UNECA.
- United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization. (2019). Women and the Digital Divide in Africa. UNESCO.
- Ushahidi. (2021). About Us. Retrieved from https://www.ushahidi.com
- We-Fi. (2021). Women Entrepreneurs Finance Initiative. Retrieved from https://we-fi.org
- World Bank. (2020). Women and Trade: The Role of Trade in Promoting Gender Equality. World Bank.
- World Economic Forum. (2020). Global Gender Gap Report 2020. WEF.
- World Health Organization. (2020). Digital Health: A Strategy to Support Universal Health Coverage in the WHO African Region. WHO.

Research Paper

Anmol

Air Pollution, Heatwaves and Women's Menstrual Health : Emerging Environmental Challenges in India

Abstract

Severe environmental degradation and climate extremes, in the context of a growing crisis south of India, are inextricably linked with social norms and socio-economic patterns that are entrenched and manifest in gender norms.The ecological crisis is fundamentally asymmetrical, which is mediated by arguably deep-seated genderal and socio-economic structures. The traditional principles of environmental governance see the population of people as a monolith, but new data on epidemiology has shown that serious environmental issues related to air pollution and extreme heat stress are to a large extent breaking women's reproductive and menstruation cycles. This paper examines the state's failure to reduce ED exposure from pollution of the atmosphere and to ensure the safety of women of the informal sector from occupational heat stress as a form of violence.This paper explores the state's irresponsible actions that lead to high ED exposure from atmospheric pollution and its inability to ensure the safety of women in the informal sector from occupational heat exposure, as a form of violence. The analysis points to a governance gap experienced, where institutionally, a significant gaps exists in mainstream policy documents between the concerns of women's health and safety, focusing on menstruation and macro-economic priorities. Finally, this research suggests that climate-resilient development must support addressing SRHR and occupational protections, and that these elements must be explicitly included within an overall 'menstrual justice' strategy coupled to various climate-resilient infrastructure elements (including sanitation) and into national climate adaptation strategies.

Introduction

The climatic changes are happening at an accelerated rate in the world at large and in India, with environmental degradation taking a severe toll in the country, while the effects of environmental changes continue to be inherently skewed. A paradigm shift is needed according to new frameworks of environmental justice that approach the analysis of climate change from a more localized micro level, with a focus on more specific outcomes like respiratory problems, agricultural reductions and water shortages and shortages rather than generalized macro level outcomes. In specific, toxic air pollution and extreme thermal stress have a devastating impact on women's reproductive, menstrural and maternal health, which is a neglected and largely ignored area of climate policy in the Indian context.[1] The recognition of these interrelated threats is no longer just a matter of public health, but is the concern politically, conversation of human rights and biopolitics. The inability of both national policies and local guidelines on heat action plans to sufficiently protect distressed women from these highly gendered adverse environmental impacts highlights gender inequality embedded within socio-political structures. It highlights the extent to which the population is viewed as a whole rather than being considered as a set of individuals, putting nature's

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

processes of adaption to climate change into a state of extreme physical and psychological susceptibility. Physiological pathways that climate induced hazards affect the female reproductive system are stark. Fine particulate matter and polycyclic aromatic hydrocarbons also exert strong endocrine disrupting effects, but these are not the most salient of air pollution in the Indo-Gangetic Plain which is treated mostly as a respiratory problem.[2] The chemical components in these substances frequently act in a similar way to hormones. Chemical compounds in these substances directly affect the hormones, and are often estrogenic. The connection between these environmental polligens and the shortening of the luteal phase of the menstrual cycle is perfectly established and this will undoubtedly represent another important prognostic factor for general reproductive situation and fertility. Additionally, these toxicants placeSignificantly higher risk of Mortality and Morbidity of the mother. FPM alone is a direct risk factor for a significant increase in risk for hypertensive disorders of pregnancy, such as preeclampsia, which pose a threat to maternal life. The state's failure to acknowledge these endocrine disrupting truths in emissions policies indirectly perpetuates an "atmospheric violence" against women. At the same time, the biopolitics of thermal stress reveals a significant failure in government on the part of the government of occupational health and reproductive labor. Increasing extremes of hot weather with more frequent and intense events in the Indian subcontinent make a unique impact on women who are targeted and used by patriarchy based labour systems. Indian agriculture and informal sector employ a huge number of women who typically face harsh labor conditions, soil temperatures and are unable to have their needs addressed in terms of regulation, activity, cooling etc.[3] This occupational exposure to the heat affects thermoregulation and markedly increases hospitalisation rates for mothers. Exposure to extreme temperatures in the womb stresses the body and affects the blood supply to the placenta, leads to early delivery, low birth weight, and more stillbirths.

Moreover, extreme weather conditions and the subsequent water shortages affect already vulnerable sanitation systems, which negatively affects the care taking of menstrual health and hygiene management. Policymakers need to make it clear that environmental adaptation is intrinsically linked with reproductive justice to address this governance deficit. Environmental injustices negatively impact the bodily autonomy of women more than men, leading to chronic pain, genitourinary infections and poor birth outcomes, and thereby to reproductive injustice. In the future, India must go beyond gender blindness and move towards more focused menstrual justice, with measures in place to ensure questions of work and employment for pregnant and menstruating informal workers are guaranteed during future emergencies of such a magnitude.

The Biopolitics of Thermal Stress: Heatwaves and Reproductive Labor

This is a deep quarrel of contemporary biopolitics, in which state apparatuses perform, regulate and systemically disregard women's body on the intersection of extreme thermal stress and women's reproductive labor. Biopolitics is an area in political science that examines the appropriation of human life and biological processes by politics and economy. The global emergence of increasingly intense heatwaves in Africa, South Asia and other parts of the Global South makes heat a means of structural violence.[4] A lack of measures that reduce the impacts of extreme heat and/or create a sufficient, sustainable base of climate resilient infrastructure leaves the socio-economically most vulnerable groups at risk of death from thermal stress. This is a gendered sort of exposure for women. The fact that Monthly, Pregnant, and postpartum needs of women are driven by their physiology and are violently reinforced by patriarchy's work organization (without systematic safeguard from climate harmful effects), further compounds women's bodies' physiological needs. Most significantly, this biopolitical malignancy is shown in female labourers in the formal and informal sectors who work in physically taxing measures of production within the developing agrarian economy. In South Asia and sub-Saharan Africa, millions of women work in cramped indoor spaces, such as agricultural fields, construction sites, and brick factories, undertaking heavy work. Systematic lack of regulatory rest periods and active cooling or adequate shade in the intense heat waves

continues to happen systematically to force these workers to work with just as much or even more fatigue and disability.Under the relentless and extreme heat waves, these workers systematically lack the regulatory rest periods, access to active cooling or adequate shade, forcing them to work even more fatigued and with distorted capabilities. In this work life, a female body is constantly being exposed to an extreme ambient heat and is always producing an extreme internal metabolic heat due to work strain.[5] The political economy of informal labour then turns the natural extremes of environment into a heavily-sculpted occupational hazard, which overrides the biological urge to thermoregulate – the last biological hurdle to be overcome, yet the one that, when playing the survival game, may so easily be trampled. The state neglects to include the informal sector in occupational health and safety regulations and so deprives poor women of their basic bodily autonomy, leaving them with the option to accept physiological degradation as part of their basic ship of peace.The state does not include the informal sector in the regulations of occupational health and safety, effectively taking away the poor women's autonomy and leaving them with the risk, if it has not already happened, of degrading their physiology as a condition of living. This unabated thermal stress on reproductive health has a devastating and scientifically sound physiologic impact, but is consistently underrepresented at the highest level of national climate planning. Direct effect of extreme heat on female endocrine system leads to cortisol being raised which in turn disrupts the little endocrinal system balance required for regular menstruation and causes dysmenorrhea, irregular menstruation and amenorrhea. In an expectant mother, the odds are raised even more. Maternal thermoregulation is already overloaded with the metabolic needs of gestation and fetal growth. Excessive heat exposure over time leads to decreased blood supply to the placenta and uterus due to the mother's cardiovascular system's hyper-activation of blood flow to its skin, which works to cool the mother. This physiological triage can really lead to heavy maternal morbidity Status—serious complications, which can include hypertensive crisis, early labor, significant reductions in birth weight and a substantial rise in spontaneous abortions that is seen in vulnerable laborers.[6] In addition, the biopolitics of thermal stress does not only involve the effects of heat on the body, but also the important domain of essential infrastructure and hygiene management. Severe water scarcity and drought usually occur during extreme heatwaves, thus severely undermining water, sanitation, and hygiene systems. Women in rural agricultural areas and informal settlement urban settings (mostly menstruating women) who rely on menarche related systems for their safe and private needs have lost access to these infrastructure, clean water and space to maintain basic hygiene. Forced into very unhygienic conditions, women suffer from a dramatic increase in genito-urinary infections like bacterial vaginosis and severe urinary tract infections caused by these infrastructural deprivations. Accordingly, the lack of building and upkeep of climate sustainable sanitation infrastructure becomes a second form of environmental violence happening in the state. Finally, it is important to understand that occupational thermal stress and infrastructural neglect are not just environmental bad luck, but political failures, and that such issues need to be taken seriously and included in any broad reproductive justice agenda.[7]

Atmospheric Violence: Air Pollution As An Endocrine Disruptor

Air pollution that is perceived as one form of 'violence' in the air offers a crucial and much needed framework for assessing current environmental governance from a political Science perspective and for policymakers. Currently, state bodies and international environmental regimes represent air pollution in a state-centric and health-based way, but almost invariably as a respiratory and cardiovascular disease, making the atmosphere a predominantly catallene space.The modern state apparatus and international environmental accounting writing have been mainly institutionalizing air pollution as a respiratory and cardiovascular public health problem, which means that the atmosphere becomes a nearly exclusively male space. But this broad-brushed strategy hides a deep-seated structural inequity. Pollution by toxic substances is a slow, systemic form of violence, and has been a part of industry, vehicle

use, and agricultural burning for a long time now. Expressed in such a way, this violence is borne disproportionately by the bodies of the most vulnerable and marginalized socially women, whose particular physiological characteristics continue to be forgotten in the dominant environmental law. Institutionalizing an approach to environmental health and biopolitics that exposes and the subjects of a deeply patriarchal politics of female autonomy and bodily integrity, state pollution permit regulators are not, primarily, degrading an ecological resource, but also facilitating degradation by granting permits for "allowable" (in state parlance) levels of surrounding pollution.[8]

It's the exact way that this atmospheric violence happens: common air pollutants can be highly concentrated endocrine-disrupting chemicals. Upon inhalation, fine particulate matter, nitrogen dioxide, sulfur dioxide and polycyclic aromatic hydrocarbons are not restricted to the lung. In preference, they regularly migrate through alveolo-capillary barrier and end up in systemic circulation and into endocrine system. These blood-borne toxic substances often display powerful estrogenic and anti-estrogenic effects. They bind to receptor hormones on cell surfaces, interfere with production of endogenous hormones and can massively dysregulate the hypothalamus-pituitary-ovarian axis. These airborne toxicants affect the metabolic and reproductive system by biochemically mimicking the hormones which control that system within the female. However, the realisation that air pollution is a significant endocrine disruptor is conspicuously missing from national air pollution governance and from international measures on climate change.[9] This endocrine disrupter re-enacts on a local scale environmental carelessness as systemic physical trauma to millions of individuals – namely females. Long-term exposure to high ambient air pollution concentration undoubtedly shows that it is closely related to high degree of menstrual disorders. Elevated rates of severe menstrual irregularity, protracted cycle duration, and unique androgen excess phenotypes are seen in both adolescents and women who live in areas with high air pollution. Importantly, exposure to PM2.5 over time has been shown to not only cause significant hormonal imbalance, but also to be a key negative prognostic indicator for female fertility and long-term reproductive health. Moreover, the effect of atmospheric toxicity is to sensificately increase the 'long run' incidence of primary dysmenorrhea because a state's failure to control emissions creates chronic and disabling pelvic pain for people with periods of fertile age.[10] The effect of this violence of the atmosphere on the human body also permeates directly into pregnancy itself, and a lack of environmental governance can have intensely harmful consequences for pregnant women. Described as having the 'power of the placenta', ultrafine particulate matter and other associated heavy metals can reach the fetus, directly entering the systemic environment, leading to the development of inflammation and the degree of oxidative stress. This harmful exposure leads to a massive reduction in placental vascularization, and is closely linked to several potentially life-threatening maternal complications, such as early onset of preeclampsia, severe hypertensive pregnancy conditions, low birth weight, and increased risk of spontaneous abortion. This crisis requires a revolution in the understanding of environmental justice. Policymakers need to re-engineer existing air quality frameworks so that there is gender parity; no right to air quality goes without gender parity in the right to reproductive safety. The atmosphere is a very potent instrument for gender violence, unless emissions are regulated by the State with the explicit purpose of protecting female endocrinology.[11]

Governance Deficits: The Institutional Invisibility of Menstrual Health

Poor governance makes menstruation the subject of formal political talk and a trifling concern in environmental planning, and reveals how rigid environmental planning processes are dominated by a male perspective. Regarding biorestriction, in the world of "biopolitics," the state structures "seen" functions, such as those of reproduction and other characteristics of specific species, and it "sees" invisible functions such as those of disease and death. In spite of being an integral part of the natural physiology of half of the world's population, menstruation is traditionally placed behind the back, fully stigmatized and deliberately outside the

framework of policy planning in the macrolevel. The combination of this institutional invisibility with the increasing extreme events of climate change (e.g. extreme heatwaves, severe level of Ambient Air Pollution) has catastrophic effects. Failure by the government to make menstrual health a major part of public good and climate adaptation is not just a tragedy of omission, it is an active policy question – a choice – that entrensures women and girls continued vulnerability. Governance reflects mutual denial of the body, the need for the menstruating body under environmental stress, and makes menstruation an extended state of high physiological vulnerability, as if the rights of every menstruating body—women and girls—are denied their right to environmental safety and to prevention from being ruled by the state.[12] This institutional invisibility becomes apparent in a number of aspects of the design and implementation of national and international climate adaptation strategies. The dominant approach of the major environmental governance programmes, such as the initiation of National Clean Air Programmes and the localised State level Heat Action Plans is fundamentally gender blind.

They define resilience using generalized indicators, like food production or electricity security, and general health measures like mortality from heart disease and strokes, treating the affected population as an ecological whole. The result is that aspects of Sexual and Reproductive Health and Rights are largely missing from Nationally Determined Contributions and local disaster responses. During days of severe smog or thermal crisis, when environmental protection institutions declare "Emergency" notices for the closure of industries and public health warnings, these institutions systematically exclude specific measures to protect worker health related to pregnancy and menstruation such as mandatory paid leave or changed working hours for pregnant and menstruating workers in the informal sector. There is a critical governance failure, as emergency needs- or orientation-based macro-economic considerations are interposed between a vulnerable female population and its reproductive and psychological wellbeing, always and all the time.[13] This situation is compounded by a widespread problem of 'epistemic violence' – the scarcity of sex-specific data in environmental health monitoring. Good governance and effective policy-making depends on strong empirical data; if that is not possible, then the state will neither be able to regulate nor to mitigate a crisis. There is currently a limited ability to connect national health registries with environmental monitoring agencies in terms of the connection of acute exposures to environmental toxicants and wet-bulb temperatures with specific reproductive and menstrual health outcomes. Women who might suffer from pollution-induced dysmenorrhea, changed luteal phases or heat-induced infections for the genitourinary system are then "ghosted" from state parameters. This is one playing field full of data and the other playing field with none, leaving policy makers with the illusion of broad-based climate action even though it is severely lacking in a highly gendered climate of environmental degradation. A lack of state coverage and institutionalization of data regarding the climate-Healthcare Nexus of Female Reproductive Health continues to produce a vicious cycle of structural ignorance which keeps state responses at the core of their structural limitations and inherent gender bias.[14] Finally, the governance shortfall in menstrual health forms into a more systematic shortcoming of vital public system during climate disasters. Water, Sanitation and Hygiene infrastructure is a political topic, defining who has the right to dignity, health and basic hygiene. Gender disproportionately equates with water insecurity and collapse of infrastructure due to extreme weather which negatively impacts fragile sanitation systems. The state's inadequate investment in infrastructure to prevent reproductive tract infections by providing women with safe, sanitary, and heat-resistant sanitation facilities in informal urban settlements and rural peripheries compels them to undertake unsafe and unsafe sanitary practices, directly causing deep reproductive tract infections. To overcome this institutional invisibility we must radically challenge these silo(ed) policies. Real climate justice requires an explicit application of a strong menstrual justice approach and the explicit recognition of reproductive health infrastructure as a part of national security and adaptation, a recognition which can no longer be ignored, obviously forcing the state

to govern and protect the whole population of its gendered citizens.[15]

A Framework for Menstrual Justice and Climate Adaptation

Latently there are major failures of systems in environmental governance today, which underscores the need to think and design a comprehensive approach that includes a strong concept and institutionalization of menstrual justice in the system of climate adaptation. The technocratic, patriarchal framework that has dominated the climate policy till today has focused on macro-economic stability, the mitigation of carbon, and in a broad sense, infrastructural resilience, and has been hostile to the local, physiological reality of the female body. This gender blind method is not what is required for menstrual justice. It suggests that safe, dignifying and violence-free menstruation, which was once assumed as a human right, is increasingly being colonised.It infers that safe and dignifying and violence-free menstruation is once assumed human right of an individual, which is being colonised by escalating climate induced disruptions. Finally, a necessary precondition for achieving menstrual justice in the context of climate adaptation is that the women's body is not simply the locus of environmental crises—such as killer heat, toxic air pollution, and widespread water shortages—but a site of violent assault. For a holistic commitment to climate resilience, the state must go beyond any mitigation targets, in order to actively protect the reproductive autonomy and physical sovereignty of people, in face of profoundly degraded ecological bases.[16] Reconstructing the physical infrastructure as well as jobs is at the core of the need to operationalize this framework. When it comes to traditional approaches to climate adaptation, the strengthening of energy grids and agricultural supply chains often get significantly more attention than climate resilient water, sanitation and hygiene systems are invested in – which, in the end, is the most important climate-smart infrastructure for female survival. A menstrual justice approach requires states and international funds for climate justice to prioritise engineering sanitation rather than developers pitching fancy, brand-new facilities that rapidly whirl past and collapse when disaster strikes, especially in rural peripheries and informal urban settlements. To this ends, there is an urgent need to reform the mode of operation of the labor legislations to safeguard the large population of women in the informal and agriculture sector factories of the country. Conditions of extreme heat events and high ambient air quality conditions must be prescribed for by the environmental monitoring agencies requiring, by law, a range of occupational protective measures that are taken that can include the provision of paid leave, changed working times and the supply of active cooling areas to be mandatory for state and federal government. Denying the protections which are at their core is to weaponise the changing climate against female workers, making them bear the punishing effects of rising temperatures and extreme weather as a ticking time bomb to their economic survival.[17] In addition, menstrual justice is a key element and driver of climate adaption, which depends on epistemic justice of ensuring data on environmental health, including sexual data, is accurately gathered and used. State surveillance apparatuses fail to link up localized exposures to environmental toxicants with reproductive disturbances, compounding the institutional invisibility of menstrual health.State surveillance apparatuses fail to establish a correlation between exposures to environmental toxicants at the local level with reproductive disturbances, further masking menstrual health. When environmental degradation is quantified, and thus placed in the most precise terms for computers to operate, it becomes possible for policymakers to find the "empirical leverage" needed to break down "bureaucratic silos. This empirical basis then needs to be put into concrete form in international climate accords, and must be made apparent by standardization of sexual and reproductive health indicators as part of state actors Nationally Determined Contributions and National Adaptation Plans. In the end, menstrual justice is a new lens through which to view the global climate action. It demands of government that it recognise that the uppermost target of climate change is the human body rather than nowadays the products of that body, normalizing, so to speak, biological vulnerability to climates of change as the primary one, and thereby turning environmental policy into a tool

for reproductive liberation by normalizing the ability of a man's reproductive systems to absorb the impacts of a lived-in environment.It asks the government to recognise that the uppermost target of change is the human body instead of today the products of that body and thus to 'normalise' biological vulnerability in climates of change rather than those of, say, an economy.[18]

Conclusion

The compound nature of serious air pollution coupled with insufficient thermal stress protection is not just ecological problem, it is also a significant failure of biopolitics which aims to mark and taint female body through the degradation of the environment. This analysis has shown that the current political science and environmental governance paradigms, which conceptualize atmospheric pollution and climate change as "public health crises" arrive with their gender-blasted masks on, to conceal the gendered biological and socio-economic impacts of pollution and climate change on the particular group that is invariably the most vulnerable: women who are already marginal. The idea of toxic particulate matter as a kind of atmospheric violence reveals the working of atmospheric insidious endocrinopathy, namely state sanctioned industrial and vehicular emissions. These unabated pollutants have the ability to influence life-threatening maternal morbidities including preeclampsia, biochemically and disrupt maternal reproductive functions including menstrual functionality and shortening the luteal phase. At the same time the biopolitics of thermal stress reveals a highly male and a colonial pattern of labour exploitation. Stable employment is very rare for millions of women who work in rural India's agricultural and informal economy, and instead are exposed to lethal occupational heat stress, excluded from statutory labor protections and computed from cooling infrastructure that is not resilient to climate change. These co-occurring physiological vulnerabilities work in a Black Box, with a chronic structural governance deficit that keeps menstrual health institutional invisible. National environmental policy instruments, from the National Clean Air Programme to state-level Heat Action Plans, are clearly politically designed to focus on the macroeconomic output and generalised resilience of the infrastructural systems and ignore the physiological safety of the menstruating and pregnant body. The state's failure to consistently collect sex-disaggregated environmental health information, and its lack of effort in building infrastructure resilient to disaster that serves the water, sanitation and hygiene of peri-urban areas in the countryside and slums conscripts an unconscious perpetrating of structural violence against women. This silent form of dereliction allows for a period of acute physical trauma, genitourinary infection and extended socio-economic disenfranchisement as a result of the administration's dereliction of duty. A fundamental shift in the way environmental policy is thought about and conceived is necessary to contemplate this multi-dimensional governance crisis under a clear lens of menstrual and reproductive justice. Policy-makers and institutional actors should clearly and aggressively break the traditional, historical and rigid silos that have fragmented climate adaptation considerations from sexual and reproductive health rights. Of course, not everything can be out of the ordinary climate resilience solution can only happen in the name of carbon mitigation targets or technological reinforcement of energy systems, but only by guaranteeing the proactive and legal protection of the female body as the main, very sensitive point of climate influence. Recognition of climate injustice as a form of reproductive injustice thus presents a paradigm shift in political theory and 'public policy' by invoking a reconsideration of the relationship between both equality and violence, on the one hand, and reproductive and reproductive capacity, on the other hand. If it continues to leave effective measures of women's occupational exposure and risks—including full reproductive health metrics—in its very binding national climate commitments, and if it redirects part of the climate finance to one that's responsive to gender, its climate adaptation plans will be ineffectual in the long term. Having this physiological autonomy, dignity and reproductive integrity is essential and not just something that's expected as an additional socio-cultural goal if they are already marginalized in general and in the field of climate resilience as part of the global response in the Anthropocene, as a free and fair model can only be

realized upon attaining this goal in the first place.

Research Scholar
Department of Political Science
University of Delhi, Delhi, India

References:

1. Aguilera, J., Konvinse, K., Lee, A., Maecker, H., Prunicki, M., Mahalingaiah, S., Sampath, V., Utz, P. J., Yang, E., & Nadeau, K. C. (2023). Air pollution and pregnancy. Seminars in Perinatology, 47, 151838.
2. Arunda, M. O., Sorcher, R., Canabarro, A. P. F., Svallfors, S., Endler, M., Gemzell-Danielsson, K., Kågesten, A., Ali, M., Bahamondes, L., Barreix, M., Chou, D., Gonsalves, L., Johnston, H. B., Kiarie, J., Kim, C. R., Narasimhan, M., Pallitto, C., Shah, M. G., Say, L., Thorson, A., et al. (2024). Climate change and sexual and reproductive health and rights research in low-income and middle-income countries: a scoping review. BMJ Public Health, 2, e001090.
3. Merklinger-Gruchala, A., Jasienska, G., & Kapiszewska, M. (2017). Effect of Air Pollution on Menstrual Cycle Length—A Prognostic Factor of Women's Reproductive Health. International Journal of Environmental Research and Public Health, 14(7), 816.
4. Chersich, M. F., Pham, M. D., Areal, A., Haghighi, M. M., Manyuchi, A., Swift, C. P., Wernecke, B., Robinson, M., Hetem, R., Boeckmann, M., & Hajat, S. (2020). Associations between high temperatures in pregnancy and risk of preterm birth, low birth weight, and stillbirths: systematic review and meta-analysis. BMJ, 371, m3811.
5. Kjellstrom, T., Maehlum, S., & Guo, Y. (2018). Climate change and health impacts on workers: occupational heat stress. Annals of Global Health, 84(3), 441–451.
6. Kuehn, L., & McCormick, S. (2017). Heat Exposure and Maternal Health in the Face of Climate Change. International Journal of Environmental Research and Public Health, 14(8), 853.
7. Sorensen, C., Saunik, S., Sehgal, M., Tewary, A., Govindan, M., Lemery, J., & Balbus, J. (2018). Climate Change and Women's Health: Impacts and Opportunities in India. GeoHealth, 2(10), 283–297.
8. Aguilera, J., Konvinse, K., Lee, A., Maecker, H., Prunicki, M., Mahalingaiah, S., Sampath, V., Utz, P. J., Yang, E., & Nadeau, K. C. (2023). Air pollution and pregnancy. Seminars in Perinatology, 47(2), 151838.
9. Lin, S.-Y., Yang, Y.-C., Lin, C.-C., Chang, C. Y.-Y., Hsu, W.-H., Wang, I.-K., Lin, C.-D., Hsu, C.-Y., & Kao, C.-H. (2021). Increased Incidence of Dysmenorrhea in Women Exposed to Higher Concentrations of NO, NO2, NOx, CO, and PM2.5: A Nationwide Population-Based Study. Frontiers in Public Health, 9, 682341.
10. Mahalingaiah, S., Missmer, S. E., Cheng, J. J., Chavarro, J., Laden, F., & Hart, J. E. (2018). Perimenarchal air pollution exposure and menstrual disorders. Human Reproduction, 33(3), 512–519.
11. Merklinger-Gruchala, A., Jasienska, G., & Kapiszewska, M. (2017). Effect of Air Pollution on Menstrual Cycle Length—A Prognostic Factor of Women's Reproductive Health. International Journal of Environmental Research and Public Health, 14(7), 816.
12. Kjellén, M., Pensulo, C., Nordqvist, P., & Fogde, M. (2012). Global review of sanitation system trends and interactions with menstrual management practices. Stockholm Environment Institute, 1–42.
13. MacGregor, S. (2010). 'Gender and climate change': from impacts to discourses. Journal of the Indian Ocean Region, 6(2), 223–238.
14. Sellers, S. (2016). Gender and Climate Change: A closer look at existing evidence. Global Gender and Climate Alliance, 1–65.
15. Sorensen, C., Saunik, S., Sehgal, M., Tewary, A., Govindan, M., Lemery, J., & Balbus, J. (2018). Climate Change and Women's Health: Impacts and Opportunities in India. GeoHealth, 2(10), 283–297.
16. Bobel, C. (2019). The managed body: Developing girls and menstrual health in the Global South. Palgrave Macmillan, 1–326.
17. MacGregor, S. (2010). 'Gender and climate change': from impacts to discourses. Journal of the Indian Ocean Region, 6(2), 223–238.
18. Sorensen, C., Saunik, S., Sehgal, M., Tewary, A., Govindan, M., Lemery, J., & Balbus, J. (2018). Climate change and women's health: Impacts and opportunities in India. GeoHealth, 2(10), 283–297.

Bibliography:

- Aguilera, J., Konvinse, K., Lee, A., Maecker, H., Prunicki, M., Mahalingaiah, S., Sampath, V., Utz, P. J., Yang, E., & Nadeau, K. C. (2023). Air pollution and pregnancy. *Seminars in Perinatology*, *47*(2), 151838.
- Arunda, M. O., Sorcher, R., Canabarro, A. P. F., Svallfors, S., Endler, M., Gemzell-Danielsson, K., Kågesten, A., Ali, M., Bahamondes, L., Barreix, M., Chou, D., Gonsalves, L., Johnston, H. B., Kiarie, J., Kim, C. R., Narasimhan, M., Pallitto, C., Shah, M. G., Say, L., Thorson, A., et al. (2024). Climate change and sexual and reproductive health and rights research in low-income and middle-income countries: a scoping review. *BMJ Public Health*, *2*, e001090.
- Bobel, C. (2019). *The managed body: Developing girls and menstrual health in the Global South*. Palgrave Macmillan.
- Chersich, M. F., Pham, M. D., Areal, A., Haghighi, M. M., Manyuchi, A., Swift, C. P., Wernecke, B., Robinson, M., Hetem, R., Boeckmann, M., & Hajat, S. (2020). Associations between high temperatures in pregnancy and risk of preterm birth, low birth weight, and stillbirths: systematic review and meta-analysis. *BMJ*, *371*, m3811.
- Kaijser, A., & Kronsell, A. (2014). Climate change through the lens of intersectionality. *Environmental Politics*, *23*(3), 417–433.
- Kim, J., Lee, A., & Rossin-Slater, M. (2019). What to Expect When It Gets Hotter: The Impacts of Prenatal Exposure to Extreme Heat on Maternal Health. *National Bureau of Economic Research*.
- Kjellén, M., Pensulo, C., Nordqvist, P., & Fogde, M. (2012). Global review of sanitation system trends and interactions with menstrual management practices. *Stockholm Environment Institute*, 1–42.
- Kjellstrom, T., Maehlum, S., & Guo, Y. (2018). Climate change and health impacts on workers: occupational heat stress. *Annals of Global Health*, *84*(3), 441–451.
- Kuehn, L., & McCormick, S. (2017). Heat Exposure and Maternal Health in the Face of Climate Change. *International Journal of Environmental Research and Public Health*, *14*(8), 853.
- Lin, S.-Y., Yang, Y.-C., Lin, C.-C., Chang, C. Y.-Y., Hsu, W.-H., Wang, I.-K., Lin, C.-D., Hsu, C.-Y., & Kao, C.-H. (2021). Increased Incidence of Dysmenorrhea in Women Exposed to Higher Concentrations of NO, NO2, NOx, CO, and PM2.5: A Nationwide Population-Based Study. *Frontiers in Public Health*, *9*, 682341.
- MacGregor, S. (2010). 'Gender and climate change': from impacts to discourses. *Journal of the Indian Ocean Region*, *6*(2), 223–238.
- Mahalingaiah, S., Missmer, S. E., Cheng, J. J., Chavarro, J., Laden, F., & Hart, J. E. (2018). Perimenarchal air pollution exposure and menstrual disorders. *Human Reproduction*, *33*(3), 512–519.
- Merklinger-Gruchala, A., Jasienska, G., & Kapiszewska, M. (2017). Effect of Air Pollution on Menstrual Cycle Length—A Prognostic Factor of Women's Reproductive Health. *International Journal of Environmental Research and Public Health*, *14*(7), 816.
- Pearse, R. (2017). Gender and climate change. *Wiley Interdisciplinary Reviews: Climate Change*, *8*(2), e451.
- Sellers, S. (2016). Gender and Climate Change: A closer look at existing evidence. *Global Gender and Climate Alliance*, 1–65.
- Sorensen, C., Saunik, S., Sehgal, M., Tewary, A., Govindan, M., Lemery, J., & Balbus, J. (2018). Climate Change and Women's Health: Impacts and Opportunities in India. *GeoHealth*, *2*(10), 283–297.
- Sultana, F. (2022). Critical climate justice. *The Geographical Journal*, *188*(1), 118–124.
- Winkler, I. T., & Roaf, V. (2014). Bringing the dirty word into the public sphere: Menstrual hygiene management and human rights. *Brown Journal of World Affairs*, *21*(1), 211–226.

Research Paper

Amit Kumar

Beyond Vulnerability: Reframing Female Agency in Climate Finance Portfolios from "Victims" to "Architects of Localized Adaptation"

Abstract

Climate change emerges as one of the significant challenges of the modern era with its disproportionate impact on marginalized populations, particularly women in developing countries. Traditional climate finance initiatives have tended to portray women as passive recipients who require protection and support. Despite recognizing the gender-based vulnerabilities, such strategies ignore the proactive role played by women in climate adaptation and governance. In this paper, the current discourse on climate finance portfolio will be critically analysed with an attempt to demonstrate that the discourse should be shifted from women as climate change victims to women as primary contributors to the process of climate adaptation. The study relies on the conceptual framework of feminist political ecology, gender-responsive climate finance, and community-based adaptation for a detailed investigation of the ways in which women facilitate climate adaptation via indigenous knowledge, sustainable management of natural resources, innovation in agriculture, disaster management, and governance at the local level. A qualitative methodology will be used to conduct the research based on secondary data, which includes reports from international organizations, peer-reviewed papers, policy documents, and case studies from developing countries. Climate finance initiatives will be found to be limited by institutional prejudices that tend to promote vulnerability assessments rather than investment into the capabilities of women. In addition, the lack of gender disaggregated data, inadequate financial inclusion, and marginalization of women from climate governance will limit the access to climate resources. As the result, the study will conclude that gender-responsive climate finance should move beyond the compensatory approaches and explore the investment-based approach to empower women as leaders, entrepreneurs, and actors in governance processes.

Keywords

Climate finance, female agency, gender-responsive adaptation, localized adaptation, feminist political ecology, climate resilience, sustainable development, women's leadership.

1. Introduction

Climate change has been revealed as one of the major challenges of the twenty-first century as it affects not only environmental degradation but also economy, inequality, health, food safety, and governance. More frequent natural catastrophes, warming, extinction of species, and degrading ecosystems increase the vulnerability of people. Nevertheless, the impact of climate change is not uniform. Women who live in developing countries and poor areas of developed ones are particularly exposed to different climate risks because of lack of access to property, education, money, medicine, technologies, and decision-making. That is why international organizations and development agencies consider women as highly vulnerable group in terms of climate adaptation policy. It is important to note that while acknowledging the

problem of women's vulnerability, the mainstream approach to women's role in climate issues has been criticized for ignoring the knowledge and leadership skills of women that could be used to increase climate resilience. According to researchers working on feminist political ecology and gender issues, women have indigenous knowledge and practical experience of working in agriculture, managing water resources, biodiversity, preparing for disasters, and organizing communities which makes them active participants of local climate adaptation, not passive objects of climate interventions.

Climate finance becomes an important tool to facilitate climate change mitigation and adaptation via investment from public, private, bilateral, and multilateral sectors. International organizations like Paris Agreement, the Green Climate Fund, and the Global Environment Facility have increased the amount of funding in favour of climate actions. However, there are comparatively few climate finance programs aimed at women's adaptation and gender-based investments. Investment usually focuses on big infrastructure projects rather than on projects which aim to develop leadership skills of women. This research argues that the climate finance should go beyond the vulnerability approach and treat women as active architects of local adaptation efforts through recognition of women's agency, innovation, and leadership in building resilient communities.

2. Objectives of the Study

In this regard, this study aims at exploring the ways through which climate finance portfolios can transcend from considering women victims of climate change to being seen as active participants in localized adaptations. The objectives of the study include investigating the interplay between gender inequality and climate vulnerabilities, reviewing the representation of women in current climate finance and investments policies and mechanisms, and examining the role of the women's knowledge, leadership and participation in strengthening the localized climate adaptation processes. Moreover, the research will seek to identify the institutional and financial constraints to women's access to climate finance; analyse the effectiveness of gender-sensitive climate finance projects in developing countries and provide policy recommendations for enhancing the women's agency, leadership, and participation in climate adaptation planning and financing.

3. Literature Review

3.1 Climate Change and Gendered Vulnerability

The interaction of the phenomenon of climate change and the concept of gender have been extensively researched over the years in relation to climate experiences of different social and economically unequal communities. According to early researchers, women usually suffer more from climate change-induced disasters due to their lack of access to financial assets, education, financial institutions, property and decision-making. UNDP, UN Women and IPCC reports show that climate change reinforces social and economic inequalities among women, indigenous people, and others. The gender inequalities regarding land ownership, agriculture and politics reduce women's adaptive capacity. However, modern feminist theories argue that the vulnerability of women is socially constructed due to inequality in society, economics and politics. In this case, effective climate change adaptation should focus on eliminating these barriers, advancing gender equality and increasing the role of women in climate governance and decision making.

3.2 Feminist Political Ecology and Women's Agency

The Feminist Political Ecology (FPE) has been established as a major theoretical approach to examine gender-environment linkages in relation to environmental governance and natural resource management. Rocheleau, Agarwal, Nightingale, and Elmhirst claim that access to and control over natural resources depends on gendered social relationships and power imbalances. Contrary to the perception of women as passive victims of environmental degradation, FPE treats them as agents who produce ecological knowledge, manage resources, and lead communities. Being involved in agriculture, water management, biodiversity conservation, and livelihoods at the household level, women create knowledge which contributes to environmental sustainability and climate change adaptation. However, this knowledge remains unrecognized in climate policies and decisions. In the literature, climate

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

adaptation proves to be more efficient and socially just in case women's experience, indigenous knowledge, and leadership are taken into account within the governance system. The inclusion of women results in better resource management, enhanced community resilience, inclusive decision making, and sustainable response to climate change challenges.

3.3 Climate finance and Gender Integration

Climate finance is vital for climate change mitigation and adaptation through resource mobilization from public, private, bilateral, and multilateral sources via international climate regimes. Gender integration has become a priority in climate finance through international institutions like GCF, Adaptation Fund, and GEF. Nevertheless, research indicates that gender perspectives have not been adequately considered in climate finance as the application of gender integration is inconsistent with women participating mostly in projects without influencing financial planning, prioritization, and governance. Limited examples have been provided concerning initiatives where gender integration has resulted in direct investment in women's empowerment and development of leadership qualities and skills. Women continue to be underrepresented in climate finance mechanisms despite the significance of women involvement in adaptation and building community resilience due to limited focus on women's empowerment and development of institutional capacities among others.

3.4 Localized Adaptation and Resilient Communities

Localized adaptation has emerged as an effective strategy for dealing with climate change due to its understanding that communities have a wealth of knowledge, experience, and capabilities regarding climate risk management and natural resources management. Different from top-down approaches to adaptation, localized strategies are based on community involvement and tailored solutions taking into account environmental, social, and cultural specifics of each case. Many studies undertaken in South Asia, Sub-Saharan Africa, and Latin America show that women contribute considerably to designing innovative adaptation measures involving drought adaptation, seed saving, water storage, sustainable agriculture, forests management, and disaster preparedness. Self-help groups, cooperatives, and indigenous organizations headed by women have made their substantial contribution towards food security, natural resources management, and resilience to climate impacts. Such community-driven initiatives can be considered more sustainable and successful as they include traditional ecological knowledge, local practices, and strong social connections. It becomes clear why the literature increasingly highlights the significance of empowering women through higher involvement in local governance, natural resource management, and climate adaptation decisions.

3.5 Gender Responsive Climate Finance

Gender responsive climate finance is a strategy which ensures that the investment in climate change promotes both environmental sustainability and gender equality. Gender responsive climate finance strategy involves consideration of gender in all aspects of climate finance process including planning, budgeting, implementation, monitoring and evaluation. It ensures that budgeting is gender sensitive, decision making is participatory and inclusive, financial service provision, capacity building, indicator based on gender disaggregation and climate innovation that is supported by women are promoted. Evidence suggests that it helps in promoting women economic empowerment and leadership along with poverty alleviation, food security, biodiversity, sustainable management of resources and resilient communities. However, it is difficult to implement gender responsive climate finance strategies due to some institutional constraints such as lack of funding structure, monitoring systems, capacities and political will.

3.6 New Trend: Women as Architects of Adaptation

This literature draws attention to an important trend which is changing from victim-based approaches to agency-based ones recognizing the role of women as active actors in climate adaptation and environmental governance. Instead of considering women solely as victims of climate change, modern science focuses on the role that women play in promoting sustainable agriculture, renewable energy, restoration of ecosystems, protection of biodiversity, disaster preparedness, and collaborative decision-

making. The role of women's knowledge, leadership, and local experience becomes especially important for building community resilience and sustainable climate results. Hence, scientists claim that climate finance should stop being focused on compensation for the losses caused by climate change and consider funding the adaptive capacities of women, their entrepreneurial spirit, leadership, and participation in institutions. Such an approach is in line with the Sustainable Development Goals, namely SDG 5 on gender equality, SDG 13 on climate action, and SDG 16 on inclusive governance.

4. Research Gap

While the connections between climate change, gender, and development have gained considerable attention among scholars in the last twenty years, a number of conceptual and empirical gaps remain within the literature. In particular, many studies have convincingly shown that there is a high level of vulnerability of women in relation to climate change because of social disparities in land tenure, access to education, financial services, technology, and decision-making. This has resulted in the focus of the climate change research on the vulnerabilities of women and a need for gender-aware adaptation policies. The vulnerability approach tends to see women as the recipients of climate interventions rather than as agents of innovation, environmental sustainability, entrepreneurship, and adaptation in local communities. In addition, most of the literature considers the issues of gender equality and climate finance as different policy domains, which means that interdisciplinary research that would combine feminist political ecology, climate finance, and community-based adaptation does not exist. There have been very few comparative studies of successful adaptation initiatives led by women in various regions, whereas the absence of standard gender-disaggregated climate finance data hinders proper monitoring and evaluation of policies. To fill in these gaps, this study takes an agency-based approach that looks at women not only as receivers of climate finance but as creators of adaptation at the local level. In doing so, the study attempts to add to the literature on how to make climate finance gender-sensitive through an integration of feminism, climate governance, and sustainable development.

5. Research Methodology

Research methodology is a process of gathering, analysing, and interpreting information to accomplish the research objectives. The current research employs a qualitative research methodology in order to conduct an analysis of the conceptual, institutional, and policy aspects of female agency in relation to climate finance portfolio. It was decided to use qualitative methodology since there is no need for building quantitative relationships in the study, but rather to examine the narratives, policies, and theoretical concepts. The research will make use of the secondary sources such as scientific literature, international policy documents, institutional reports, and case studies in relation to climate finance, gender-sensitive adaptation, and community-based resilience. Methodologically the research will combine descriptive, analytical, and interpretative analysis. In particular, the descriptive analysis will involve the examination of existing climate finance instruments and gender-related policies; analytical part will analyse barriers and opportunities for increasing women's involvement; the interpretative part will critically assess existing vulnerability-oriented approach and explore new paradigms which will acknowledge women's leadership in localized adaptation. In addition, the current research is interdisciplinary in its approach and will employ knowledge from environmental governance, feminist political ecology, development studies, public policy, and sustainable finance.

6. Research Design

Research design is the structure that serves as an overarching guide in the systematic process of data gathering, organizing, and analysis. The current research will use a descriptive and exploratory research design in order to analyse the linkages among gender, climate finance, and localized adaptation. The first aspect of the research that is of a descriptive nature is the analysis of climate finance policies, institutions, and gender-related strategies established by international organizations, governments, and development agencies in order to identify the current situation of the involvement of women in climate change adaptation and financial decision-making processes. Exploratory part of the study explores new

perspectives which view women as active agents of climate change resilience rather than as beneficiaries of the climate assistance programs. Being the young and rapidly growing field of research, female agency in climate finance allows for exploring innovative practices, theories, and institutional strategies that could enhance the role of women in the adaptation processes. The research is organized around a number of key themes including gender and climate vulnerability; female agency in localized adaptation; climate finance governance; gender-responsive financing; community-based adaptation; institutional barriers; policy recommendations.

7. Sources of Data

This research will be conducted using secondary data that are collected from reliable academic, governmental, and international sources in order to assess the link between climate finance, gender equality, and local adaptation. The main sources of information are peer-reviewed journal articles written by reputable researchers and published in internationally acclaimed journals dealing with climate change, gender studies, environmental governance, development economics, and sustainable finance. The study will also make use of reports, policy documents, and other publications that have been issued by leading international organizations such as the IPCC, UNDP, UN Women, UNEP, UNFCCC, GCF, GEF, the World Bank, and OECD. Moreover, the government publications such as national climate policies, adaptation plans, gender action plans, climate finance strategies, and environmental policies will be used to identify the institutional approaches to gender-sensitive climate actions. Academic books and book chapters that cover topics on feminist political ecology, climate governance, sustainable development, environmental economics, and gender studies will be used as theoretical basis for the research. Lastly, conference papers and working papers presented in various international forums on climate adaptation and sustainable finance will be included in the study.

8. Methods of Data Collection

The present study is solely based on secondary data with documentary analysis being the method used for collecting data. Secondary data sources were systematically searched based on relevant literature on climate finance, gender-responsive finance, women and climate change, female agency, adaptation, resilience of communities, feminist political ecology, climate governance, gender equality, and sustainable development. Sources were selected based on the importance of the source in relation to the purpose of the research, credibility, publication quality, and contribution to the knowledge base. Peer reviewed journal articles, academic books, policy documents, and reports published by internationally recognized organizations took priority among other sources of information. The selected documents were reviewed and analysed according to the emerging themes which included female agency in climate finance, inclusion, climate governance, adaptation, obstacles within the institutions, and policies that are gender-responsive. Through documentary analysis, the study was able to examine existing theoretical perspectives and empirical studies with regards to the connection between climate finance and women's agency without conducting any primary data collection.

9. Method of Data Analysis

For this study, thematic analysis is used for analysing and interpreting the data obtained from documentary analysis. Thematic analysis is a useful method that provides a systematic approach to finding, organizing, and interpreting patterns and concepts in secondary data. The process of analysis started with data familiarization, which involved the review of all the relevant documents to gain a detailed understanding of the existing debates about climate finance, gender equality, women's agency, and localized climate adaptation. Key concepts and ideas were coded and sorted into broad themes such as gendered vulnerability, women's agency, climate finance governance, institutional constraints, localized adaptation, gender responsive investment, and community resilience. Critical interpretations of the themes were carried out from the perspectives of feminist political ecology and gender-responsive climate finance to explore how financial mechanisms impact women's involvement in climate adaptation programs. Policy recommendations that focused on women's empowerment and gender-responsive investment were developed from the insights gained

through thematic analysis. Thematic analysis is very suitable for the current study since it enables the interpretation of qualitative data derived from various secondary sources.

10. Research Scope

The current research analyses the position of women within the climate finance regime, specifically focusing on the role of women in local adaptation and resilience to climate change. The study deals with the gender aspects of climate change, international climate financing instruments, involvement of women in adaptation activities, gender-sensitive climate finance, feminist political ecology, community-based adaptation, institutional and policy barriers, as well as global cases of women-led adaptation practices. In addition to that, the study formulates policy recommendations in order to empower women and make them more active participants in climate finance and decision making. Geographical scope of the research is global, however, the research puts special focus on developing countries where the consequences of climate change are felt most acutely and where climate vulnerability and gender inequality interact. Since the study is based on secondary sources and document analysis, performance of specific climate finance projects will not be evaluated quantitatively. Qualitative approach will be used in the analysis of the problem under study.

11. Limitations of the Study

As with any scientific study, this paper faces some limitations. First of all, the research uses only secondary sources and documentary analysis, without including primary evidence from interviews, surveys, fieldwork, and other empirical methods. This means that the results will be determined by the availability, credibility, and volume of existing literature. Secondly, the policies of climate finance and governance are continuously evolving in connection with the climate negotiations and commitments at the global level, so some new policies may emerge after this study is done and not be considered in the research. Thirdly, due to lack of disaggregated data on climate finance by gender, it is difficult to assess the financial engagement of women and their leadership across various regions. Moreover, differences in the institutional structures, governance systems, cultural environment, and socio-economic situation of different countries complicate the comparison process and the generalization of results. Finally, since this paper uses the qualitative method, its results cannot be generalized statistically. Despite this, the study provides an overview of existing information and gives interesting theoretical and policy perspectives that can be useful for further empirical studies on climate finance and women's agency.

12. Discussion

From the research findings, it is evident that climate finance discourse still views women mainly as vulnerable groups that need protection but not as strong players who can drive the process of climate change adaptation. Despite gender mainstreaming becoming a major feature of climate policies at international level, many of the climate finance instruments still emphasize vulnerability over investments in women's capacities in leadership, entrepreneurship, financial empowerment, and decision-making. This makes climate finance less transformational and reproduces the same stereotypes about women as vulnerable beings, not seeing them as significant stakeholders in climate change adaptation and sustainability. Literature review shows that adaptive capacity of women is strongly based on localized knowledge systems that have been formed by generations of work done in biodiversity conservation, sustainable agriculture, water resources management, seed storage and disasters preparedness. The importance of these practices lies in building household resilience and ensuring food security, ecosystem sustainability. However, they are often underestimated because of the focus of institutional financing tools on large-scale infrastructure and centralized approaches. The research shows that the participation of women in climate governance will improve the outcome of adaptation through increased community resilience, sustainable natural resources management, equitable distribution of resources and adoption of inclusive approaches to disaster risk reduction. At the same time, constraints like lack of access to financial institutions, insurance, financial tools, discrimination in land tenure system, property rights, absence of gender-disaggregated data and women underrepresentation in climate finance

governing bodies prevent women from participating in adaptation projects. Despite the successful results of community-based adaptation efforts led by women, their active role is hampered due to the above-mentioned obstacles which prevent the adoption of women-led adaptation projects. All in all, the paper suggests moving on to the agency-oriented climate finance from the vulnerability-focused approach where women can be recognized as innovators, environmental managers, entrepreneurs and policy-makers. Inclusion of women's leadership into climate finance governance, designing, implementation and monitoring will increase adaptation success while ensuring more gender equality and sustainability.

Conclusion

Climate change is among the most pressing global issues of the twenty-first century, demanding for solutions which are environmentally sustainable, socially inclusive, and economically equitable. This research has found out that even though international climate finance has increased dramatically, current institutional mechanisms still tend to treat women mainly as vulnerable recipients rather than women as dynamic leaders and change agents of localized climate change adaptation. Women have extensive experience and expertise in agriculture, natural resource management, water preservation, biodiversity conservation, sustainable livelihood, and community development. However, institutional challenges like inequality of access to climate finance, gender-based discrimination in land and property rights, poor gender representation in decision making, lack of gender responsive budgeting and data on gender, prevent them from active participation in climate change governance. It is important to overcome those challenges and introduce institutional changes for ensuring equitable access to financial and technical resources, capacity-building, and leadership. Enhancing the role of women through gender-responsive climate finance will result in not only adaptation but also poverty eradication, food security, biodiversity conservation, and economic empowerment. Ultimately, climate finance will have to shift from its current paradigm focused on vulnerability to one that canter's around agency, where women are seen as innovators and important agents for sustainable development. Future research needs to explore more women-focused climate finance schemes in different geographic settings to better understand their impact.

PhD Research Scholar
Department of African Studies
University of Delhi

References:

- Agarwal, B. (2010). Gender and green governance: The political economy of women's presence within and beyond community forestry. Oxford University Press.
- Agarwal, B. (2018). Gender equality, food security and the Sustainable Development Goals. Current Opinion in Environmental Sustainability, 34, 26–32.
- Arora-Jonsson, S. (2011). Virtue and vulnerability: Discourses on women, gender and climate change. Global Environmental Change, 21(2), 744–751.
- Buchy, M., & Rai, B. (2008). Do women-only approaches to natural resource management help women? FAO.
- Climate Policy Initiative. (2023). Global landscape of climate finance 2023. Climate Policy Initiative.
- Denton, F. (2002). Climate change vulnerability, impacts, and adaptation: Why does gender matter? Gender & Development, 10(2), 10–20.
- Food and Agriculture Organization. (2023). The status of women in agrifood systems. FAO.
- Green Climate Fund. (2023). Gender policy and action plan 2024–2027. Green Climate Fund.
- Intergovernmental Panel on Climate Change. (2022). Climate change 2022: Impacts, adaptation and vulnerability. Cambridge University Press.
- International Labour Organization. (2023). Women and the future of work in a changing climate. ILO.
- Leach, M. (2016). Gender equality and

sustainable development. Routledge.
- Nightingale, A. J. (2006). The nature of gender: Work, gender, and environment. Environment and Planning D: Society and Space, 24(2), 165–185.
- OECD. (2022). Climate finance provided and mobilised by developed countries. OECD Publishing.
- Resurrección, B. P. (2017). Gender and climate change: Beyond vulnerability and towards agency. Development, 60(1–2), 53–58.
- Rocheleau, D., Thomas-Slayter, B., & Wangari, E. (1996). Feminist political ecology: Global issues and local experiences. Routledge.
- Sultana, F. (2014). Gendering climate change. Geographical Journal, 180(4), 372–381.
- United Nations Development Programme. (2023). Human development report 2023/2024. UNDP.
- United Nations Environment Programme. (2023). Adaptation gap report 2023. UNEP.
- UN Women. (2022). Explainer: Five facts on gender equality and climate change. UN Women.
- United Nations Framework Convention on Climate Change. (2019). Enhanced Lima work programme on gender and its gender action plan. UNFCCC.
- United Nations Framework Convention on Climate Change. (2023). Gender and climate change annual report. UNFCCC.
- World Bank. (2022). Women, business and the law 2022. World Bank.
- 0World Economic Forum. (2023). Global gender gap report 2023. World Economic Forum.

Research Paper

Akshay Sangita Jagannath

Economic Disparities on the Basis of Gender linkage in Indian Railway Vendors

Abstract

This paper explores how gender shape vendors' access to resources, their interactions with customers, and their encounters with the state. Study will draw on ethnographic insights, economic data, and the lived realities of vendors to paint a holistic picture of their world. Ultimately, this research is a call to action to see railway vendors not as marginal figures but as central to India's economic and social fabric, deserving of fairness, respect, and opportunity. In their struggles and triumphs, to find a mirror to India's broader quest for justice, a reminder that true progress begins with those who keep the trains and the nation moving. This paper examines the presence of discriminatory factors in the railway vending sphere, focusing on how gender intersect to perpetuate inequality. Drawing on scholarly research, including studies of informal economies and specific insights from railway vending contexts, it highlights the human toll of these discriminations and their implications for social justice.

Keywords

Caste, Gender, Railway Vendors, Informal Economy

The crowded compartments and rhythmic clatter of wheels, railway vendors weaving through aisles with baskets of snacks, trinkets, and dreams, sustain themselves and countless commuters. These vendors are more than just sellers; they are storytellers, hustlers, and survivors, carving out a living in one of India's most dynamic public spaces. Yet, beneath the surface of their resilience lies a stark reality: not all vendors navigate this world on equal footing. Economic disparities, deeply rooted in the interlinkage of gender, shape their lives, opportunities, and struggles in profound ways. This research paper delves into the lives of Indian railway vendors, exploring how caste-gender create unequal economic landscapes, and why understanding these dynamics is crucial for fostering a more just society.

India's railways are a microcosm of its society, where diversity and inequality coexist in close quarters. For vendors, the train is both a workplace and a battleground, where they must negotiate not only the physical demands of their trade but also the social hierarchies that define their place in the world. Women vendors, like those in Mumbai's "ladies' compartments," create vibrant markets filled with laughter, trust, and camaraderie, as Aditi Aggarwal beautifully illustrates in her work. Yet, their ability to thrive is often constrained by gendered expectationsnorms that dictate how women should behave, move, or even speak in public spaces. For lower-caste women, these constraints are compounded by caste-based prejudices that label them as "unclean" or "unworthy" limiting their access to customers, networks, and respect. Men, too, face challenges, particularly those from marginalized castes, who are often seen as a "nuisance" by passengers and authorities, as Mrinal Mandal and Biswaranjan Mistri highlight in their study of West Bengal's railway hawkers. These vendors, whether selling puffed rice or hair clips, are not just fighting for profit but for dignity in a system that frequently denies it.

Gender do not operate in isolation; they intertwine to create unique forms of exclusion. Ashwini Deshpande (2011) in The Grammar of Caste reminds us that caste is not a relic of the past but a living force in modern India, shaping economic opportunities in subtle yet pervasive ways. Lower-caste vendors, particularly women, are often relegated to the most precarious corners of the informal economy, where they face low earnings, harassment, and invisibility to policymakers. Women vendors must navigate patriarchal norms that restrict their mobility or demand they perform respectability to gain trust, a burden rarely placed on men. These intersecting identities like gender create a hierarchy within the vendor economy, where some climb while others are held back.

The economic disparities faced by railway vendors are not just numbers on a page; they are lived experiences of pain, resilience, and hope. Women vendors, as Aggarwal notes, carry the physical weight of their goods and the emotional weight of societal judgment, their bodies aching from long hours yet buoyed by the joy of small victories. Lower-caste vendors, both men and women, endure harassment from passengers and extortion by railway staff, as Mandal and Mistri documents, yet they persist, building fragile networks of trust with regular commuters. These stories reveal a paradox: the railway economy is a space of opportunity, where vendors from marginalized backgrounds can claim agency, but it is also a space of exclusion, where gender dictate who thrives and who merely survives.

In this paper we will explore how gender shape. vendors access to resources, their interactions with customers, and their encounter with the state. We will draw on ethnological insights, economic data, and the lived realities of vendors to paint a holistic picture of their world. Ultimately, this research is a call for action to quest of equality, deserving of fairness, respect, and opportunity. In their struggles and triumphs, we find a mirror to India's broader sphere of justice, a reminder that true progress begins with those who keep the trains and the nation moving parallel.

Discriminatory Framework in Indian Railway Vendors

These railway vendors, predominantly operating in the informal economy, are a testament to resilience and ingenuity, turning the chaos of train travel into a source of livelihood. Yet, their world is not one of equal opportunity. Deeply rooted social hierarchies, based on gender, create significant barriers that shape their economic prospects and daily experiences. Vendors often from marginalized communities, operate without formal contracts or protections, making them vulnerable to exploitation and discrimination. As per my fieldwork in Bhusawal Division of Central railway food vendors are oftenly recruited on the basis of their social capital. One of the IRCTC recruitment advertisement clearly demands for the Agrawal (Vaishya) candidate. Supreme court took Suo Moto cognizance and observed this as violation of fundamental rights on two major grounds i.e. article 14(Right to equality and equal protection of law) and article 16 (Guarantees equality of opportunity for all citizens in matter of public employment).The informal nature of their work amplifies the impact of social biases, as gender influence not only their economic interactions but also their social standing within the train's transient community.

Caste remains a pervasive force in India's economic landscape, dictating access to opportunities and shaping social interactions. In the informal economy[1], lower-caste individuals are disproportionately represented in low-paying, precarious jobs. Ashwini Deshpande's The Grammar of Caste (2011) argues that caste-based discrimination persists in modern markets, with Dalits and Adivasis facing systemic exclusion from high-status roles and resources. This pattern extends to railway vending, where lower-caste vendors encounter biases that hinder their ability to thrive. While direct studies on railway vendors are limited, research on street vending offers valuable parallels. A study in the Economic and Political Weekly notes that Dalit street vendors face "horrific, depressed, and necessitous" conditions, marked by social stigma and economic exploitation. In railway contexts, similar dynamics are evident. Aditi Aggarwal's dissertation on women vendors in Mumbai's local trains highlights how caste shapes the moral economy of the train market. Vendors perceived as adhering to upper-caste normssuch as politeness and restraints are more likely to gain customer trust and build loyal clients. In

contrast, lower-caste vendors, including those from nomadic tribes like the Banjaaras face exclusion.

These biases have tangible economic consequences.When we enquired a contractor from Bhusawal division in central railway that why there is less number of food vendors from lower caste? He says "Customers may hesitate to buy from lower-caste vendors due to ingrained notions of "impurity" or "untrustworthiness," reducing their sales and income. Here the question comes how the customer determines the social status of the vendor in a very short travel? Is it the customer who discriminates or the system? Moreover, caste-based networks, while sometimes providing support within communities, can exclude a particular group of people, as noted in a study on economic mobility. Lower-caste vendors without such networks struggle to access credit, information, or protection from harassment, perpetuating their marginalization. The railway, a public space, thus becomes a site where caste hierarchies are reinforced, undermining the vendors' ability to compete on equal terms.

Gender introduces another layer of discrimination, particularly for women vendors who navigate a male-dominated public sphere. Women constitute a significant portion of railway vendors, especially in spaces like Mumbai's ladies' compartments, where they create vibrant markets selling goods ranging from cosmetics to clothing. However, their participation is constrained by patriarchal norms[2] that dictate acceptable behaviour and limit their mobility. Aggarwal's research vividly illustrates these challenges, describing how women vendors must perform "respectability" to gain acceptance, adhering to upper- middle-class sensibilities of politeness and restraint. The physical and emotional toll of vending is particularly acute for women. Carrying heavy loads through crowded trains leads to chronic pain, yet women often lack access to healthcare or rest. Safety is another concern; public spaces like trains expose women to harassment, a risk amplified during late hours or in mixed compartments. A study on women street vendors highlights similar vulnerabilities, noting that women face sexual harassment and violence, which restrictions on their working hours and locations. In contrast, male vendors typically have greater flexibility, operating in diverse spaces and selling higher value goods, which can yield better earnings.

Economic disparities further disadvantage women. Many are primary breadwinners, yet they earn less than men due to factors like the type of goods they sell often are low in profit and also they have limited access to credit. Women in the informal sector face an earning gap, with male vendors enjoying a premium. Additionally, women bear the double burden of vending and household responsibilities, leaving little time for skill development or business expansion. The Street Vendors Act of 2014 acknowledges some of these challenges, mandating representation for women in vending committees, but implementation remains uneven.

The intersection of gender creates a uniquely oppressive environment for lower-caste women vendors, who face compounded discrimination. Deshpande's work emphasizes that gender intersect to amplify disadvantages, particularly for Dalit women, who are often relegated to the most stigmatized and precarious roles. In railway vending, this manifests in multiple ways. Lower-caste women are stereotyped as "crass" or "aggressive," with behaviours like loudness or protest seen as evidence of their "lower social status and moral failure." Such perceptions alienate them from customers and peers, limiting their access to the social capital that higher-caste or male vendors might leverage. For example, Aggarwal describes a Banjara vendor labelled as "rude" and "untrustworthy," reflecting caste-based prejudices that exclude her from the train market's moral economy. Non-Dwija[3] are less likely to benefit from customer loyalty or vendor networks, which are critical for economic stability. Moreover, they face heightened vulnerability to harassment from authorities, such as railway police, who may exploit their marginalized status. A case study on street vendors in Ghaziabad underscores this, noting that Dalit women vendors are among the most deprived, facing harassment and extortion with little recourse.

The economic Impact is stark. Lower Castevendors often earn less, as customer biases and restricted networks, administrative intentional restrictions limit their sales. Their invisibility to

policymakers exacerbates this, as welfare programs rarely reach informal workers, particularly those at the intersection of gender disadvantages. The psychological toll is equally significant; navigating constant stigma erodes their sense of dignity and agency, reinforcing cycles of poverty and exclusion. This intersectional discrimination not only hinders their immediate livelihoods but also limits intergenerational mobility, as limited earnings restrict investments in education or health.

The human cost of these discriminatory factors is profound. Railway vendors are not just economic actors; they are individuals with dreams, families, and stories. Lower-caste vendors endure daily slights, from customers who refuse their goods to authorities who demand bribes.

Women vendors, particularly those from marginalized castes, balance the physical pain of their labour with the emotional weight of societal judgment. These experiences reveal a paradox: the railway economy is a space of opportunity, where vendors from marginalized backgrounds can claim agency, but it is also a space of exclusion, where gender dictate who thrives and who merely survives.

Addressing these discriminatory factors requires acknowledging their complexity. Caste-based discrimination is rooted in centuries-old hierarchies, perpetuated through socialization and economic structures. Gender discrimination, similarly, is embedded in patriarchal norms that limit women's autonomy and value their labour less. The intersection of these forces creates a unique form of marginalization that cannot be addressed through one-size-fits-all solutions. Tackling these issues demands a multi-faceted approach, combining legal protections, awareness campaigns, and economic empowerment initiatives. The Street Vendors Act of 2014, for instance, is a step forward, but its inconsistent implementation highlights the need for stronger enforcement and targeted support for women and lower-caste vendors. These discriminatory factors are not merely economic; they erode the humanity of vendors, denying them the dignity and fairness they deserve. Recognizing and addressing these challenges is essential for fostering a more equitable society. Amplifying the voices and experiences of railway vendors, contribute to a broader movement for social justice, where every vendor's story is heard and honoured.

Mechanism of Casteism in Indian Railway

Informal economy of Indian Railway clearly shows Indian habit of Jugad[4] refers to leveraging of existing social network and community bonds to overcome challenges and achieve goals often through resourceful solutions. When jugad is combined with social capital it highlights the importance of community based initiative and collective action in achieving social and economic development. Networks relationship and norms that exist within community are used through social sphere to gain economic development. The power holders are always having the privilege over the oppressed one through this jugad system. Economic disparity in vendors is the resultant of this traditional hierachary.

One primary mechanism of casteism is the social stigma attached to lower-caste identities, which shapes customer interactions and economic outcomes. In the railway vending sphere, trust is currency; vendors rely on building rapport with passengers to secure sales and loyalty. However, caste-based prejudices often undermine this trust. Aggarwal's study of Mumbai's train vendors provides a vivid example: a Nepali vendor, perceived as lower-status due to her social background, was labelled "belligerent" and excluded from customer networks, reducing her sales. Similarly, vendors from nomadic tribes like the Banjaaras face assumptions of unreliability, rooted in ethnic biases. These stereotypes are not overt but embedded in everyday interactions like a passenger's hesitation, a dismissive glance that chip away at vendors' livelihoods. A study on street vending highlights how Dalit vendors face "horrific" conditions, with social stigma limiting their customer base and earnings. In the railway context, this translates to lower-caste vendors earning less, not because of their skills but because of who they are perceived to be.

Another mechanism of casteism is economic exclusion, driven by restricted access to resources and opportunities. Lower-caste vendors often enter the railway economy with fewer assets less capital, limited education, and weaker networks due to historical disadvantages. Deshpande's analysis of

caste in labour markets shows that Dalits are disproportionately confined to low status, precarious jobs, a pattern evident in railway vending. Mandal and Mistri's study of West Bengal's railway hawkers underscores this, noting that vendors of bulkier goods face greater passenger resistance and harassment, exacerbating their economic vulnerability. Access to credit, crucial for expanding inventory or weathering lean periods, is also caste-skewed. Upper-caste vendors may tap into community-based lending networks, while lower-caste vendors, as a study on economic mobility notes, are often excluded, forcing reliance on exploitative moneylenders (Generally ancestral/traditional professionals)[5] . This economic exclusion traps lower-caste vendors in a cycle of poverty, limiting their ability to scale their businesses or invest in their families' futures.

Institutional neglect and harassment by authorities form a third mechanism, amplifying casteism's impact. Railway vending is informal, lacking legal recognition, which exposes vendors to exploitation by railway staff, such as the Government Railway Police Force (GRPF) or ticket checkers. Mandal and Mistri document how hawkers face extortion, with authorities demanding bribes or free goods, particularly from those selling bulkier items, who are often lower-caste. Lower-caste vendors, perceived as less powerful, are prime targets for such harassment, as their social status offers little protection. Aggarwal notes that women vendors, especially from marginalized castes, face additional vulnerabilities, as authorities exploit their lack of recourse. This institutional bias is compounded by the absence of targeted welfare programs. Deshpande highlights that affirmative action, while beneficial in formal sectors, rarely reaches informal workers like vendors, leaving lower-caste individuals without support.

Casteism's impact extends beyond individual vendors to the broader social fabric of the railway. The train, meant to be a democratic space, becomes a site of division, where caste hierarchies dictate who is valued and who is invisible. Regular passengers may develop empathy for hawkers over time, but non-regular passengers, who perpetrate most harassment, reinforce caste biases through their actions. This dynamic fragments the railway's transient community, undermining the potential for solidarity. Moreover, casteism perpetuates a culture of indifference, where the struggles of lower-caste vendors are normalized, their humanity overlooked. Aggarwal's concept of the "train market" as a space of pleasure and kinship is thus incomplete, as casteism limits who can fully participate in this communal joy.

The mechanisms of casteismstigma, exclusion, and harassment are not isolated but interconnected, creating a web that ensnares lower-caste vendors. They operate subtly, embedded in everyday interactions, making them harder to challenge. Yet, their cumulative effect is devastating, stripping vendors of economic security, social respect, and personal dignity. This erosion of humanity is not just a personal tragedy but a societal failure, as it perpetuates inequality in one of India's most public and vital spaces. Addressing casteism requires dismantling these mechanisms through legal protections, awareness campaigns, and economic empowerment, as scholars like Deshpande advocate. The railway vending sphere, with its vibrant yet unequal economy, offers a critical lens to understand and confront casteism's enduring harm.

Casteism in the railway vending sphere operates through social stigma, economic exclusion, and institutional neglect, each mechanism reinforcing the others to marginalize lower-caste vendors. These dynamics not only limit economic opportunities but also dehumanize vendors, denying them dignity and belonging. The railway, a symbol of connectivity, becomes a paradox space of opportunity marred by division. By understanding these mechanisms, we can begin to envision a railway economy where every vendor, regardless of caste, is valued for their humanity and contributions.

One Might Ask: Is This Failure, Or Is It Ignorance of State?

The answer lies in a complex interplay of both. On one hand, the government's neglect seems rooted in a lack of awareness about the specific challenges faced by railway vendors. Unlike street vendors in fixed urban markets, railway vendors operate in a transient, regulated space under the Railway Board's jurisdiction, which complicates their inclusion in broader vending policies. Surprisingly there is first

Dalit railway board chairman after 70 years of independence. Which is still the matter of celebration or tokenisation by state? The absence of targeted data on railway vendors how many are lower-caste, how many are women, what specific barriers they face suggests a blind spot in policymaking. Without such data, policies remain generic, failing to address the intersectional vulnerabilities[8] of gender. For instance, the National Urban Livelihoods Mission (NULM), aimed at supporting informal workers, rarely extends to railway vendors, who fall through the cracks of urban-rural divides and sectorial silos. This ignorance is not malicious but structural, a by-product of a bureaucratic system that prioritizes visible, formal economies over the invisible labour of vendors.

Yet, there are signs of deliberate failure, particularly in the government's reluctance to confront gender biases head-on. The railway authorities, including the Government Railway Police Force (GRPF) and ticket checkers, often perpetuate discrimination by targeting vendors for bribes or eviction as they are lack of social capital. This is not a policy directive but a cultural failure, where state actors mirror societal prejudices. The state inaction in disciplining such behaviour or training staff to recognize caste-gender dynamics suggests a lack of political will to dismantle entrenched hierarchies. Moreover, welfare schemes like the Pradhan Mantri Street Vendor's Atma Nirbhar Nidhi (PMSVANidhi), which offers micro-loans to vendors, are poorly tailored for railway vendors. Vendors face barriers in accessing these loans due to lack of documentation, digital literacy, or trust in formal systems issues the government has not adequately addressed.

Do the government want to repair this? There are glimmers of intent policies like the Street Vendors Act and PMSVANidhi signal recognition of informal workers' importance. The Ministry of Housing and Urban Affairs has occasionally pushed for better implementation, and some state governments have experimented with vendor-friendly initiatives, like designated vending zones. However, these efforts are sporadic and lack the sustained commitment needed to tackle gender disparities. The government's broader economic agenda, focused on formalization and digitalization, often side-lines informal workers, who are seen as peripheral to "modern" India. Confronting casteism and patriarchy requires not just policy but cultural change, which demands political courage that has been lacking. The persistence of manual scavenging by Dalits in railway cleaning, despite legal bans, is a stark reminder of how caste-based exploitation continues under state oversight.

The path forward lies in addressing these lacunas with urgency and empathy. The government must collect disaggregated data on railway vendors to understand their gender profiles, enabling targeted interventions. Legal recognition within the railway ecosystem, perhaps through a specific vending policy, could legitimize their work and reduce harassment. Training programs for railway staff to combat gender biases, coupled with strict anti-corruption measures, would create a safer environment. Welfare schemes must be accessible, with simplified processes and outreach to ensure lower-caste women can benefit. Finally, the government must foster dialogue with vendors themselves, amplifying their voices in policy design to ensure solutions reflect their realities.

The government's response to caste-gender disparities in railway vending is marked by a mix of ignorance and failure, rooted in structural blind spots and a lack of will to challenge societal biases. The lacunaslack of recognition, inadequate policies, and weak enforcement,leave vendors, especially lower-caste women, vulnerable to exploitation and exclusion. Yet, their resilience offers hope, a reminder that change is possible if the state listens. By honouring their humanity and contributions, the government can transform the railway into a space of true equality, where every vendor's story is valued and their dreams supported. This research calls for that transformation, urging a commitment to justice that matches the courage of those who keep India's trains alive.

Conclusion

This paper delves into these questions, exploring the government's role in addressing the economic and social inequalities faced by railway vendors. Drawing on insights and the lived realities of vendors, it examines the gaps in policy, the intent behind government actions, and the human cost of inaction, all while seeking a path toward justice that honours the dignity of these resilient workers.The Indian

government has long recognized the informal economy's significance, with vendors like those in the railways contributing to urban livelihoods and passenger convenience. The Street Vendors (Protection of Livelihood and Regulation of Street Vending) Act of 2014 was a landmark step, designed to protect informal workers by ensuring their right to vend, access to designated spaces, and representation in local committees. For railway vendors, this act holds potential, as it could legitimize their presence in a space where they are often seen as encroachers. However, its implementation in the railway context is woefully inadequate, revealing a disconnect between policy intent and reality. The act mandates Town Vending Committees (TVCs) to include representation from marginalized groups, including women and Scheduled Castes, yet studies show these committees are often dominated by upper-caste men, side-lining the very communities they are meant to serve. This gap is not merely administrative but a reflection of deeper societal biases that the government has failed to challenge, leaving vendors like Dalit women to navigate harassment and exclusion without institutional support.

Does the government want to repair this? There are glimmers of intent policies like the Street

Vendors Act and PMSVA Nidhi which hint towards the recognition of informal workers' importance. The Ministry of Housing and Urban Affairs has occasionally pushed for better implementation, and some state governments have experimented with vendor-friendly initiatives, like designated vending zones. However, these efforts are sporadic and lack the sustained commitment needed to tackle gender disparities. The government's broader economic agenda, focused on formalization and digitalization, often side-lines informal workers, who are seen as peripheral to "modern" India. Confronting casteism and patriarchy requires not just policy but cultural change, which demands political courage that has been lacking. The persistence of manual scavenging by Dalits in railway cleaning, despite legal bans, is a stark reminder of how caste-based exploitation continues under state oversight.

The path forward lies in addressing these lacunas with urgency and empathy. The government must collect disaggregated data on railway vendors to understand their gender profiles, enabling targeted interventions. Legal recognition within the railway ecosystem, perhaps through a specific vending policy, could legitimize their work and reduce harassment. Training programs for railway staff to combat gender biases, coupled with strict anti-corruption measures, would create a safer environment. Welfare schemes must be accessible, with simplified processes and outreach to ensure lower-caste women can benefit. Finally, the government must foster dialogue with vendors themselves, amplifying their voices in policy design to ensure solutions reflect their realities.

In conclusion, the government's response to caste-gender disparities in railway vending is marked by a mix of ignorance and failure, rooted in structural blind spots and a lack of will to challenge societal biases. The various aspects like lack of recognition, inadequate policies, and weak enforcement leave vendors, especially lower-caste women, vulnerable to exploitation and exclusion. Yet, their resilience offers hope, a reminder that change is possible if the state listens. By honouring their humanity and contributions, the government can transform the railway into a space of true equality, where every vendor's story is valued and their dreams supported. This research calls for that transformation, urging a commitment to justice that matches the courage of those who keep India and train system alive.

Student, MA Political Science (Final Year)
Department Political Science
University of Delhi
Email : akshaybagale25@gmail.com

References:

1. All economic activities that operate outside of formal legal and regulatory framework
2. The societal rules, expectations, and beliefs that prioritize men and male dominance, often leading to gender inequalities and discrimination against women.
3. A person who is not considered a "twice-born"

in the traditional Hindu varna (caste) syste.

4. Informal settlements through social capital.
5. Traditionally called as sahukars or mahajans.

Bibliography:

- Aggarwal, Aditi. (2024), 'Pleasure, Pain, and Profits: How Women Vendors Live And Thrive In Mumbai's Locals', University of Illinois Chicago.
- Arundhathi (2020) 'Piloting' Gender in The Indian Railways: Women Loco-Pilots, Labour and Technology, Economic & Political Weekly, lV (18), pp. 40–41.
- Dastidar, Avishek G (8 Nov, 2019), 'Railway Catering Firm Faces Flak for Casteist Aid' The Indian Express
- Deshpande, Ashwini (2011), 'The Grammar of Caste', New Delhi: Oxford University Press
- Mandal, Mrinal and Biswaranjan Mistri (2010), 'The Question of Justice and Railway Hawkers', Practicing Geographer (Summer 2010).
- Mohanty, Mohanty (2004), 'Class, Caste, Gender vol. 1', Sage Publication, Indian Antiquary, XLI, 1.
- Mint (2024), 'Who is Satish Kumar? First Dalit CEO of railway board', Livemint
- Srinivas, M. N. (1957), 'Caste In Modern India', The Journal of Asian Studies, 16(4), 529. https://doi.org/10.2307/2941637

शोध-पत्र

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत

ज्योति

शोध सार

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत आधुनिक लोक प्रशासन एवं संगठनात्मक प्रबंधन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक योगदान माना जाता है। इस सिद्धांत ने पारंपरिक प्रशासनिक दृष्टिकोण में निहित 'पूर्ण तर्कसंगतता' (Perfect Rationality) की अवधारणा को चुनौती देते हुए यह प्रतिपादित किया कि वास्तविक परिस्थितियों में निर्णयकर्ता सीमित जानकारी, सीमित समय, सीमित संसाधनों तथा मानवीय संज्ञानात्मक क्षमताओं के कारण पूर्णतः तर्कसंगत निर्णय नहीं ले सकते। इसी आधार पर साइमन ने 'सीमित तर्कसंगतता' (Bounded Rationality) तथा 'संतोषजनक निर्णय' (Satisficing) की अवधारणाओं को विकसित किया, जिनके अनुसार व्यक्ति उपलब्ध विकल्पों में सर्वश्रेष्ठ के स्थान पर ऐसा विकल्प चुनता है जो उसकी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप पर्याप्त रूप से संतोषजनक हो।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत की अवधारणा, उसके प्रमुख तत्वों, निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया, प्रशासन एवं लोक नीति में उसके अनुप्रयोग, आलोचनाओं तथा समकालीन प्रासंगिकता का विश्लेषण करना है। लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि साइमन का सिद्धांत प्रशासनिक निर्णयों को अधिक यथार्थवादी, वैज्ञानिक एवं व्यवहारपरक आधार प्रदान करता है। यह सिद्धांत संगठनात्मक दक्षता, नीति-निर्माण, संसाधनों के प्रभावी उपयोग तथा उत्तरदायी प्रशासन को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साथ ही, डिजिटल शासन, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, बिग डेटा विश्लेषण तथा साक्ष्य-आधारित नीति-निर्माण के वर्तमान युग में भी इसकी उपयोगिता बनी हुई है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत प्रशासनिक व्यवहार को समझने के लिए आज भी एक प्रभावशाली सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस सिद्धांत की कुछ सीमाएँ हैं, फिर भी बदलते प्रशासनिक परिवेश में इसकी अवधारणाएँ प्रभावी निर्णय-निर्माण, सुशासन तथा पारदर्शी प्रशासन के लिए अत्यंत प्रासंगिक और उपयोगी सिद्ध होती हैं।

कुंजी शब्द

हर्बर्ट साइमन, निर्णय-निर्माण, सीमित तर्कसंगतता, संतोषजनक निर्णय, लोक प्रशासन।

प्रस्तावना

निर्णय-निर्माण किसी भी प्रशासनिक संगठन, सार्वजनिक संस्था अथवा शासन व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। किसी संगठन की सफलता या असफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि उसके निर्णय कितने तर्कसंगत, प्रभावी और समयानुकूल हैं। लोक प्रशासन के क्षेत्र में निर्णय-निर्माण केवल नियमों एवं प्रक्रियाओं का पालन करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उपलब्ध संसाधनों, मानवीय व्यवहार, संगठनात्मक उद्देश्यों तथा परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त विकल्पों के चयन की एक सतत प्रक्रिया है। इसी कारण आधुनिक प्रशासनिक चिंतन में निर्णय-निर्माण को प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना जाता है।

आधुनिक लोक प्रशासन के प्रमुख विद्वानों में हर्बर्ट ए. साइमन (Herbert A. Simon) का नाम अत्यंत सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने प्रशासनिक सिद्धांत को व्यवहारवादी (Behavioural) एवं वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हुए

निर्णय-निर्माण को प्रशासन का मूल आधार बताया। साइमन ने पारंपरिक प्रशासनिक सिद्धांतों, विशेषकर 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की पूर्ण तर्कसंगतता की धारणा की आलोचना करते हुए यह प्रतिपादित किया कि वास्तविक जीवन में कोई भी व्यक्ति सभी उपलब्ध सूचनाओं का पूर्ण विश्लेषण करने और प्रत्येक विकल्प का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं होता। व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता, उपलब्ध समय, संसाधनों तथा सूचनाओं की सीमाएँ उसके निर्णयों को प्रभावित करती हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने 'सीमित तर्कसंगतता' (Bounded Rationality) तथा 'संतोषजनक निर्णय' (Satisficing) जैसी अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं, जिन्होंने प्रशासनिक अध्ययन में एक नए दृष्टिकोण का विकास किया।

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत केवल प्रशासनिक संगठनों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका उपयोग सार्वजनिक नीति निर्माण, व्यवसाय प्रबंधन, आर्थिक नियोजन, मानव संसाधन प्रबंधन, न्यायिक प्रशासन तथा समकालीन डिजिटल शासन में भी व्यापक रूप से किया जाता है। वर्तमान समय में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), डेटा विश्लेषण तथा साक्ष्य-आधारित नीति-निर्माण के बढ़ते महत्व ने इस सिद्धांत को और अधिक प्रासंगिक बना दिया है। प्रस्तुत लेख में हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत की अवधारणा, प्रमुख तत्वों, निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया, प्रशासनिक उपयोगिता, आलोचनाओं तथा समकालीन प्रासंगिकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है, जिससे आधुनिक प्रशासनिक चिंतन में इस सिद्धांत के योगदान का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सके।

हर्बर्ट साइमन का जीवन परिचय एवं बौद्धिक योगदान

हर्बर्ट अलेक्जेंडर साइमन का जन्म 15 जून 1916 को संयुक्त राज्य अमेरिका के विस्कॉन्सिन राज्य के मिलवॉकी नगर में हुआ। वे बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली बहुविषयक विद्वानों में से एक थे। उन्होंने राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, संगठनात्मक व्यवहार, प्रबंधन विज्ञान तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसे विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। साइमन ने शिकागो विश्वविद्यालय से अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की तथा बाद में कार्नेगी मेलॉन विश्वविद्यालय में दीर्घकाल तक अध्यापन एवं अनुसंधान किया। उनका मानना था कि प्रशासन का अध्ययन केवल नियमों और सिद्धांतों तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे वास्तविक मानवीय व्यवहार, निर्णय प्रक्रिया तथा संगठनात्मक परिस्थितियों के आधार पर समझा जाना चाहिए।

प्रशासनिक चिंतन के क्षेत्र में हर्बर्ट साइमन का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने पारंपरिक प्रशासनिक सिद्धांतों, विशेषकर हेनरी फेयोल तथा लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादित प्रशासन के तथाकथित "सार्वभौमिक सिद्धांतों" की आलोचना करते हुए उन्हें ष्प्रशासनिक कहावतेंष कहा। साइमन का तर्क था कि प्रशासनिक निर्णय केवल निश्चित नियमों के आधार पर नहीं लिए जा सकते, क्योंकि प्रत्येक संगठन की परिस्थितियाँ, उद्देश्य तथा संसाधन अलग-अलग होते हैं। उन्होंने प्रशासन को एक व्यवहारवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर बल दिया तथा निर्णय-निर्माण को प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना। उनके विचारों ने लोक प्रशासन को पारंपरिक मानकवादी दृष्टिकोण से निकालकर अनुभवजन्य और व्यवहारपरक अध्ययन की दिशा प्रदान की।

हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत का विकास उनके प्रसिद्ध ग्रंथ Administrative Behavior (1947) के माध्यम से हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि वास्तविक जीवन में व्यक्ति पूर्णतः तर्कसंगत (Perfectly Rational) निर्णय नहीं ले सकता, क्योंकि उसके पास समय, संसाधन, जानकारी तथा मानसिक क्षमता सीमित होती है। इसी आधार पर उन्होंने सीमित तर्कसंगतता की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार निर्णयकर्ता सभी संभावित विकल्पों का विश्लेषण करने के बजाय ऐसा विकल्प चुनता है जो उपलब्ध परिस्थितियों में पर्याप्त रूप से उपयुक्त एवं संतोषजनक हो। इस विचार को उन्होंने संतोषजनक निर्णय का नाम दिया। यह सिद्धांत प्रशासन, प्रबंधन, अर्थशास्त्र तथा सार्वजनिक नीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण वैचारिक परिवर्तन का आधार बना।

हर्बर्ट साइमन के असाधारण बौद्धिक योगदान को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। वर्ष 1978 में उन्हें आर्थिक संगठनों के निर्णय-निर्माण संबंधी अग्रणी अनुसंधान के लिए अर्थशास्त्र का नोबेल स्मृति पुरस्कार (Nobel Memorial Prize in Economic Sciences) प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें ए. एम. ट्यूरिंग पुरस्कार (A.M. Turing Award) सहित अनेक प्रतिष्ठित राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए। वे कृत्रिम बुद्धिमत्ता के प्रारंभिक विकासकर्ताओं में भी अग्रणी थे और उन्होंने मानव निर्णय प्रक्रिया को कंप्यूटर मॉडल के माध्यम से समझने का महत्वपूर्ण

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

प्रयास किया। उनकी प्रमुख कृतियों Administrative Behavior, The Sciences of the Artificial तथा Models of Man ने लोक प्रशासन, प्रबंधन, अर्थशास्त्र और संज्ञानात्मक विज्ञान के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की। आज भी हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत आधुनिक प्रशासनिक अध्ययन, सार्वजनिक नीति निर्माण तथा संगठनात्मक प्रबंधन का एक मूलभूत सैद्धांतिक आधार माना जाता है।

निर्णय-निर्माण सिद्धांत की अवधारणा एवं प्रमुख तत्व

निर्णय-निर्माण (Decision-Making) किसी भी प्रशासनिक संगठन की मूलभूत एवं सतत प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य उपलब्ध विकल्पों में से संगठन के उद्देश्यों, उपलब्ध संसाधनों तथा परिस्थितियों के अनुरूप सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प का चयन करना है। प्रत्येक प्रशासनिक कार्य चाहे वह नीति-निर्माण हो, संसाधनों का आवंटन, कर्मचारियों का प्रबंधन अथवा जनहित से संबंधित योजनाओं का क्रियान्वयन किसी न किसी निर्णय पर आधारित होता है। इसलिए निर्णय-निर्माण को प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना जाता है। हर्बर्ट साइमन के अनुसार प्रशासन का वास्तविक स्वरूप निर्णयों की एक श्रृंखला है और किसी भी संगठन की कार्यकुशलता उसके निर्णयों की गुणवत्ता पर निर्भर करती है।

प्रशासन में निर्णय का अत्यधिक महत्व है क्योंकि यही प्रक्रिया संगठन को उसके निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा प्रदान करती है। प्रभावी निर्णय-निर्माण से संसाधनों का उचित उपयोग, कार्यों का समन्वय, उत्तरदायित्व की स्पष्टता तथा संगठनात्मक दक्षता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, त्रुटिपूर्ण अथवा विलंबित निर्णय संगठन की कार्यक्षमता, जनविश्वास तथा प्रशासनिक परिणामों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकते हैं। इसी कारण आधुनिक लोक प्रशासन में निर्णय-निर्माण को प्रबंधन, नेतृत्व तथा नीति-निर्माण का आधार माना जाता है।

हर्बर्ट साइमन ने निर्णय-निर्माण के संदर्भ में तर्कसंगतता (Rationality) को विशेष महत्व दिया। तर्कसंगतता का अर्थ है कि निर्णयकर्ता उपलब्ध तथ्यों, सूचनाओं तथा संभावित विकल्पों का निष्पक्ष विश्लेषण करके ऐसा निर्णय ले जो संगठन के उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति करे। पारंपरिक आर्थिक सिद्धांत यह मानता था कि व्यक्ति पूर्ण जानकारी के आधार पर सदैव सर्वोत्तम निर्णय लेने में सक्षम होता है। साइमन ने इस धारणा को अव्यावहारिक बताते हुए कहा कि वास्तविक परिस्थितियों में ऐसा संभव नहीं है।

इसी आधार पर साइमन ने सीमित तर्कसंगतता (Bounded Rationality) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार निर्णयकर्ता की तर्कसंगतता कई कारणों से सीमित होती है, जैसे सूचनाओं का अभाव, समय की कमी, संसाधनों की सीमाएँ, भविष्य की अनिश्चितता तथा मानवीय मानसिक क्षमता की सीमाएँ। इसलिए कोई भी व्यक्ति सभी संभावित विकल्पों का पूर्ण विश्लेषण नहीं कर सकता। वह केवल उपलब्ध जानकारी और परिस्थितियों के आधार पर निर्णय लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार निर्णय-निर्माण पूर्णत: तर्कसंगत न होकर व्यावहारिक और परिस्थितिजन्य होता है।

सीमित तर्कसंगतता की इसी अवधारणा के आधार पर साइमन ने संतोषजनक निर्णय (Satisficing) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार निर्णयकर्ता प्रत्येक स्थिति में सर्वोत्तम (Optimal) विकल्प की खोज नहीं करता, बल्कि ऐसा विकल्प चुनता है जो उपलब्ध संसाधनों, समय और जानकारी के भीतर संगठन की आवश्यकताओं को पर्याप्त रूप से पूरा करता हो। अर्थात् वह 'सर्वश्रेष्ठ' के बजाय 'पर्याप्त रूप से उपयुक्त' विकल्प को स्वीकार करता है। यही संतोषजनक निर्णय की अवधारणा है। यह सिद्धांत वास्तविक प्रशासनिक परिस्थितियों को अधिक यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करता है, क्योंकि अधिकांश सरकारी एवं निजी संगठनों में निर्णय सीमित संसाधनों और अपूर्ण सूचनाओं के बीच ही लिए जाते हैं। इस प्रकार हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत प्रशासनिक व्यवहार को समझने का एक वैज्ञानिक एवं व्यवहारपरक दृष्टिकोण प्रदान करता है। निर्णय-निर्माण की अवधारणा, तर्कसंगतता, सीमित तर्कसंगतता तथा संतोषजनक निर्णय जैसे तत्व आधुनिक लोक प्रशासन, सार्वजनिक नीति, प्रबंधन तथा संगठनात्मक अध्ययन के आधारभूत सिद्धांत बन चुके हैं। आज के जटिल प्रशासनिक परिवेश में भी ये अवधारणाएँ प्रभावी, उत्तरदायी एवं यथार्थवादी निर्णय-निर्माण के लिए समान रूप से प्रासंगिक हैं।

हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत की प्रक्रिया

हर्बर्ट साइमन ने निर्णय-निर्माण को एक क्रमबद्ध, तार्किक एवं सतत प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार प्रभावी निर्णय किसी एक क्षण में नहीं लिया जाता, बल्कि विभिन्न चरणों से होकर गुजरता है। निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया का उद्देश्य समस्या की सही पहचान करना, उपलब्ध विकल्पों का विश्लेषण करना, उपयुक्त विकल्प का चयन करना तथा

उसके परिणामों का मूल्यांकन करना है। साइमन ने इस प्रक्रिया को मुख्यत: Intelligence, Design और Choice नामक तीन चरणों में विभाजित किया, जबकि आधुनिक प्रशासनिक अध्ययन में Implementation (क्रियान्वयन) एवं Feedback (प्रतिपुष्टि) को भी निर्णय प्रक्रिया का अभिन्न अंग माना जाता है।

Intelligence चरण (समस्या की पहचान एवं सूचना संग्रह)

यह निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण चरण है। इस स्तर पर निर्णयकर्ता समस्या की पहचान करता है, उसके कारणों का विश्लेषण करता है तथा उससे संबंधित आवश्यक तथ्यों एवं सूचनाओं का संग्रह करता है। किसी भी निर्णय की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि समस्या को कितनी स्पष्टता से समझा गया है। यदि समस्या का सही निदान नहीं किया गया, तो आगे के सभी निर्णय प्रभावित हो सकते हैं। इसलिए इस चरण में आँकड़ों का विश्लेषण, पर्यावरण का अध्ययन तथा संगठन की आवश्यकताओं का मूल्यांकन किया जाता है।

Design चरण (विकल्पों का निर्माण एवं विश्लेषण)

दूसरे चरण में समस्या के समाधान हेतु विभिन्न संभावित विकल्प तैयार किए जाते हैं। प्रत्येक विकल्प की व्यवहारिकता, लागत, लाभ, जोखिम तथा संभावित परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस चरण का उद्देश्य ऐसे विकल्प विकसित करना है जो संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप हों और उपलब्ध संसाधनों के भीतर कार्यान्वित किए जा सकें। साइमन के अनुसार निर्णयकर्ता को यथासंभव अधिक विकल्पों पर विचार करना चाहिए, किंतु उनकी उपयोगिता का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन भी आवश्यक है।

Choice चरण (उपयुक्त विकल्प का चयन)

इस चरण में उपलब्ध विकल्पों में से सबसे उपयुक्त अथवा संतोषजनक विकल्प का चयन किया जाता है। साइमन के सीमित तर्कसंगतता सिद्धांत के अनुसार निर्णयकर्ता प्रत्येक परिस्थिति में सर्वोत्तम विकल्प नहीं चुन पाता, क्योंकि उसके पास समय, सूचना और संसाधनों की सीमाएँ होती हैं। इसलिए वह ऐसा विकल्प स्वीकार करता है जो परिस्थितियों के अनुसार पर्याप्त रूप से उपयुक्त हो तथा संगठन के लक्ष्यों की प्रभावी पूर्ति कर सके। यही 'संतोषजनक निर्णय' (Satisficing) की अवधारणा का व्यावहारिक रूप है।

Implementation एवं Feedback (क्रियान्वयन एवं प्रतिपुष्टि)

निर्णय का वास्तविक महत्व उसके प्रभावी क्रियान्वयन में निहित होता है। चयनित निर्णय को योजनाबद्ध ढंग से लागू करना, आवश्यक संसाधनों की व्यवस्था करना तथा संबंधित अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच समन्वय स्थापित करना इस चरण के प्रमुख कार्य हैं। क्रियान्वयन के पश्चात निर्णय के परिणामों का मूल्यांकन किया जाता है, जिसे प्रतिपुष्टि (Feedback) कहा जाता है। यदि अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होते, तो आवश्यक संशोधन किए जाते हैं। इस प्रकार निर्णय-निर्माण एक सतत एवं गतिशील प्रक्रिया बन जाती है, जिसमें अनुभव से सीखकर भविष्य के निर्णयों को अधिक प्रभावी बनाया जाता है।

निर्णय प्रक्रिया के प्रमुख मॉडल : हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत में विभिन्न निर्णय मॉडल भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें तर्कसंगत मॉडल (Rational Model), सीमित तर्कसंगतता मॉडल (Bounded Rationality Model) तथा संतोषजनक निर्णय मॉडल (Satisficing Model) प्रमुख हैं। तर्कसंगत मॉडल यह मानता है कि निर्णयकर्ता सभी सूचनाओं के आधार पर सर्वोत्तम विकल्प का चयन करता है, जबकि सीमित तर्कसंगतता मॉडल वास्तविक परिस्थितियों में मानवीय सीमाओं को स्वीकार करता है। संतोषजनक निर्णय मॉडल इस विचार को व्यावहारिक रूप देता है कि निर्णयकर्ता उपलब्ध विकल्पों में से ऐसा विकल्प चुनता है जो पर्याप्त रूप से प्रभावी हो। यही कारण है कि साइमन का निर्णय-निर्माण मॉडल आधुनिक लोक प्रशासन, सार्वजनिक नीति, प्रबंधन तथा संगठनात्मक व्यवहार में वैज्ञानिक, यथार्थवादी और व्यवहारपरक दृष्टिकोण का आधार माना जाता है।

निर्णय-निर्माण सिद्धांत का प्रशासन एवं लोक नीति में अनुप्रयोग

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत आधुनिक लोक प्रशासन, सार्वजनिक नीति, संगठनात्मक प्रबंधन तथा डिजिटल शासन का एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक आधार है। इस सिद्धांत ने प्रशासनिक प्रक्रिया को केवल नियमों एवं औपचारिक संरचनाओं तक सीमित न रखकर वास्तविक मानवीय व्यवहार, उपलब्ध संसाधनों तथा परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के अनुरूप समझने का दृष्टिकोण प्रदान किया। वर्तमान समय में जब प्रशासनिक निर्णय जटिल, बहुआयामी तथा साक्ष्य-आधारित

होते जा रहे हैं, तब साइमन का सिद्धांत प्रभावी एवं उत्तरदायी शासन के लिए अत्यंत प्रासंगिक माना जाता है। लोक प्रशासन में इस सिद्धांत का व्यापक उपयोग प्रशासनिक दक्षता, पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व को बढ़ाने में किया जाता है। किसी भी सरकारी विभाग में योजनाओं का निर्माण, संसाधनों का आवंटन, बजट निर्धारण, मानव संसाधन प्रबंधन, संकट प्रबंधन तथा जनसेवाओं के वितरण जैसे कार्य प्रभावी निर्णय-निर्माण पर आधारित होते हैं। साइमन का मत है कि प्रशासकों को निर्णय लेते समय उपलब्ध तथ्यों, विकल्पों तथा संभावित परिणामों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करना चाहिए। साथ ही, उन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि समय, संसाधनों और सूचनाओं की सीमाओं के कारण प्रत्येक निर्णय पूर्णत: आदर्श नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण प्रशासनिक व्यवहार को अधिक यथार्थवादी बनाता है।

सार्वजनिक नीति निर्माण के क्षेत्र में भी साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण, कृषि, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा तथा आर्थिक विकास से संबंधित नीतियों का निर्माण व्यापक आँकड़ों, विशेषज्ञों की राय तथा सामाजिक आवश्यकताओं के विश्लेषण के आधार पर करती हैं। नीति-निर्माण की प्रक्रिया में समस्या की पहचान, विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन, उपयुक्त नीति का चयन, उसका क्रियान्वयन तथा परिणामों की समीक्षा ये सभी चरण साइमन के निर्णय-निर्माण मॉडल से मेल खाते हैं। इस प्रकार यह सिद्धांत साक्ष्य-आधारित तथा तर्कसंगत नीति-निर्माण को प्रोत्साहित करता है।

संगठनात्मक प्रबंधन में निर्णय-निर्माण सिद्धांत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। किसी भी संगठन की सफलता उसके नेतृत्व की निर्णय क्षमता पर निर्भर करती है। कर्मचारियों की नियुक्ति, कार्यों का विभाजन, संसाधनों का प्रबंधन, तकनीकी नवाचार, वित्तीय योजना तथा संगठनात्मक परिवर्तन जैसे निर्णय वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित विश्लेषण की अपेक्षा करते हैं। साइमन के सीमित तर्कसंगतता सिद्धांत के अनुसार प्रबंधकों को उपलब्ध सूचनाओं और संसाधनों के भीतर सर्वोत्तम संभव निर्णय लेने चाहिए। इससे संगठन में कार्यकुशलता, समन्वय, उत्पादकता तथा उत्तरदायित्व में वृद्धि होती है।

ई-गवर्नेंस एवं डिजिटल प्रशासन के युग में हर्बर्ट साइमन का सिद्धांत नई प्रासंगिकता प्राप्त कर चुका है। आज कृत्रिम बुद्धिमत्ता, बिग डेटा, डेटा विश्लेषण, मशीन लर्निंग तथा डिजिटल सूचना प्रणालियों के माध्यम से निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया अधिक सटीक, पारदर्शी और त्वरित हो रही है। डिजिटल प्लेटफॉर्म प्रशासकों को वास्तविक समय में सूचनाएँ उपलब्ध कराते हैं, जिससे योजनाओं का बेहतर मूल्यांकन, संसाधनों का प्रभावी उपयोग तथा नागरिकों को गुणवत्तापूर्ण सेवाएँ प्रदान करना संभव हो पाता है। यद्यपि अंतिम निर्णय मानव द्वारा ही लिया जाता है, फिर भी आधुनिक तकनीक निर्णय प्रक्रिया को अधिक साक्ष्य-आधारित और दक्ष बनाती है।

भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में भी हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत की उपयोगिता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। नीति आयोग, डिजिटल इंडिया मिशन, प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (Direct Benefit Transfer), ई-ऑफिस प्रणाली, सेवा वितरण पोर्टल, आपदा प्रबंधन, स्वास्थ्य मिशन तथा विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में तथ्यपरक एवं डेटा-आधारित निर्णयों को प्राथमिकता दी जा रही है। भारतीय प्रशासनिक सेवा सहित विभिन्न लोक सेवाओं में अधिकारियों को परिस्थितियों के अनुरूप विवेकपूर्ण, उत्तरदायी तथा जनहितकारी निर्णय लेने की अपेक्षा की जाती है। इस संदर्भ में साइमन का सीमित तर्कसंगतता एवं संतोषजनक निर्णय का सिद्धांत प्रशासनिक व्यवहार की वास्तविकताओं को समझने और प्रभावी शासन सुनिश्चित करने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है।

इस प्रकार हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत केवल एक सैद्धांतिक अवधारणा नहीं है, बल्कि आधुनिक प्रशासन, सार्वजनिक नीति, संगठनात्मक प्रबंधन तथा डिजिटल शासन के लिए एक व्यावहारिक मार्गदर्शक भी है। बदलते प्रशासनिक परिवेश में यह सिद्धांत वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व तथा सुशासन को सुदृढ़ करने में निरंतर महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

निर्णय-निर्माण सिद्धांत की आलोचनाएँ एवं समकालीन प्रासंगिकता

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत आधुनिक लोक प्रशासन और संगठनात्मक अध्ययन के सबसे प्रभावशाली सिद्धांतों में से एक माना जाता है। इस सिद्धांत ने प्रशासनिक निर्णयों को व्यवहारवादी एवं वैज्ञानिक आधार प्रदान किया तथा पारंपरिक प्रशासनिक सिद्धांतों की अनेक सीमाओं को स्पष्ट किया। इसके बावजूद यह सिद्धांत आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी कुछ वैचारिक तथा

व्यावहारिक सीमाओं की ओर संकेत किया है। फिर भी बदलते प्रशासनिक परिवेश, तकनीकी विकास तथा डिजिटल शासन के संदर्भ में इसकी उपयोगिता आज भी व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है। हर्बर्ट साइमन के सिद्धांत की सबसे प्रमुख आलोचना यह है कि यह निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को अत्यधिक तर्कसंगत एवं संगठन-केंद्रित मानता है। आलोचकों का मत है कि वास्तविक प्रशासनिक निर्णय केवल तथ्यों और तर्कों पर आधारित नहीं होते, बल्कि उन पर राजनीतिक दबाव, सामाजिक मूल्य, नैतिक मान्यताएँ, वैचारिक प्रतिबद्धताएँ तथा व्यक्तिगत हित भी प्रभाव डालते हैं। अनेक परिस्थितियों में निर्णयकर्ता राजनीतिक नेतृत्व, जनमत, मीडिया तथा दबाव समूहों के प्रभाव में निर्णय लेने के लिए बाध्य होते हैं, जिन्हें साइमन का मॉडल पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं करता।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण की भी कुछ सीमाएँ हैं। यद्यपि साइमन ने प्रशासन में मानवीय व्यवहार को महत्त्व दिया, किंतु उनका विश्लेषण मुख्यत: संगठन के आंतरिक निर्णयों तक सीमित माना जाता है। यह सिद्धांत भावनात्मक, सांस्कृतिक तथा नैतिक कारकों के प्रभाव का समुचित विश्लेषण नहीं करता। इसके अतिरिक्त, विभिन्न संगठनों की संरचना, नेतृत्व शैली तथा बाह्य राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण में अंतर होने के कारण एक ही निर्णय मॉडल को सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू करना संभव नहीं होता। इसलिए कई विद्वानों का मत है कि निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए सामाजिक, राजनीतिक और संस्थागत कारकों का भी समावेश आवश्यक है।

इन आलोचनाओं के बावजूद आधुनिक प्रशासन में हर्बर्ट साइमन के सिद्धांत की उपयोगिता अत्यंत महत्त्वपूर्ण बनी हुई है। वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था में योजनाओं का निर्माण, संसाधनों का आवंटन, वित्तीय प्रबंधन, संकट प्रबंधन, मानव संसाधन विकास तथा सार्वजनिक सेवाओं के वितरण जैसे सभी कार्य व्यवस्थित निर्णय-निर्माण पर आधारित हैं। साइमन का सीमित तर्कसंगतता सिद्धांत प्रशासकों को यह समझने में सहायता करता है कि निर्णय सदैव अपूर्ण जानकारी और सीमित संसाधनों के बीच लिए जाते हैं। इसलिए व्यावहारिक एवं परिस्थितिजन्य निर्णय ही प्रभावी प्रशासन का आधार होते हैं। यही कारण है कि आधुनिक लोक प्रशासन, प्रबंधन, सार्वजनिक नीति तथा संगठनात्मक व्यवहार के अध्ययन में साइमन का सिद्धांत आज भी केंद्रीय स्थान रखता है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), बिग डेटा (Big Data), मशीन लर्निंग (Machine Learning) तथा डिजिटल गवर्नेंस के वर्तमान युग में हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत और अधिक प्रासंगिक हो गया है। आधुनिक प्रशासन में डेटा-आधारित निर्णय (Data-Driven Decision Making) को प्राथमिकता दी जा रही है, जिससे नीति-निर्माण अधिक सटीक, पारदर्शी तथा उत्तरदायी बन रहा है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता विशाल मात्रा में उपलब्ध आँकड़ों का तीव्र विश्लेषण कर निर्णयकर्ताओं को विभिन्न विकल्पों और उनके संभावित परिणामों की जानकारी प्रदान करती है। हालांकि अंतिम निर्णय अभी भी मानव विवेक, नैतिक मूल्यों तथा सार्वजनिक हित को ध्यान में रखकर ही लिया जाता है। इसलिए डिजिटल तकनीक और मानवीय निर्णय क्षमता का संतुलित समन्वय सुशासन की अनिवार्य आवश्यकता बन गया है।

भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में भी डिजिटल इंडिया, ई-गवर्नेंस, नीति आयोग, प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (DBT), ऑनलाइन सेवा वितरण, स्मार्ट गवर्नेंस तथा साक्ष्य-आधारित नीति-निर्माण जैसी पहलें साइमन के निर्णय-निर्माण दृष्टिकोण की समकालीन प्रासंगिकता को स्पष्ट करती हैं। इन पहलों ने प्रशासनिक निर्णयों को अधिक पारदर्शी, त्वरित और नागरिक-केंद्रित बनाया है। अत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हर्बर्ट साइमन के निर्णय-निर्माण सिद्धांत की कुछ सीमाएँ हैं, फिर भी यह आधुनिक प्रशासन, लोक नीति, डिजिटल शासन तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग में प्रभावी, उत्तरदायी और वैज्ञानिक निर्णय-निर्माण के लिए एक अत्यंत प्रासंगिक एवं उपयोगी सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है।

निष्कर्ष

हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत आधुनिक लोक प्रशासन, प्रबंधन तथा संगठनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि माना जाता है। इस सिद्धांत ने पारंपरिक प्रशासनिक दृष्टिकोण में प्रचलित पूर्ण तर्कसंगतता की अवधारणा को चुनौती देते हुए यह स्थापित किया कि वास्तविक प्रशासनिक परिस्थितियों में निर्णय सीमित जानकारी, सीमित संसाधनों, समय के अभाव तथा मानवीय संज्ञानात्मक क्षमताओं के कारण प्रभावित होते हैं। इसी आधार पर साइमन द्वारा प्रतिपादित सीमित तर्कसंगतता (Bounded Rationality) तथा संतोषजनक निर्णय (Satisficing) की अवधारणाओं ने प्रशासनिक निर्णय-निर्माण को अधिक यथार्थवादी, वैज्ञानिक

और व्यवहारपरक आधार प्रदान किया। यह सिद्धांत स्पष्ट करता है कि प्रभावी प्रशासन केवल नियमों और प्रक्रियाओं का पालन करने तक सीमित नहीं है, बल्कि उचित परिस्थितियों में उपलब्ध विकल्पों का विवेकपूर्ण विश्लेषण कर सर्वोत्तम संभव निर्णय लेने की क्षमता पर निर्भर करता है। निर्णय-निर्माण की चरणबद्ध प्रक्रिया समस्या की पहचान, विकल्पों का निर्माण, उपयुक्त विकल्प का चयन, क्रियान्वयन तथा प्रतिपुष्टि आज भी प्रशासनिक दक्षता और संगठनात्मक सफलता का आधार मानी जाती है। यही कारण है कि लोक प्रशासन, सार्वजनिक नीति, व्यवसाय प्रबंधन, मानव संसाधन प्रबंधन तथा विकास प्रशासन जैसे क्षेत्रों में साइमन के सिद्धांत का व्यापक उपयोग किया जाता है।

समकालीन प्रशासनिक परिदृश्य में, जहाँ डिजिटल गवर्नेंस, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), बिग डेटा, डेटा विश्लेषण तथा साक्ष्य-आधारित नीति-निर्माण का महत्व निरंतर बढ़ रहा है, वहाँ हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत और अधिक प्रासंगिक हो गया है। आधुनिक तकनीक निर्णय प्रक्रिया को अधिक त्वरित, सटीक और पारदर्शी बनाने में सहायक है, किंतु मानवीय विवेक, नैतिक मूल्यों, संवेदनशीलता तथा जनहित का स्थान आज भी सर्वोपरि है। इसलिए तकनीकी साधनों और मानवीय निर्णय क्षमता के मध्य संतुलन स्थापित करना प्रभावी प्रशासन की अनिवार्य शर्त है।

यद्यपि इस सिद्धांत की कुछ सीमाएँ हैं, जैसे राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक कारकों का सीमित विश्लेषण, फिर भी इसकी मूल अवधारणाएँ आज भी प्रशासनिक व्यवहार को समझने का सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हर्बर्ट साइमन का निर्णय-निर्माण सिद्धांत केवल लोक प्रशासन का ही नहीं, बल्कि समग्र शासन एवं प्रबंधन विज्ञान का एक आधारभूत सिद्धांत है, जिसने प्रशासनिक अध्ययन को वैज्ञानिक, व्यवहारपरक और परिणामोन्मुख दृष्टिकोण प्रदान किया है। बदलते वैश्विक एवं डिजिटल युग में भी यह सिद्धांत प्रभावी निर्णय-निर्माण, सुशासन, पारदर्शिता तथा उत्तरदायी प्रशासन के लिए समान रूप से प्रासंगिक और मार्गदर्शक बना हुआ है।

शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : jyoti270399@gmail.com

सन्दर्भ

- ★ अवस्थी, ए., एवं महेश्वरी, एस. आर. (2019). लोक प्रशासन (48वाँ संस्करण). आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
- ★ अरोड़ा, रमेश के., एवं गोयल, राजेन्द्र (2017). भारतीय लोक प्रशासन : संस्थाएँ एवं मुद्दे. नई दिल्ली : विशल पब्लिकेशन।
- ★ ऐप्पलबी, पॉल एच. (1953). पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया: रिपोर्ट ऑफ ए सर्वे. नई दिल्ली: भारत सरकार प्रेस।
- ★ ड्रकर, पीटर एफ. (1954). द प्रैक्टिस ऑफ मैनेजमेंट. न्यूयॉर्क : हार्पर एंड ब्रदर्स।
- ★ गुलिक, लूथर, एवं उर्विक, एल. (सम्पा.). (1937). पेपर्स ऑन द साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन. न्यूयॉर्क : इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन।
- ★ मार्च, जेम्स जी., एवं साइमन, हर्बर्ट ए. (1958). ऑर्गनाइजेशन्स. न्यूयॉर्क : जॉन वाइली एंड सन्स।
- ★ महेश्वरी, एस. आर. (2021). भारतीय प्रशासन (10वाँ संस्करण). नई दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान।
- ★ मोहित भट्टाचार्य. (2020). लोक प्रशासन : संरचना, प्रक्रिया एवं व्यवहार (नई दिल्ली: जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स)।
- ★ निग्रो, फेलिक्स ए., एवं निग्रो, लॉयड जी. (1989). मॉडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन. न्यूयॉर्क : हार्पर कॉलिन्स।
- ★ प्रसाद, रविन्द्र डी., प्रसाद, वी. एस., एवं सत्यनारायण, पी. (2010). प्रशासनिक चिंतक. नई दिल्ली : स्टर्लिंग पब्लिशर्स।
- ★ रॉबिंस, स्टीफन पी., एवं कुल्टर, मैरी. (2018). मैनेजमेंट (14वाँ संस्करण). बोस्टन : पियरसन।
- ★ साइमन, हर्बर्ट ए. (1947). एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर : ए स्टडी ऑफ डिसीजन-मेकिंग प्रोसेसेज इन एडमिनिस्ट्रेटिव ऑर्गनाइजेशन्स. न्यूयॉर्क : मैकमिलन।
- ★ साइमन, हर्बर्ट ए. (1957). मॉडल्स ऑफ मैन : सोशल एंड रैशनल. न्यूयॉर्क : जॉन वाइली एंड सन्स।
- ★ साइमन, हर्बर्ट ए. (1960). द न्यू साइंस ऑफ मैनेजमेंट डिसीजन. न्यूयॉर्क : हार्पर एंड रो।
- ★ साइमन, हर्बर्ट ए. (1969). द साइंसेज ऑफ द आर्टिफिशियल. कैम्ब्रिज, एमए : एमआईटी प्रेस।
- ★ वाल्डो, ड्वाइट. (1948). द एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट. न्यूयॉर्क : रोनाल्ड प्रेस।
- ★ व्हाइट, लियोनार्ड डी. (1926). इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन. न्यूयॉर्क : मैकमिलन।

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध

डॉ. ज्योति सिंह

बीज शब्द

स्त्री प्रतिरोध, समकालीन हिंदी कहानी, पितृसत्ता, अस्मिता, सामाजिक चेतना, शोषित वर्ग, स्त्री अस्मिता, नारी विमर्श, हिंदी कहानी।

शोध सार

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में नासिरा शर्मा का नाम उन रचनाकारों में अग्रणी है जिन्होंने समाज के हाशिए पर खड़े समुदायों, विशेषकर महिलाओं और अल्पसंख्यकों की आवाज को मुखरता दी है। उनकी कहानियों में स्त्री केवल एक मूक दर्शक या पीड़ित इकाई नहीं है, बल्कि वह अपनी नियति को बदलने के लिए निरंतर संघर्षरत है। नासिरा शर्मा की कहानियों में 'स्त्री प्रतिरोध' पारंपरिक बेड़ियों को तोड़ने, पितृसत्तात्मक संरचनाओं को चुनौती देने और अपनी स्वतंत्र अस्मिता (Identity) स्थापित करने का एक सशक्त वैचारिक उपकरण बनकर उभरता है। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में नासिरा शर्मा का विशिष्ट स्थान है। उनकी कहानियाँ केवल स्त्री-जीवन की पीड़ा का चित्रण नहीं करतीं, बल्कि स्त्री के आत्मसम्मान, आत्मनिर्णय और प्रतिरोध की चेतना को भी सशक्त रूप से अभिव्यक्त करती हैं। उनकी कथा-दृष्टि भारतीय सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक विविधता तथा विशेष रूप से मुस्लिम समाज की स्त्रियों के जीवन-संघर्ष को मानवीय संवेदना के साथ प्रस्तुत करती है। उनकी कहानियों में स्त्री प्रतिरोध किसी उग्र विद्रोह के रूप में नहीं, बल्कि आत्मचेतना, स्वाभिमान और अस्तित्व की रक्षा के नैतिक संकल्प के रूप में सामने आता है। नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री पात्र पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं और पितृसत्तात्मक मान्यताओं से जूझते हुए दिखाई देते हैं। वे अन्याय, शोषण, लैंगिक भेदभाव और सामाजिक रूढ़ियों को मौन रूप से स्वीकार नहीं करतीं, बल्कि अपनी परिस्थितियों के भीतर रहते हुए भी प्रतिरोध का मार्ग चुनती हैं। यह प्रतिरोध कभी आत्मनिर्भरता के रूप में, कभी शिक्षा के माध्यम से, तो कभी आत्मसम्मान की रक्षा हेतु लिए गए निर्णयों में अभिव्यक्त होता है।

लेखिका की कहानियों का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे स्त्री को केवल पीड़िता के रूप में चित्रित नहीं करतीं, बल्कि उसे विचारशील, निर्णयक्षम और परिवर्तनकारी व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। उनके स्त्री पात्र परिवार और समाज दोनों के भीतर अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह प्रतिरोध पुरुष-विरोध नहीं, बल्कि अन्याय और असमानता के विरोध का स्वर है।समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में नासिरा शर्मा का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने भारतीय समाज, विशेषतः मुस्लिम समाज, मध्यवर्गीय जीवन तथा स्त्री-अस्तित्व के विविध आयामों को अत्यंत संवेदनशीलता एवं यथार्थपरक दृष्टि से चित्रित किया है। उनकी कहानियाँ स्त्री के केवल शोषण और पीड़ा का आख्यान नहीं हैं, बल्कि उनमें स्त्री की आत्मचेतना, आत्मसम्मान, स्वाधीनता तथा प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति भी दिखाई देती है। नासिरा शर्मा का स्त्री-विमर्श पश्चिमी उग्र नारीवाद से भिन्न भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में विकसित होता है। उनके कथा-साहित्य में स्त्री अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती है, परंतु परिवार, समाज और मानवीय मूल्यों को भी समान रूप से महत्त्व देती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में उनकी प्रमुख कहानियों के आधार पर स्त्री प्रतिरोध के विविध रूपों का विश्लेषण किया गया है।

नासिरा शर्मा का कथा-साहित्य वर्ग, धर्म, संस्कृति और लिंग इन सभी आयामों को समग्रता में देखता है। उनकी कहानियों में मुस्लिम समाज की स्त्रियों की समस्याएँ विशेष रूप से उभरती हैं, किंतु उनका संघर्ष सार्वभौमिक स्त्री-अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है। लेखिका स्त्री की स्वतंत्रता को सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ते हुए संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि उनका स्त्री-विमर्श भारतीय सामाजिक यथार्थ से गहराई से जुड़ा हुआ दिखाई देता है।

'संगसार' जैसी कहानी में प्रतिरोध का रूप अत्यंत तीव्र है, जहाँ वे धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाओं के नाम पर स्त्रियों के दमन का पर्दाफाश करती हैं। उनका प्रतिरोध केवल चिल्लाने या विलाप करने तक सीमित नहीं है; यह एक शांत, दृढ़ और वैचारिक प्रतिरोध है जो शोषक व्यवस्था की जड़ों को हिला देता है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में स्त्री-विमर्श ने साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। स्त्री अब केवल करुणा और त्याग की प्रतीक नहीं रही, बल्कि अपने अस्तित्व, अधिकार और अस्मिता के लिए संघर्ष करने वाली सजग व्यक्तित्व के रूप में सामने आई है। इस परिवर्तनशील साहित्यिक परिदृश्य में नासिरा शर्मा का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने स्त्री को सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक बंधनों के भीतर रहते हुए भी अपनी पहचान बनाने वाली सशक्त मानवीय सत्ता के रूप में चित्रित किया है।

उनकी कहानियाँ यह स्थापित करती हैं कि स्त्री का प्रतिरोध केवल विद्रोह नहीं, बल्कि अन्याय के विरुद्ध मानवीय गरिमा की रक्षा का संघर्ष है। उनकी दृष्टि स्त्री को पुरुष के विरोध में खड़ा नहीं करती, बल्कि अन्यायपूर्ण सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध खड़ा करती है। यही उनकी रचनात्मक दृष्टि को विशिष्ट बनाती है।

आर्थिक स्वावलंबन और अस्मिता की खोज

शर्मा जी का मानना है कि स्त्री का वास्तविक प्रतिरोध तब तक अधूरा है जब तक वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं होती। उनकी कहानियों में मध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय स्त्रियाँ शिक्षा और श्रम के माध्यम से अपनी पहचान बनाती हैं। वे केवल पुरुषों के रहमोकरम पर जीने वाली 'आश्रित' नहीं हैं। यह आर्थिक आत्मनिर्भरता उन्हें पुरुषों के वर्चस्व को नकारने और अपनी शर्तों पर जीवन जीने का साहस देती है। उनकी कहानियों की नायिकाएं अपनी देह से आगे बढ़कर अपने मस्तिष्क, अपनी बौद्धिकता और अपनी रचनात्मकता के बल पर समाज में स्पेस (Space) मांगती हैं।

बहुआयामी प्रतिरोध : मुस्लिम समाज और वर्ग चेतना

नासिरा शर्मा के लेखन का एक विशिष्ट आयाम मुस्लिम समाज की स्त्रियों का चित्रण है। वे उन बंद दरवाजों और पर्दों के पीछे की दुनिया को सामने लाती हैं जहाँ स्त्रियाँ तिहरे दमन (पितृसत्ता, वर्ग और धार्मिक रूढ़िवादिता) से जूझ रही हैं। इन कहानियों में स्त्री प्रतिरोध केवल पुरुषों के विरोध तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह उस पूरी व्यवस्था के खिलाफ जाता है जो उसे शिक्षा और मौलिक अधिकारों से वंचित रखती है। उनकी कहानियों में एक अनूठा 'वर्ग-सरोकार' भी है, जहाँ गरीब और श्रमिक वर्ग की स्त्रियाँ अपने अस्तित्व की लड़ाई अधिक आक्रामकता के साथ लड़ती हैं।

प्रस्तुत शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। अध्ययन हेतु नासिरा शर्मा के प्रमुख कहानी-संग्रहों तथा उनके साहित्य पर उपलब्ध आलोचनात्मक एवं शोधपरक सामग्री का उपयोग किया गया है।

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध अनेक स्तरों पर अभिव्यक्त होता है। यह प्रतिरोध केवल बाह्य संघर्ष नहीं, बल्कि मानसिक, वैचारिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक प्रतिरोध भी है। उनकी स्त्रियाँ परिस्थितियों के आगे आत्मसमर्पण नहीं करतीं, बल्कि अपनी चेतना और विवेक के आधार पर जीवन के निर्णय स्वयं लेने का साहस रखती हैं।

1. आत्मसम्मान का प्रतिरोध

उनकी कहानियों की स्त्रियाँ आत्मसम्मान को जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानती हैं। वे अपमान, उपेक्षा तथा अन्याय को नियति मानकर स्वीकार नहीं करतीं। आत्मसम्मान की रक्षा ही उनके प्रतिरोध का मूल आधार बनती है।

2. पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष

भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित करती रही है। नासिरा शर्मा इस व्यवस्था की विसंगतियों को अत्यंत सूक्ष्मता से उद्घाटित करती हैं। उनकी स्त्रियाँ विवाह, पारिवारिक निर्णय, शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता जैसे प्रश्नों पर अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करने का प्रयास करती हैं। नासिरा शर्मा की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्त्री को परंपरा के नाम पर थोपे गए रूढ़िवादी ढांचों के खिलाफ खड़ा करती हैं। उनके कथा-संसार (जैसे 'शामी कागज', 'संगसार' और 'इब्ने

मरियम') में स्त्रियाँ घरेलू हिंसा, सामाजिक बहिष्कार और धार्मिक कट्टरता के सामने घुटने नहीं टेकतीं।

3. शिक्षा और आत्मनिर्भरता

लेखिका के अनुसार शिक्षा स्त्री मुक्ति का सबसे प्रभावी माध्यम है। शिक्षित स्त्री केवल आर्थिक रूप से नहीं, बल्कि मानसिक रूप से भी स्वतंत्र होती है। उनकी अनेक कहानियों में शिक्षा स्त्री प्रतिरोध का सशक्त उपकरण बनकर सामने आती है।

4. मौन प्रतिरोध की शक्ति

नासिरा शर्मा की स्त्रियाँ हमेशा उग्र विद्रोह नहीं करतीं। अनेक बार उनका मौन, उनका निर्णय और उनका आत्म-विश्वास ही सबसे प्रभावशाली प्रतिरोध सिद्ध होता है। यह मौन अन्याय की स्वीकृति नहीं, बल्कि आत्मबल का परिचायक है।

5. मुस्लिम समाज की स्त्री का संघर्ष

नासिरा शर्मा ने मुस्लिम समाज की स्त्रियों की समस्याओं को अत्यंत प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। पर्दा-प्रथा, रूढ़िवादिता, धार्मिक कट्टरता तथा सामाजिक असमानताओं के बीच उनकी स्त्रियाँ अपनी पहचान बनाने का संघर्ष करती हैं। यह संघर्ष किसी धर्म के विरुद्ध नहीं, बल्कि रूढ़ मानसिकता के विरुद्ध है।

स्त्री प्रतिरोध की विशेषताएँ

नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं

- प्रतिरोध में संतुलन एवं विवेक।
- परिवार और समाज के प्रति उत्तरदायित्व।
- आत्मसम्मान और स्वाभिमान की रक्षा।
- शिक्षा एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता पर बल।
- सामाजिक परिवर्तन की सकारात्मक चेतना।
- मानवीय संवेदना का संरक्षण।

उनकी स्त्री न तो परम्परा का अंधानुकरण करती है और न आधुनिकता का अंधानुकरण। वह दोनों के मध्य संतुलित जीवन-दृष्टि का निर्माण करती है।

नासिरा शर्मा का स्त्री-विमर्श

नासिरा शर्मा का स्त्री-विमर्श भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में विकसित हुआ है। वे पश्चिमी नारीवाद की उग्र अवधारणाओं के स्थान पर भारतीय समाज की वास्तविक परिस्थितियों के अनुरूप स्त्री की स्वतंत्रता और सम्मान की बात करती हैं। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष समाज के पूरक हैं; संघर्ष व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, बल्कि अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध होना चाहिए। यही कारण है कि उनका साहित्य स्त्री-अधिकारों की वकालत करते हुए भी सामाजिक समरसता का पक्षधर दिखाई देता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में, नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री प्रतिरोध कोई कृत्रिम या आयातित विमर्श नहीं है, बल्कि यह मिट्टी से जुड़ा और यथार्थवादी संघर्ष है। वे स्त्री को 'बेचारी' के रूप में चित्रित करने के बजाय उसे 'लड़ाकू' और 'चेतन' रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनका साहित्य यह संदेश देता है कि स्त्री का प्रतिरोध तब तक जारी रहेगा जब तक समाज उसे एक स्वतंत्र और गरिमापूर्ण इंसान के रूप में स्वीकार नहीं कर लेता। यह शोध पत्र नासिरा शर्मा के कथा-साहित्य को समकालीन नारीवादी विमर्श के केंद्र में स्थापित करता है। नासिरा शर्मा की कहानियाँ स्त्री प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति हैं। उनकी रचनाओं में प्रतिरोध केवल विद्रोह नहीं, बल्कि आत्मसम्मान, मानवीय गरिमा और सामाजिक न्याय की स्थापना का माध्यम है। उनके स्त्री पात्र अपने संघर्ष के माध्यम से यह सिद्ध करते हैं कि परिवर्तन की शुरुआत व्यक्ति की चेतना से होती है। इस प्रकार नासिरा शर्मा का कथा-साहित्य हिंदी के स्त्री-विमर्श को व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय आधार प्रदान करता है तथा समकालीन हिंदी कहानी को नई वैचारिक दिशा देता है। नासिरा शर्मा की कहानियाँ स्त्री प्रतिरोध की एक सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने स्त्री को केवल करुणा या शोषण की प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि संघर्षशील, स्वाभिमानी, विवेकशील और परिवर्तनकारी व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियों का प्रतिरोध हिंसा या उग्रता पर आधारित नहीं है, बल्कि आत्मसम्मान, आत्मनिर्णय, शिक्षा, नैतिक साहस तथा मानवीय संवेदना पर आधारित है। इस दृष्टि से उनका कथा-साहित्य समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श को नई वैचारिक ऊँचाई प्रदान करता है। नासिरा शर्मा की कहानियाँ आज भी समाज में समानता, न्याय और मानवीय गरिमा की स्थापना के लिए प्रेरणास्रोत हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
नाथ चन्द्रावत महाविद्यालय,
जगदीशपुर गोरखपुर (उ.प्र.)
Email : rajputsinghjyotiparmar@gmail.com

सन्दर्भ

1. शर्मा, नासिरा. (1997). शामी कागज. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. शर्मा, नासिरा. (2002). संगसार. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. सिंह, नामवर. (2010). सेंचुरी की हिंदी कहानी. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. कुमार, राम. (2015). समकालीन हिंदी कहानी में स्त्री विमर्श और नासिरा शर्मा. भारतीय साहित्य पत्रिका, अंक-4, पृष्ठ 85-92।
5. शर्मा, नासिरा. पत्थर गली. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
6. शर्मा, नासिरा. संगसार. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
7. यादव, ममता. ''नासिरा शर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त : स्त्री दृष्टि.'' Shodhshauryam (2020).
8. जीतबाला. ''नासिरा शर्मा और कृष्णा सोबती की कहानियों में नारी विमर्श : तुलनात्मक अध्ययन.'' अंतर्राष्ट्रीय हिंदी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका (2025).
9. शर्मा, नासिरा। पत्थर गली। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
10. शर्मा, नासिरा। संगसार। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
11. शर्मा, नासिरा। खुदा की वापसी। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
12. शर्मा, नासिरा। इब्ने मरियम। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
13. यादव, ममता। ''नासिरा शर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त : स्त्री दृष्टि।'' Shodhshauryam International Research Journal.
14. ''नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री विमर्श : लैंगिक असमानता और सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से एक आलोचनात्मक समीक्षा।'' Research Gate.
15. जीतबाला। ''नासिरा शर्मा और कृष्णा सोबती की कहानियों में नारी विमर्श : तुलनात्मक अध्ययन।'' अंतर्राष्ट्रीय हिंदी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका।

हड़प्पा सभ्यता की निरंतरता और आर्य आक्रमण पर समकालीन दृष्टिकोण

डॉ. विक्रम सिंह चौधरी

सार

आर्य आक्रमण सिद्धांत (Aryan Invasion Theory - AIT), जिसके अनुसार इंडो-यूरोपीय भाषा बोलने वाले आर्य भारत में बाहर से आए एवं उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप को गहराई से प्रभावित किया और भारतीय इतिहास में एक लंबे समय से विवादित विषय रहा है। समय के साथ इस सिद्धांत की भारतीय और विदेशी इतिहासकारों द्वारा व्यापक आलोचना की गई है, जिसके परिणामस्वरूप आर्यों की उत्पत्ति और हड़प्पा सभ्यता की निरंतरता को लेकर एक नई समझ विकसित हुई है। यह नई समझ पुरातात्विक, आनुवंशिक और सांस्कृतिक अध्ययनों पर आधारित है। यह आलेख आर्य आक्रमण सिद्धांत से जुड़े प्रमुख तर्कों और साक्ष्यों की समीक्षा करता है तथा हड़प्पा सभ्यता के स्वदेशी विकास एवं निरंतरता पर आधारित एक संशोधित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

हड़प्पा सभ्यता, आर्य आक्रमण सिद्धांत, आर्य प्रवासन, स्वदेशी आर्य, राखीगढ़ी, वैदिक संस्कृति, पुरातत्वय आनुवंशिक निरंतरता, सरस्वती सभ्यता, बी.बी. लाल, वी. शिंदे।

आर्य आक्रमण सिद्धांत मुख्यत: भाषाई और सांस्कृतिक साक्ष्यों पर आधारित था। हालांकि आरम्भिक दौर में आर्य आक्रमण ही माना गया परन्तु बाद में इतिहासकारों ने आर्य प्रवासन माना। जैसे कि आर.सी. मजूमदार[1] ने आर्य आक्रमण को अस्वीकार कर क्रमिक प्रवासन माना और उन्होंने स्थानीय समुदायों के साथ सांस्कृतिक समन्वय स्थापित किया। आर्य आक्रमण सिद्धांत के समर्थकों में सर विलियम जोन्स, डेविड एंथनी, पी. गाइल्स और मैक्स मूलर जैसे विद्वान शामिल थे, जिन्होंने यह तर्क दिया कि आर्यों की उत्पत्ति यूरोप या मध्य एशिया में हुई और वे वहीं से भारत आए।

जोन्स[2] और एंथनी[3] ने भाषाई समानताओं के आधार पर आर्यों का मूल निवास यूरोप माना, जबकि मैक्समूलर[4] ने ऋग्वेद और जेन्द अवेस्ता के बीच समानताओं को आधार बनाकर यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि आर्य मध्य एशिया से भारत सहित विभिन्न क्षेत्रों में प्रवास कर गए।

लंबे समय तक यह माना गया कि ये इंडो-यूरोपीय भाषी आर्य भारत आए, यहाँ के मूल निवासियों को विस्थापित किया और भारतीय समाज को नया रूप दिया। किंतु बाद में अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत पर प्रश्न उठाए और तर्क दिया कि आर्य न ही आक्रमणकारी थे और न ही बाहर से आये बल्कि भारत के ही मूल निवासी थे। ए. सी. दास, गंगानाथ झा, सम्पूर्णानन्द जैसे विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया कि आर्यों की उत्पत्ति भारत में हुई और वे बाद में विश्व के अन्य भागों में फैले।

यह विचार कि आर्य भारतीय उपमहाद्वीप के ही मूल निवासी थे, भाषाई और सांस्कृतिक साक्ष्यों से भी समर्थित है। सम्पूर्णानन्द, गंगानाथ झा और आर. सी. मजूमदार जैसे विद्वानों ने इस ओर संकेत किया है कि वेदों में वर्णित ''सप्त-सिन्धु'' (सात नदियाँ) का क्षेत्र उत्तर-पश्चिम भारतीय उपमहाद्वीप से मेल खाता है।

सप्त-सिन्धु क्षेत्र

सम्पूर्णानन्द[5] के अनुसार आर्यों का मूल निवास सप्त-सिन्धु क्षेत्र था, जहाँ सिंधु, झेलम, रावी, ब्यास, सतलुज और सरस्वती जैसी नदियाँ बहती थीं। ये सभी नदियाँ वर्तमान भारत और पाकिस्तान के क्षेत्र में स्थित हैं।

पंचनद और वैदिक संदर्भ

गंगानाथ झा[6] ने वेदों में वर्णित पंचनद क्षेत्र (वर्तमान

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

पंजाब) की ओर संकेत किया, जिसे ऋग्वैदिक आर्यों का पवित्र क्षेत्र माना गया है। यहाँ वे अपने धार्मिक अनुष्ठान संपन्न करते थे, जो इस विचार को और सुदृढ़ करता है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे।

हाल के आनुवंशिक, पुरातात्विक और सांस्कृतिक अध्ययनों ने आर्य आक्रमण सिद्धांत को गंभीर चुनौती दी है। विशेष रूप से मिशेल डैनिनो, बी. बी. लाल, के. एन. दीक्षित, एस. पी. गुप्ता, आर. एस. बिष्ट, नीरज राय, डेविड राइख और प्रो. वसंत शिंदे जैसे विद्वानों ने ऐसे साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं जो आर्य आक्रमण की धारणा को कमजोर करते हैं और हड़प्पा सभ्यता के स्वदेशी विकास का समर्थन करते हैं।

आनुवंशिक साक्ष्य

वसंत शिंदे[7] द्वारा हरियाणा के राखीगढ़ी स्थल की खुदाई से प्राप्त 61 हड़प्पाई कंकाल अवशेषों पर किया गया महत्वपूर्ण आनुवंशिक अध्ययन आर्य आक्रमण सिद्धांत के विरुद्ध ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन उन्होंने कई निम्न निष्कर्ष निकाले रू

1. हड़प्पावासियों में स्टेपी पशुपालक समुदायों से कोई आनुवंशिक संबंध नहीं मिला, जिन्हें प्रायः आर्यों के भारत आगमन से जोड़ा जाता है।

2. हड़प्पावासियों की आनुवंशिक संरचना स्पष्ट रूप से दक्षिण एशियाई थी। साथ ही, हड़प्पावासियों और आधुनिक भारतीय जनसंख्या के बीच उल्लेखनीय आनुवंशिक निरंतरता पाई गई, जिससे संकेत मिलता है कि भारतीय उपमहाद्वीप की जनसंख्या हजारों वर्षों से काफी हद तक स्थिर रही है। अतः इन तर्कों के आधार पर शिंदे का मानना है कि आर्य लोग स्वदेशी ही थे।

पुरातात्विक साक्ष्य

मिशेल डैनिनो[8] और अन्य विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि आर्य आक्रमण सिद्धांत के समर्थन में कोई ठोस पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। हड़प्पा सभ्यता, जो उन्नत नगर नियोजन, लेखन प्रणाली और तकनीकी विकास के लिए प्रसिद्ध थी, उसमें किसी व्यापक विनाश या सांस्कृतिक उथल-पुथल के प्रमाण नहीं मिलते, जो किसी बड़े आक्रमण की स्थिति में अपेक्षित होते हों। उनका कहना है कि हड़प्पा सभ्यता में सांस्कृतिक निरंतरता देखने को मिलती है। हड़प्पा स्थलों से प्राप्त अवशेषों और प्रतीकों में बाद की दक्षिण एशियाई परंपराओं के साथ स्पष्ट निरंतरता दिखाई देती है। इससे संकेत मिलता है कि हड़प्पा संस्कृति समाप्त नहीं हुई, बल्कि स्थानीय रूप से विकसित हुई।

बी. बी. लाल[9] ने आर्य आक्रमण सिद्धांत का गंभीर पुनर्मूल्यांकन करते हुए स्वदेशी निरंतरता के पक्ष में महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत किया। लाल औपनिवेशिक इतिहासलेखन द्वारा प्रस्तुत "आर्य आक्रमण" की अवधारणा को अस्वीकार करते हैं और वैदिक संस्कृति के स्वदेशी विकास पर बल देते हैं। लाल ने सिंधु सभ्यता की भौतिक संस्कृति और ऋग्वेद के बीच विशेषकर धार्मिक अनुष्ठानों, अग्नि-वेदी और यज्ञ परंपराओं में समानताएँ खोजीं।

साथ ही लाल[10] ने वैदिक साहित्य में वर्णित सरस्वती नदी को सूखी नदी-धाराओं के पुरातात्विक प्रमाणों से जोड़ा, जिससे हड़प्पा स्थलों और वैदिक संसार के बीच संबंध स्थापित होता है। लाल ने मैक्स मूलर और अन्य विद्वानों की आलोचना करते हुए कहा कि उन्होंने आर्य आक्रमण सिद्धांत को ठोस पुरातात्विक प्रमाणों के बजाय केवल भाषाई आधार पर स्थापित किया।

अस्थि एवं जनसांख्यिकीय साक्ष्य

हड़प्पा स्थलों से प्राप्त कंकाल अवशेषों के अध्ययन में किसी नए बाहरी समूह के अचानक आगमन या शारीरिक संरचना में बड़े परिवर्तन के संकेत नहीं मिले। इससे स्पष्ट होता है कि हड़प्पावासी इस क्षेत्र के मूल निवासी थे और उनकी जनसांख्यिकीय संरचना में कोई बड़ा बाहरी परिवर्तन नहीं हुआ। यह तथ्य भी आर्य आक्रमण सिद्धांत को अस्वीकार करता है।

सांस्कृतिक और भाषाई निरंतरता

प्रो. शिंदे के अनुसार हड़प्पा सभ्यता का प्रभाव बाद के दक्षिण एशियाई समाजों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह धार्मिक परंपराओं, अनुष्ठानों और सामाजिक संरचनाओं में निरंतरता के रूप में परिलक्षित होता है। उदाहरणस्वरूप, हड़प्पाई अग्नि-वेदी और वैदिक यज्ञ-वेदी के बीच समानता देखी जा सकती है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि हड़प्पा लिपि ने आगे चलकर संस्कृत के विकास को प्रभावित किया, जिसने बाद में वैदिक परंपराओं में केंद्रीय भूमिका निभाई।

आर्य आक्रमण सिद्धांत (AIT) लंबे समय तक भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण लेकिन विवादास्पद विषय बना रहा। इसका आधार मुख्यतः 19वीं शताब्दी की औपनिवेशिक धारणाएँ थीं। किंतु आज पुरातात्विक, आनुवंशिक और भाषाई

साक्ष्यों का बढ़ता हुआ भंडार इस सिद्धांत की मूल अवधारणा को चुनौती देता है। राखीगढ़ी जैसे स्थलों की खुदाइयाँ सिंधु सभ्यता और बाद की वैदिक परंपराओं के बीच एक सतत सांस्कृतिक निरंतरता का संकेत देती हैं। आनुवंशिक अध्ययन भी इस विचार को खारिज करते हैं कि किसी बड़े बाहरी प्रवास ने भारतीय उपमहाद्वीप की मूल जनसंख्या को विस्थापित किया।

भाषाई अनुसंधान भी यह इंगित करता है कि संस्कृत और अन्य इंडो-आर्य भाषाओं का विकास भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर ही हुआ। यह निष्कर्ष धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक परंपराओं में दिखाई देने वाली निरंतरता से भी मेल खाता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास को औपनिवेशिक और विभाजनकारी दृष्टिकोण से देखने के बजाय अब समय आ गया है कि भारतीय सभ्यता की जटिलता, निरंतरता और स्वदेशी जड़ों को स्वीकार किया जाए। आर्य आक्रमण सिद्धांत को त्यागकर हम अपने पूर्वजों की सृजनशीलता, वैज्ञानिकता और सांस्कृतिक निरंतरता का सम्मान करते हैं।

अब समय आ गया है कि भारतीय उपमहाद्वीप को एक ऐसी सभ्यता के रूप में देखा जाए, जिसने निरंतर नवाचार किया, जिसने स्वयं को अपने ही सामाजिक-सांस्कृतिक विकास से गढ़ा, और जिसकी महान उपलब्धियों को समझाने के लिए किसी बाहरी आक्रमण की आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टिकोण न केवल ऐतिहासिक त्रुटियों को सुधारता है, बल्कि भारतीय सभ्यता की समृद्ध, सतत और अखंड विरासत से हमारे संबंध को और अधिक सशक्त बनाता है।

सह-प्राध्यापक
इतिहास विभाग
किरोड़ीमल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. Mazumdar, R.C. (1951). The History and Culture of Indian People, Vol. 1: The Vedic Age. Bharatiya Vidya Bhawan, Mumbai.
2. Jones, Sir William (1788), "The Third Anniversary Discourse ", Delivered before the Asiatic Society on 2February 1786, Volume :1, Published in Asiatic Researches, Calcutta, p.422
3. Anthony, D.W. (2007). The Horse, The Wheel and Language: How Bronze Riders from The Eurasian Steppes Shaped the Modern World, Princeton University Press, New Jersey (USA), pp. 408-456.
4. Muller, F. M. (1861), Lectures on the Science of Language, 1st Series, London, pp. 211-216.
5. Sampoornanand (1944), The Individual and The State (A Study of Political Theory), Kitab Mahal, Allahabad, p. 142.
6. Jha, Ganganath (1940),"Aryan Invasion of India —Is it a Myth?", In D. R. Bhandarkar Volume, Indian Research Institute, Calcutta, pp. 1-2
7. Shinde, V., Vagheesh M. Narasimhan, Nadin Rohland, Nick Patterson, Niraj Rai, and David Reich et al. (2019). An Ancient Harappan Genome Lacks Ancestry from Steppe Pastoralists or Iranian Farmers. Cell, 179(3), Cell Press.
8. Danino, M. (2018). The Myth of the Aryan Invasion of India. Journal of Indian Council of Historical Research, 45(1), New Delhi, pp. 1-22.
9. Lal, B. B. (2015), The Rigvedic People: Invaders? Immigrants or Indigenous, Aryan Books International, New Delhi.
10. Lal, B. B. (2015), The Indus Valley Civilization and The Aryan Invasion Theory, Journal of The Indian History and Culture Society, 22, New Delhi, pp. 1-18
11. Bryant, E. (2017). Rethinking the Aryan Invasion Theory. Journal of the American Oriental Society, 137(2), American Oriental Society (United States), pp.257-274.
12. Das, A.C. (1921). Rig Vedic India. Calcutta: University of Calcutta.

शोध-पत्र

प्रेमचंद के बाल-साहित्य में कौतूहल और सामाजिक यथार्थ का द्वंद्वात्मक अध्ययन

विजय शंकर गुप्ता

प्रस्तावना

किसी भी प्रगतिशील समाज के निर्माण में बाल-साहित्य की भूमिका नींव की ईंट के समान होती है। हिंदी बाल-साहित्य की परंपरा में मुंशी प्रेमचंद का योगदान इसलिए विशिष्ट है कि उन्होंने बालकों को न तो अलौकिक शक्तियों से संपन्न आदर्श पात्र के रूप में प्रस्तुत किया और न ही उन्हें केवल मनोरंजन का माध्यम बनाया। इसके विपरीत, उन्होंने बच्चों के स्वाभाविक मनोविज्ञान, उनके चरित्र-निर्माण, कौतूहल, जिज्ञासा तथा सामाजिक यथार्थ के बीच विद्यमान अंतर्संबंधों को अत्यंत संवेदनशीलता और यथार्थपरक दृष्टि से चित्रित किया।

मुंशी प्रेमचंद की बाल-कहानियों के आधार पर यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि उनके बाल-पात्र जैसे 'शेर और लड़का' बनमानुष की दर्दनाक कहानी अथवा 'गुब्बारे पर चीता' का बलदेव केवल आदर्शवादी या काल्पनिक चरित्र नहीं हैं, बल्कि वे जिद, साहस, भय, जिज्ञासा, संवेदनशीलता और आत्मविश्वास जैसे स्वाभाविक मानवीय गुणों से संपन्न हैं। प्रेमचंद बच्चों को जीवन की वास्तविकताओं और सामाजिक विषमताओं से दूर रखने के पक्षधर नहीं हैं; बल्कि वे अपनी कहानियों के माध्यम से उन्हें समाज का वास्तविक चेहरा दिखाते हुए जीवन के संघर्षों के लिए तैयार करते हैं। उनके बाल-साहित्य में दो प्रमुख धाराएँ समानांतर रूप से विकसित होती हैं एक ओर बालकों का असीम कौतूहल, जिज्ञासा और साहस, तो दूसरी ओर जीवन का कठोर सामाजिक यथार्थ। चाहे रात के सन्नाटे में खोई हुई गाय को खोजने का साहसिक दायित्व हो अथवा सर्कस के आकर्षण में विद्यालय की मनाही को तोड़ने की बाल-सुलभ जिद, प्रेमचंद इन प्रवृत्तियों का अत्यंत स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हैं।

'गुब्बारे पर चीता' : बाल-हठ, कौतूहल और यथार्थ का साक्षात्कार

बलदेव का चरित्र बाल-मनोविज्ञान के एक बहुत बड़े सत्य 'बाल-हठ' को प्रदर्शित करता है। बाल्यावस्था में जिज्ञासा और इच्छा-पूर्ति की प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि बच्चा अनेक बार सामाजिक, पारिवारिक अथवा संस्थागत अनुशासनों की उपेक्षा कर देता है। उसके लिए उस समय सबसे महत्वपूर्ण उसकी अपनी जिज्ञासा और उसे संतुष्ट करने की आकांक्षा होती है। प्रेमचंद ने बलदेव के माध्यम से इसी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक अवस्था का अत्यंत सजीव चित्रण किया है। बलदेव किसी प्रकार का विद्रोही बालक नहीं है, बल्कि वह अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासा और दृढ़ निश्चय के कारण नियमों का उल्लंघन करता है। उसकी यह जिद नकारात्मक नहीं, बल्कि बाल-मन की स्वाभाविक सक्रियता और अनुभव प्राप्त करने की तीव्र इच्छा का परिणाम है।

हेडमास्टर साहब की मनाही के बाद बलदेव कहता है "हेडमास्टर साहब का हुक्म सुनकर वह जामे से बाहर हो गया। छुट्टी होते ही वह बाहर मैदान में निकल आया और लड़कों से बोला, "मैं तो जाऊँगा, जरूर जाऊँगा। चाहे कोई छुट्टी दे या न दे।" मगर और लड़के इतने साहसी न थे। कोई उसके साथ जाने पर राजी न हुआ। बलदेव अब अकेला पड़ गया। मगर वह बड़ा जिद्दी था, दिल में जो बात बैठ जाती, उसे पूरा करके ही छोड़ता था। शनीचर को और लड़के तो मास्टर के साथ गेंद खेलने चले गए, बलदेव चुपके से खिसककर सरकस की ओर चला। वहाँ पहुँचते ही उसने जानवरों को देखने के लिए एक आने का टिकट खरीदा और जानवरों को देखने लगा। इन जानवरों को देखकर बलदेव मन में बहुत

झुंझलाया। वह शेर है! मालूम होता है महीनों से इसे मलेरिया बुखार आ रहा हो। वह भला क्या बीस हाथ ऊँचा उछलेगा! और यह सुंदर-वन का बाघ है? जैसे किसी ने इसका खून चूस लिया हो।''[1]

यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि बालक का निर्णय अनेक बार तर्क से अधिक उसकी जिज्ञासा और कल्पना से संचालित होता है। साथ ही, प्रेमचंद यह भी दिखाते हैं कि बालक अनुभव प्राप्त करने के लिए जोखिम उठाने से भी नहीं हिचकता। बलदेव का अकेले सर्कस जाना उसके साहस, आत्मविश्वास और हठ का परिचायक है। किंतु लेखक इस घटना के माध्यम से केवल बाल-हठ का चित्रण नहीं करते, बल्कि यह भी संकेत देते हैं कि वास्तविक जीवन के अनुभव ही बालक के व्यक्तित्व को परिपक्व बनाते हैं। उपदेश की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभव बाल-मन पर कहीं अधिक स्थायी प्रभाव छोड़ता है।

बच्चों का कौतूहल विज्ञापनों से बढ़ता है ''क्योंकर शेर और बकरी एक बर्तन में पानी पिएँगे? और इतना बड़ा हाथी पैरगाड़ी पर कैसे बैठेगा?''[2] विज्ञापन बच्चों की कल्पना को असाधारण ऊँचाइयों तक पहुँचा देते हैं। वे अपने मन में अद्‌भुत और रोमांचकारी संसार की रचना कर लेते हैं। किंतु जब बलदेव वास्तव में सर्कस पहुँचता है, तब उसका यह कौतूहल यथार्थ के कठोर स्पर्श से टूट जाता है ''वह शेर है! मालूम होता है महीनों से इसे मलेरिया बुखार आ रहा हो... वाह रे भालू! भालू है या सूअर...''।[3]

यह प्रसंग केवल एक बालक की निराशा का चित्रण नहीं है, बल्कि आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति में प्रचार और वास्तविकता के बीच विद्यमान अंतर की ओर भी संकेत करता है। प्रेमचंद अपने समय में ही यह समझ चुके थे कि आकर्षक प्रचार अक्सर वास्तविक स्थिति को छिपा देता है। बलदेव का अनुभव इस तथ्य को उजागर करता है कि बाहरी चमक-दमक और वास्तविक जीवन में पर्याप्त अंतर होता है। इस प्रकार, कहानी बच्चों को आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करने और किसी भी आकर्षक दावे को बिना परखे स्वीकार न करने की अप्रत्यक्ष शिक्षा देती है।

'शेर और लड़का' : कर्तव्यबोध, भय पर विजय और अदम्य साहस

यह कहानी बाल-चरित्र में 'उत्तरदायित्व' की भावना के उदय को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से रेखांकित करती है। प्रेमचंद इस कथा के माध्यम से यह सिद्ध करते हैं कि बालक का व्यक्तित्व केवल खेल-कूद और मनोरंजन तक सीमित नहीं होता, बल्कि परिस्थितियाँ आने पर उसमें कर्तव्यनिष्ठा, आत्मविश्वास और नैतिक साहस जैसे गुण भी विकसित हो सकते हैं। कहानी का नायक अपनी आयु से कहीं अधिक परिपक्वता का परिचय देता है। वह कठिन परिस्थितियों से पलायन नहीं करता, बल्कि उनका सामना करने का साहस जुटाता है। यही कारण है कि यह कहानी बालकों में उत्तरदायित्वबोध और आत्मनिर्भरता की भावना को विकसित करने वाली महत्वपूर्ण रचना बन जाती है।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि वे बालकों को उपदेश देकर नहीं, बल्कि परिस्थितियों के माध्यम से जीवन-मूल्यों का बोध कराते हैं। इस कहानी में भी बालक के सामने आने वाली प्रत्येक चुनौती उसके व्यक्तित्व के किसी न किसी पक्ष को विकसित करती है। आरम्भ में वह एक साधारण ग्रामीण बालक दिखाई देता है, किन्तु जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है, उसके भीतर छिपे साहस, धैर्य, निर्णय-क्षमता और उत्तरदायित्व का क्रमिक विकास सामने आता है। प्रेमचंद यह स्थापित करते हैं कि मनुष्य का वास्तविक चरित्र सुख-सुविधाओं में नहीं, बल्कि संकट की घड़ी में प्रकट होता है। बालक अपने व्यवहार से यह सिद्ध करता है कि आयु का छोटापन किसी व्यक्ति की नैतिक ऊँचाई का निर्धारण नहीं करता। दृढ़ इच्छाशक्ति और कर्तव्य के प्रति निष्ठा ही उसे महान बनाती है।

गाय खो जाने पर बालक मालिक के डर से और कर्तव्यबोध के कारण रात में अकेले जंगल निकल पड़ता है ''उस छोटे लड़के की यह हिम्मत देखो! अँधेरा हो रहा है, चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ है... पर वह बेखौफ जंगल में बढ़ा चला जा रहा था।''[4] यह प्रसंग केवल उसकी निडरता का चित्रण नहीं करता, बल्कि यह दर्शाता है कि अपने दायित्व के प्रति ईमानदारी व्यक्ति को भय से ऊपर उठने की शक्ति प्रदान करती है। यहाँ प्रेमचंद बालकों को यह संदेश देते हैं कि उत्तरदायित्व का निर्वाह आयु का नहीं, बल्कि चरित्र की दृढ़ता का विषय है।

जब वह तीन दिन से पेड़ पर भूखा-प्यासा बैठा है और शिकारियों को आते देखता है, तो वह अपनी जान की परवाह किए बिना उन्हें सचेत करता है ''अगर मैं उन्हें होशियार न कर दूँ तो यह दुष्ट किसी-न-किसी को जरूर चोट कर जाएगा। यह सोचकर वह पूरी ताकत से चिल्लाने लगा होशियार

रहो!...''[5] इस प्रसंग में बालक का आत्मत्याग, परोपकार और मानवीय संवेदना अपने चरम पर दिखाई देती है। वह व्यक्तिगत सुरक्षा की अपेक्षा दूसरों के जीवन को अधिक महत्त्व देता है। इस प्रकार प्रेमचंद साहस को केवल शारीरिक वीरता के रूप में नहीं, बल्कि नैतिक उत्तरदायित्व और सामाजिक संवेदनशीलता के रूप में परिभाषित करते हैं।

यह प्रसंग बालक के चरित्र को साधारण से असाधारण स्तर तक पहुँचा देता है। तीन दिनों की भूख, प्यास और थकान के कारण उसका शरीर दुर्बल हो चुका है, फिर भी उसकी मानवीय चेतना जीवित रहती है। वह अपने कष्टों को भूलकर दूसरों के जीवन की रक्षा के बारे में सोचता है। यह व्यवहार निस्वार्थ सेवा और लोकमंगल की उस भावना का परिचायक है, जिसे प्रेमचंद अपने समूचे साहित्य में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। बालकों के लिए यह अत्यंत प्रेरक संदेश है कि महानता केवल अपनी सफलता में नहीं, बल्कि दूसरों के जीवन की रक्षा और उनके हित में किए गए कार्यों में निहित होती है।

इस घटना के माध्यम से प्रेमचंद बच्चों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना भी विकसित करते हैं। बालक समझता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन दूसरे व्यक्ति से जुड़ा हुआ है। यदि वह समय रहते चेतावनी नहीं देगा, तो किसी निर्दोष व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। इसलिए वह अपने व्यक्तिगत भय और संकट से ऊपर उठकर सामाजिक हित को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार कहानी बालकों को यह शिक्षा देती है कि सच्चा नागरिक वही है जो केवल अपने लिए नहीं, बल्कि पूरे समाज के कल्याण के लिए भी सजग रहे।

प्रेमचंद यहाँ स्पष्ट करते हैं कि साहस का अर्थ भय का अभाव नहीं है, बल्कि भय की उपस्थिति में भी सत्य, कर्तव्य और मानवता के पक्ष में खड़े होने की क्षमता है। इस कहानी का बालक बच्चों के सामने ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है, जो उन्हें 'परोपकार', 'साहस', 'कर्तव्यनिष्ठा' और 'मानवीय संवेदना' जैसे जीवन-मूल्यों की ओर प्रेरित करता है। इस दृष्टि से यह कहानी केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि बाल-चरित्र निर्माण की प्रभावी पाठशाला सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त यह कहानी बालकों में आत्मानुशासन, धैर्य, निर्णय-क्षमता तथा संकट-प्रबंधन जैसे गुणों के विकास की भी प्रेरणा देती है। प्रेमचंद यह विश्वास व्यक्त करते हैं कि यदि बालकों को उचित संस्कार, उत्तरदायित्व और नैतिक दिशा प्रदान की जाए, तो वे समाज के सजग, साहसी और संवेदनशील नागरिक बन सकते हैं। कहानी का नायक किसी अलौकिक शक्ति का स्वामी नहीं हैय उसकी सबसे बड़ी शक्ति उसका चरित्र है। यही कारण है कि यह कहानी आज भी बाल-साहित्य में चरित्र-निर्माण की दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक बनी हुई है। यह बालकों को यह विश्वास दिलाती है कि साहस, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता और मानवता जैसे गुण किसी भी व्यक्ति को असाधारण बना सकते हैं।

'कुत्ते की कहानी' : सामाजिक विषमता और यथार्थवादी चेतना

प्रेमचंद का बाल-साहित्य केवल नैतिक आदर्शों की स्थापना तक सीमित नहीं है, बल्कि वह बच्चों को समाज की वास्तविक परिस्थितियों से भी परिचित कराता है। 'कुत्ते की कहानी' इसी दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है। इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद सामाजिक विषमता, वर्गभेद और मानवीय संवेदनहीनता का ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो बालकों के मन में सामाजिक न्याय और करुणा की भावना का विकास करता है। वे बच्चों को कृत्रिम और काल्पनिक संसार में नहीं रखते, बल्कि उन्हें यह समझाने का प्रयास करते हैं कि समाज में सुख और दुःख, समृद्धि और अभाव, दोनों साथ-साथ विद्यमान हैं।

प्रेमचंद का यथार्थवाद यहाँ अत्यंत स्वाभाविक रूप में सामने आता है। वे समाज की विसंगतियों को किसी कटु उपदेश के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि घटनाओं और पात्रों के माध्यम से बच्चों को स्वयं सोचने और निष्कर्ष निकालने का अवसर देते हैं। यही उनकी रचनात्मक शक्ति है। बालक जब इस कहानी को पढ़ता है, तो उसके सामने केवल एक कुत्ते की कथा नहीं आती, बल्कि वह समाज के उस चेहरे से परिचित होता है जहाँ संपन्नता और अभाव के बीच गहरी खाई विद्यमान है। इस प्रकार कहानी बालकों में संवेदनशील दृष्टि और सामाजिक विवेक का विकास करती है।

कहानी में एक तरफ बनिए के यहाँ ब्राह्मण-भोज है ''सैकड़ों आदमी यहाँ आए...''[6], और दूसरी तरफ वफादार कुत्ता और उसकी माँ भूख से तड़प रहे हैं। यह विरोधाभासी दृश्य समाज की आर्थिक और नैतिक असमानताओं को अत्यंत मार्मिक रूप से उद्‌घाटित करता है। एक ओर भोजन की प्रचुरता है, दूसरी ओर जीवन के लिए आवश्यक अन्न का भी अभाव है। प्रेमचंद इस विरोधाभास के माध्यम से बच्चों का

ध्यान सामाजिक असंतुलन की ओर आकर्षित करते हैं।

चारित्रिक विश्लेषण की दृष्टि से यह कहानी बच्चों में 'सामाजिक चेतना', 'करुणा', 'समानुभूति' और 'नैतिक उत्तरदायित्व' का विकास करती है। प्रेमचंद बच्चों को यह सोचने के लिए प्रेरित करते हैं कि किसी भी सभ्य समाज का वास्तविक मूल्यांकन इस आधार पर होना चाहिए कि वह अपने निर्बल, उपेक्षित और मूक प्राणियों के प्रति कितना संवेदनशील है। इस प्रकार यह कहानी बालकों में केवल भावुकता नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ को समझने और उसके प्रति उत्तरदायी दृष्टिकोण विकसित करने का कार्य करती है।

इसके अतिरिक्त कहानी बालकों को यह भी सिखाती है कि सामाजिक परिवर्तन केवल शासन या व्यवस्था का दायित्व नहीं है, बल्कि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति की नैतिक जिम्मेदारी भी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आसपास के अभावग्रस्त और पीड़ित लोगों तथा प्राणियों के प्रति करुणा का व्यवहार करे, तो समाज अधिक मानवीय और न्यायपूर्ण बन सकता है। इस प्रकार 'कुत्ते की कहानी' बालकों के भीतर सामाजिक उत्तरदायित्व, मानवीय सहानुभूति और न्यायपूर्ण दृष्टिकोण का विकास करने वाली अत्यंत प्रभावशाली रचना सिद्ध होती है।

'राम कथा (बालकांड)' : सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और आदर्श चरित्र की नींव

प्रेमचंद का बाल-साहित्य यथार्थ और आदर्श के संतुलित समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है। जहाँ एक ओर वे बच्चों को जीवन की कठिन वास्तविकताओं से परिचित कराते हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, ऐतिहासिक चेतना और नैतिक आदर्शों से भी जोड़ते हैं। 'राम कथा (बालकांड)' इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इसमें भारतीय संस्कृति, आदर्श नेतृत्व, सत्य, त्याग और लोकमंगल की परंपरा को बालकों की सहज समझ के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है।

प्रेमचंद यहाँ इतिहास, संस्कृति और लोकपरंपरा को बालकों के लिए सरल, रोचक और बोधगम्य बनाते हैं। वे जानते हैं कि बालकों के मन में जिज्ञासा प्रत्यक्ष अनुभवों से उत्पन्न होती है। इसलिए वे कथा को ऐसे बिंदु से आरम्भ करते हैं जिससे प्रत्येक बालक स्वयं को जोड़ सके। इसके बाद वे क्रमशः उसे भारतीय इतिहास, संस्कृति और आदर्श चरित्रों के व्यापक संसार में ले जाते हैं। यह पद्धति प्रेमचंद की उत्कृष्ट शिक्षण-दृष्टि और बाल-मनोविज्ञान की गहरी समझ का परिचायक है।

वे कहानी की शुरुआत बच्चों के समकालीन अनुभव (रामलीला का मेला, रावण का पुतला) से करते हैं "इस मेले में तुमने मिट्टी या पीतल के बंदरों और भालुओं के-से चेहरे लगाये आदमी देखें होंगे..."[7] इसके बाद वे इतिहास की ओर ले जाते हैं "राजा दशरथ इसी प्रसिद्ध वंश के राजा थे... उस जमाने में अयोध्या नगरी विद्या और कला की केंद्र थी।"[8] यह प्रस्तुति प्रेमचंद की बाल-मनोविज्ञान संबंधी गहरी समझ को प्रकट करती है। वे बच्चों को प्रत्यक्ष अनुभव से जोड़ते हुए धीरे-धीरे इतिहास और संस्कृति के व्यापक संसार में प्रवेश कराते हैं, जिससे उनकी जिज्ञासा बनी रहती है और ज्ञान सहज रूप से आत्मसात होता है।

इस प्रकार प्रेमचंद इतिहास को केवल घटनाओं का क्रम न बनाकर जीवंत सांस्कृतिक अनुभव में परिवर्तित कर देते हैं। बालक यह अनुभव करता है कि भारतीय परंपरा केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान जीवन से जुड़ी हुई सांस्कृतिक विरासत है। कथा के माध्यम से इतिहास, संस्कृति और नैतिकता एक-दूसरे से जुड़कर बालकों के व्यक्तित्व-विकास का आधार बनते हैं। यही प्रेमचंद की शिक्षण-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है।

निष्कर्ष

प्रेमचंद का बाल-साहित्य केवल उपदेशात्मक नहीं है, बल्कि वह व्यावहारिक है। वे बच्चों को जीवन के कठिन अनुभवों से गुजरने देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि चरित्र का निर्माण संकटों के बीच ही होता है। बलदेव का सर्कस जाना या गड़ेरिये के लड़के का जंगल में रात बिताना, बच्चों को आत्मनिर्भरता और सूझबूझ सिखाता है। प्रेमचंद का बाल-साहित्य आज के समय में भी उतना ही प्रासंगिक है, जो बच्चों को मानसिक रूप से सुदृढ़ और यथार्थवादी बनाने की प्रेरणा देता है। प्रेमचंद बच्चों को हरिश्चंद्र जैसे दानी और रघु जैसे 'गरीब परवर' (गरीबों के रक्षक) राजाओं के उदाहरण देकर उनके भीतर उच्च नैतिक और सामाजिक मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। उनके लिए रामकथा केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि सत्य, त्याग, न्याय, लोककल्याण और उत्तरदायी नेतृत्व की जीवन-दृष्टि का परिचय है। इस प्रकार वे भारतीय सांस्कृतिक परंपरा को बालकों के चरित्र-निर्माण का सशक्त आधार बनाते हैं। यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का अर्थ किसी संकीर्ण आग्रह से नहीं, बल्कि उन सार्वभौमिक

मानवीय मूल्यों से है जो भारतीय परंपरा में निहित हैं और जो बालकों को संवेदनशील, नैतिक तथा समाजोपयोगी नागरिक बनने की प्रेरणा देते हैं।

प्रेमचंद की दृष्टि में राम का आदर्श केवल एक धार्मिक व्यक्तित्व का आदर्श नहीं है, बल्कि आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श शासक और आदर्श नागरिक का आदर्श है। यही कारण है कि वे रामकथा को नैतिक शिक्षा का सशक्त माध्यम बनाते हैं। इस कथा के माध्यम से बालकों में सत्यनिष्ठा, अनुशासन, विनम्रता, कर्तव्यपरायणता, न्यायप्रियता तथा लोकसेवा की भावना का विकास होता है। वे यह विश्वास स्थापित करते हैं कि राष्ट्र का निर्माण केवल राजनीतिक व्यवस्था से नहीं, बल्कि उच्च चरित्र वाले नागरिकों से होता है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. प्रेमचंद। (2015), गुब्बारे पर चीता, निर्मल वर्मा एवं कमल किशोर गोयनका (सं.), प्रेमचंद रचना संचयन (पृ. 870)। नई दिल्ली : साहित्य अकादमी।
2. वही, पृ. 870
3. वही, पृ. 871
4. प्रेमचंद। (2015), शेर और लड़का, निर्मल वर्मा एवं कमल किशोर गोयनका (सं.), प्रेमचंद रचना संचयन (पृ. 870)। नई दिल्ली : साहित्य अकादमी।
5. वही
6. प्रेमचंद। (2015), शेर और लड़का, निर्मल वर्मा एवं कमल किशोर गोयनका (सं.), प्रेमचंद रचना संचयन (पृ. 873)। नई दिल्ली : साहित्य अकादमी।
7. प्रेमचंद। (2015), शेर और लड़का, निर्मल वर्मा एवं कमल किशोर गोयनका (सं.), प्रेमचंद रचना संचयन (पृ. 875)। नई दिल्ली : साहित्य अकादमी।
8. वही

लीशा

अशोक के धम्म में धार्मिक समन्वय और सामाजिक नैतिकता : एक अध्ययन

"धम्म है साधुता, बहुत से कल्याणकारी अच्छे कार्य करना, पाप रहित होना, मृदुता, दूसरे के प्रति व्यवहार में मधुरता, दया, दान तथा सुचिता।"

अशोक का दूसरा एवं सातवां अभिलेख

परिचय

भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म का काल एक अति महत्वपूर्ण समय है। आधुनिक सदंर्भ में बौद्ध धर्म का धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व स्पष्ट है। जबकि तत्कालीन समय में इस महत्व को विस्तारित करने में उस समय के सम्राटों की भूमिका सराहनीय रही है। उदाहरण के लिए, मौर्य वंश के महान सम्राट अशोक और कुषाण वंश के राजा कनिष्क।

वर्तमान समय में किसी व्यक्ति के आचरण, व्यवहार, आंतरिक शांति की स्थापना में बौद्ध धम्म के तत्वों का योगदान अकल्पनीय है। इसी क्रम में सामाजिक असमानता को कम करने के दलाई लामा जैसे व्यक्तित्वों के प्रयास भी सराहनीय हैं।

बीज शब्द

सम्राट अशोक, धम्म, बौद्ध धर्म, समाज, धर्म, इतिहास।

गौतम बुद्ध के 'धर्म' तथा अशोक के 'धम्म' के मध्य लगभग 300 वर्षों का समयांतराल रहा, किंतु फिर भी वास्तविक बौद्ध धम्म के तत्वों का अनुसरण निरंतर जारी रहा। यही नहीं आने वाले समय में कुछ परिवर्तनों के बावजूद ये चलायमान रहे।

'धम्म' संस्कृत शब्द 'धर्म' का प्राकृत रूप है, जिसका अर्थ सार्वदेशिक विधान अथवा न्यायप्रियता या सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था है। अशोक के स्तंभ अभिलेख 6 में दर्ज है कि धम्म अभिलेखों का व्यवहार जिसे अशोक धम्मलिपि कहता है उसके राज्याभिषेक के 12 वर्षों के बाद शुरू हुआ। इतिहासकारों में यह मतभेद है कि धम्म का स्वरूप क्या था? अहिंसा 'धम्म' का एक बुनियादी सिद्धांत है। अहिंसा का तात्पर्य है युद्ध तथा हिंसा द्वारा विजय-प्राप्ति का त्याग और जीव-हत्या का निरोध। लेकिन वह पूर्ण हिंसा के लिए आग्रहशील नहीं था। वह मानता था कि ऐसे अवसर होते हैं जब हिंसा अपरिहार्य हो जाती है। जैसे वन्य आदिवासियों के उत्पीडक हो उठने पर।[1] अहिंसा किसी भी धर्म की सहिष्णुता और सामाजिक सौहार्द का आवश्यक तत्व है। जबकि अशोक के धम्म के प्रमुख तत्वों में अहिंसा की विशेष रूप से व्याख्या की गई है। अशोक के प्रथम अभिलेख में विशेष अवसरों, उत्सवों, दिवसों पर पशुवध पर प्रतिबंध का उल्लेख है। अच्छे नैतिक आचार और सामाजिक दायित्व धम्म के दो मूल तत्व हैं। शिलालेख सख्या 9 में विभिन्न उत्सवों की आलोचना की गई है।[2] विशेष रूप से शादी-विवाह, जन्मोत्सव इत्यादि। इस प्रकार का सामाजिक दिखावा वर्तमान समय में समाज की बहुत बड़ी बुराई बन गई है जिसे समाप्त करने के लिए हमें प्राचीन काल की शिक्षाओं से सीखना चाहिए।

इन कर्मकांडों और उत्सवों के संबंध में अशोक का मानना था कि इनके आयोजित करने के परिणाम अनिश्चित हैं और शायद ये बिना किसी महत्व के किए भी जाते हैं, जिनका किसी को कोई लाभ नहीं होता है। अशोक इनकी तुलना धम्म के अत्सवों से करता हैं जिनके निश्चित परिणाम होते हैं। जो न

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

केवल इस संसार में प्राप्त होते हैं, बल्कि अगले जन्म में भी इनके परिणाम सुनिश्चित हैं।

धम्म के उत्सव के अतंर्गत अपने अनुचरों के प्रति अच्छा व्यवहार, बुजुर्गों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार, तथा किसी जीव के प्रति सहिष्णुता के भाव की चर्चा की गई है।[3] यही किसी समाज को सही अर्थों में मानव को अच्छा जीवन प्रदान करते हैं।

अशोक के धम्म में एक महत्वपूर्ण तत्व है विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच सहअस्तित्व एवं सहिष्णुता का भाव रखना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विधान के द्वारा अशोक ने किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचार-प्रसार पर बल नहीं दिया।[4] अशोक के शिलालेख 12 में सम्राट ने यह स्पष्ट किया है कि लोगों को दूसरे सम्प्रदायों की आलोचना नहीं करनी चाहिए और न ही अपने धर्म के प्रति विशेष बढ़ावा देने का प्रयास करना चाहिए। राजा अपनी प्रजा से यह अपील करता है कि दूसरे सम्प्रदायों और धर्मों को समझने का प्रयास करें, उनका सम्मान करना सीखें। अशोक का मानना था कि उसकी धम्म-नीति के द्वारा इन सभी सम्प्रदायों और धर्मों के उत्कृष्ट तत्वों को अपने जीवन में उतारा जा सकता है। शिलालेख 6 में अशोक ने अपने धम्म के आदर्शों और उसके उद्देश्यों की चर्चा की है। इसके अतंर्गत जनकल्याण के साथ-साथ उन सभी जीवों के प्रति अपनी ऋण की चर्चा की गई है जो उसके दायित्व हैं। इनसे इस समाज में सुख की प्राप्ति होगी और इसके साथ ही अगले जन्म में भी सुखी होने का वह दावा करता है।

अशोक जनकल्याण तथा जंतुओं की चिकित्सा एवं उनकी सुरक्षा की भी चिंता करता है। अशोक के अभिलेखों से प्रतीत होता है कि वह धम्म के आदर्शों का वैचारिक स्तर पर और व्यवहारिक स्तर पर अनुपालन कर रहा था।[5]

भारतीय परंपरा में वर्णाश्रम धर्म या पारंपरिक धर्म के सरंक्षक के रूप में राजा की भूमिका रही है। किंतु एक सक्रिय शिक्षक, सरंक्षक, उद्घोषक के रूप में अशोक का धम्म अविस्मरणीय है। अशोक के शिलालेख 4 से पता चलता है कि किसी भी धर्म की अपेक्षा सम्राट अपने कर्तव्यों और दायित्वों को सबसे अधिक महत्व देता है। अशोक के धम्म-विजय तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के धर्म-विजय में बहुत अतंर है। दोनों एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। अशोक के धम्म में हिंसा या दण्ड की भूमिका प्राय: नगण्य है। अशोक बौद्ध था, त्रिरत्न में विश्वास करता था। किंतु जिस धम्म के उपदेश का उसने लोगों में प्रचार किया वह सर्वसाधारण का धम्म था। यह मानव धम्म था। 13वें शिलालेख में वर्णित है कि यूनान, दक्षिण आदि सभी देशों में लोग धम्मानुशासन धर्म की शिक्षा सुनते हैं और धम्म के अनुकूल आचरण करते हैं।[6]

अशोक निस्संदेह बौद्ध मत की ओर आकर्षित हुआ था और बौद्ध सिद्धांतों पर आचरण भी करने लगा था। लेकिन उसके समय का बौद्ध मात्र एक धार्मिक विश्वास नहीं था, अपितु अनेक स्तरों पर वह एक सामाजिक और बौद्धिक आंदोलन भी था जिसने समाज के अनके पक्षों को प्रभावित किया था। अशोक ने 'धम्म' को औपचारिक धार्मिक विश्वासों द्वारा प्रेरित शुभ कार्य करने से उत्पन्न धार्मिकता के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व की एक वृत्ति के रूप में देखा।[7]

अशोक ने अभिलेख 6 में कहा है कि अशोक के राज्याभिषेक के 13 वर्षों बाद धम्म लिपि को उत्कीर्ण करने का प्रचलन प्रारंभ किया गया। प्रथम अभिलेख से पता चला है कि पूर्णिमा अथवा आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, तिष्य मुहूर्तो जैसे विशेष अवसरों पर इनसे जुड़े प्रवचन और व्याख्या की व्यवस्था की जाती थी। अशोक ने रज्जुक और प्रादेशिक नामक अधिकारियों को प्रत्येक 5 वर्षों पर साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में घूम-घूम कर अन्य कार्यों के साथ धम्म के प्रचार-प्रसार का दायित्व भी सौंपा था। इसी के साथ अपने राज्याभिषेक के 13 वर्षों पश्चात् धम्म महामात्य का विभाग स्थापित किया था।

धम्म के सवांद का सबसे प्रमुख संवाहक स्वयं सम्राट अशोक था। अपने अभिषेक के 10 वर्षों पश्चात् उसने बोधगया की तीर्थ यात्रा की। इस प्रकार के कार्य आम प्रजा को सम्राट तथा दरबार के साथ सामाजिक व धार्मिक तौर पर जोड़ने का भी कार्य करते हैं। उन्होंने राजकीय यात्राओं-विहार यात्रा के स्थान पर धम्म यात्राओं का अनिवार्य प्रचलन प्रारंभ किया।

बी.एन. मुखर्जी ने कहा है कि अशोक के धम्म अभिलेखों में प्राय: सभी स्थानों पर समरूपता और समानता का बोध होता है किंतु ग्रीक एवं अरामाइक अभिलेखों में कुछ रोचक भिन्नताएं भी निर्देशित होती हैं। जैसे- कंधार के ग्रीक अभिलेखों में यह कहा गया है कि प्रजा को सम्राट की रूचि के प्रति विशेष भक्ति या आशक्ति होनी चाहिए जो धम्म का प्रमुख हिस्सा है।

अशोक के धम्म की अवधारण और उसके स्वरूप के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह एक वैश्विक धर्म था जिसमें विभिन्न सम्प्रदायों के अच्छे तत्वों का समावेश किया गया था। कुछ विद्वानों ने इसकी

राजधर्म के रूप में व्याख्या की है जिसमें अशोक के सम्राट के रूप में राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक सिद्धांतों पर बल दिया गया है।[8] बौद्ध धर्म के अनावश्यक प्रभाव को कम आंकते हुए रोमिला थापर का मानना है कि किसी भी राजनयिक की व्यक्तिगत आस्था और उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक सिद्धांतों के बीच हो सकता है कि कोई सीधा संबंध नहीं हो। उनके अनुसार दरअसल धम्म अशोक के द्वारा उपयोग में लाया गया एक सैद्धांतिक और वैचारिक माध्यम था जिसके द्वारा उसने अपने विस्तृत साम्राज्य को एक सूत्र में पिरोने का आधार निर्मित किया।[9]

अशोक के धम्म में प्रतिबिंबित संदेशों और सियालवाद-सुत्त जैसे बौद्ध ग्रंथों में उपासक धम्म अर्थात् सामान्य बौद्ध जनता के प्रति प्रस्तावित धार्मिक जीवन शैली में काफी समानता देखी जा सकती है। भाबना लघु शिलालेख में अशोक ने बौद्ध उपासकों को 6 प्रमुख बौद्ध ग्रंथों को पढ़ने तथा उनके अनुशीलन करने की सलाह दी है जो धम्म के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं।

यद्यपि अशोक का धम्म जहां एक ओर बौद्ध धर्म में वर्णित उपासक धम से प्रेरित है, किंतु दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। अशोक दरअसल एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य और सदंर्भ से अपने धम्म की कल्पना कर रहा था। अशोक ने जिस स्तर पर परस्पर सम्मान और सहिष्णुता पर बल दिया है और अपने व्यक्तिगत आस्थाओं को सामाजिक कोड के रूप में रेखांकित किया है वह उस काल के धार्मिक सम्प्रदाय अथवा धार्मिक भावनाओं में दिखाई नहीं पड़ता है। अशोक ने कहा है कि ''सभी सम्प्रदायों तथा धर्मों का सम्मान करना चाहिए न केवल अपने धर्म का।''

सम्राट अशोक के 'धम्म' और गौतम बुद्ध के 'धर्म' में काफी समानताएं हैं। फिर भी अशोक का धम्म समाज और धर्म के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। धम्म प्रजा को उचित मार्ग पर लाने तथा धर्म के आचरण के साधन से भी अधिक अहम् था। धम्म का औचित्य समाज और धर्म के साथ-साथ अशोक के साम्राज्य के लिए भी आवश्यक था। इसने प्रजा-जन में सदाचार, सहिष्णुता और भाईचारा को बढ़ाया तथा धार्मिक सौहार्द को भी समाज में स्थापित करने में योगदान दिया।

अशोक ने मूल बौद्ध धर्म में कुछ परिवर्तन कर उसे सरल बनाया और अमानवीय एवं औचित्यहीन कर्मकांडों को समाप्त कर उसे साधारण प्रजा के अनुकूल किया। सम्राट अशोक के धम्म ने समाज को सकारात्मक रूप से प्रभावित कर मौर्य साम्राज्य को भी ऊँचाईयों पर पहुँचाया।

अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ मौर्या में रोमिला थापर ने अपनी इस रचना की शुरुआत 1960 में की और इसे प्रो. ए. एल. भसम को समर्पित किया है। थापर इस पुस्तक की शुरुआत 1837 ई. में जेम्स प्रिंसेप के प्रयासों से करती हैं।

थापर कहती हैं कि ''कभी-कभी यह कहा जाता है कि किसी ताकत में व्यक्ति की नीतियों के लिए उसकी व्यक्तिगत आदतें जिम्मेदार होती हैं।'' और ये उस समाज तथा उम्र से असंबंधित होती हैं जिसमें वह रह रहा होता है। थापर बताती हैं कि अशोक का धम्म अनेक आदर्शों और कर्मकांडों का परिणाम था। जीव हत्या को रोकना इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण नियम था।

थापर 'धम्म' पद की व्याख्या करते हुए सावधान रहने की बात करती हैं कि इसे बौद्ध धर्म या किसी अन्य मिलते-जुलते शब्द से तुलना नहीं करनी चाहिए। धम्म की सच्ची व्याख्या, इसकी विस्तृत व्याख्या और इसके उपयोग एवं विश्लेषण के बाद ही की जा सकती है। विधि एवं सामाजिक क्रम के अर्थ में धर्म की धारणा मौर्यों के लिए कोई नहीं चीज नहीं थी बल्कि 'धम्म' नई चीज थी।

रामशरण शर्मा 'प्रारंभिक भारत का इतिहास' यह पुस्तक सामान्य प्रकृति की कृति है जो शुरुआती विद्यार्थियों के लिए बेहद सहायक है। यह पुस्तक केवल राजनीतिक इतिहास तक ही सीमित नहीं है। इसमे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विषयों का भी प्रतिपादन है। पुस्तक में शर्मा ने प्रारंभ से सातवीं सदी तक के भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण किया है। यह एक संक्रमण काल था जिसे राम शरण शर्मा ने हमारे सामने लाने का प्रयास किया है। अशोक बिंदुसार का पुत्र और मौर्य राजाओं में सबसे महान था। बौद्ध परपंरा के अनुसार, वह अपने प्रारंभिक जीवन में परम क्रूर था। किंतु अशोक के बौद्ध भिक्षु बनने पर कलिंग युद्ध का गहरा प्रभाव है। उसने एक धम्मनीति अपनाई। हालांकि इस पर उसके सम्राट होने अथवा उसके शासन का कोई असर नहीं पड़ा या कहें कि उसने इस पर असर पड़ने ही नहीं दिया।

डी. आर. भंडारकर 'अशोक' अपनी इस किताब में अशोक पर हुए सम्पूर्ण कार्यों में से भी बहुत कुछ छूटे हुए तथ्यों को समेटने का प्रयास करते हैं। वह कहते हैं कि अशोक के प्रस्तर लेख स्वयं एक साहित्य हैं जिन्हें प्रारंभ से ही विद्वानों द्वारा समझने का प्रयास किया जाता रहा है।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

भंडारकर अपने अध्ययन में अशोक पर अनेक प्रश्नों के बाकी रहने की बात करते हैं जो काफी जटिल प्रकृति के हैं। जैसे, भारत पर उसकी विदेश नीति का प्रभाव। उसके प्रयासों में मिशनरियों द्वारा बौद्ध धर्म पश्चिमी एशिया में कितना फैल सका।

निष्कर्ष

सम्राट अशोक का धम्म भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण और अनूठी विचारधारा के रूप में स्थापित होता है। अशोक का धम्म केवल किसी विशेष धार्मिक संप्रदाय का प्रतिनिधि नहीं था, बल्कि एक व्यापक मानवीय मूल्यों, नैतिक सिद्धांतों और सामाजिक दायित्वों पर आधारित जीवन दृष्टिकोण था। मौर्य साम्राज्य के सम्राट के रूप में अशोक ने धम्म को अपनी शासन नीति का आधार बनाया और इसके माध्यम से प्रजा कल्याण, नैतिकता और सामाजिक सामंजस्य को बढ़ावा दिया।

गौतम बुद्ध के धर्म से प्रभावित होने के बाद अशोक के विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। कलिंग युद्ध की विनाशकारी परिणति ने उसके जीवन और शासन के दृष्टिकोण को बदल दिया। उसने विजय की नीति के स्थान पर धम्म विजय को महत्व दिया। अशोक का मानना था कि वास्तविक विजय युद्ध और हिंसा से नहीं, बल्कि प्रेमा, सहिष्णुता और नैतिक आचरण से प्राप्त किया जा सकता है।

अशोक के धम्म का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत अहिंसा था। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि उसने जीव हत्या को कम करने, पशुओं की सुरक्षा और प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव रखने पर बल दिया। हालांकि अशोक की अहिंसा व्यावहारिक थी और वह राज्य व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूर्णतः नकारते नहीं थे। इस प्रकार उसका धम्म आध्यात्मिकता के साथ-साथ व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है।

अशोक के धम्म में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच सहिष्णुता और सहअस्तित्व को विशेष स्थान दिया गया। शिलालेख 12 में सम्राट ने स्पष्ट रूप से कहा कि किसी भी व्यक्ति को अपने धर्म की प्रशंसा करते समय अन्य धर्मों की आलोचना नहीं करनी चाहिए। उसके अनुसार सभी धर्मों के उत्तर तत्वों को समझना और उनका सम्मान करना समाज में शांति और भाईचारे के लिए आवश्यक है। यह विचार आज के बहुधार्मिक समाज में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

अशोक ने धम्म को केवल विचारों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे व्यवहार में लाने का प्रयास किया। धम्म महामात्रों की नियुक्ति, धम्म यात्राओं का प्रचलन और शिलालेखों के माध्यम से उन्होंने अपने सिद्धांतों को प्रजा तक पहुंचाने का कार्य किया। उसके धम्म में बुजुर्गों का सम्मान, सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, प्राणियों के प्रति कया और समाज में सदाचार को महत्व दिया गया।

इतिहासकारों ने अशोक के धम्म की प्रकृति को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह एक वैश्विक नैतिक व्यवस्था थी, जबकि कुछ इसको अशोक की राजनीतिक और सामाजिक नीति का आधार मानते हैं। रोमिला थापर के अनुसार अशोक का धम्म केवल बौद्ध धर्म का प्रतिबिंब नहीं था, बल्कि एक विशेष सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में विकसित विचारधारा थी।

इस प्रकार, सम्राट अशोक का धम्म भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण विरासत है जो मानवीय मूल्यों, सामाजिक समानता, धार्मिक सहिष्णुता और शांति का संदेश देता है। अशोक ने बौद्ध विचारों को एक व्यापक सामाजिक और नैतिक आधार प्रदान किया। उसका धम्म आज भी समाज में सहिष्णुता, सद्भाव और मानवता की स्थापना के लिए प्रेरणा का स्रोत है। इस दृष्टि से अशोक का धम्म न केवल प्राचीन भारत की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, बल्कि मानवीय सभ्यता के लिए एक स्थायी मूल्यवान विचारधारा भी है।

पीएच.डी. शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : lishabagri@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, पृ. 77.
2. उपिंदर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पियर्सन पब्लिकेशन, पृ. 376.
3. उपिंदर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पियर्सन पब्लिकेशन, पृ. 377.
4. वही, पृ. 377.
5. वही, पृ. 378.
6. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम

कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ.186,

7. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, पृ. 75-76.
8. उपिंदर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पियर्सन पब्लिकेशन, पृ. 380.
9. रोमिला थापर, अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ मौर्या, ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 81-136.

संदर्भ ग्रंथ सूची

* सिंह, उपिंदर. प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास. दिल्ली: पियर्सन, 2017.
* थापर, रोमिला. भारत का इतिहास. नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2012.
* थापर, रोमिला. अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ मौर्या. दिल्ली: ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987.
* झा, द्विजेन्द्र नारायण और कृष्णमोहन श्रीमाली. प्राचीन भारत का इतिहास. दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2010.
* उपाध्याय, आचार्य बलदेव. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा. नई दिल्ली: चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस, 2014.
* शर्मा, रामशरण. प्रारंभिक भारत का परिचय. नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2017.
* शर्मा, रामशरण. इंडियाज एंसियंट पास्ट. न्यूयॉर्क: ऑक्सफॉर्ड यनिवर्सिटी प्रेस, 2009
* झा, द्विजेन्द्र नारायण. एन्सिएंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन. दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स, 2010.
* भसम, ए.एल. द वंडर दैट वास इंडिया. न्यूयॉर्क: ग्रावे प्रेस, 1959.
* झा. द्विजेन्द्र नारायण. प्राचीन भारत: सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल. दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000.
* भंडारकर, डी.आर. अशोक. दिल्ली: एस. सतीश चन्द्र एंड. कम्पनी, 1923.

Research Paper

The Dilemma of Post-Colonial Statehood: Democracy and Authoritarianism in South Asia

Shwetank Shukla

Introduction

The transition from British imperial hegemony to sovereign statehood in South Asia did not merely entail the creation of new borders; it involved the nationalization of colonial administrative, classification, and control mechanisms. Under British rule, political authority was consolidated through territorial mapping, centralized bureaucracy, and the rigid categorization of fluid social identities. When the British exited the subcontinent, the newly independent states of India, Pakistan, Bangladesh, and Myanmar inherited these structural architectures. Instead of dismantling the exclusionary classification systems of the empire, these post-colonial states repurposed them to define the legal, ethnic, and religious contours of their national communities.

Consequently, the democratic experiments in South Asia have been fundamentally shaped by the persistent tension between the universal principles of representative governance and the deeply exclusionary administrative legacies of the colonial state. This structural inheritance transformed citizens into subjects of bureaucratic management, where the apparatuses of policing, sedition laws, and emergency powers originally designed for subjugation became permanent fixtures of post-colonial governance, reinforcing structural inequalities along the lines of caste, class, and ethnicity.

Conceptualizing the Post-Colonial State and the South Asian Democratic Imagination

The democratic trajectory of the region challenges conventional Western-centric theories of transition, often referred to as transitology, which assert that democratic consolidation is strictly contingent upon socio-economic precursors such as high literacy, low inequality, and pre-existing institutional stability. The experience of South Asia, particularly India, demonstrates that democratic institutions can take root and deepen even in environments characterized by pervasive poverty, ethnic fragmentation, and structural violence. However, while these challenges have not prevented democratic transitions, they have severely strained long-term consolidation. The region presents a distinctive "third way" of combining democratic politics with market reforms. Yet, this model remains highly vulnerable to the dual pressures of majoritarian mobilization and institutional regression, with several states entering cycles of democratic backsliding, military intervention, and executive aggrandizement. The Western paradigm fails to account for how deeply embedded communal ties and subaltern social movements can simultaneously drive high voter participation while bypassing liberal norms, creating an unpredictable landscape where electoral fervor coexists with systemic human rights challenges.

The baseline evaluation carried out by the "State of Democracy in South Asia" (SDSA) project emphasizes that democracy has become part of the "political common sense" of South Asia. It was not merely an anti-colonial project but a modernizing initiative aimed at transforming deeply hierarchical societies. However, the modernization process in South Asia has occurred under conditions of

"compressed modernity," where rapid economic integration and technological changes have strained the social fabric, leaving democratic processes highly vulnerable to institutional capture. This has generated a persistent polarization between liberal democratic objectives and traditional communal perspectives, driving populations that profess exclusive, hierarchical social identities into the fold of authoritarian and majoritarian political movements. By packing centuries of socio-economic evolution into a few volatile decades, this compressed timeline has prevented the organic growth of mediating civic institutions, leaving vulnerable populations susceptible to the appeal of hyper-nationalist rhetoric that promises stability amid rapid economic displacement.

The Political Economy of Electoral Systems in Democracy

The root cause of the democratic crises in South Asia is the highly expensive electoral process, which has been subverted by the role of illegally acquired money and localized muscle power. Across the region, political parties spend massive sums on elections, treating these expenditures as investments to be recouped later through state patronage, procurement corruption, and nepotism. This dynamic has replaced the normative democratic goals of devolved authority and transparent governance with embedded cultures of dependency, silence, and bureaucratic corruption. The monetization of politics creates a high entry barrier that blocks authentic grassroots leaders, transforming elections into a high-stakes marketplace where policy formulation is bartered for corporate campaign financing and the loyalty of local political syndicates.

Furthermore, while South Asia historically produced some of the world's first elected female Heads of State—such as Sirimavo Bandaranaike in Ceylon/Sri Lanka and Indira Gandhi in India—the region has failed to build sustainable pathways for female political empowerment. Women currently occupy less than 8 percent of leadership positions in policymaking circles, highlighting a structural exclusion that limits the representational legitimacy of South Asian legislatures. This representational gap is deeply tied to the "political centrality of cities" in South Asia, where a stark contrast exists between the weakness of local governments as a tier of authority and their rising significance as sites of capital accumulation. Municipal bodies are structurally marginalized by regional and national political arenas, leaving them incapable of driving urban change or delivering equitable public services. Consequently, local democracy has had to function under highly volatile conditions, operating under both fragile democratic regimes and outright military or monarchical autocracies. This institutional weakness has turned South Asian cities into primary sites of populist mobilization and struggle over resources. The hyper-concentration of wealth in urban spaces has decoupled economic development from social welfare, turning metropolitan centers into battlegrounds where political elites exploit disenfranchised migrant populations, leaving local municipal bodies toothless and dependent on central state funding.

1. The Jana Andolan (People's Movements) in the Streets of Kathmandu

These historic, multi-party mass mobilizations successfully dismantled centuries of absolute monarchical rule in Nepal. By occupying public spaces and defying royal curfews, the collective action of citizens forced the abdication of the monarchy and paved the way for a progressive secular federal republic. This shift underscored the capacity of street-level popular sovereignty to completely overhaul entrenched constitutional arrangements.

2. The Massive Political Rallies of Benazir Bhutto in Lahore

These historic gatherings represented a powerful civilian challenge to Pakistan's deeply entrenched military regimes. By mobilizing millions of working-class citizens, these historic rallies demonstrated the resilient democratic desire of the population. They weaponized the public sphere as a counter-weight to the praetorian state, forcing military dictators to repeatedly yield to electoral processes.

3. The Anti-Corruption Campaigns Led by Anna Hazare in Delhi 2013

This massive middle-class mobilization channeled public anger against systemic political corruption and corporate cronyism. Operating under the banner of the "India Against Corruption" movement, this campaign paralyzed the federal capital and captured the national consciousness. It effectively illustrated

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

how civil society could leverage anti-elite sentiment to upend established electoral coalitions and force transparency reforms onto the legislative agenda.

4. The Violent Localized Assertions over Resources and Migration, such as the Shiv Sena's Campaigns in Mumbai

These nativist mobilizations weaponized identity-based grievances to control urban resources, jobs, and political power. By framing demographic shifts and migration as economic threats to native residents, these campaigns successfully manipulated urban anxieties. The resulting dynamics transformed a cosmopolitan economic center into a polarized space where access to state patronage was strictly policed along linguistic and regional lines.

India: The Secular Republic

The historical trajectory of India's post-colonial state is characterized by a remarkable rise followed by an informal, contemporary decline. The 1950 Constitution envisioned a democratic, secular, and socialist republic, establishing civilian control over the military and fostering vibrant multi-party competition. This formal system was strengthened over its first seven decades by informal norms, including the independence of the Election Commission and increased political participation by women and marginalized castes.

However, the political economy of the Indian state was built on a structural "triple alliance" consisting of the industrial bourgeoisie, the rural rich (proprietors), and the professional middle class, collaborating with global finance capital. By the 1980s, the Nehruvian paradigm—defined by a strong parliament, state-led economic planning, and diplomatic non-alignment—had reached its limits. The polity was strained under Indira Gandhi, and the overly bureaucratized economy grew too slowly to eliminate mass poverty. The half-baked economic reforms introduced by Rajiv Gandhi in 1985 ultimately plunged the state into an acute balance-of-payments crisis in 1991. This crisis forced the Congress-led government to implement controlled economic liberalization, causing GDP growth rates to rise dramatically. This economic boom, however, exacerbated regional and class inequalities, generating structural anxieties that majoritarian political forces have effectively exploited to build a new ideological hegemony, gradually reshaping secular state institutions from within.

Pakistan: The Praetorian State and Unified Military Hegemony

Pakistan's post-colonial state-building process has been defined by a deep structural imbalance between its weak civilian political institutions and an overdeveloped military-bureaucratic apparatus. Lacking a cohesive national party and facing deep geographical and linguistic divisions between West and East Pakistan, the country took nine years to produce its first constitution in 1956. This document, which established an Islamic Republic, was rejected by Bengali autonomists and failed to arrest political instability. This institutional vacuum allowed the military to position itself as the sole guarantor of national survival, entrenching a praetorian political culture where civilian governments serve at the pleasure of the high command.

By 2025–2026, the Pakistani military had consolidated its state authority under Field Marshal Syed Asim Munir Ahmed Shah. Promoted to the five-star rank of Field Marshal in May 2025 following a brief military conflict with India, Munir became only the second officer in Pakistan's history to hold this rank. In November 2025, the Parliament passed the 27th Constitutional Amendment, elevating Munir to the newly created post of Chief of Defence Forces (CDF). This amendment gave him unified command over all branches of the armed forces and granted him lifelong immunity from criminal prosecution. This unprecedented consolidation effectively formalized the military's control over the state, reducing civilian governance to an administrative facade and insulating the military leadership from any form of judicial oversight.

Field Marshal Munir has expanded military control over critical public policy domains:

Economic Intervention: Through the civil-military Special Investment Facilitation Council (SIFC), the military directly coordinates economic decision-making, fast-tracking multi-billion-dollar investment agreements with Gulf states. This setup places key state assets and resource allocation under direct military control, sidelining civilian ministries and parliamentary oversight.

Demographic Policy: In July 2026, Prime Minister Shehbaz Sharif placed Field Marshal Munir on a high-level committee on population management, officially inserting the military into social and provincial policy to address Pakistan's 2.55% annual population growth rate. This deployment of the security apparatus into the social fabric redefines demographic growth as a national security threat rather than a socio-economic issue.

Political Crackdown: The military has maintained a firm grip on the state, executing a court martial of former ISI Director-General Faiz Hameed, managing the mainstream press, and keeping former Prime Minister Imran Khan imprisoned despite unexpectedly strong support for Khan's party in the 2024 elections. This ongoing suppression highlights the military's determination to neutralize political defiance and maintain its systemic hegemony by breaking traditional political alliances.

Bangladesh: From Military Capture to the 2026 Democratic Transition

Bangladesh's post-colonial trajectory has been a continuous struggle to reconcile ethno-linguistic nationalism with constitutional justice. The 1972 Constitution established a parliamentary democracy, but the young republic was immediately engulfed in severe administrative and economic crises. In January 1975, Sheikh Mujibur Rahman launched the "Second Revolution," passing the Fourth Amendment to establish a presidential, one-party state under BAKSAL, which outlawed all other political organizations. This authoritarian phase ended with Mujib's assassination in August 1975, initiating fifteen years of military rule characterized by bloody putsches, mutinies, and the execution of numerous political and military leaders. Following the restoration of democracy in the 1990s, the political arena was defined by intense polarization between the Awami League and the Bangladesh Nationalist Party (BNP). This polarization culminated in a major "promissory coup" in December 2006, when a military-backed caretaker government assumed power, postponing elections to protect the political status quo against deepening intra-elite conflicts.

When Sheikh Hasina assumed office in 2009, her administration initiated a fifteen-year period of executive aggrandizement and strategic election manipulation, removing the caretaker government system in 2011 to make her incumbency permanent. The regime used state resources to reward allies, mobilize counter-demonstrations to intimidate opponents, and utilize security agencies to execute enforced disappearances. This authoritarian monopoly was dismantled by the July 2024 student-led uprising. Following the departure of Sheikh Hasina to India, Nobel laureate Muhammad Yunus was sworn in as Chief Adviser of an interim technocratic government on August 8, 2024, operating under the "doctrine of necessity" after the Supreme Court ruled that the constitutional vacuum required extraordinary remedy. This interim administration faced the monumental task of rebuilding shattered regulatory bodies, depoliticizing the civil service, and reforming electoral laws to ensure that the hard-won transition of 2026 would lead to a stable and accountable democratic order.

Myanmar: Ethnic Fragmentation

Myanmar's post-colonial state formation represents an extreme trajectory of direct military rule, where the armed forces (Tatmadaw) have systematically crushed representative institutions. Following independence in 1948, the parliamentary government under Prime Minister U Nu struggled to maintain authority amidst ethnic and communist insurgencies. In 1958, the ruling Anti-Fascist People's Freedom League (AFPFL) split into two warring factions—the Nu-Tin and Swe-Nyein parties—destabilizing the country and prompting U Nu to invite General Ne Win to form a caretaker government. Although elections were held in 1960 and civilian rule briefly restored, Ne Win staged a definitive coup on March 2, 1962, arresting U Nu and establishing the Revolutionary Council. The Tatmadaw justified the coup as a national security imperative to check the disintegration of the country, fearing that U Nu's willingness to discuss ethnic federalism would lead to the secession of the Shan and Karen states. The military regime established a highly repressive, isolated socialist state under the Burma Socialist Programme Party (BSPP), nationalizing all major economic enterprises and systematically excluding foreign and minority traders. This strategy turned the state into an extraction mechanism for the military elite, entrenching

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

decades of armed conflict in the peripheral borderlands.

Following the military coup of February 2021, which deposed Aung San Suu Kyi's elected government, the junta under Min Aung Hlaing sought to formalize its grip on power by conducting a stage-managed, three-phase general election between December 28, 2025, and January 25, 2026. The electoral process was widely decried as a sham by the United Nations and Western powers:

Dissolution of the Opposition: The National League for Democracy (NLD) and the Shan Nationalities League for Democracy (SNLD) were formally dissolved by the military-controlled Union Election Commission (UEC) for refusing to register under repressive new party laws. This move removed any genuine political opposition, forcing democratic resistance movements underground or into armed coalitions.

Structural Manipulation: The junta switched the electoral system from First-Past-The-Post to Proportional Representation, which, when combined with the 25% of seats constitutionally reserved for military officers, ensured that the military-proxy Union Solidarity and Development Party (USDP) could govern with a minimal share of the popular vote. This architecture was designed to guarantee permanent military veto power over any future legislative initiatives.

Plunging Turnout and Legitimacy: Voter turnout plummeted to an abysmal 13.1 million votes, compared to 25.9 million in the 2020 election, with participation in conflict zones like Chin State falling below 5%. This massive boycott highlighted the complete domestic rejection of the junta's electoral project, confirming that the military state has lost territorial and administrative control over large portions of the country.

Conclusions

The comparative study of India, Pakistan, Bangladesh, and Myanmar demonstrates that the trajectory of democracy in South Asia is determined not by a simple transition from authoritarianism to consolidation, but by the ongoing struggle to manage the structural legacies of the colonial state. While India remains a resilient but informally hollowing hybrid regime, Pakistan presents a deeply institutionalized praetorian model where the military directly manages civilian policy and resources. Bangladesh's successful 2026 transition represents a historic opportunity to build a decentralized, transparent democracy, whereas Myanmar's direct military rule has collapsed into a devastating polycrisis and territorial fragmentation. Ultimately, the future of the South Asian democratic project depends on the region's ability to decolonize its administrative tools and build inclusive, accountable institutions that represent its diverse populations.

Research Scholar, Guest Faculty
Department of Political Science
NCWEB, University of Delhi

References:

1. Alavi, H. (1972). The state in post-colonial societies: Pakistan and Bangladesh. *New Left Review*, 74(1), 59–81.
2. Bardhan, P. (1998). *The political economy of development in India* (Expanded ed.). Oxford University Press.
3. Callahan, M. P. (2003). *Making enemies: War and state building in Burma*. Cornell University Press.
4. Chadda, M. (2000). *Building democracy in South Asia: India, Nepal, Pakistan*. Lynne Rienner Publishers.
5. Jalal, A. (1995). *Democracy and authoritarianism in South Asia: A comparative and historical perspective*. Cambridge University Press.
6. Jaffrelot, C. (2015). *The Pakistan paradox: Instability and resilience*. Oxford University Press.
7. Kaviraj, S. (2010). *The trajectories of the Indian state: Politics and ideas*. Permanent Black.
8. Riaz, A. (2016). *Bangladesh: A political history since independence*. I.B. Tauris.
9. deSouza, P. R., Palshikar, S., & Yadav, Y. (2008). *Politics and society between elections: Gender, caste, and local government in South Asia*. Routledge.

Research Paper

Aabhankita

Upstream Abundance, Downstream Power: China's Processing Dominance and the Geopolitics of Critical Mineral Supply Chains

Abstract

The global shift to green energy and high-tech industries has spotlighted "critical minerals" – lithium, cobalt, rare earths, graphite, nickel, and others – that are crucial for batteries, electronics, defense, and infrastructure. While these minerals are geographically widespread (the "upstream" end of the supply chain), downstream processing and refining capacity are highly concentrated, especially in China. This skew creates strategic dependencies: even resource-rich countries remain reliant on a few processing hubs. This paper examines China's near-monopoly on critical mineral processing, its geopolitical implications, and how resource-owning nations, including India and African producers, are responding. We document current production and processing shares (Table 1), analyze case studies (Australia, DRC, Chile), and review international initiatives (EU, Quad, Minerals Security Partnership) aimed at diversifying and adding value locally. We also explore India's critical-minerals policy and its potential role. We find that Chinese firms dominate refining and component manufacturing (for example, China refines 91% of rare-earth oxides and over 90% of natural graphite). This gives China market leverage (e.g. export controls on magnets) and leaves upstream exporters with limited value-addition. Emerging strategies – such as allied investment in processing, recycling, and secondary markets – aim to counterbalance this. India has launched a National Critical Minerals Mission and Processing Parks to build domestic capacity. Africa and Latin America are seeking partnerships (EU's Critical Raw Materials Club, US-led initiatives) to develop local refining. The analysis highlights the challenge: abundant reserves do not guarantee security unless backed by downstream capabilities.

Keywords

Critical minerals; supply chain; processing; China; geopolitics; resource dependence; India; Africa; Rare Earth Elements; lithium; cobalt; industrial policy.

China's Dominance in Critical Minerals Processing

China has strategically built capacity across almost the entire critical-mineral value chain – from mining and beneficiation to refining and component manufacturing. As a result, **most processing of key minerals occurs in China**, even if extraction happens elsewhere. For example, in 2024 China accounted for about 91% of global rare-earth refining and 94% of permanent-magnet manufacturing. China also produces and processes the vast majority of global graphite: it supplied 79% of mined natural graphite in 2024 and **processes over 90% of world's graphite**. In battery metals, Chinese firms are heavily involved in upstream mines (owning 80% of cobalt production in the DRC) and **control two-thirds of global lithium and cobalt processing capacity** as of 2022.

Chinese industrial policy (e.g. "Made in China 2025") has long prioritized critical minerals. The country invested billions in overseas mines (securing 50% of the "Lithium Triangle" resources) and built domestic refining plants. It then leveraged economies of scale to export battery materials and components:

in 2023 China exported 58% of processed battery minerals (mainly synthetic graphite and cathodes) globally. This upstream-downstream strategy – control the raw inputs and the refining – gave China "near-total dominance" over many critical mineral markets. China's ability to tighten exports further showed this clout: in 2025 Beijing temporarily imposed export licenses on seven heavy rare-earth elements and related magnets, leading to global supply anxiety and production slowdowns in the US, Europe and Japan.

This **processing concentration** means that having natural reserves is no guarantee of autonomy. For instance, Australia is the world's largest lithium producer, yet until recently *almost all* its spodumene ore was shipped to Asia for refining. In 2023 Australia mined 394,000 tonnes of lithium carbonate equivalent (LCE), but produced only 11,000 tonnes of battery-grade lithium chemicals domestically. In other words, **Australia exported 97% of its lithium as raw ore**. The quote in Table 1 illustrates this split in major minerals. Similarly, the Democratic Republic of Congo (DRC) supplies 60% of world cobalt output, yet it has virtually no refining capacity; most DRC cobalt is sent to Chinese smelters. Even Chile's huge lithium output (the other half of the Lithium Triangle) must compete in a global market where China can set price and terms.

China's dominance is the result of persistent investment and market control. As noted in a U.S. policy analysis: "China's near-total control over many critical minerals – and willingness to weaponize that dominance – put the world on notice" (CFR, 2025). This report observed that China pursued "supply-side expansion with powerful domestic demand, investing in fast-growing industries" and thereby consolidated a "near-total dominance". Today, **China refines nearly 100% of rare earths for magnets** and dominates processing of lithium, cobalt and graphite. Table 1 summarizes current production vs processing for key minerals.

Mineral	**Top Producer(s)**	**Share of Global Production**	**Top Processor(s)**	**Share of Processing/ Refining**
Lithium	Australia (394 kt LCE mined)	55% (Australia largest)	China	67% of Li-ion chemical capacity
Cobalt	DR Congo (65% in 2023)	65–70% (DRC)	China	79% refined cobalt (2024)
Graphite (natural)	China (1.27 Mt in 2024)	60–80% (China)	China	>90% processed (2022)
Rare Earth (NdPr)	China (60% of magnet-REE, 2024)	60% of magnet-RE mined (2024)	China	91% refined (2024)
Nickel	Indonesia (34%)** (2023) [source]	25–30% (Indonesia)	China/Indonesia	China processes major share (via smelters)

Table 1: Leading mining vs processing countries for selected critical minerals. Even countries with abundant resources (Australia, Congo, Indonesia, etc.) rely on Chinese (and allied) downstream processing. Sources: EIA (2025); IEA (2026); CEEW India report (2024).

The **imbalanced value chain** means resource-exporting countries capture only a fraction of value. A rare earth oxide might be mined in Australia or Malawi, shipped to China for separation into Nd and Pr, alloyed into magnets, and finally assembled into motors or electronics—often returning to the originating country as high-value products. In a captive market, China gains the lion's share of profits and strategic leverage, while producers suffer from "Dutch-disease" dependency.

Geopolitical Implications and Supply-Chain Dependencies

The concentration of processing capacity in China has clear geopolitical ramifications. It enables China to influence global markets and even exert coercion. In 2025, for example, China tightened export controls on certain rare-earth metals and processing technologies. According to the IEA, this action "demonstrat[ed] its

ability to restrict global access to rare-earth elements ... nearly bringing vast swaths of the global economy to a standstill". Western automakers struggled to obtain magnet supplies, and some factories slowed production. The IEA estimated that, had the controls been fully implemented, $6.5 trillion of downstream production outside China would be at risk, with the US and EU facing over $1.5 trillion in potential losses.

China's leverage is not limited to rare earths. China's state and private firms own controlling interests in many foreign mines (DRC cobalt, Indonesian nickel, Latin American lithium, etc.), giving them preferred access to these raw materials. They can coordinate supply, pricing, and technology transfer. Chinese firms also dominate downstream manufacturing: about 90% of global Li-ion battery production capacity and 75% of solar PV manufacturing are in China (including via Chinese factories in Asia). Thus, **control at one stage propagates advantages through the chain**.

This reality has prompted political responses. The EU's new Critical Raw Materials Act (2023) explicitly aims to "break China's near-monopoly on processing" by requiring that no more than 65% of any critical raw material come from a single third country at any stage. The Commission notes stark dependencies: e.g., "100% of the rare earths used for permanent magnets are refined in China". Such figures underline Europe's vulnerability. The EU has since launched a "Critical Raw Materials Club" to partner with suppliers and invest in processing projects in and outside Europe (recent deals with countries like Canada, Greenland, Namibia, etc.).

Likewise, the United States and allies are forging alliances. In May 2026 the Quad (Australia, India, Japan, US) launched a **Critical Minerals Initiative**. Quad foreign ministers pledged a supply-chain framework to coordinate policy tools and investments in mining, processing, and recycling. This was partly in response to China's halt of exports to Japan in late 2025 following a territorial spat – a clear sign of how mineral supply can be weaponized. The Quad initiative "will guide how to leverage economic policy tools and coordinate investment to strengthen critical minerals supply chains – including in mining and processing – and in critical minerals recycling," according to US Secretary of State M. Rubio. The Quad aims to mobilize investment (reports suggest targets of ~$20 billion) in like-minded countries' industries to reduce dependence on Chinese refiners.

Similarly, the US-led Minerals Security Partnership (MSP) brings together 15 countries plus the EU and Japan to cooperate on responsible sourcing and local processing. The MSP envisions linking resource-rich nations and end-users via joint ventures, funding for capacity building, and technical assistance. NATO and EU frameworks have also treated critical minerals as a matter of strategic security: e.g., the US-EU Trade and Technology Council in 2023 set up working groups on raw materials, and G7 nations discussed pooled stockpiles and industrial projects.

China's market power also affects developing countries. In the DRC, for instance, artisanal and small-scale mining (ASM) of cobalt is widespread. Yet Congo has no domestic refining capacity and depends on Chinese companies to process its minerals. This dynamic can reinforce the "resource curse." Al Jazeera (2026) reported Congolese voices lamenting exploitation: despite sitting on huge lithium, cobalt and copper reserves, local communities see minimal benefit, instead encountering land grabs and harsh labor conditions. "We are exploited in mineral extraction," said a Congolese economics student, noting that foreign multinationals profit while locals suffer poverty and unsafe working conditions. These complaints echo academic observations: international author Siddharth Kara documented "modern slavery" and child labor in Congo's cobalt mines, highlighting the social costs of a mineral boom not captured in local development. The contrast is stark: **"Upstream abundance" of resources, yet "downstream power" (and profits) flow abroad**.

Likewise, other resource-rich states depend on foreign processors. Chile's lithium is largely exported as brine or carbonate to China or Korea for conversion into battery chemicals. Brazil's niobium (a critical metal for aerospace) is mostly sold as ore. Mongolia's uranium is exported to Russia or China for enrichment. In every case, lacking domestic refining or fabrication means lost value and leverage.

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

Case Studies of Dependence

Australia (Lithium, Nickel, Rare Earths): Australia exemplifies the paradox of abundant mining with low downstream value-add. It is the world's leading producer of lithium and a top cobalt, nickel and graphite miner, yet until recently almost all its output was exported. Chinese and allied firms dominated the limited refining: for example, Kwinana lithium hydroxide plant was majority-owned by China's Tianqi Lithium. To capture more value, Australia announced strategies to build "downstream capabilities" (e.g. a $1 billion fund for processing projects). Officials note that if Australia expanded refining and battery component manufacturing, its GDP from minerals could nearly double by 2040. Australia is also part of alliance projects: it hosts a new multi-national lithium chemical plant (Albemarle-Kemerton, US-backed) and participates in the MSP. Nevertheless, it remains wary: 80% of Australia's lithium output has Chinese investment or offtake commitments, meaning local refiners may be starved of supply.

Democratic Republic of Congo (Cobalt, Copper): Congo produces ~60–70% of world cobalt and significant copper, yet it has virtually no processing industry. Chinese firms fund and manage most large-scale cobalt mines (Glencore's Mutanda, Sichuan Hongda's Sicomines JV, etc.). The result is "resource abduction": cobalt ore or concentrates are sent to China, then used in battery cathodes and EVs mostly built in Asia or Europe. Congolese government has signed "minerals-for-security" deals with the US and China, hoping to use revenues for development. But local critics argue that unless processing occurs in-country, the DRC's resource wealth will not translate into jobs or infrastructure. This concern has spurred recent policy: the DRC revised mining law to mandate more domestic transformation (though capacity remains limited), and is discussing plans for new smelters. Internationally, Western investors have been slow to enter Congo due to stability issues, leaving Chinese companies to deepen their control.

Artisanal mining adds a grim layer. Hundreds of thousands of small-scale miners, including children, toil in Congolese cobalt pits under primitive conditions. They are paid extremely low wages, often below the poverty line, and operate outside tax and regulatory systems. Even if ASM ores feed into official channels via upgrading factories, the miners themselves rarely see the technological or economic benefits. Progress on formalizing ASM (ILO's GALAB project, industry certification like the Cobalt Refinery Verification Standard) is slow. The human cost underscores the argument that **raw exports without local refining perpetuate inequality**.

Chile/Argentina/Bolivia (Lithium): The so-called Lithium Triangle holds over half of Earth's lithium. Argentina and Chile export brine or concentrate, while China and South Korea invest in local conversion plants (e.g. SQM has a JV with Ganfeng Lithium in Chile). Bolivia has struggled to operationalize its massive salt flat deposit, partly because it lacks capital and refining partners (China tried to help but with limited success). The US has only now begun importing more lithium from Latin America under new trade incentives (battery mineral provisions in USMCA, Inflation Reduction Act tax credits, etc.). The EU is also courting South American suppliers for long-term contracts. Still, processing remains scarce locally: most "battery-grade" hydroxide and chemicals come from Asia. This means future vehicles labelled as "American" or "European" EVs may rely on Asian-refined lithium from Latin American ores.

These cases illustrate a broader dynamic: **exporters of "upstream abundance" remain downstream-dependent**. The location of processing determines who captures the innovation, profits and security. Nations are therefore looking to alter this balance.

International Responses and Partnerships

Faced with China's stranglehold, many governments and organizations are pursuing strategies to diversify and develop local value chains. These include:

• **Allied industrial investments:** As noted, the Quad and MSP seek to mobilize funds (public and private) to build mines and processing in like-minded countries. For instance, the EU's Critical Raw Materials Act aims for EU to meet by 2030 at least 10% of its extraction needs, 40% of processing and 25% of recycling internally. Several EU consortia are

now financing refineries for battery materials in Spain, Finland and elsewhere. The U.S. CHIPS and Science Act (2022) includes tax credits for domestic critical minerals processing plants. These policies aim to make allied supply chains self-reliant (or multilateral) rather than reliant on China.

• **Bilateral/multilateral partnerships:** The U.S. formed the Indo-Pacific Economic Framework for Prosperity (IPEF) which includes critical minerals, partnering with Australia, Japan and others on technology and standards. The Japan-EU-US trilateral dialogue (launched 2023) covers rare-earth recycling and supplier trust networks. The World Bank's Industrial and Finance Corporation (IFC) has increased lending for mines in Africa with conditions on environmental/human rights and "backward integration" (like building refineries or plants).

• **UN and development agencies:** As UNCTAD noted, the key is not just extraction volume but how much *value* is captured domestically. The UNCTAD Deputy Secretary-General in 2025 urged new partnerships to help developing countries expand "refining and processing and better connect mining to other sectors". They advocate creating regional processing hubs in Africa or Asia, boosting technical skills, and tying trade deals to capacity building. The UN's Global Battery Alliance (a public-private platform) is working on supply-chain transparency and encouraging investment in sustainable value-add in mining countries. For example, UN-supported projects in Malawi and Namibia are exploring onshore processing of phosphate and rare-earth sands, respectively.

• **East–West competition in Africa:** China long dominated African critical minerals (Guinea bauxite, DRC copper/cobalt, Zimbabwe chromium, South Africa PGMs, etc.). But now Western firms and governments are stepping up. The U.S. launched Prosper Africa, and later PEACE initiatives, to connect U.S. investors with African mining projects; the EU's Global Gateway and Team Europe fund are targeting projects like a new battery gigafactory in Ghana or a cobalt refinery in Katanga (DRC). India also has an "Africa mining fund" and plans to invest in Madagascar (graphite, ilmenite) and Mozambique (rare earths) to secure imports. The AfCFTA (African Continental Free Trade Area) could enable regional value chains – e.g. West African bauxite refining feeding a local aluminum industry – but progress is uneven.

• **Domestic policy shifts:** Many producing countries are altering rules to incentivize processing at home. For instance, Malaysia (producer of tin and rare earths) has tightened export licensing to encourage downstream processing. Indonesia famously banned nickel ore exports in 2020 and now requires foreign firms to build smelters (e.g. to produce nickel pig iron for batteries). The DRC's revised mining code (2023) imposes taxes or restrictions on exporting certain minerals without refining (though these laws are hard to enforce). In India, new regulations encourage companies to do "pre-production beneficiation" for some minerals.

These efforts have achieved some results but progress is gradual. New processing facilities take years to build, and the private sector often hesitates without guaranteed ore supply. Moreover, in the short term, attempts to "onshore" have been limited: e.g., most European car batteries still depend on Asian precursors; the U.S. has only a handful of operating critical-minerals refineries (e.g. MP Materials' rare earth separation plant opened in 2022). The graph of political commitments and investments (Appendix Fig. 1) shows accelerating interest post-2023, but actual output shifts will lag.

India's Critical Minerals Strategy and Opportunities

As the world's fourth-largest energy consumer and a growing tech/manufacturing hub, India has a vital stake in critical mineral supply chains. Unlike China, India is largely resource-poor in these materials. It has no significant lithium reserves (though small hard-rock deposits were recently discovered in Karnataka), very limited cobalt or nickel, and a nascent rare-earth industry (Monazite sands on the coast yield thorium and rare-earths). India does have large reserves of bulk minerals (iron, bauxite, zinc, coal) and some battery minerals: graphite and manganese are mined, and India is a top phosphorite (phosphate) exporter. It also has the world's biggest thorium reserves, which are seen as a future rare-

earth source.

Given this, India remains "dependent on imports for nearly all of its lithium, cobalt, and nickel" needs. The CEEW report (2024) notes: "India is not among the top three producing countries for many critical minerals relevant for clean energy, and is dependent on imports for nearly all of its lithium, cobalt, and nickel requirements". This import reliance makes India vulnerable to global price shocks and supply disruptions. India's supply chain is further constrained by:

• **Raw material access:** India has few global mining assets, and domestic exploration had long been neglected. The government now auctions critical-mineral blocks (lithium, REE, etc.), but exploration and discovery take time.

• **Processing gaps:** For example, India consumes about 100 kt of Li-ion battery capacity but has minimal local lithium refining (until 2026, it had none). It must import lithium hydroxide/carbonate and anodes/cathodes. Similarly, India's small graphite and manganese output is largely shipped to China for value-add. The CEEW study found India has "limited processing capabilities" in battery and clean-tech minerals.

Policy actions: India recognizes these challenges. The Mines Ministry's 2025 "National Critical Minerals Mission" (budget ~$4 billion over 7 years) aims to develop strategic partnerships, exploration, processing parks, and recycling. Four processing parks are planned to attract investment in refining (cathode materials, anode materials, magnets, etc.). The government amended its mining law (MMDR Act) to speed up auctions of strategic minerals, and formed a new state-backed KABIL consortium to invest overseas (e.g., in Argentinian lithium, Malian phosphates, etc.). India also launched a National E-waste policy (2023) to capture materials from recycled electronics.

Potential contributions: India's existing industrial base offers advantages. India is among the world's top aluminum producers and steelmakers, and has competencies in metallurgy. For example, India's Hindustan Aluminum Company (NALCO) is studying converting domestic bauxite into alumina and aluminum alloys for EV components. India also has a pilot rare-earth processing plant at IREL (Kerala) and several beach-mineral (monazite) deposits. If scaled, India could process rare-earth concentrate into oxides and perhaps magnets (India's ISRO and DRDO use imported magnets for satellites/defense, so domestic production would aid security). India's graphite output (estimated ~50 kt of natural graphite) could supply some of its anode industry, which currently imports synthetic and natural graphite. Mining and processing at scale would require infrastructure improvements (roads, ports, power) in remote mining areas.

India in global geopolitics: On the supply side, India is now part of alliances. India joined the Quad Critical Minerals Initiative, and was one of the first eight countries in the Minerals Security Partnership. India is also negotiating with the EU and US for technology transfers and off-take guarantees: for instance, Indian companies aim to supply battery materials to Samsung and Tesla's supply chains. On the demand side, India's EV and renewable targets (e.g. 30% EV sales by 2030) will drive critical-mineral usage. This may incentivize domestic processing to avoid expensive imports.

Artisanal mining and governance: India faces issues in ASM too, notably mica (used in electronics and cosmetics) mined in Jharkhand/Bihar under unsafe conditions and linked to child labor. The government has imposed stricter controls (e.g. screening for child labor) and is trying to formalize the mica industry to ensure traceability. Lessons from global criticism (like Kara's exposé of Congo) resonate: India wants to avoid supply-chain reputation damage. Thus, India's policies emphasize ESG compliance for imported minerals and local supply chain ethics (e.g. drafting a "Minerals Security Act" similar to the U.S.'s draft).

Geopolitics and Global Strategies

The interplay of resource distribution and processing capacity has major geopolitical effects:

• **Resource Diplomacy:** Resource-rich governments are increasingly recognizing minerals as strategic assets, not just exports. Countries like Chile have raised taxes on lithium projects. African leaders (e.g. South Africa, Namibia) launched the **African Rare Earths Alliance** (2024) to coordinate policies and attract investment for local beneficiation. Russia, rich in nickel and PGM, leverages its position in energy

transition metals, though Western sanctions limit cooperation.

• **Economic Statecraft:** China has historically used non-tariff measures (export quotas, licensing) and direct foreign aid tied to mining projects as levers. For instance, China's Belt and Road financing often includes mining-railroad projects (e.g., Katanga rail in DRC). Western and allied approaches now include economic statecraft too: for example, the U.S. recently invoked the Defense Production Act to subsidize domestic refinery projects, and offered loan guarantees for allied ventures (like the Australia-US partnership in the Kemerton lithium refinery). The EU, via Team Europe, is providing grants for African gigafactories (e.g., a planned EV battery gigafactory in Morocco by 2030 with EU loans).

• **Technology and Innovation:** A long-term strategy is to reduce demand for critical minerals via technology. The CFR report argued for "leapfrogging" China by developing alternative materials (REE-free magnets, sodium-ion batteries, etc.) and recycling technologies. Recycling and "urban mining" could blunt supply bottlenecks. The EU and US have launched R&D programs (eg. EU's Critical Raw Materials Act funds, US ARPA-E projects) to recover minerals from waste. As one example, extracting cobalt and nickel from electric-vehicle battery "black mass" is advancing. These efforts, however, are nascent relative to the scale of current dependence.

• **Trade Alliances and Standards:** The complexity of supply chains has led to calls for like-minded "clubs" to ensure trusted supplies. The EU's proposed Critical Raw Materials Club would allow participating nations (including resource providers) to collectively negotiate with suppliers and agree on labor/ESG standards. The OECD has updated due-diligence guidelines for minerals, aiming to curb conflict minerals and human-rights abuses. Some analysts propose customs unions or trade agreements that ensure partner countries share refining capacity (for instance, an India-Japan FTA chapter on battery raw materials).

International Organizations: The International Energy Agency (IEA) has become a focal point for coordination on minerals: it now publishes annual outlooks for critical minerals and offers policy recommendations. The World Trade Organization (WTO) is being pressed to discipline export restrictions and subsidies, though China has defended its rare-earth export controls as security measures. The United Nations Sustainable Development Goals (especially SDG 7 on clean energy and SDG 17 on partnerships) are increasingly invoked in resource discussions, framing critical minerals as a global development issue.

Despite these moves, the new alliances have limits. China's retaliation (e.g. limiting rare-earth exports) remains a risk. The global market remains tight; in 2024–25 prices for lithium and cobalt fell due to oversupply, but sudden policy changes (like Indonesia banning nickel exports in the early 2020s) have previously triggered spikes. The lesson is that **diversification and resilience, not just domestic substitution, are key**. Countries are thus interested in geographic diversity (seeking African, Latin American, Australian sources) and multi-sourcing of processing (investing in Canada's graphite refineries, or India's prospective plants).

India-Africa and India's Strategic Role

A growing theme is India's engagement with Africa on minerals. India has long imported coal and iron ore from Africa; it now looks to cobalt, copper, nickel and lithium. For example, India's public companies (like Hindustan Copper and HZL) are exploring projects in Zambia, Namibia and Senegal. At the Uganda-DRC border, an India-led JV (US $3.5 billion) is building an oil-refining megaproject, hinting at Indian interest in securing energy and possibly associated minerals. India is also expanding its "resource diplomacy": with South Africa it signed an MoU on critical minerals (2024), and it co-sponsored an African Union resolution on sustainable mining (2023). These efforts open possibilities for joint ventures that include processing: e.g. African cobalt refined in Indian plants (similar to historical Indian iron/steel ties with Australia/Brazil).

India can offer technology and workforce: its steel industry could process African manganese and chromite into alloys; its chemicals sector can refine phosphates and lithium salts; its IT sector can manage supply-chain tracking systems. Moreover, India's "Make in India" initiatives have started to include

electronics, EVs and batteries, implying future demand for domestically-sourced materials. If India secures, say, a guaranteed supply of Congolese cobalt and invests in a fertilizer plant to utilize phosphate, it could create win-wins: Africa gets infrastructure and training, India gets resources.

However, India must navigate Chinese competition. China already has strong ties to DRC, Mozambique and Zimbabwe. India's counter-strategy often involves multilateral forums: as a Quad member, India emphasizes "Asian" supply chains including itself as a hub (for example, Samsung's battery plants in Noida use Indian lithium precursors). India is also part of the "Green Alliance" with France and other EU countries to invest in African green projects. These partnerships may encourage projects like an India-France financed battery cluster in South Africa's Northern Cape, using local manganese/nickel.

Conclusions

The landscape of critical mineral supply is marked by a paradox: **the raw materials themselves are geologically abundant in many countries, but the economic and strategic power lies in refining and manufacturing, largely concentrated in China**. This upstream-downstream imbalance means that resource-rich nations often remain dependent importers of high-end materials and technologies.

Our analysis shows that China's decade-long push has achieved striking dominance: it refines nearly all rare earths, graphite, and battery metals, and builds the components that power global tech and defense. When China enacts export controls (as in 2025) it reveals how concentrated bottlenecks threaten other economies. Responding to this, many countries are reshaping policy to "move up the value chain." For instance, Australia's multi-billion-dollar funds for processing, EU's capacity targets (10-40-25 benchmarks), and India's new Critical Minerals Mission all aim to convert extraction into a fuller supply chain.

The geopolitics are intense. Developing countries see an opportunity to escape the "resource curse" by insisting on investment in local processing and infrastructure, as UNCTAD urges. Investors and governments in consuming countries are carving out supply corridors through partnerships, investments, and stockpiling. The Quad, MSP, and EU clubs represent a new era of mineral diplomacy – a kind of industrial policy writ large, coordinated among democracies and allies.

For India, the moment is one of both risk and chance. Its booming economy will need minerals for decades, yet its domestic reserves and processing remain limited. India's strategy—auctioning mineral rights, subsidizing refineries, partnering abroad—acknowledges this gap. By focusing on technology (e.g. battery research), regional partnerships (Africa, Indo-Pacific), and regulatory reforms, India aims to convert its "participant" status into a "pioneer" in certain niches. For example, India's expertise in REM (rare earth metals) was historically tied to nuclear energy (thorium), which could be leveraged for civilian magnets.

The **key takeaway** is that simply holding natural resources is not enough. The value lies in *processing* and *manufacturing*. Countries rich in ore must adopt strategies to attract processing industries – whether through incentives, joint ventures, or regional integration – if they are to retain economic gains. At the same time, end-user nations must continue diversifying their supply chains and investing in innovation (substitutes, recycling). Only a concerted global effort, aligning climate, trade and development policies, can ensure that the transition to clean energy does not reproduce old patterns of dependency.

In an era where minerals are as strategically vital as oil, the race is on: **who will control the downstream, the real power lever – and at what cost to global equity and security?**

Research Scholar
Department of African Studies
University of Delhi

References:

- African Development Bank. (2024). *African Economic Outlook 2024*. African Development Bank.
- Benchmark Mineral Intelligence. (2024). *Lithium-ion battery supply chain rankings*. Benchmark Mineral Intelligence.
- Bridge, G. (2008). Global production networks

and the extractive sector: Governing resource-based development. *Journal of Economic Geography*.

- Bridge, G. (2009). The resource geopolitics of the energy transition. *Progress in Human Geography*.
- Bridge, G., Bouzarovski, S., Bradshaw, M., & Eyre, N. (2013). Geographies of energy transition: Space, place and the low-carbon economy. *Energy Policy, 53*, 331–340.
- Chatham House. (2023). *Critical minerals and the future of industrial strategy*. Chatham House.
- Church, C., & Crawford, A. (2018). *Green conflict minerals: The fuels of conflict in the transition to a low-carbon economy*. International Institute for Sustainable Development.
- European Commission. (2024). *Critical Raw Materials Act*. European Union.
- Farrell, H., & Newman, A. L. (2019). Weaponized interdependence: How global economic networks shape state coercion. *International Security, 44*(1), 42–79.
- Farrell, H., & Newman, A. L. (2023). *Underground empire: How America weaponized the world economy*. Henry Holt and Company.
- Government of India, Ministry of Mines. (2023). *Critical minerals for India*. Ministry of Mines.
- Government of India, Ministry of Mines. (2024). *National Critical Mineral Mission*. Ministry of Mines.
- Gracelin Baskaran, & Meredith Schwartz. (2024). *Critical minerals and global supply chains*. Center for Strategic and International Studies.
- International Energy Agency. (2021). *The role of critical minerals in clean energy transitions*. International Energy Agency.
- International Energy Agency. (2023). *Critical minerals market review 2023*. International Energy Agency.
- International Energy Agency. (2024). *Global critical minerals outlook 2024*. International Energy Agency.
- International Institute for Strategic Studies. (2024). *Strategic Survey 2024*. Routledge.
- International Renewable Energy Agency. (2023). *Geopolitics of the energy transition: Critical materials*. International Renewable Energy Agency.
- Kara, S. (2023). *Cobalt red: How the blood of the Congo powers our lives*. St. Martin's Press.
- Kaplan, R. D. (2012). *The revenge of geography: What the map tells us about coming conflicts and the battle against fate*. Random House.
- Khanij Bidesh India Ltd. (2024). *Annual report 2023–24*. Khanij Bidesh India Ltd.
- Lèbre, É., Stringer, M., Svobodova, K., Owen, J. R., Kemp, D., Côte, C., Arratia-Solar, A., Valenta, R. K., & Kemp, D. (2020). The social and environmental complexities of extracting energy transition metals. *Nature Communications, 11*, Article 4823.
- Lee, Y. S. (2021). *China's rise and the global supply chain*. Columbia University Press.
- Mancheri, N. A. (2015). World trade in rare earths, Chinese export restrictions, and implications. *Resources Policy, 46*, 262–271.
- Muro, M., et al. (2023). *Critical minerals and economic security*. Brookings Institution.
- Nye, J. S. (2011). *The future of power*. PublicAffairs.
- Organisation for Economic Co-operation and Development. (2024). *Global supply chains of critical minerals*. OECD Publishing.
- Overland, I. (2019). The geopolitics of renewable energy: Debunking four emerging myths. *Energy Research & Social Science, 49*, 36–40.
- United Nations Conference on Trade and Development. (2024). *Commodities at a glance: Special issue on critical energy transition minerals*. United Nations.
- U.S. Geological Survey. (2025). *Mineral commodity summaries 2025*. U.S. Department of the Interior.
- World Bank. (2020). *Minerals for climate action: The mineral intensity of the clean energy transition*. World Bank.

Research Paper

Mohit Yadav

Indian Perspective on Peace: Embracing the Idea of Vasudhaiva Kutumbakam

Abstract

This research article examines the Indian perspective on peace through the philosophical principle of Vasudhaiva Kutumbakam, a Sanskrit expression meaning "the world is one family." Rooted in the ancient Indian scriptural tradition, particularly the Maha Upanishad, the concept embodies a universal vision of human interconnectedness, mutual respect, compassion, and coexistence. The article explores how Vasudhaiva Kutumbakam has shaped Indian philosophical thought and contributed to India's understanding of peace as a multidimensional ideal encompassing harmony among individuals, societies, nations, and nature. Drawing upon classical Indian texts, scholarly interpretations, and contemporary policy discourse, the study analyzes the relevance of this principle in addressing modern global challenges such as conflict, inequality, climate change, and cultural polarization. The paper further discusses the ways in which India has incorporated the ethos of Vasudhaiva Kutumbakam into its diplomatic engagements and global initiatives, including its advocacy for inclusive development and multilateral cooperation. By situating the concept within both historical and contemporary contexts, the article argues that Vasudhaiva Kutumbakam offers a valuable ethical and philosophical framework for fostering sustainable peace and strengthening global solidarity. The study concludes that the Indian perspective on peace, grounded in this timeless ideal, remains highly relevant for promoting a more just, compassionate, and interconnected world order.

Keywords

Vasudhaiva Kutumbakam, Indian philosophy, Peace studies, Global harmony, Universal brotherhood, Indian diplomacy

Introduction

Peace has been one of the most enduring ideals in human civilization, sought by societies across time and cultures. In the Indian intellectual tradition, peace is not merely understood as the absence of conflict; rather, it is perceived as a comprehensive state of harmony among individuals, communities, nations, and the natural world. The Indian perspective on peace is deeply rooted in its philosophical and spiritual heritage, which emphasizes interconnectedness, moral responsibility, and the welfare of all beings. Among the various concepts that articulate this vision, Vasudhaiva Kutumbakam occupies a central place.

The phrase Vasudhaiva Kutumbakam, meaning "the world is one family," originates from the Maha Upanishad and has been widely regarded as a foundational expression of India's universalist worldview. The original verse states: "Ayam nijah paro veti ganana laghuchetasam; udaracharitanam tu vasudhaiva kutumbakam," which translates to "This is mine and that is yours is the calculation of the narrow-minded; for the noble-hearted, the whole world is one family" (Maha Upanishad, VI.71–73). This principle transcends geographical, cultural, religious, and political boundaries by affirming the intrinsic unity of humanity.

Indian philosophical traditions have long emphasized values such as ahimsa (non-violence),

dharma (righteous duty), karuna (compassion), and samadarshana (equanimity). These values collectively contribute to a holistic understanding of peace that extends beyond political stability to include ethical conduct, social justice, and spiritual well-being. Thinkers such as Mahatma Gandhi and Sarvepalli Radhakrishnan highlighted the importance of non-violence, truth, and universal brotherhood in creating a peaceful social order (Gandhi, 1927; Radhakrishnan, 1927).

In the contemporary global context, characterized by armed conflicts, environmental crises, economic inequalities, and cultural polarization, the principle of Vasudhaiva Kutumbakam offers a significant ethical framework for addressing collective challenges. It encourages cooperation rather than competition, dialogue rather than hostility, and mutual respect rather than exclusion. The relevance of this concept has been increasingly acknowledged in international discourse, particularly in discussions related to sustainable development, global governance, and intercultural understanding.

India has also invoked Vasudhaiva Kutumbakam in its diplomatic engagements and global initiatives. The theme was prominently adopted during India's G20 Presidency in 2023 under the slogan "One Earth, One Family, One Future," reflecting the country's aspiration to promote inclusive growth, environmental responsibility, and global solidarity. Such initiatives demonstrate how ancient philosophical principles can be adapted to contemporary international relations and peacebuilding efforts.

This article seeks to examine the Indian perspective on peace through the lens of Vasudhaiva Kutumbakam. It explores the historical and philosophical origins of the concept, analyzes its contribution to Indian ideas of peace and harmony, and assesses its relevance in addressing present-day global challenges. By integrating classical Indian thought with contemporary policy discourse, the study argues that Vasudhaiva Kutumbakam provides a valuable framework for fostering sustainable peace and strengthening a sense of shared human destiny.

Meaning and Origin of Vasudhaiva Kutumbakam

Vasudhaiva Kutumbakam is one of the most profound philosophical expressions in the Indian intellectual tradition. The phrase is composed of three Sanskrit words: Vasudha, meaning earth or world; Eva, meaning indeed; and Kutumbakam, meaning family. Together, the phrase translates as "the world is indeed one family." This concept conveys the idea that all human beings, irrespective of nationality, religion, ethnicity, language, or social status, are interconnected members of a single global family.

The origin of Vasudhaiva Kutumbakam is traced to the Maha Upanishad, one of the important texts within the corpus of Indian philosophical literature. The famous verse from the text states:

"Ayam nijah paro veti ganana laghuchetasam; udaracharitanam tu vasudhaiva kutumbakam."

"This is mine and that is yours is the calculation of the narrow-minded; for the noble-hearted, the whole world is one family." (Maha Upanishad, VI.71–73)

This verse highlights a moral distinction between narrow-mindedness and nobility of character. The narrow-minded person views the world through the lens of self-interest and division, categorizing people as insiders and outsiders. In contrast, the noble-hearted individual transcends such divisions and recognizes the essential unity of humanity. The verse thus encourages a universal outlook based on compassion, empathy, and inclusiveness.

The philosophical significance of Vasudhaiva Kutumbakam lies in its emphasis on inter-connectedness and shared responsibility. It reflects the broader Indian worldview that perceives all beings as part of a larger cosmic order. This perspective is closely associated with the Upanishadic idea of the unity of existence, which teaches that the same divine essence resides in all living beings (Radhakrishnan, 1927). Consequently, harming another person or community is viewed as ultimately detrimental to the larger human family.

The concept also aligns with the ethical principles of ahimsa (non-violence) and dharma (righteous duty). Ahimsa encourages respect for the dignity and well-being of all living beings, while dharma emphasizes moral responsibility and righteous conduct. Together, these principles reinforce the idea that peaceful coexistence requires individuals and societies to act with compassion, fairness, and mutual respect

(Gandhi, 1927).

Historically, Vasudhaiva Kutumbakam has influenced Indian cultural and social practices by fostering values of hospitality, tolerance, and coexistence. The Indian tradition of welcoming guests with the expression Atithi Devo Bhava ("the guest is equivalent to God") reflects this broader ethos of respect for all individuals, regardless of their background. Such practices demonstrate how philosophical principles have been integrated into everyday social conduct.

In contemporary discourse, Vasudhaiva Kutumbakam has gained renewed significance as a guiding principle for global peace and cooperation. The concept has been invoked in discussions on international relations, sustainable development, and global governance, emphasizing the need for collective action to address common challenges such as climate change, pandemics, economic inequality, and armed conflict. India's adoption of the theme "One Earth, One Family, One Future" during its G20 Presidency in 2023 illustrates the continued relevance of this ancient philosophy in shaping modern diplomatic and developmental agendas (Government of India, 2023).

Thus, Vasudhaiva Kutumbakam represents more than a spiritual or cultural ideal; it is a comprehensive ethical framework that advocates universal brotherhood, mutual respect, and shared responsibility. By encouraging individuals and nations to view themselves as part of a larger global family, the concept provides a timeless foundation for fostering peace, harmony, and cooperation in an increasingly interconnected world.

Indian Philosophical Foundations of Peace

The Indian perspective on peace is deeply rooted in its philosophical and spiritual traditions, which view peace as an integral aspect of individual, social, and cosmic harmony. Unlike approaches that define peace merely as the absence of conflict, Indian philosophy emphasizes a positive and holistic conception of peace that includes ethical conduct, spiritual realization, social justice, and harmonious relationships among all beings. This perspective has been shaped by a rich body of philosophical thought developed through the Vedas, Upanishads, Buddhist teachings, Jain philosophy, and later Hindu philosophical traditions.

One of the foundational principles of Indian thought is ahimsa, or non-violence. Ahimsa is not simply the avoidance of physical violence; it is a broader ethical commitment to refraining from causing harm through thoughts, words, or actions. Jainism and Buddhism placed particular emphasis on non-violence as a central moral virtue, while Hindu philosophical traditions also regarded it as essential for righteous living (Hiriyanna, 1932). Mahatma Gandhi later interpreted ahimsa as both a personal ethic and a social principle capable of transforming political and social conflicts through truth, compassion, and moral courage (Gandhi, 1927).

Another important foundation of the Indian perspective on peace is the concept of dharma, often translated as righteous duty, moral order, or ethical responsibility. Dharma guides individuals and societies toward actions that uphold justice, balance, and harmony. In classical Indian thought, peace cannot be sustained without adherence to dharma, because social disorder and conflict arise when individuals neglect their moral responsibilities. The Bhagavad Gita emphasizes that righteous action performed without selfish attachment contributes to both personal discipline and social harmony (Bhagavad Gita, 2.47).

The Upanishadic worldview further contributes to the Indian understanding of peace by emphasizing the unity of existence. The Upanishads teach that the same divine essence, or Atman, resides in all living beings and is ultimately connected with the universal reality, Brahman (Radhakrishnan, 1927). This realization of spiritual unity encourages individuals to transcend egoistic divisions and cultivate compassion, tolerance, and mutual respect. Peace, in this context, arises from recognizing the interconnectedness of all life and acting in accordance with that awareness.

Buddhist philosophy also provides a significant contribution to the Indian perspective on peace. The Buddha taught that suffering and conflict arise from attachment, ignorance, and selfish desire. Through the practice of the Noble Eightfold Path, individuals can cultivate right understanding, ethical conduct, and mental discipline, thereby reducing suffering and promoting harmony (Rahula, 1959). The Buddhist emphasis on compassion (karuna) and loving-kindness (metta) reinforces the idea that peace begins

with the transformation of individual consciousness and extends outward to society.

Similarly, Jain philosophy advances a rigorous commitment to non-violence and respect for all forms of life. Jain thinkers argued that every living being possesses intrinsic value and deserves protection from harm. This ethical outlook promotes tolerance, self-restraint, and peaceful coexistence, all of which are essential components of a harmonious society (Dundas, 2002).

Indian philosophical traditions also stress the importance of samadarshana, or equanimity, which refers to the ability to maintain a balanced and impartial attitude toward all beings. Equanimity encourages individuals to overcome prejudices and cultivate a sense of equality and respect. Such an attitude is fundamental to building peaceful relationships within diverse societies.

Vasudhaiva Kutumbakam as a Principle of Universal Brotherhood

Vasudhaiva Kutumbakam, meaning "the world is one family," represents one of the most profound expressions of universal brotherhood in Indian philosophy. The concept transcends geographical, cultural, religious, and political boundaries by affirming that all human beings are interconnected members of a single global family. This principle challenges narrow notions of identity and encourages individuals and societies to cultivate empathy, compassion, and mutual respect toward others.

The philosophical basis of Vasudhaiva Kutumbakam lies in the recognition of the essential unity of existence. Indian philosophical traditions, particularly the Upanishadic worldview, emphasize that the same divine essence resides in all living beings (Radhakrishnan, 1927). This understanding fosters a sense of shared humanity and moral responsibility. If all individuals are interconnected at a spiritual level, then the suffering or well-being of one person cannot be separated from the welfare of the larger human community.

Universal brotherhood, as articulated through Vasudhaiva Kutumbakam, is closely linked to the ethical values of ahimsa (non-violence) and karuna (compassion). Ahimsa requires individuals to refrain from causing harm to others, while karuna encourages active concern for the welfare of all beings. Together, these values create a moral framework in which peace is sustained through respect, empathy, and cooperation rather than through coercion or domination (Gandhi, 1927).

In the context of international relations, Vasudhaiva Kutumbakam provides a normative framework for peaceful coexistence among nations. It suggests that countries should not pursue their interests solely through competition or conflict but should recognize their interdependence and shared responsibility for global welfare. This perspective aligns with principles such as multilateralism, cooperation, and collective action, which are essential for addressing transnational challenges such as climate change, pandemics, economic inequality, and armed conflict (Mohan, 2004).

Contemporary global challenges further highlight the relevance of Vasudhaiva Kutumbakam. In an increasingly interconnected world, crises in one region can have far-reaching consequences for the entire international community. The COVID-19 pandemic, for example, demonstrated the necessity of global cooperation in public health, scientific research, and humanitarian assistance. The principle of "the world is one family" encourages nations to respond to such challenges with solidarity and collective responsibility rather than isolationism or narrow self-interest.

Thus, Vasudhaiva Kutumbakam serves as a powerful principle of universal brotherhood by promoting the values of interconnectedness, compassion, inclusivity, and shared responsibility. It offers an ethical foundation for building harmonious relationships among individuals, communities, and nations. By encouraging humanity to transcend narrow divisions and recognize its common destiny, the concept provides a timeless framework for fostering peace, cooperation, and global solidarity.

Contemporary Relevance in Global Peace and Diplomacy

In the twenty-first century, the principle of Vasudhaiva Kutumbakam has acquired renewed significance as the world confronts complex and interconnected challenges. Armed conflicts, climate change, pandemics, economic inequalities, terrorism, and cultural polarization have demonstrated that the

well-being of nations and communities is closely interdependent. In such a context, the Indian philosophical ideal of "the world is one family" provides an ethical framework for promoting cooperation, dialogue, and collective responsibility in global affairs.

One of the most important contemporary applications of Vasudhaiva Kutumbakam is in the field of international diplomacy. The concept encourages nations to view themselves not as isolated entities pursuing narrow self-interest but as members of a broader global community with shared responsibilities. This perspective aligns with the principles of multilateralism, which emphasize cooperation among states in addressing transnational issues such as climate change, public health crises, and sustainable development (Bajpai, 2003).

India has increasingly invoked Vasudhaiva Kutumbakam in its diplomatic discourse. A notable example is the theme adopted during India's G20 Presidency in 2023: "One Earth, One Family, One Future." This theme reflected India's effort to connect ancient philosophical values with contemporary global priorities, emphasizing inclusive growth, environmental sustainability, and collective action (Government of India, 2023). By using this theme, India sought to promote a vision of international relations based on solidarity, mutual respect, and shared prosperity.

The relevance of Vasudhaiva Kutumbakam is particularly evident in the context of global health challenges. The COVID-19 pandemic highlighted the interconnected nature of modern societies, as the spread of disease in one region rapidly affected the entire world. The crisis demonstrated the necessity of international collaboration in scientific research, vaccine distribution, medical assistance, and public health responses. India's initiatives such as vaccine diplomacy and humanitarian assistance to various countries reflected the practical application of the principle that humanity constitutes one interconnected family (Mohan, 2004).

In the sphere of peacebuilding, Vasudhaiva Kutumbakam promotes dialogue and reconciliation as alternatives to conflict and hostility. The principle encourages respect for cultural diversity and the peaceful resolution of disputes through understanding and negotiation. In a world marked by ethnic tensions, religious conflicts, and geopolitical rivalries, this approach offers a constructive framework for fostering mutual trust and reducing antagonism among communities and nations.

The concept also has relevance for the promotion of intercultural understanding. In an era of globalization, interactions among diverse cultures have increased significantly. While such interactions can enrich societies, they can also generate misunderstandings and tensions. Vasudhaiva Kutumbakam encourages individuals and societies to appreciate cultural diversity while recognizing the shared values and aspirations that unite humanity. This outlook fosters tolerance, respect, and empathy, which are essential for building peaceful and harmonious societies.

Thus, Vasudhaiva Kutumbakam continues to offer a meaningful framework for global peace and diplomacy. By emphasizing interconnectedness, shared responsibility, and universal brotherhood, the concept encourages nations and individuals to work together in creating a more peaceful, just, and sustainable world order.

Challenges and Limitations

While Vasudhaiva Kutumbakam presents an inspiring vision of universal brotherhood and global harmony, its practical application in contemporary international relations is not without challenges. The principle advocates cooperation, mutual respect, and shared responsibility, yet the realities of global politics are often shaped by competing national interests, power asymmetries, economic inequalities, and ideological differences. These factors can limit the extent to which the ideal of "the world is one family" is translated into concrete policies and actions.

One major challenge is the persistence of national self-interest in international relations. States are primarily responsible for protecting their sovereignty, security, and economic interests. Consequently, governments may prioritize domestic concerns over broader global welfare, especially when resources are scarce or strategic competition is intense. This tendency can create tension between the universalistic ethos of Vasudhaiva Kutumbakam and the realist dynamics of international politics, where power and

national advantage often play decisive roles (Mohan, 2004).

Another limitation arises from economic disparities among nations. Although the concept emphasizes equality and shared humanity, significant differences in wealth, technological capacity, and access to resources can hinder equitable cooperation. Developing countries may face structural constraints that limit their ability to participate fully in global initiatives, while wealthier nations may exert disproportionate influence over international institutions and decision-making processes. Such inequalities can weaken the sense of collective responsibility that Vasudhaiva Kutumbakam seeks to promote.

Cultural and ideological differences also pose challenges to the realization of universal brotherhood. The world is characterized by diverse political systems, religious beliefs, social values, and historical experiences. While diversity can enrich global society, it can also lead to misunderstandings, mistrust, and conflict. The principle of Vasudhaiva Kutumbakam requires a willingness to engage in dialogue and appreciate cultural plurality, but such openness may be difficult to sustain in contexts marked by polarization and identity-based tensions (Sen, 2005).

Critics may also argue that the concept is idealistic and difficult to apply uniformly in situations involving conflict, aggression, or security threats. In cases where nations face external threats or internal instability, governments may adopt policies focused on deterrence, defense, and strategic alliances. Such measures, while sometimes necessary for maintaining security, may appear inconsistent with the universalistic and cooperative spirit of Vasudhaiva Kutumbakam. This highlights the need to balance ethical ideals with practical considerations in the pursuit of peace.

Despite these limitations, the challenges associated with Vasudhaiva Kutumbakam do not diminish its value as a normative framework. Rather, they underscore the importance of developing institutional and policy mechanisms that can support the realization of its principles. International organizations, regional cooperation frameworks, and multilateral agreements can play a crucial role in translating the ethos of shared responsibility into practical action. Additionally, education, intercultural dialogue, and people-to-people exchanges can help cultivate the attitudes of empathy and mutual respect that are essential for sustaining universal brotherhood.

Thus, while Vasudhaiva Kutumbakam faces practical challenges in its implementation, it remains a significant philosophical and ethical ideal. Its limitations highlight the complexities of contemporary global politics, but they also emphasize the need for continued efforts to foster cooperation, inclusivity, and shared responsibility. By acknowledging both its strengths and constraints, the concept can serve as a realistic yet aspirational framework for promoting peace and harmony in an interconnected world.

Conclusion

The Indian perspective on peace, as embodied in the principle of Vasudhaiva Kutumbakam, offers a comprehensive and enduring framework for understanding harmony in both individual and collective life. Rooted in ancient Indian philosophical traditions, the concept emphasizes the interconnectedness of all beings and advocates the recognition of the world as one family. This worldview transcends narrow distinctions based on nationality, religion, ethnicity, or social status and promotes values of compassion, mutual respect, inclusivity, and shared responsibility.

The chapter has demonstrated that Vasudhaiva Kutumbakam is not merely a spiritual or cultural ideal but also a practical ethical framework for fostering peace. Its philosophical foundations are closely linked with the Indian principles of ahimsa (non-violence), dharma (righteous duty), karuna (compassion), and the Upanishadic vision of the unity of existence (Radhakrishnan, 1927). Together, these principles contribute to a holistic understanding of peace that encompasses moral conduct, social justice, and harmonious coexistence.

The relevance of Vasudhaiva Kutumbakam extends beyond the historical and philosophical context of India. In the contemporary world, characterized by armed conflicts, environmental crises, economic inequalities, and cultural polarization, the concept provides an important normative basis for global cooperation. It encourages nations and communities to move beyond narrow self-interest and

to recognize their interdependence in addressing common challenges. India's invocation of the theme "One Earth, One Family, One Future" during its G20 Presidency in 2023 illustrates how this ancient philosophy can be adapted to contemporary diplomatic and developmental agendas (Government of India, 2023).

Ultimately, Vasudhaiva Kutumbakam represents a timeless vision of peace grounded in the recognition of shared humanity. It calls upon individuals, societies, and nations to cultivate empathy, tolerance, and collective responsibility. By encouraging humanity to view itself as part of a single interconnected family, the concept provides a valuable moral and philosophical foundation for building a more peaceful, just, and sustainable world order. In this sense, the Indian perspective on peace continues to offer profound insights for addressing the challenges of an increasingly interconnected global community.

Research Scholar
Department of Buddhist Studies
University of Delhi
Email : myadav3183@gmail.com

References:

- Bajpai, K. (2003). Indian strategic culture and foreign policy. New Delhi: Manohar.
- Bhagavad Gita. (2000). In Eknath Easwaran (Trans.), The Bhagavad Gita (2nd ed.). Nilgiri Press.
- Chatterjee, M. (1983). Indian philosophy: A popular introduction. New Delhi: Motilal Banarsidass.
- Dundas, P. (2002). The Jains (2nd ed.). Routledge.
- Galtung, J. (1996). Peace by peaceful means: Peace and conflict, development and civilization. Sage Publications.
- Gandhi, M. K. (1927). An autobiography: The story of my experiments with truth. Navajivan Publishing House.
- Government of India. (2023). G20 India 2023: One Earth, One Family, One Future. Ministry of External Affairs.
- Hiriyanna, M. (1932). Outlines of Indian philosophy. George Allen & Unwin.
- Jha, D. N. (2015). Ancient India: In historical outline. Manohar.
- Kane, P. V. (1962). History of Dharma[stra (Vol. 1). Bhandarkar Oriental Research Institute.
- Kumar, R. (2010). Gandhian philosophy and peace studies. Concept Publishing Company.
- Mahadevan, T. M. P. (1974). Introduction to Indian philosophy. Arnold-Heinemann.
- Maha Upanishad. (1988). In S. Radhakrishnan (Ed. & Trans.), The principal Upanishads. HarperCollins.
- Mishra, V. (2014). Indian philosophy and global peace. Rawat Publications.
- Mohan, C. R. (2004). Crossing the Rubicon: The shaping of India's new foreign policy. Viking.
- Mookerji, R. K. (1951). Ancient Indian education: Brahmanical and Buddhist. Motilal Banarsidass.
- Nussbaum, M. C. (2011). Creating capabilities: The human development approach. Harvard University Press.
- Pannikar, K. M. (1953). Asia and Western dominance. George Allen & Unwin.
- Rahula, W. (1959). What the Buddha taught. Grove Press.
- Radhakrishnan, S. (1927). The Hindu view of life. George Allen & Unwin.
- Radhakrishnan, S. (1929). Indian philosophy (Vol. 1). George Allen & Unwin.
- Radhakrishnan, S. (1932). Indian philosophy (Vol. 2). George Allen & Unwin.
- Radhakrishnan, S. (1953). The principal Upanishads. HarperCollins.
- Rao, P. R. (2008). Indian philosophy and ethics. Pearson Education.
- Sen, A. (2005). The argumentative Indian: Writings on Indian history, culture and identity. Farrar, Straus and Giroux.
- Sharma, C. (1960). A critical survey of Indian philosophy. Motilal Banarsidass.
- Singh, J. (2018). India's foreign policy and global peace. Sage Publications.
- Thapar, R. (2002). Early India: From the origins to AD 1300. University of California Press.
- Vivekananda, S. (1896). Lectures from Colombo to Almora. Advaita Ashrama.
- Zimmer, H. (1951). Philosophies of India. Princeton University Press.

डॉ. भूपेन्द्रकुमार:* डॉ. साक्षी**

कश्मीरस्य साहित्ये संस्कृतभाषाया: योगदानम्

कश्मीरस्य साहित्ये संस्कृतभाषाया: योगदानम् अत्यन्तं विशालं विविधञ्च भारतीयबौद्धिकपरम्पराया: कृते निर्णायकम् अभवत्। कश्मीरप्रदेशेन न केवलं बहूनि महत्त्वपूर्णानि संस्कृतग्रन्थानि प्रदत्तानि, अपितु काव्यशास्त्रे, व्याकरणे, दर्शने, इतिहासलेखने, कथासाहित्ये, शैवागमे, तन्त्रे, ज्योतिषे कोशपरम्परायां च अद्वितीयं योगदानं कृतम्।

भूमिका

भारतीयसंस्कृते: इतिहासे कश्मीरप्रदेशम् एकं प्रमुखं केन्द्ररूपेण उदेति, यत्र संस्कृतसाहित्यपरम्परा विशेषं परिपाकं सृजनात्मकतां च प्राप्तवती। अयं प्रदेश: न केवलं राजनैतिकदृष्ट्या महत्त्वपूर्ण: आसीत्, अपितु बौद्धिक-साहित्यिकनवोन्मेषस्यापि मुख्यस्थानम् आसीत्। अनेकै: विद्वद्भि: कश्मीर: संस्कृतज्ञानपरम्पराया: सजीवप्रयोग-शालारूपेण परिगणित:।

कश्मीरप्रदेशे संस्कृतरचनापरम्परा अतीव प्राचीना आसीत्, अत्र विद्वांस: साहित्यं केवलं विनोदस्य साधनं न मन्यन्ते स्म, किन्तु दर्शनस्य, सौन्दर्यबोधस्य, जीवनमूल्यानां च विकासस्य माध्यमं मन्यन्ते स्म। अत: कश्मीरीकृतय: अन्येषु भारतीय-प्रदेशेषु अपि व्यापकतया पठिता: प्रशंसिता: च अभवन्।

प्राचीनाधार:

कश्मीरस्य संस्कृतपरम्पराया: आधार: प्राचीनधार्मिक-ऐतिहासिकग्रन्थेषु, पुराणेषु, लोकपरम्परासु च दृश्यते। नीलमत पुराण कश्मीरस्य भूगोलं, संस्कृतिं, तीर्थपरम्परां समाजजीवनं च विवृणोति, अत: अयं ग्रन्थ: कश्मीरस्य प्राचीनसांस्कृतिक-परिचयस्य महत्त्वपूर्ण: स्रोत: मन्यते।

तथा राजतरंगिणी इत्यस्य अध्ययनात् अपि ज्ञायते यत् कश्मीरप्रदेशे इतिहासस्य काव्यात्मकविश्लेषणात्मकयो: रूपयो: परम्परा आसीत्। अनेन ज्ञायते यत् संस्कृतभाषा केवलं साहित्यभाषा न, किन्तु ज्ञानसंरचनाया: मुख्यभाषा आसीत्।

काव्यशास्त्रे योगदानम्

कश्मीरस्य प्रमुखं योगदानं काव्यशास्त्रक्षेत्रे दृश्यते। आनंदवर्धन महोदयेन ''ध्वनिसिद्धान्त:'' सुव्यवस्थितरूपेण प्रतिपादित:, तथा ''ध्वन्यालोक:'' नाम अमरग्रन्थ: रचित:। अनेन भारतीयालंकारशास्त्रस्य दिशा एव परिवर्तिता।

तत: परं मम्मट:, अभिनवगुप्त: इत्यादय: आचार्या: काव्यालोचनम् अधिकं परिष्कृतवन्त:। विशेषत: अभिनवगुप्तेन रससिद्धान्तस्य दार्शनिकव्याख्या कृता, येन काव्यशास्त्रं गाम्भीर्यम् प्राप्तम्।

कश्मीरदेशीयै: विद्वद्भि: काव्यं केवलं भाषाकौशलं न मन्यते स्म, किन्तु आनन्दानुभूत्या: चेतनाया: च माध्यमं मन्यते स्म।

दर्शनं शैवपरम्परा च

कश्मीरस्य अन्यत् महत्त्वपूर्ण योगदानं दर्शनशास्त्रे अस्ति। वासुगुप्त:, उत्पलदेव:, अभिनवगुप्त: इत्यादय: आचार्या: कश्मीरशैवदर्शनं व्यवस्थितवन्त:।

कश्मीरशैवदर्शनम् एकं अद्वैतदर्शनम् अस्ति, यत्र परमसत्यं शिव: इति मन्यते। अस्य दर्शनस्य मुख्यतत्त्वानि

* समस्तं जगत् शिवस्य अभिव्यक्ति: अस्ति।
* चेतना (चैतन्यम्) सर्वस्य मूलम् अस्ति।
* जीव: शिवस्यैव अंश: न, किन्तु स एव शिव:।
* मोक्ष: आत्मस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञानम् (स्वपरिचय:) अस्ति।

''शिवसूत्राणि'',''स्पन्दकारिका'',''प्रत्यभिज्ञाशास्त्राणि'' च अस्या: परम्पराया: मुख्यग्रन्था: सन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

आत्मतत्त्वं, शिवतत्त्वं, चेतना, विश्वैक्यं च विषयेषु गम्भीरः विचारः कृतः।

अभिनवगुप्तेन दर्शनं काव्यं साधना च एकत्र समन्वितानि, येन कश्मीरस्य परम्परा समग्रबौद्धिकप्रणालीरूपेण अभवत् एवं कश्मीर प्रदेशे विकसितं शैवदर्शनं भारतीयबौद्धिकपरम्परायाः अमूल्यं रत्नम् अस्ति। एतत् दर्शनं केवलं दार्शनिकचिन्तनं न, अपि तु जीवनदृष्टिः अस्ति, यत्र मानवः स्वं शिवरूपेण अनुभूय मोक्षं प्राप्नोति।

कथासाहित्ये योगदानम्

कश्मीरप्रदेशेन संस्कृतकथासाहित्यम् अत्यन्तं समृद्धं कृतम्। सोमदेव विरचितः कथासरित्सागर विश्वविख्यातः ग्रन्थः अस्ति।

अस्मिन् ग्रन्थे अनेकाः कथाः परस्परं सम्बद्धाः सन्ति। एषः ग्रन्थः केवलं मनोरञ्जकः न, अपितु सामाजिकराजनैतिक-जीवनस्य दर्पणः अपि अस्ति। कथासरित्सागरादयः ग्रन्थाः अद्यापि भारतीयसाहित्यस्य अमूल्यधरोहररूपेण स्वीकृताः सन्ति। अतः कश्मीरप्रदेशः संस्कृतकथासाहित्यस्य विकासे एकं प्रमुखं केन्द्रम् आसीत्।

इतिहासलेखनपरम्परा

कश्मीर प्राचीनभारतस्य इतिहासलेखनपरम्परायाम् एकं विशिष्टं स्थानं धारयति। अन्येषु प्रदेशेषु यत्र इतिहासः मुख्यतया पुराणकथासु, आख्यानेषु च निबद्धः आसीत्, तत्र कश्मीरदेशे इतिहासलेखनं सुव्यवस्थितं, क्रमबद्धं विश्लेषणात्मकं च विकसितम्। अत्र इतिहासः केवलं घटनावर्णनं न, अपि तु तासां कारणपरिणामयोः विवेचनमपि आसीत्।

कश्मीरस्य इतिहासलेखनपरम्परायाः सर्वोत्तमः प्रतिनिधिः कल्हण इति नाम्ना विख्यातः। तेन रचितः राजतरंगिणी नाम ग्रन्थः भारतीयइतिहासलेखनस्य अद्वितीयः उदाहरणः अस्ति।

- ⋆ अस्मिन् ग्रन्थे कश्मीरराजानां विस्तृतः इतिहासः वर्णितोऽस्ति।
- ⋆ घटनाः कालक्रमेण व्यवस्थिताः सन्ति।
- ⋆ लेखकः यथाशक्ति निष्पक्षतां पालनं कृतवान्।
- ⋆ इतिहासस्य नैतिकपक्षमपि विचारितः।

''राजतरंगिणी'' इत्यस्य विशेषता एषा यत् अयं काव्यरूपेण लिखितः सन् अपि इतिहासस्य प्रमाणिकतां रक्षति।

व्याकरणं कोशपरम्परा च

एषः प्रदेशः संस्कृतविद्यायाः प्रमुखं केन्द्रम् आसीत्, यत्र व्याकरणशास्त्रस्य तथा कोशपरम्परायाः अपि उल्लेखनीयः विकासोऽभवत्। अत्र विद्वांसः न केवलं भाषायाः शुद्धतां संरक्षितवन्तः, अपितु शब्दार्थविवेचनस्य सूक्ष्मपरम्परामपि विकसितवन्तः। एषा परम्परा संस्कृताध्ययनस्य अनुशासनं स्पष्टतां च वर्धयति।

टीकाव्याख्यापरम्परा

प्रदेशेऽस्मिन् संस्कृतसाहित्यस्य अपरः महत्त्वपूर्णः अङ्गः आसीत्कृटीकाव्याख्यापरम्परा। अत्र विद्वांसः केवलं मूलग्रन्थान् न रचयन्ति स्म, अपितु तेषां गूढार्थान् प्रकाशयन्तः विस्तृतव्याख्यानि अपि अलिखन्। एषा परम्परा ज्ञानसंरक्षणस्य प्रसारस्य च मुख्यं साधनम् अभवत्।

टीकालेखनस्य उद्देश्याः आसन्- मूलग्रन्थानां दुरूहांशानां स्पष्टीकरणम्, दार्शनिकतत्त्वानां विस्तारः, विभिन्नमतानां समन्वयः, पाठभेदानां निरूपणम्, अतः व्याख्यानि केवलम् अर्थस्पष्टीकरणं न, अपि तु नवचिन्तनस्य अपि माध्यमम् आसीत्।

प्रमुखानि प्रमाणानि ग्रन्थानि

(१) **अभिनवभारती** एषा नाट्यशास्त्र इत्यस्य विस्तृता टीका अस्ति। अस्यां टीकायाम् **अभिनवगुप्तेन** रससिद्धान्तस्य गूढदार्शनिकं विवेचनं कृतम्। एषा भारतीयकाव्यशास्त्रस्य सर्वोत्तमा व्याख्या मन्यते।

क्षेमेन्द्रेणापि अनेकग्रन्थानां साररूपेण व्याख्यानि रचितानि। तस्य रचनासु व्याख्यात्मकशैली स्पष्टा दृश्यते।

कश्मीरदेशे टीकालेखनस्य दृढा परम्परा आसीत्। विद्वांसः कठिनग्रन्थानां व्याख्यानि कृत्वा तान् सुलभान् अकुर्वन्।

एषा परम्परा केवलं शिक्षणसहायिका न, अपि तु ज्ञानसंरक्षणस्य साधनम् आसीत्।

विद्वत्परम्परा

कश्मीरदेशः अनेकान् महान् विद्वांसः उत्पादितवान्

आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, सोमदेव, काल्हण, मम्मट इत्यादयः।

एते विद्वांसः कवयः, दार्शनिकाः, आलोचकाः च आसन्। अतः तेषां रचनाः बहुस्तरीयाः गम्भीराः च सन्ति।

धार्मिकसांस्कृतिकसाहित्ये योगदानम्

कश्मीरस्य संस्कृतसाहित्ये धार्मिकग्रन्थानामपि महत्त्वपूर्णा भूमिका दृश्यते। नीलमत पुराण इत्यादयः ग्रन्थाः कश्मीरस्य धार्मिकपरम्परां संस्कृतिं च दर्शयन्ति। अत्र शैव-वैदिक-बौद्धपरम्पराणां समन्वयः दृश्यते, येन साहित्यं व्यापकं समृद्धं च अभवत्।

शैलीविशेषता: अपि अत्र दृश्यते कश्मीरस्य संस्कृत-साहित्यस्य प्रमुखा: गुणा: बौद्धिकसूक्ष्मता, दार्शनिकगाम्भीर्यम्, कलात्मकता, समन्वयभावना। अत्र साहित्यं वर्णनमात्रं न, अपि तु अनुभूतिविश्लेषणयो: साधनम् अस्ति।

भारतीयसाहित्ये प्रभाव:

कश्मीरी संस्कृतसाहित्येन सम्पूर्णभारतस्य साहित्यं विशिष्टरूपेण प्रभावितम्।

- ⋆ ध्वनिसिद्धान्त: सर्वत्र स्वीकृत:
- ⋆ रसव्याख्या विकसिता:
- ⋆ कथासाहित्ये नवीनदिशा प्राप्ता

निष्कर्ष:

अन्ते वक्तुं शक्यते यत् कश्मीरस्य संस्कृतसाहित्ये योगदानम् केवलं केषाञ्चन ग्रन्थानां सीमा न, अपि तु समग्रभारतीयज्ञान-परम्पराया: विस्तार: अस्ति।

कश्मीरदेशेन—

- ⋆ काव्यशास्त्राय ध्वनिसिद्धान्त:
- ⋆ दर्शनाय शैवचिन्तनम्
- ⋆ कथासाहित्याय कथासरित्सागर:
- ⋆ इतिहासलेखनाय राजतरंगिणी
- ⋆ सांस्कृतिकस्मृतये नीलमतपुराणम्

इति अमूल्यानि दानानि दत्तानि।

यदि संस्कृतसाहित्यं एकं विराट्भवनम् अस्ति, तर्हि कश्मीर: तस्य सुदृढा, सुशोभना, बौद्धिकसमृद्धा च भित्ति: अस्ति।

***सहायकाचार्य:, संस्कृतविभाग:**
किरोडीमलमहाविद्यालय:,
दिल्लीविश्वविद्यालय:,
ईमेल : bhupendrakmr87@kmc.du.ac.in

****सहायकाचार्य:, संस्कृतविभाग:**
एमएलजेएनके इति महाविद्यालय:,
सहारनपुरम्, उत्तरप्रदेशम्
ईमेल : Sakshi911003@gmail.com

सन्दर्भग्रन्था:

- ⋆ घई, प्रो. वेदकुमारी, 2016, नीलमत पुराण, सचिव, जे, एण्ड के. अकैडमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू।
- ⋆ पाण्डेय, रामतेजशास्त्री (व्याख्याकार), कल्हण, 1984, राजतरंगिणी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- ⋆ द्विवेदी, डॉ. श्यामाकान्त, 2024, स्पन्दकारिका, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- ⋆ अभिनवगुप्त, 2020, अभिनवभारती। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
- ⋆ आनन्दवर्धन, 2022, ध्वन्यालोक:। अभिनवगुप्तकृत लोचन टीका सहित। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
- ⋆ सोमदेव, 2019, कथासरित्सागर। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।
- ⋆ उत्पलदेव, 1990, प्रत्यभिज्ञाशास्त्राणि। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज कार्यालय।
- ⋆ वसुगुप्त, 1996, शिवसूत्राणि। क्षेमराजकृत विमर्शिनी टीका सहित। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान।

Research Paper

Nikita Jyani

Foreign Aid and Transitional Justice in Africa's Great Lakes Region: A Comparative Analysis of Rwanda's Gacaca Courts and Justice Sector Reforms in the Democratic Republic of the Congo

Abstract

The relationship between foreign aid, transitional justice, and sustainable peace has become increasingly significant in post-conflict societies, particularly within Africa's Great Lakes Region. Rwanda and the Democratic Republic of the Congo (DRC) represent two contrasting experiences of post-conflict reconstruction despite receiving substantial international assistance over the past three decades. Following the 1994 genocide, Rwanda adopted a hybrid transitional justice model centred on the Gacaca courts, complemented by donor-supported judicial reforms and institutional reconstruction. In contrast, the DRC has relied on internationally funded justice-sector reforms, military courts, and peacebuilding initiatives while continuing to face recurring armed conflict, weak governance, and widespread human rights violations. This article examines how foreign aid has shaped transitional justice institutions in both countries and evaluates their contribution to sustainable peace. Drawing on Transitional Justice Theory and Liberal Peacebuilding Theory, the article argues that aid is most effective when it strengthens nationally owned institutions rather than creating parallel mechanisms of governance. Using comparative qualitative analysis and empirical evidence from the World Bank, United Nations, OECD, and scholarly literature, the study demonstrates that Rwanda's relatively successful justice reforms resulted from strong political leadership, institutional coordination, and donor alignment with national priorities. In contrast, the DRC's justice reforms have been constrained by continued insecurity, fragmented governance, and limited institutional capacity. The findings suggest that while external assistance can facilitate transitional justice, durable peace ultimately depends upon domestic political commitment, accountable institutions, and locally legitimate justice mechanisms.

Keywords

Transitional justice, foreign aid, Gacaca courts, Democratic Republic of the Congo, Rwanda, peacebuilding, judicial reform.

Introduction

The pursuit of justice after mass violence is one of the most complex challenges confronting societies emerging from armed conflict. Transitional justice encompasses a range of judicial and non-judicial measures—including criminal prosecutions, truth commissions, reparations, and institutional reforms—designed to address past atrocities, restore public trust, and prevent the recurrence of violence. Since the end of the Cold War, international donors have increasingly incorporated transitional justice into peacebuilding strategies, viewing accountable institutions and the rule of law as essential foundations for sustainable peace. Nevertheless, the outcomes of donor-supported justice reforms have varied considerably across post-conflict settings, raising important questions about the conditions under which foreign aid contributes to effective transitional justice.

The Great Lakes Region of Africa provides an important context for examining these questions. Rwanda and the Democratic Republic of the Congo

(DRC) experienced some of the deadliest episodes of mass violence in contemporary history. The 1994 Rwandan genocide claimed the lives of approximately 800,000 people in just one hundred days and left the country's judicial system almost completely destroyed. Judges, prosecutors, lawyers, and court officials were either killed, displaced, or implicated in the violence, leaving Rwanda with fewer than fifty qualified judges to handle an estimated 120,000 genocide-related detainees (Clark, 2010). The sheer scale of atrocities made conventional criminal prosecutions impossible, compelling the Rwandan government to develop an innovative community-based justice mechanism known as the Gacaca courts.

The DRC presents a markedly different post-conflict trajectory. The First Congo War (1996–1997) and the Second Congo War (1998–2003), together with continuing violence in the eastern provinces, resulted in millions of deaths, widespread displacement, and extensive destruction of state institutions. Although the 2003 peace agreement formally ended the Second Congo War, numerous armed groups have continued to operate in North Kivu, South Kivu, and Ituri, undermining efforts to establish effective governance and judicial accountability. International donors have invested heavily in justice-sector reform through programmes implemented by the United Nations Development Programme (UNDP), the United Nations Organization Stabilization Mission in the Democratic Republic of the Congo (MONUSCO), the European Union, and bilateral development agencies. Despite these initiatives, access to justice remains limited, and impunity for serious human rights violations continues to pose a major obstacle to peacebuilding.

These contrasting experiences raise a central research question: How has foreign aid influenced transitional justice institutions in Rwanda and the DRC, and why have these interventions produced different peacebuilding outcomes? While both countries received extensive international assistance, Rwanda succeeded in establishing functioning transitional justice institutions that processed approximately two million genocide-related cases through the Gacaca system between 2005 and 2012 (National Service of Gacaca Courts, 2012). By contrast, justice reforms in the DRC have struggled to address widespread impunity, particularly in conflict-affected regions where state authority remains weak and armed groups continue to operate.

In the DRC, by contrast, international assistance has largely focused on strengthening formal judicial institutions, supporting military tribunals, and enhancing legal capacity. However, these reforms have been implemented in a context characterized by continuing armed conflict, weak administrative structures, limited state authority, and fragmented governance. Consequently, many externally funded programmes have improved technical aspects of the justice sector without fundamentally transforming the institutional conditions necessary for sustainable peace.

The comparative analysis presented in this article contributes to debates on foreign aid, peacebuilding, and transitional justice in three important ways. First, it demonstrates that transitional justice should be understood not merely as a legal process but as an integral component of post-conflict state-building and institutional development. Second, it highlights the importance of domestic ownership in determining whether external assistance strengthens or substitutes for national institutions. Finally, it argues that sustainable peace requires an integrated approach in which justice reforms are linked to governance, security, and socio-economic development rather than pursued in isolation.

To address these issues, the article adopts a comparative qualitative case study methodology informed by Transitional Justice Theory and Liberal Peacebuilding Theory. Empirical evidence is drawn from reports published by the World Bank, the Organisation for Economic Co-operation and Development (OECD), the United Nations Development Programme (UNDP), MONUSCO, the Rwanda Ministry of Justice, and peer-reviewed academic literature. Through this comparative framework, the article seeks to explain why aid-supported transitional justice has generated relatively successful institutional outcomes in Rwanda while producing more limited results in the DRC.

Foreign Aid and Transitional Justice in Rwanda: From International Assistance to National Ownership

The reconstruction of Rwanda's justice sector

following the 1994 genocide represents one of the most ambitious examples of internationally supported transitional justice in the post-Cold War era. When the genocide ended in July 1994, the country's judicial system had effectively ceased to function. According to the Rwanda Ministry of Justice, most court buildings had been destroyed, legal records were lost, and a large proportion of judges, prosecutors, and lawyers had either been killed or fled the country. The United Nations estimated that fewer than sixty qualified judges remained to deal with an estimated 120,000 genocide suspects detained in overcrowded prisons by the late 1990s. Under these conditions, relying exclusively on conventional criminal courts would have required several decades to complete prosecutions, raising serious concerns regarding prolonged detention, judicial legitimacy, and national reconciliation.

The international community responded by supporting two parallel justice mechanisms. The first was the International Criminal Tribunal for Rwanda (ICTR), established by the United Nations Security Council in November 1994 to prosecute those bearing the greatest responsibility for genocide. Between 1995 and its closure in 2015, the ICTR indicted 93 individuals, securing 62 convictions while acquitting or dismissing several other cases. The tribunal made important contributions to international criminal law, including landmark judgments recognising rape as an act of genocide and clarifying legal definitions of crimes against humanity. However, despite costing more than US$2 billion, its direct contribution to domestic justice remained limited because it prosecuted only senior political and military leaders and operated from Arusha, Tanzania, far removed from affected communities. Consequently, many Rwandans viewed the ICTR as an important international legal institution but one that had limited impact on local reconciliation or access to justice.

Recognising these limitations, the Rwandan government introduced the Gacaca court system through Organic Law No. 40/2000, adapting a traditional community dispute-resolution mechanism into a nationwide transitional justice institution. Unlike the ICTR, Gacaca sought to combine accountability, truth-telling, community participation, and reconciliation within local communities. Between 2005 and 2012, more than 12,000 Gacaca courts, staffed by approximately 169,000 elected community judges (Inyangamugayo), heard nearly 1.9 million genocide-related cases. This unprecedented scale enabled Rwanda to reduce prison overcrowding significantly while accelerating accountability for genocide crimes.

Foreign aid played a critical role in supporting this process, although its nature differed from conventional donor-driven judicial reform. International assistance financed court infrastructure, judicial training, documentation, legal education, witness protection programmes, prison reform, and broader institutional reconstruction rather than directly controlling the operation of Gacaca itself. Donors including the European Union, the Netherlands, Belgium, Sweden, the United Kingdom, and UNDP supported Rwanda's wider justice-sector reforms through technical assistance and financial resources. Importantly, however, the design and implementation of Gacaca remained largely under the authority of the Rwandan government. This distinction is significant because it illustrates a model of aid in which external resources strengthened nationally defined institutions rather than imposing externally designed justice mechanisms.

The effectiveness of donor assistance in Rwanda was reinforced by broader institutional reforms. Following the genocide, the government prioritised rebuilding state capacity through comprehensive judicial restructuring, constitutional reform, anti-corruption initiatives, and public administration reforms. According to the World Bank's Worldwide Governance Indicators, Rwanda demonstrated consistent improvements in government effectiveness and regulatory quality during the 2000s and 2010s, outperforming many countries in Sub-Saharan Africa. Similarly, Transparency International's Corruption Perceptions Index has repeatedly ranked Rwanda among the least corrupt countries on the continent, reflecting sustained investments in public sector accountability. Although governance indicators do not capture every dimension of political legitimacy, they suggest that institutional strengthening enhanced the state's ability to utilise foreign assistance effectively.

The contribution of Gacaca to reconciliation

remains the subject of considerable scholarly debate. Supporters argue that the courts provided an innovative response to extraordinary circumstances by allowing communities to participate directly in justice processes while revealing information about the genocide that might otherwise have remained unknown. The public nature of proceedings encouraged confessions, facilitated the identification of victims, and enabled many survivors to recover information concerning missing relatives. Research conducted by Phil Clark suggests that many local communities valued Gacaca because it provided faster access to justice than ordinary courts while promoting public engagement in post-genocide reconstruction.

Despite these criticisms, there is broad scholarly agreement that Rwanda succeeded in rebuilding a functioning justice system within an exceptionally short period. This achievement cannot be attributed solely to the volume of foreign aid received. Instead, donor assistance proved effective because it operated within a context characterised by strong political leadership, relatively coherent institutions, and clearly articulated national priorities. Aid reinforced an existing process of institutional reconstruction rather than substituting for absent state capacity. Rwanda therefore illustrates how foreign assistance can contribute to transitional justice when domestic institutions retain ownership over reform processes and possess the administrative capacity necessary to coordinate external support.

Justice Sector Reform in the Democratic Republic of the Congo: International Support amid Institutional Fragility

The experience of the Democratic Republic of the Congo presents a striking contrast. Whereas Rwanda's transitional justice efforts unfolded after the cessation of large-scale violence, the DRC has attempted to reform its justice sector while armed conflict has continued across significant parts of the country. Since the conclusion of the Second Congo War in 2003, more than 120 armed groups have remained active in eastern provinces, particularly North Kivu, South Kivu, and Ituri. These groups have been responsible for widespread human rights violations, including massacres, forced displacement, sexual violence, and the recruitment of child soldiers. According to the UN Office for the Coordination of Humanitarian Affairs (UNOCHA), by the end of 2024 the DRC had over seven million internally displaced people, making it one of the largest displacement crises in the world. These persistent security challenges have profoundly shaped both the objectives and limitations of donor-supported justice reforms.

Unlike Rwanda, the DRC did not adopt a single comprehensive transitional justice mechanism. Instead, international assistance has focused on strengthening formal judicial institutions through court rehabilitation, legal training, military justice reforms, legal aid services, and programmes addressing conflict-related sexual violence. The United Nations Development Programme, MONUSCO, the European Union, Belgium, France, the United States, and other bilateral donors have invested hundreds of millions of dollars in justice-sector reform over the past two decades. These programmes sought to improve judicial independence, increase access to justice, strengthen prosecution services, and enhance the capacity of military courts to investigate and prosecute serious international crimes.

However, the effectiveness of these interventions has been constrained by structural weaknesses that distinguish the DRC from Rwanda. State authority remains uneven across much of the country, particularly in conflict-affected eastern provinces where non-state armed groups continue to exercise territorial control. Courts often suffer from inadequate infrastructure, shortages of trained personnel, limited financial resources, and political interference. Consequently, international donors have frequently assumed responsibilities that would ordinarily belong to national institutions, including logistical support, judicial training, case management, and witness protection. While these interventions have enabled important prosecutions, they have also highlighted the continued dependence of justice institutions on external assistance.

Comparative Analysis: Explaining Divergent Outcomes of Aid-Supported Transitional Justice

The experiences of Rwanda and the Democratic Republic of the Congo (DRC) demonstrate that foreign aid alone does not determine the success of transitional justice. Rather, the impact of external

assistance depends on how effectively aid is integrated into domestic institutions, the political commitment of national governments, and the broader security environment within which reforms are implemented. Although both countries received substantial international support after experiencing large-scale violence during the 1990s, they pursued different approaches to justice and institutional reconstruction, producing markedly different outcomes.

One of the most significant differences concerns national ownership. In Rwanda, the post-genocide government exercised considerable control over the design and implementation of transitional justice. While donors financed judicial reconstruction, legal training, prison reform, and institutional development, the central architecture of transitional justice—the Gacaca court system—was conceived and administered by the Rwandan state. Consequently, foreign assistance complemented nationally determined priorities instead of replacing domestic institutions. This aligns with broader evidence from aid effectiveness literature, which argues that development outcomes improve when recipient governments possess sufficient administrative capacity to coordinate donor interventions and integrate them into national policy frameworks.

By contrast, justice-sector reform in the DRC has remained heavily dependent upon external actors. Since the end of the Second Congo War, institutions such as the United Nations Development Programme (UNDP), the United Nations Organization Stabilization Mission in the Democratic Republic of the Congo (MONUSCO), the European Union, and bilateral donors have supported judicial infrastructure, legal training, military courts, and legal aid programmes. However, many of these initiatives have operated in contexts where state authority is weak or absent. Consequently, international organizations have frequently performed functions normally associated with government institutions, limiting opportunities for sustainable institutional development. This reflects what scholars describe as the "substitution effect" of aid, whereby external agencies compensate for institutional weaknesses without necessarily strengthening long-term state capacity.

A second distinction concerns the relationship between security and justice. Rwanda implemented transitional justice after the genocide had ended and after the Rwandan Patriotic Front had established effective territorial control. Although the country faced significant reconstruction challenges, the relative absence of active armed conflict enabled judicial institutions to function across the country. The Gacaca courts operated within communities that, while deeply traumatized, were no longer experiencing widespread organized violence. This relatively stable security environment allowed judicial reforms to become part of broader state-building efforts.

Governance indicators further illustrate these differences. Rwanda has recorded steady improvements in government effectiveness, regulatory quality, and control of corruption since the early 2000s, according to the World Bank's Worldwide Governance Indicators. These improvements have strengthened donor confidence and enabled more effective coordination of international assistance. Although concerns regarding political pluralism and civil liberties remain widely debated, there is broad agreement that Rwanda has developed relatively capable public institutions capable of implementing development programmes.

The DRC, by contrast, continues to perform poorly on governance indicators measuring rule of law, government effectiveness, and corruption control. These institutional weaknesses have direct implications for justice-sector reform. Courts often lack adequate infrastructure, qualified personnel, financial resources, and logistical capacity. Delays in judicial proceedings, political interference, and limited public trust continue to undermine legal institutions. Consequently, donor-funded reforms frequently produce localized improvements without generating nationwide institutional transformation.

Another important area of comparison concerns the relationship between justice and reconciliation. Rwanda's Gacaca courts attempted to combine criminal accountability with community participation and truth-telling. Approximately 1.9 million cases were processed through more than 11,000–12,000 local courts, allowing the justice system to address an unprecedented volume of genocide-related prosecutions while reducing prison overcrowding.

Supporters argue that Gacaca facilitated truth recovery, encouraged confessions, and enabled communities to confront the legacy of genocide. Critics, however, question whether the system consistently met international standards of due process and whether it adequately addressed crimes committed by all parties to the conflict. (Cambridge University Press & Assessment)

The DRC has not developed an equivalent nationwide transitional justice mechanism. Instead, accountability has relied upon a combination of military courts, civilian courts, mobile courts supported by international donors, and various truth-seeking initiatives. Mobile courts have achieved important successes in prosecuting conflict-related sexual violence in remote areas where permanent judicial institutions are absent. Nevertheless, these programmes remain limited in geographical coverage and frequently depend upon external funding and logistical support. As a result, access to justice remains highly uneven across different regions of the country.

The political economy of aid further explains these divergent outcomes. Donors generally support justice reforms through financial assistance, technical expertise, and institutional partnerships. However, donor priorities are often influenced by geopolitical considerations alongside humanitarian objectives. Rwanda has frequently been viewed by international donors as a relatively effective development partner because of its administrative capacity and policy coherence. This perception encouraged long-term development partnerships centred on institutional strengthening.

The DRC presents a more complex donor environment characterized by overlapping humanitarian, security, and development priorities. International assistance has often shifted between emergency humanitarian response and long-term institutional reform depending upon changing security conditions. The persistence of armed conflict has therefore limited the continuity of justice-sector programmes and reduced opportunities for comprehensive institutional consolidation.

Overall, the comparative evidence suggests that aid is neither inherently successful nor inherently ineffective. Instead, its contribution to transitional justice depends upon domestic political commitment, institutional capacity, and the security environment. Rwanda demonstrates that external assistance can strengthen transitional justice when nationally owned institutions possess sufficient authority to coordinate reforms and integrate them within broader state-building strategies. Conversely, the DRC illustrates that even substantial donor investments may have limited transformative effects where insecurity, fragmented governance, and weak institutions persist. Foreign aid should therefore be understood as an enabling resource rather than an independent driver of peacebuilding.

Conclusion

The comparative experiences of Rwanda and the Democratic Republic of the Congo (DRC) demonstrate that foreign aid can significantly contribute to transitional justice and post-conflict reconstruction, but its effectiveness depends fundamentally on domestic political, institutional, and security conditions rather than on the volume of financial assistance alone. While both countries received extensive international support following periods of mass violence, they adopted markedly different approaches to rebuilding their justice sectors, resulting in divergent peacebuilding outcomes.

In Rwanda, donor assistance complemented a nationally led reconstruction strategy centred on the Gacaca courts and broader judicial reforms. Rather than allowing external actors to dictate the design of transitional justice mechanisms, the Rwandan government retained ownership of institutional reforms while utilizing international financial and technical assistance to strengthen judicial capacity, improve infrastructure, and rebuild public institutions. Although the Gacaca system has been criticised for limitations relating to due process, political impartiality, and the exclusion of certain categories of crimes, it nevertheless succeeded in processing an unprecedented number of genocide-related cases within a relatively short period. More importantly, it contributed to restoring state authority, reducing judicial backlogs, facilitating community participation, and embedding accountability within broader processes of national reconstruction. Rwanda

therefore illustrates that foreign aid is most effective when it reinforces coherent domestic institutions and aligns with nationally determined priorities.

The experience of the DRC presents a contrasting reality. International donors have invested heavily in judicial reform, legal capacity-building, military justice, and programmes addressing conflict-related sexual violence. Nevertheless, these initiatives have produced only limited institutional transformation because they have operated within a context characterised by continuing armed conflict, fragmented governance, widespread corruption, and limited state capacity. Persistent insecurity in eastern DRC has repeatedly undermined judicial institutions, displaced legal personnel, and diverted international resources toward humanitarian emergencies. Consequently, externally supported justice reforms have often improved technical aspects of the legal system without fundamentally addressing the structural conditions that perpetuate violence and impunity. The Congolese case demonstrates that transitional justice cannot be isolated from broader processes of state-building, security-sector reform, and political stabilization.

This study also contributes to contemporary debates on transitional justice by highlighting the importance of integrating legal accountability with broader governance reforms. Justice mechanisms should not be viewed solely as instruments for prosecuting perpetrators but as components of long-term institutional reconstruction capable of strengthening the rule of law, promoting reconciliation, and rebuilding trust between citizens and the state. The findings therefore support emerging scholarship advocating a more integrated relationship between transitional justice, peacebuilding, and development policy.

From a policy perspective, international donors should place greater emphasis on strengthening nationally owned institutions rather than establishing parallel governance structures. Justice-sector assistance should be accompanied by investments in public administration, anti-corruption initiatives, judicial independence, and local governance to ensure that legal reforms remain sustainable beyond donor funding cycles. Equally important is the need for long-term donor engagement that recognises transitional justice as a gradual political process rather than a short-term technical intervention. In fragile contexts such as the DRC, future assistance should increasingly combine humanitarian response, security-sector reform, and institutional development within an integrated peacebuilding framework.

This article has several limitations. The comparative analysis focuses primarily on institutional dimensions of transitional justice and does not examine survivors' perceptions, community-level reconciliation outcomes, or the role of customary justice systems in depth. Moreover, the analysis relies predominantly on secondary sources and institutional reports. Future research could employ fieldwork, interviews, or mixed-method approaches to investigate how local communities perceive donor-supported justice mechanisms and whether these interventions have generated lasting improvements in social cohesion and public trust.

Research Scholar
Department of African Studies
University of Delhi

References:

- Anderson, M. B. (1999). *Do no harm: How aid can support peace—or war*. Lynne Rienner Publishers.
- Autesserre, S. (2010). *The trouble with the Congo: Local violence and the failure of international peacebuilding*. Cambridge University Press.
- Autesserre, S. (2021). *The frontlines of peace: An insider's guide to changing the world.* Oxford University Press.
- Barnett, M. (2011). *Empire of humanity: A history of humanitarianism*. Cornell University Press.
- Booth, D., & Golooba-Mutebi, F. (2012). Developmental patrimonialism? The case of Rwanda. African Affairs, 111(444), 379–403. https://doi.org/10.1093/afraf/ads026
- Brounéus, K. (2008). Truth-telling as talking cure? Insecurity and retraumatization in the

Rwandan Gacaca courts. Journal of Peace Research, 45(1), 55–71. https://doi.org/10.1177/0022343307084926
- Clark, P. (2010). *The Gacaca courts, post-genocide justice and reconciliation in Rwanda: Justice without lawyers*. Cambridge University Press.
- Collier, P. (2007). *The bottom billion: Why the poorest countries are failing and what can be done about it*. Oxford University Press.
- de Greiff, P. (Ed.). (2006). *The handbook of reparations*. Oxford University Press.
- Hayner, P. B. (2011). *Unspeakable truths: Transitional justice and the challenge of truth commissions* (2nd ed.). Routledge.
- Human Rights Watch. (2011). Justice compromised: The legacy of Rwanda's community-based Gacaca courts. Human Rights Watch. https://www.hrw.org/report/2011/05/31/justice-compromised/legacy-rwandas-community-based-gacaca-courts
- Longman, T. (2017). *Memory and justice in post-genocide Rwanda*. Cambridge University Press.
- Mac Ginty, R. (2011). *International peacebuilding and local resistance: Hybrid forms of peace*. Palgrave Macmillan.
- Organisation for Economic Co-operation and Development. (2023). Development co-operation report 2023: Debating the aid system. OECD Publishing. https://doi.org/10.1787/f6edc3c2-en
- Paris, R. (2004). *At war's end: Building peace after civil conflict*. Cambridge University Press.
- Prunier, G. (2009). *Africa's world war: Congo, the Rwandan genocide, and the making of a continental catastrophe*. Oxford University Press.
- Rwanda Ministry of Justice. (2012). *National Service of Gacaca Courts: Final report*. Government of Rwanda.
- Stearns, J. K. (2011). *Dancing in the glory of monsters: The collapse of the Congo and the Great War of Africa*. PublicAffairs.
- United Nations Development Programme. (2024). Human development report 2023/2024: Breaking the gridlock—Reimagining cooperation in a polarized world. UNDP. https://hdr.undp.org/
- United Nations Office for the Coordination of Humanitarian Affairs. (2024). Global humanitarian overview 2024. United Nations. https://humanitarianaction.info/
- Waldorf, L. (2006). Mass justice for mass atrocity: Rethinking local justice as transitional justice. *Temple Law Review, 79*(1), 1–88.
- World Bank. (2023). Worldwide governance indicators. World Bank. https://info.worldbank.org/governance/wgi/

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

Research Paper

Tanu

Panchayati Raj institutions: Features, working and assessment

Abstract

In this paper, I am going to discuss broadly the necessity of PRIs ,why is it important to promote local democracy at local level. Next I have discuss the features of panchayati Raj institutions and finally I have discussed the working and assessment of panchayati Raj institutions included issues faces by local level institutions in terms of inadequate devolution of power, functions and financial resources . Furthermore, the issues faces by women while representation.

Panchayati Raj institutions: Features, working and assessment

Though the requirement of Panchayati Raj institutions have been discussed gradually and slowly right from the pre independence era, attempt has been made by the Lord Rippon's resolution in 1882 to the, in late 1980s by the both Rajiv Gandhi and V.P. Singh's government and finally in 1992, 73rd constitutional amendment has passed in the parliament, which constitutionalised the Panchayati Raj institutions and we can say, establish the government at the local level. It is an endeavour to establish the local self government in order to ensure the political participation of the people irrespective of their social standing in the society. And it is a sort of expanding the footprint of the democracy at the local level or establish the democracy at grassroots level.

Local self government is a establishment of self governing structure below the center and state level, although reluctance of state governments to devolve the power to local level make it quite difficult to realize the potential. It is voluntary or discretionary on the part of state governments as far as granting powers and authority to the panchayats and thus they are unresponsive to local governments and that make panchayats sort of disable government. Besides that, due to lack of financial power and deficiency of financial resources, Panchayats have not been able to work properly in various sectors such as health, education and water etc. Having said that, the most remarkable thing of the 73rd constitutional amendment act is that the provisions had been there not only to provide one-third reservation for the women in the election of panchayats but also reservation for SC and ST community so that these vulnerable section of people also can participate in the democratic process and to take part in the local decision making that would empower them and aware pertaining to the working of the democracy. In this paper, I would broadly discuss the features of panchayats Raj institutions and then working and assessment of Panchayati Raj institutions along with its significance and challenges it faces in realising it's full potential.

Why does panchayati Raj institutions necessary?

In order to promote democracy at the grassroot level. It is imperative to establish the rural local self government, which would ensure the participation of the peoples from all walks of life, also known as Panchayati Raj institutions in India at the local level. Here, I shall deliver some significant points which would make case for the establishment of democracy at the local level. Firstly, It would be prudential and extremely indispensable to have Democracy in the societies where there are plurality of moral, religious

and political beliefs. Since there is diversity of beliefs, we can not give precedence to the a view and disregard view of others. Secondly, it is difficult to find which policies are appropriate. Meanwhile, there is difference in the views and interest and involved the conflict of interest and consequently it is very likely that they are going to be unaccountable while making decision and thus these things have to be regulated and control by the democratic process. Thirdly, political participation can be enhanced to the considerable extent through the local self government Institution and political participation is the sine quo non for strengthening and flourishing the democracy. The most remarkable thing about the participation in the panchayats Raj, is that the 73rd constitutional amendment has not only make provision of providing one-third reservation for the women but also given reservation for the SC and ST. Fourthly, the need for Panchayati Raj has riped in the political community in order to improve the governance especially on the rural India and decentralized of planning so that the benefits can be facilitated smoothly to the poor or socially disadvantaged section and solve the basic problems of poverty , unemployment and inequality. According to Peter Ronald DeSouza, The deeper involvement of peoples from the marginalised section in the planning and, implementation and monitoring of developmental processes which consequently would have great impact on the rural areas. Apart from the that, there were other benefits from the decentralisation viz., the there will be sustainable and balanced use of local resources and rather increase in the accountability of the local officials and would be considerable reduction in the cost of delivery of service.

Major characteristics of panchayati Raj

The 73rd constitution amendment act provides for the following features : firstly, the gram sabha (village assembly) is the foundation of Panchayati Raj, as a deliberative and deciding institution for the decentralised form of government. It is the village assembly consisting of all registered voters in the that village. It can exercise powers and function listed in the Act. Secondly, the act provides for establishment of uniform three-tier structure throughout the country, at the village, block and district level. Though it seeks to bring the uniformity all over the country while establishing these structure, nevertheless a state which has less than 20 lakh population can skip the intermediate level.

Thirdly, all the members at all the three level will be elected directly by the people. Moreover, a chairman of the panchayats (village assembly) can be a member at the intermediate level and chairman of the block councils can be the member at the district level . In addition, member of parliament, members of legislative council and member of legislative assembly are qualified for being the member at intermediate and district level. The state determines that how shall the chairman be elected at the village level. Fourthly, the most remarkable feature included in the act which is pertaining to the reservation. The act provides reservation for the schedule caste (SC) and schedule Tribes (ST) at all the three level, in proportions of their population Or also provides the one-third of seats reserved for the women out of total number of seats and also one- third of seats out of the seats reserved for the SC and ST. Furthermore, one third of seats of chairman at all the three level will be reserved for the women. Fifthly, panchayat Has five year term at every level of the system. The election have to be completed before the end of term. In case of dissolution , election to be held before the expiry of six months from the date of dissolution. And the newly formed panchayat would serve the remaining period of the term. If any person, disqualified under any Law enforced by the state legislature, shall be disqualified from being a member of panchayat.

Next feature is, act provides that an independent election commission should be established which is empowered for supritendence, direction and control of the preparation of the electoral rolls and the conduct of all the elections pertaining to the panchayats. Next is, the state legislature can provide to panchayats with the powers and responsibilities in order to formulation of the plan for the economic development and with regard to the social justice. Finally, act provides that governor shall, after every five year, constitute , finance commission in order to review the financial position of these panchayats. And in turn it would make certain recommendation to the state on the distribution of the fund among the panchayats.

Evaluation: Working and assessment of PRI

Although India has consisted historically the local and deliberative bodies known as panchayats (village councils), these were finally constitutionalised by the 73rd constitutional amendment act and it has made them the justifiable part of the constitution. This act has made the Article-40 of the constitution of India enforceable or justifiable and given the practical shape to Article-40 which provided that,"the state should take steps to organise village Panchayats and endow them with such power and authority as may be necessary to enable them to function as units of self government.73rd constitutional amendment act provided for the direct election in order to elect these bodies and five year term for the bodies at all the three level. The election conducted and created 226,188 village panchayats, 5736 interMediate panchayats and 4657 district Panchayats. One of the most farreaching and remarkable provision introduced by the amendment is to provide one third of reservation for the women, which would induct 79,500 women into the politics, provide the level playing field for women in the political arena (Rai,2007,67). These institutions added around 3 million newly elected representatives and out of that 1 million would be women representative and Furthermore, of these, around 700000 elected representatives would be belong to the schedule castes and schedule Tribes communities (DeSouza, 2003,100).

As far as the women participation and other disadvantaged section is concerned, act provides with provisions to give reservations these people, to make sure widespread participation of the people . This is only level of governance where in addition to women, socially and economically backward people belongs to SC and ST communities enjoys the considerable say in the decision making process. It has been seen that women head of the local government are less prone to the corruption and more likely to focus on issues pertaining to the women. Apart from that, significant investment has been made to bring the piped water into the village and improvement of educational facility like building middle class or high school. It has also perceived that substantial rise in the revenue wherever women are Pradhan/Sarpanch. Having said that, there are some issues pertaining to the women heads. Firstly, it has been seen that mostly women are connected to influential and Political family especially at two higher tier rather than at Gram sabha level. Secondly, there is threat of violence, when someone women who express desire to contest election, it could be even worse if she is belongs to the dalit and tribal communities. And there is one more phenomena of proxy or surrogate representation in which man assumes the right to participate in the meetings istead of elected woman representative. However, their participation lead to empowerment of women and they enjoy considerably say in local level institutions.

Though, Panchayati Raj institutions have become the driver of wide ranging political participation ranging from normal people to the women and disadvantaged section, but it has some inherent issues which were propounded by the Peter Ronald deSouza. He pointed out some issues, firstly, he argued that amendment was not brought up due to any political and social movement and demand from below for delivery of the goods, rather it was because of concern of policy community and political elite in order to improving the governance at the rural level in India. And it was expected that through the decentralized planning, benefits would be percolated to the poor and socially disadvantaged people. Secondly, introduction of third-tier corresponded to the fact that it is like as a initial two- tier federalism imposed from the above as a part of centralised federation. For example, empowerment of the women proposed not because of providing them equality of opportunity which hitherto denied by the patriarchal structure of the society but because of they were consider as a agent who would use the rural resources in a more sustainable manner. And women used to also consider as less corrupt. Third issue, Rural power in India can be classified under three heads. First is the caste system which not only determines the relations between the individuals but also between the groups by the principles consisted segmentation, exclusion and humiliation. Second is patriarchy determine the terms of gender relations. It has put the women in subordinate position and denied them equal citizenship. Final is land, determines the social

exchange that reflected the feudal character in many parts (DeSouza, 2003, 103-105).

Now I would discuss pertaining to the requirement and issues of decentralised planning. Professor D.T. Lakdawala, noted economist and foriner Deputy Chairman, Planning Commission, argued that, in order to harness the local resources , local needs to be consulted and local knowledge consisted, decentralisation is indispensable to make developmental efforts successful. He further pointed out that, it is futile to transfer the powers and functions without transferring the wherewithal prerequisite to discharge their function. In addition, another prominent economic, C.H. Hanumantha Rao, pointed out the few reasons behind the poor and dismal performance with respect to the decentralized planning. There are three main reason behind that, first, unwillingness of political and bureaucratic community sit at the state level, to devolve the powers to the local level institutions. The political bureaucratic nexus not only didn't share power but also does not share resources to local institutions which consequently discouraged the planning from the below. Second, since there is dominance of rural elites over the panchayats who accrued the huge benefits from the development. It is argued that until and unless structural reforms to be undertaken to brought the poor at level of dominance in these institutions so that the social economic conditions of the poor would be improved. Thirdly, third reason of failure of decentralized planning is attributed to the lack of political will. In short, due to the meagre resources and domination of the PRIs by economic and social privileged class lead to the failure of decentralized planning.

Furthermore, the other most significant reason behind the unsuccessfulness of the local level institutions is the fact that they were left to the mercy of states as far as devolution of power and functions, and finances is concerned. There are many states have not taken requisite steps to devolve power, functions and funds. There has been inadequate devolution of functions and authority since the inception of amendment. Even the subjects falls under the purview of PRIs have to be authorised by the state legislature. While state finance commission has advocated the devolution of funds at every level, many states disregards these recommendations since these are merely recommendation not mandatory or binding on them.

Conclusion

So far, in this paper, I have discussed not only the the features and necessity of PRIs, but also the issues involved there which discourage the panchayati Raj institutions to realise it's full potential.Introduction of panchayati Raj institutions in India, have made the case for more local democracy and ensure the direct participation of the peoples from all walks of life, which make them competent enough to take care the interest of themselves and it has transform them the way people think and behave. It also provides the people belongs to lower strata to have considerable say in the decision making.

Although local level institutions provides representation to the millions of the peoples ranging from women to people from the socially and economically backward communities , these institutions are to be provided with clear mandate of functions, they have to be given more power to raise their revenue and financial resources so that they can discharge the functions properly and adequately.

Research scholar
Department of Political Science
University of Delhi

References:

- Jayal, N.G., *Engendering Panchayats* , pp 20-23
- DeSouza,P.R,*The Struggle for Local Government: Indian Democracy's New Phase*(2003), pp 100 ,103-107 Phillips, Anne., *Why does Local Democracy Matter?*, pp 21-23
- MATHEW,G.,Panchayats: *The Local Self-government System In India*, pp 138-143
- Rai, S.M.,*Deliberative Democracy and the Politics of Redistribution: The Case of the Indian Panchayats* (2007), p-67
- Article by -Shruti Rajagopalan.,link below https://www.livemint.com/Opinion/SvD5HQO5xTajYrqFj2zy9L/Evaluating-the-panchayati-rajinstitutions-at-25.html

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

About Us

Arts & Commerce Indology & Manuscripts Law & Constitutions Medical & Engineering Philosophy & Spirituality Science & Social Sciences Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards Distribution Social Contribution Typing Support Designing Support Technical Support Head Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014
एक नज़र, सब पर

Branches

We recently started our publication branches in five major cities of different states of India i.e. Nazafgarh (Delhi), Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) & Udham Singh Nagar (Uttarakhand), however, Head office is situated at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100, Email : info@vaaksudhapublication.in, vaaksudhapublication@gmail.com